निराला रचनावली

5

हिन्दी साहित्य की अपरिहार्य समस्याओं से सम्बन्धित **निराला** के लेख, जिनमें लेखक के सौन्दर्यबोधात्मक और सामाजिक दृष्टिकोणों को अभिव्यक्ति मिली है, ध्यान देने के योग्य हैं। इनमें से अधिकतर लेखों में **निराला** ने हिन्दी की आधुनिक कविता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और उन विरोधियों से उनकी रक्षा करने का प्रयास किया है, जो यह मानते थे कि वह बंगाली कविता के नमूनों की नकल और अंग्रेज रोमैंटिक कवियों का अनुकरण करते हैं।... **निराला** सर्वप्रथम तो (रवीन्द्रनाथ) ठाकुर की कविता के आधार के रूप में उसके बाह्य स्वरूप तथा विषय-वस्तु की अभिन्नता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं और यह दिखाते हैं कि अपने विचारों के अत्यधिक प्रभावशाली और पूर्ण उद्घाटन के लिए ठाकुर बंगाली कविता के कला-साधनों का कितना कुशल उपयोग करने में समर्थ हैं।... **निराला** को अनेक वर्षों तक ऐसे प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध डटकर संघर्ष करना पड़ा, जो प्रगतिशील और जनवादी साहित्य के विकास का डटकर मार्ग रोक रहे थे।... **निराला** ने लिखा है कि बिहारीलाल, पद्माकर, देव और रीतिकाल के अन्य कवियों का कृतित्व हिन्दी-कविता की एक बीती हुई अवस्था से सम्बन्धित है, कि वह उसके भावी विकास में सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे युग की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं से उसका कोई वास्ता नहीं।... **निराला** ने अपने लेख में भारतीय साहित्यिक परम्परा में छायावाद की गहरी जड़ें दिखाने, कविता के नये रूपों और नये छन्दों के उपयोग का औचित्य सिद्ध करने और छायावाद से पहले का हिन्दी-कविता के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया। पन्त के 'पल्लव' कविता-संग्रह की भूमिका (की आलोचना) में **निराला** ने जहाँ क्लासिकी साहित्य की श्रेष्ठ परम्पराओं को सहेजने का जोरदार समर्थन किया, वहाँ ऐसे साहित्यिकों की कड़ी आलोचना भी की जो यह घोषणा करते हैं कि ब्रजभाषा में रचना करनेवाले मध्ययुगीन कवियों ने उत्कृष्टतम कविता का सृजन किया है और आधुनिक कवियों को उन्हीं के समान कविता रचने का प्रयास करना चाहिए।

ये.पे. चेलिशेव

उत्तमोत्तम के सन्दर्भ में, प्राचीन के प्रति आस्था और अर्वाचीन के प्रति विश्वास – **निराला** के आलोचक-व्यक्तित्व के ये दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं, जिनमें उनके युग-परिवेश की समग्र साहित्यिक चेतना समाहित है। **रचनावली** का यह पाँचवाँ खण्ड है, जिसमें **रवीन्द्र कविता कानन** शीर्षक पुस्तक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी निबन्ध एवं विभिन्न साहित्यिक विषयों और विवादों पर ऐतिहासिक टिप्पणियाँ सम्मिलित हैं।

आलोचना

रवीन्द्र-कविता-कानन और
आलोचनात्मक लेख एवं
सम्पादकीय टिप्पणियाँ

तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता

सम्पादक
नन्दकिशोर नवल
राजकमल

निराला रचनावली

5

मूल्य
प्रति खण्ड रु० 75.00
सम्पूर्ण सैट रु० 600.00

द्वितीय संस्करण
मार्च, 1983

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
8 नेताजी सुभाष मार्ग,
नयी दिल्ली - 110 002

मुद्रक
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ :
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागंज, नयी दिल्ली

कला-पक्ष
आवरण के लिए
निराला का रेखांकन :
हरिपाल त्यागी

कला - संयोजना :
चाँद चौधरी
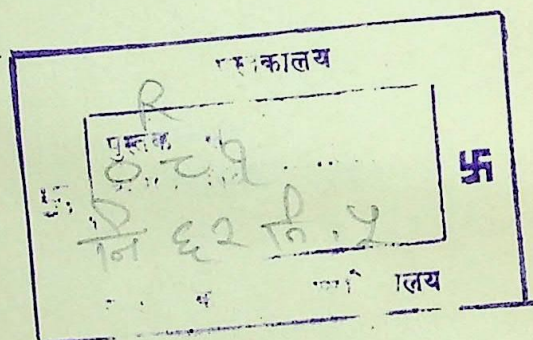
NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'

1960

आभार

निराला रचनावली प्रकाशित हो रही है, यह राजकमल के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार महाकवि की जीवन-यात्रा संघर्षपूर्ण रही, उसी प्रकार इस **रचनावली** के प्रकाशन में तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने आयीं। किन्तु बड़े धैर्य के साथ हमने सभी कठिनाइयों को हल किया और इसके प्रकाशन में सभी निराला-प्रेमियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला।

रचनावली में भारती भण्डार, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, आराधना, सुकुल की बीवी, प्रबन्ध-प्रतिमा, निरुपमा और अपरा], निराला प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, की चार पुस्तकें [प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़ और चतुरी चमार] तथा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [अर्चना, बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, देवी, काले कारनामे और रवीन्द्र-कविता-कानन] संकलित की गयी हैं और इन संस्थाओं ने अपनी पुस्तकें **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी है। यह स्वस्थ परम्परा हिन्दी-प्रकाशन के लिए स्वागत-योग्य है।

रचनावली में जिन चित्रों का उपयोग किया गया है वे हमें सर्वश्री अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, अजितकुमार, नेमिचन्द्र जैन, रामकृष्ण त्रिपाठी तथा इण्डियन आर्ट स्टूडियो देहरादून के श्री नवीन नौटियाल से प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री बरुआ द्वारा सम्पादित 'महाकवि निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' से भी कई चित्र लिये गये हैं।

रचनावली के पत्रोंवाले खण्ड में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र' से महाकवि द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र संकलित हुए हैं। श्री सोहनलाल भार्गव, लखनऊ, ने स्वर्गीय श्री दुलारेलाल भार्गव के नाम लिखे गये पत्र, और श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, इलाहाबाद, ने अपने नाम लिखे गये पत्र, जो 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे खण्ड में संकलित हैं, **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी।

उपरोक्त सभी संस्थाओं और महानुभावों तथा परोक्ष रूप से सहायक होनेवाले अन्य व्यक्तियों के हम आभारी हैं। उनके सहयोग से ही यह स्वप्न साकार हुआ है।

19 जनवरी, '83

शीला सन्धू

पाँचवाँ खण्ड

योजनानुसार **रचनावली** के प्रस्तुत खण्ड में निराला की आलोचना संकलित की गयी है। यह आलोचना दो प्रकार की है—पुस्तकाकार और स्फुट निबन्धों एवं सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में। निबन्धों और टिप्पणियों में जो अन्तर है, वह बहुत कठोर नहीं है। इससे आसानी से कुछ टिप्पणियाँ निबन्धों में और कुछ निबन्ध टिप्पणियों में शामिल किये जा सकते हैं। निराला ने **प्रबन्ध-प्रतिमा** नामक अपने निबन्ध-संग्रह में अपनी कई सम्पादकीय टिप्पणियों को शामिल कर लिया है। 'हिन्दी-साहित्य में उपन्यास', 'रचना-सौष्ठव' और 'भाषा-विज्ञान' शीर्षक टिप्पणियाँ ऐसी ही हैं। सामान्यतया निबन्ध वे हैं, जो आकार में अपेक्षाकृत बड़े हैं और जिनमें विषय का विवेचन किंचित् विस्तार के साथ किया गया है। टिप्पणियों में या तो लेखक का अभिमत व्यक्त किया गया है, या किसी विषय पर नये चिन्तन की प्रस्तावना की गयी है।

पुस्तकाकार निराला की आलोचना एक ही है--**रवीन्द्र-कविता-कानन**। बाकी निबन्ध और टिप्पणियाँ हैं। आलोचनात्मक निबन्ध लिखना निराला ने उक्त पुस्तक के प्रणयन के पहले से ही शुरू कर दिया था, तथापि इस खण्ड में उन्हें स्फुट लेखन होने के कारण पुस्तक के बाद रखा गया है। उसके बाद टिप्पणियाँ हैं। इस तरह **रवीन्द्र-कविता-कानन**, स्फुट निबन्ध और टिप्पणियाँ—इस क्रम से इस खण्ड में निराला की आलोचना को सजाया गया है। निबन्ध और टिप्पणियाँ अलग-अलग रचना-क्रम/प्रकाशन-क्रम से दिये गये हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कभी-कभी निराला ने निबन्धों के नीचे भी गलत रचनाकाल दिया है। उदाहरण के लिए 'विद्यापति और चण्डिदास' शीर्षक निबन्ध को देखा जा सकता है, जो कि 'सुधा' के अगस्त, 1928 के अंक में प्रकाशित हुआ था, लेकिन **प्रबन्ध-प्रतिमा** (द्वितीय संस्करण) में जिसके नीचे '1929 ई.' यह वर्ष दिया हुआ है।

1926 ई. में निराला ने **रस-अलंकार** नामक पुस्तक लिखी थी। 1927 ई. में उन्होंने श्री निहालचन्द वर्मा के आदेश पर **रवीन्द्र-कविता-कानन** नामक पुस्तक की रचना की। जब पुस्तक लिखी जा चुकी, तब उसके आरम्भ में रवीन्द्रनाथ का जीवन-परिचय देने का भी विचार हुआ। निराला ने उसे लिखना भी शुरू किया, लेकिन इसी बीच उन्हें कलकत्ता छोड़कर बाहर चला जाना पड़ा। लिहाजा वह पुस्तक तुरत प्रकाशित न हो सकी और जैसा कि श्री वर्मा ने अपने प्रकाशकीय

वक्तव्य में लिखा है, वह सवा साल तक पड़ी रही। अन्त में पं. नरोत्तम व्यास ने उस जीवन-परिचय को पूरा किया और अनुमानतः 1929 ई. (संवत् 1985 वि.) के आरम्भ में वह पुस्तक प्रकाशित हुई। प्रकाशक थे—निहालचन्द एण्ड को., 1, नारायण बाबू लेन, कलकत्ता। सितम्बर, 1929 की 'सुधा' में 'साहित्य-सूची' स्तम्भ के अन्तर्गत यह सूचना दी गयी है कि **रवीन्द्र-कविता-कानन** का प्रकाशन-काल है अगस्त, 1929। सम्भव है, यह पुस्तक प्रेस से कुछ देर से निकली हो, या 'सुधा'-कार्यालय में ही कुछ देर से पहुँची हो। पुस्तक में रवीन्द्रनाथ के जीवन-परिचय का जो अंश श्री व्यास लिखित था, उसे यहाँ छोड़ दिया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि उसमें न तो क्रमबद्ध रूप से तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं, न उसकी शैली में प्रौढ़ता है। शेष पुस्तक के साथ यह अंश बिलकुल बेमेल लगता था। दिसम्बर, 1954 में श्री ओमप्रकाश बेरी ने हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, प्रो. बॉ. नं. 70, ज्ञानवापी, बनारस सिटी, से **रवीन्द्र-कविता-कानन** का परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया। परिवर्धन इसमें यह हुआ कि इसके अन्त में एक परिशिष्ट जोड़ दिया गया, जिसमें डा. महादेव साहा द्वारा तैयार की गयी रवीन्द्रनाथ के ग्रन्थों की एक कालानुक्रमिक सूची दी गयी। हमने वह सूची भी छोड़ दी है, क्योंकि वह निराला द्वारा तैयार की गयी नहीं।

निराला के आलोचनात्मक निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। कुल सैंतीस निबन्धों में से सिर्फ चार निबन्धों के बारे में यह पता नहीं लगाया जा सका कि वे किन पत्र-पत्रिकाओं में और कब निकले थे। वे निबन्ध हैं—'साहित्य और भाषा', 'हमारे साहित्य का ध्येय', 'काव्य में रूप और अरूप' तथा 'श्री नन्ददुलारे वाजपेयी'। आरम्भिक तीन निबन्ध निराला के प्रथम निबन्ध संग्रह **प्रबन्ध-पद्म** (संवत् 1991 वि.) में संकलित हैं, जिससे यह निश्चित होता है कि वे उक्त पुस्तक के प्रकाशन के पहले लिखे गये। 16 मई, 1934 की 'सुधा' के 'नये फूल' स्तम्भ में दी गयी सूचना के मुताबिक **प्रबन्ध-पद्म** का प्रकाशन अप्रैल, 1934 में हुआ। पुस्तक में श्री दुलारेलाल भार्गव लिखित जो प्रकाशकीय भूमिका है, उसके नीचे 25 अप्रैल, 1934 की तिथि दी गयी है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पुस्तक अप्रैल, 1934 के एकदम अन्त में ही निकली होगी। तात्पर्य यह कि उक्त तीनों निबन्ध अप्रैल, 1934 से पहले लिखे गये। अन्तिम निबन्ध में 1941 ई. का उल्लेख है, जिससे यह स्थिर होता है कि यह निबन्ध उसके बाद के ही वर्षों में लिखा गया होगा। स्वभावतः इन निबन्धों को अनुमित रचना-काल के अनुसार ही क्रम-बद्ध किया गया है।

रचनावली के प्रस्तुत खण्ड में संकलित निबन्धों में एक निबन्ध ऐसा भी है, जो बिना लेखक के नाम के 'समन्वय' में छपा था, उसके 'विविध विषय' स्तम्भ के अन्तर्गत। वह निबन्ध है—'हिन्दी और बंगला की कविता'। इस निबन्ध को निरालाकृत मानने का आधार डा. रामविलास शर्मा का यह कथन है : "अपने विचार 'विविध विषय' स्तम्भ में 'हिन्दी और बंगला की कविता' शीर्षक से उन्होंने (निराला ने) लिखे। लेखक के नाम के बिना ही यह लेख छपा।" [**निराला की साहित्य-साधना** (1), पृ. 55] इस निबन्ध को लेकर निराला के दस निबन्ध इस

खण्ड में ऐसे हैं, जो अब तक उनके किसी निबन्ध-संग्रह में संकलित नहीं हुए। शेष नौ निबन्ध हैं : 'तुलसीकृत रामायण का आदर्श', 'कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त', 'कवि और कविता', 'सौन्दर्य-दर्शन और कवि-कौशल', 'सुकवि पद्माकर की कविताएँ', 'समालोचना या प्रोपेगैण्डा ?', 'आरोप के रूप', 'समालोचक' और 'नवीन कवि, 'प्रदीप' '। इन नौ निबन्धों में से आरम्भिक पाँच निबन्ध ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, क्योंकि इनका निराला की आलोचना में खास स्थान है। बाकी तीन निबन्ध प्रत्यालोचनात्मक हैं, जो निराला के लड़ाकू आलोचक-रूप को सामने लाते हैं। 'नवीन कवि, 'प्रदीप' ' एक उदीयमान कवि पर लिखा गया निबन्ध है। निराला ने हमेशा तरुण और गौण कवियों पर छोटे-छोटे निबन्ध लिखकर एक ओर उन्हें प्रोत्साहन दिया और दूसरी ओर हमें अपनी काव्य-रुचि की व्यापकता से परिचित कराया।

निराला के आलोचनात्मक निबन्ध उनके पाँच निबन्ध-संग्रहों में संकलित हुए हैं। वे निबन्ध-संग्रह हैं : **प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध-प्रतिमा, चाबुक, चयन,** और **संग्रह**। इनमें से प्रथम दो संग्रह निराला ने स्वयं तैयार किये थे, तीसरा श्री उमाशंकर सिंह द्वारा तैयार किया गया था। बाकी दो संग्रहों के संकलनकर्ता डा. शिवगोपाल मिश्र हैं। **चाबुक**, **चयन** और **संग्रह** के निबन्ध अनेक बार पत्र-पत्रिकाओं से बहुत असावधानी से उतारे गये हैं। इस कारण उनमें बहुत अधिक अशुद्धियाँ मिलती हैं। उद्धरण प्रायः गलत हैं और छूट भी काफी है। वैसे निबन्धों को पत्र-पत्रिकाओं से मिलाकर यथासम्भव उन्हें मूल रूप में लाने का प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं वाक्यों में कुछ जोड़-घटाव और संशोधन भी है। यह कहना मुश्किल है कि यह संकलनकर्ताओं द्वारा किया गया है, या स्वयं निराला द्वारा। इस स्थिति में पत्र-पत्रिकाओंवाले रूप को ही स्वीकार किया गया है और जोड़-घटाव और संशोधन को हटा दिया गया है। यदि इन संग्रहों की भूमिकाओं में कुछ ऐसा संकेत दिया जाता कि निबन्धों में यत्र-तत्र जो परिवर्तन मिलता है, वह स्वयं निराला द्वारा किया गया है, तो उन्हें हटाने का प्रश्न नहीं उठता। **चाबुक** और **चयन** में निराला की संक्षिप्त भूमिकाएँ हैं। उनमें कुछ वैसा संकेत नहीं है। **चाबुक** की भूमिका में तो उन्होंने लिखा है कि "मैं करबद्ध होकर कटुता से समालोचित पूज्य साहित्यिकों से क्षमा चाहता हूँ। उस कटुता को ज्यों का त्यों जाने दे रहा हूँ कि देखूँ, अगर कुछ सत्य भी है तो वह कितनी कटुता हज़म कर सकता है।" **संग्रह** का प्रकाशन निराला के मरणोपरान्त हुआ। इसकी भूमिका में पं. रामकृष्ण त्रिपाठी ने सिर्फ इतना लिखा है : "इन समस्त लेखों के संकलन का कार्य निरालाजी के प्रिय शिष्य डा. शिवगोपाल मिश्र ने नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के पुस्तकालय से किया है। यह संकलन निरालाजी के जीवन-काल में ही पूरा हो चुका था किन्तु प्रकाशन की कठिनाइयों के कारण अप्रकाशित पड़ा रह गया। अब इसे मैं प्रकाशित कर रहा हूँ।"

प्रबन्ध-पद्म के प्रकाशन-काल के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। यह पुस्तक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। इसका अन्तिम निबन्ध था—'पन्तजी और पल्लव'। यह निबन्ध वहीं से 1949 ई. में अलग से 'पन्त

और पल्लव' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। **प्रबन्ध-प्रतिमा** 1940 ई. में भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद से निकली। इसकी भूमिका के नीचे निराला ने जो तिथि दी है, वह है 25 जून, 1940। 17 सितम्बर, 1940 को वे आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को एक पत्र में लिखते हैं : "मेरी **प्रबन्ध-प्रतिमा** निकल गयी है।" (**निराला के पत्र**) इससे अनुमान होता है कि यह पुस्तक 1940 की जुलाई, अगस्त या सितम्बर के आरम्भ में निकली। **चाबुक** प्रथम बार कला मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद से निकला था। पुस्तक में प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख नहीं है। निराला ने 16 सितम्बर, 1941 को कुँवर सुरेश सिंह को एक पत्र में लिखा था : "**चाबुक** भी छप गया होगा। **चाबुक** में 'मतवाला' के और कुछ इधर के लेख हैं।" [**साहित्य-साधना** (3)] इससे यह संकेत मिलता है कि यह पुस्तक 1941-42 ई. में ही निकल गयी होगी। 13 मार्च, 1943 को निराला ने शास्त्री-जी को सूचित किया कि "**चाबुक** की प्रति मेरे पास है, लेता आऊँगा, बहुत अशुद्ध छपी है।" (**निराला के पत्र**) इससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। 'अन्तरवेद' (निराला स्मृति अंक, वसन्तपंचमी, 1962) में **चाबुक** का प्रकाशन-काल 1942 ई. बतलाया गया है, जो कि सही प्रतीत होता है। **चयन** का प्रथम संस्करण कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, ज्ञानवापी, वाराणसी-1 से विजयादशमी, संवत् 2014 वि., को निकला। निराला ने इसकी भूमिका के नीचे जो तिथि दी है, वह है 19 सितम्बर, 1957। इससे इस पुस्तक का उक्त तिथि (तदनुसार 3 अक्तूबर, 1957) पर निकलना सही मालूम होता है। **संग्रह** का प्रकाशन-वर्ष 1963 ई. है। यह निरुपमा प्रकाशन, 50 शहरारा बाग, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निराला के इन निबन्ध-संग्रहों में केवल आलोचनात्मक निबन्ध नहीं हैं। इनमें साहित्येतर विषयों से सम्बन्धित निबन्ध भी हैं। **वाङ्मय** के खण्ड पाँच में केवल आलोचनात्मक निबन्ध संकलित किये गये हैं। शेष निबन्ध खण्ड छः में संकलित हैं। प्रस्तुत खण्ड के परिशिष्ट में निबन्ध-संग्रहों की निराला लिखित भूमिकाएँ और समर्पण दे दिये गये हैं।

इस खण्ड में कुल इकतीस सम्पादकीय टिप्पणियाँ संकलित हैं। (एक टिप्पणी के दो रूप संकलित हैं, जिस कारण अनुक्रम में टिप्पणियों की संख्या बत्तीस है।) ये सारी टिप्पणियाँ 'सुधा' से ली गयी हैं और इनमें से तीन ('हिन्दी-साहित्य में उपन्यास', 'रचना-सौष्ठव' और 'भाषा-विज्ञान') को छोड़कर बाकी सबकी सब असंकलित हैं। 'सुधा' में सम्पादक की जगह पहले श्री दुलारेलाल भार्गव के साथ दूसरे व्यक्तियों के नाम भी छपते थे, जैसे श्री रूपनारायण पाण्डेय या श्री नन्दकिशोर तिवारी का नाम। श्री नन्दकिशोर तिवारी 'सुधा' से पहले ही अलग हो चुके थे, निराला के उसमें पहुँचने के थोड़े दिन बाद ही श्री रूपनारायण पाण्डेय भी उससे अलग हो गये। उसके बाद उसमें केवल श्री भार्गव का नाम छपता रहा। निराला तरुण लेखक थे। सम्भवतः इसीलिए उनका नाम सम्पादक की जगह छपने योग्य नहीं समझा गया, या यह भी हो सकता है कि सम्पादकीय नीति के निर्धारण में उनका हाथ न रहा हो और 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग में वे केवल लिखने के लिए नियुक्त हुए हों। ऐसी स्थिति में इस पत्रिका में जितनी सम्पादकीय टिप्पणियाँ

निकलीं, सभी कायदे से श्री भार्गव लिखित ही मानी जायँगी। लेकिन श्री भार्गव ने स्वयं संकेत दिया है कि सम्पादकीय टिप्पणियाँ वे अकेले नहीं लिखते, बल्कि उन्हें लिखनेवाले 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग से सम्बन्धित अन्य लेखक भी हैं। 'सुधा' के फरवरी, 1930 के अंक में 'सुधा की श्री-वृद्धि' शीर्षक एक सम्पादकीय टिप्पणी निकली थी। यह श्री भार्गव द्वारा लिखी गयी थी। इसमें वे कहते हैं: "सम्पादकीय विचार अब सुधा में अधिक रहने लगे हैं। हमारा विचार है कि इसी तरह 20-25 पृष्ठ हमलोग लिखा करें।" इस कथन में 'हमलोग' शब्द ध्यातव्य है। इससे स्पष्ट है कि सम्पादकीय टिप्पणियाँ केवल वही नहीं, बल्कि दूसरे लोग भी लिखा करते थे।

निराला ने वैसी कई टिप्पणियाँ अपने निबन्ध-संग्रहों में शामिल कर उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध कर दिया है। वे टिप्पणियाँ 'सुधा' में बिना लेखक के नाम के निकली थीं और निराला के निबन्ध-संग्रह में मौजूद हैं! निराला ने इन टिप्पणियों को ध्यान में रखकर ही डा. रामविलास शर्मा के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहा था कि "पत्रों में बहुत से लेख और नोट लिखे हैं जो मेरे संग्रह में नहीं आये।" [**साहित्य-साधना** (3), पृ. 399] डा. शर्मा ने लिखा है कि "घर-गृहस्थी के काम से छुट्टी पाकर निराला 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। वह कुछ दिन लखनऊ रहते, फिर गाँव चले आते। 'सुधा' से इतने पैसे न मिलते थे कि रामकृष्ण के साथ लखनऊ में रह सकें। पत्रिका के लिए वह घर पर सामग्री तैयार करते।" [**साहित्य-साधना** (1), पृ. 181] श्री भार्गव के नाम गढ़ाकोला से लिखे गये अद्यावधि असंकलित निराला के एकाधिक पत्रों में इस बात के संकेत हैं कि वे 'सुधा' के लिए सम्पादकीय टिप्पणियाँ (नोट) लिखा करते थे। 1 मार्च, 1930 को लिखे गये एक पत्र में वे कहते हैं: "नोट कुछ बच रहे होंगे। कुछ भेजता हूँ, परसों तक।···राजनीतिक नोट जैसा मैंने आपसे कहा था, सुधीन्द्रजी से लिखवा लीजिएगा।" इससे यह भी संकेतित है कि 'सुधा' में सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखनेवालों में एक लेखक श्री सुधीन्द्र भी थे। पुन: 1 अप्रैल, 1930 को निराला गढ़ाकोला से ही श्री भार्गव को लिखते हैं: "आज नोट भेजता हूँ। साहित्य-सम्मेलन की स्पीच मुझे नहीं मिली। इसलिए नोट नहीं भेजा जा सका। यहाँ सिर्फ एक बंगला पत्र आता है, इससे बहुत ज्यादा आशा आपको नहीं रखनी चाहिए। तीन-चार अच्छे नोट परसों तक सोच-विचारकर भेजूंगा।" इसी तरह सम्भवत: कुछ बाद के एक पत्र में जिसमें उन्होंने तिथि नहीं दी है, लिखा है: "इस फाल्गुन में साहित्यिक-सामाजिक नोट नहीं दे सका। चैत्र के लिए कहानी, नोट आदि भेजता हूँ, कुछ बाद।" इसी पत्र में उन्होंने नीचे लिखा है: "बुखार से पहले के लिखे हुए दो नोट भी भेजता हूँ। समय और जगह हो तो दे दीजिएगा। मनोरंजक हैं।"

डा. शर्मा ने हिन्दी में अनेक जरूरी काम किये हैं। उनमें एक काम निराला की सम्पादकीय टिप्पणियों की ओर ध्यान दिलाना भी है। **साहित्य-साधना** (1) में उन्होंने लिखा है: "निराला ने 'सुधा' को हिन्दी की श्रेष्ठ साहित्यिक सामाजिक पत्रिका बना दिया। इन दिनों जैसी सम्पादकीय टिप्पणियाँ 'सुधा' में निकलीं, वैसी

दूसरी पत्रिका में नहीं।...'समन्वय' और 'मतवाला' की तरह यहाँ भी सम्पादक रूप में निराला का नाम न छपता था।" (पृ. 181-82) **साहित्य-साधना** के दूसरे खण्ड में डा. शर्मा ने निराला की सम्पादकीय टिप्पणियों को मुख्य आधार बनाकर उनकी विचारधारा का विवेचन किया और उन्हें प्रेमचन्द की तरह जागरूक साहित्यकार बतलाया। उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है: "काव्य, कथा-साहित्य, आलोचनात्मक निबन्धों के अलावा निराला ने देश की राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं पर बहुत कुछ लिखा है। ऐसी काफी सामग्री 'सुधा' की सम्पादकीय टिप्पणियों में बिखरी हुई है।" ऐसी सभी टिप्पणियों को यहाँ संकलित किया गया है और उनमें जो साहित्यालोचन से सम्बन्धित हैं, उन्हें **वाङ्मय** के इस खण्ड में क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है।

टिप्पणियों के संकलन के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब उनके साथ लेखकों का नाम नहीं दिया गया है, तो यह कैसे मालूम किया जा सकता है कि कौन टिप्पणी निराला लिखित है। इस सम्बन्ध में निवेदन है कि निराला के विचार-लोक, तर्क-पद्धति और भाषा-शैली को समझ लेने के बाद उनकी टिप्पणियाँ छाँटने में कोई दिक्कत नहीं होती। निराला-जैसा व्यवस्थित, कवित्व-पूर्ण और व्यंग्यात्मक गद्य 'सुधा' के लिए टिप्पणियाँ लिखनेवाले लेखकों में और कोई न लिखता था। डा. शर्मा ने भी निराला की टिप्पणियों के बारे में लिखा है कि "वे सुन्दर अलंकृत गद्य के नमूने थीं, अपनी कलात्मक भंगिमा के कारण वे औसत सम्पादकीय लेखों से भिन्न थीं।" [**साहित्य-साधना (1)**, पृ. 181] इसी कारण उन टिप्पणियों के साथ-साथ, जिनका हवाला उन्होंने निराला की विचार-धारा के विवेचन के क्रम में दिया है, उन टिप्पणियों को भी संकलित कर लिया गया है, जिनका हवाला प्रसंग-विशेष से सम्बद्ध नहीं रहने के कारण उन्होंने नहीं दिया। यहाँ दो बातें ज्ञातव्य हैं। एक तो यह कि 'सुधा' में चूँकि सम्पादक की जगह केवल श्री दुलारेलाल भार्गव का नाम छपता था, इसलिए कभी-कभी निराला बिलकुल उनकी ओर से टिप्पणी लिखते थे। ऐसी टिप्पणियों में कभी-कभी निराला का भी जिक्र आ जाता था। प्रस्तुत खण्ड में संकलित टिप्पणियों में 'नवीन काव्य' (अगस्त, 1932) और 'भाषा' (अक्तूबर, 1932) शीर्षक टिप्पणियाँ ऐसी ही हैं। 'नवीन काव्य' शीर्षक टिप्पणी में निराला कहते हैं: "ह इसका गहरा अनुभव आज दस वर्ष से अधिक काल तक 'गंगा-पुस्तकमाला', 'माधुरी' तथा 'सुधा' का सम्पादन करते हुए प्राप्त हुआ।" इसी तरह 'भाषा' शीर्षक टिप्पणी में वे कहते हैं: "यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि गंगा-पुस्तकमाला तथा 'सुधा' में उच्चकोटि के क्लिष्ट लेखक भी ससम्मान स्थान पाते हैं, और हम भाषा-विस्तार को छोड़कर केवल अर्थ का ही ध्यान नहीं करते।" इन बातों से ऐसा लगता है कि ये टिप्पणियाँ श्री भार्गव की लिखी हैं, पर उन्हें पूरा पढ़ने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि ये निराला की और केवल निराला की लिखी हैं। पहली टिप्पणी के आरम्भ में ही ये पंक्तियाँ मिलती हैं: "खड़ी बोली का काव्य अब, प्राणों से सीमा-बन्धनों को छोड़कर, बीज के अंकुर से फूटकर बाहर के विस्तार को अपनी छाया द्वारा समाच्छन्न कर रहा है। उसके भविष्य की सुखद

शीतलता, वर्तमान के प्रसार को देखकर, समझ में आ जाती है। जो लोग अपने बड़प्पन की बाँहें फैला उस पौधे को छाँह में सुखा डालना चाहते थे, उन लोगों ने हाथ समेट लिये हैं। अब उसकी वृद्धि में कोई संशय नहीं रहा।" दूसरी टिप्पणी इस तरह शुरू होती है: "हमारे साहित्य में धीरे-धीरे अब यह विचार ज़ोर पकड़ता जा रहा है कि हमें बहुत ही सीधी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, यद्यपि अभी मुश्किल और ठीक-ठीक मुश्किल लिखने की दो-एक को छोड़कर किसी भी साहित्यिक को तमीज़ नहीं। सच तो यह है कि अभी हिन्दी की प्रारम्भिक ही दशा चल रही है, अधिकांश अच्छे पढ़े-लिखे पदवीधरों को भी शुद्ध हिन्दी लिखना नहीं आया। इसमें प्रमाणों की किसी भी पत्र के दफ्तर में कमी न होगी। ऐसी दशा में सीधी हिन्दी लिखने के लिए पूरी ताकत से तिर्यक तूर्य-ध्वनि उठाने का क्या कारण, सिवा इसके कि सुबह को साहित्यिक अजाँ देनेवाले अपनी आवाज़ से अपनी ही सबसे पहले जगने की खबर बेखबरों को भेज रहे हैं? मुमकिन है, एक दिन लोग यह भी कहने लगें कि भाव सीधे होने चाहिए!" विचार और शैली दोनों इस बात का प्रमाण हैं कि ये टिप्पणियाँ निराला की कलम से ही निकली हैं। 'नवीन काव्य' शीर्षक टिप्पणी में निराला का जिक्र आया है: "निरालाजी की 'अधिवास' कविता 'सरस्वती' से वापस आयी, हमने ('माधुरी' के पहले साल की बात है) उसे मुखपृष्ठ पर निकाला···" आदि। जैसा कि कहा जा चुका है, ऐसा इसलिए है कि कभी-कभी निराला बिलकुल श्री भार्गव की ओर से टिप्पणी लिखा करते थे। दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि निराला अवसर मिलने पर अपनी कविता की तरह अपने गद्य को भी सँवारते थे। 'सुधा' में प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य में उपन्यास' नामक टिप्पणी जब वे **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित करने लगे, तब उसे फिर से देखा और यत्र-तत्र उसमें संशोधन किये। उनकी गद्य-रचना की इस प्रक्रिया से परिचित कराने के लिए ही उक्त टिप्पणी के 'सुधा' में प्रकाशित और **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित दोनों रूप यहाँ दिये गये हैं।

निराला की आलोचना का एक अच्छा खासा अंश यहाँ पहली बार संकलित किया जा रहा है, इसलिए इस भूमिका में उस पर किंचित् विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

रवीन्द्र-कविता-कानन निराला की ऐसी आलोचना-कृति है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। यह कदाचित् हिन्दी में रवीन्द्रनाथ के काव्य पर लिखी गयी पहली पुस्तक है। इसे पढ़कर हिन्दी के ढेर सारे लोगों ने रवीन्द्र-काव्य से परिचय प्राप्त किया और मूल में उसे पढ़ने के लिए बंगला भाषा सीखी। इसमें निराला की आलोचना का रूप आस्वादनपरक है, तथापि इसमें रवीन्द्र-काव्य के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। निराला ने इसमें रवीन्द्रनाथ को बंगला का जातीय कवि कहा है और उनकी कविता के सामाजिक सन्दर्भों को यथा-साध्य स्पष्ट किया है। रवीन्द्रनाथ में विद्रोह की चेतना फूटी इसका एक कारण यह भी था कि उनका वंश बंगाल के ब्राह्मणों में बहिष्कृत था। जमींदारी सँभालने के

क्रम में वे किसानों के सम्पर्क में आये और इस तरह उनकी मानवीय संवेदना का विस्तार हुआ। उनमें रहस्यवाद है, पर उस रहस्यवाद का एक लौकिक पक्ष भी है। रवीन्द्रनाथ विराट् के उपासक हैं, पर वे क्षुद्र की भी उपेक्षा नहीं करते, बल्कि उसे भी विराट् का ही अंग मानते हैं। खास बात यह कि "कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर करेगा कौन?" इस दृष्टि से वे भारत के महान् राष्ट्रीय कवि हैं।

यह सुपरिचित तथ्य है कि तरुण निराला पर वेदान्त का गहरा प्रभाव था। वे तुलसीदास के काव्य पर विचार करने से अपना आलोचनात्मक लेखन आरम्भ करते हैं और उसमें वेदान्त के तत्त्व ढूँढ़ते हैं। वे प्रायः तुलसीदास से रवीन्द्रनाथ की तुलना करते हैं और वेदान्त के प्रभाव के कारण उन्हें रवीन्द्रनाथ से श्रेष्ठ बतलाते हैं। 'दो महाकवि' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कहा है: "रवीन्द्रनाथ···शुद्ध साहित्य के जितने अच्छे कवि हैं, दर्शनमिश्रित साहित्य के उतने अच्छे नहीं", जबकि "गोस्वामी तुलसीदास साहित्य और सत्य-दर्शन (दोनों) के पारंगत महाकवि हैं।" लेकिन रवीन्द्रनाथ नये युग के महान् स्वच्छन्दतावादी कवि थे। उनके महत्त्व को कम करके आँकना निराला के लिए, जो कि स्वयं हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद के अग्रदूत थे, एक अस्वाभाविक बात होती। उन्होंने रवीन्द्रनाथ से बिहारी की तुलना की और रवीन्द्रनाथ को श्रेष्ठ बतलाते हुए रीतिवाद पर प्रहार किया। 'कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं: "बिहारी के दोहे के समाप्त होने के साथ ही उनका भाव भी समाप्त हो जाता है, पाठकों के लिए कुछ सोचने की बात नहीं रह जाती, कोई भाव कुछ देर क लिए अपना प्रभाव नहीं छोड़ जाता। परन्तु रवीन्द्रनाथ का संगीत समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक कानों में उसका स्वर बजता रहता है।" उन्होंने पद्माकर को भी आज के कल्पनाशील और भावुक कवियों से हीन ठहराया, उन पद्माकर को, जिनके चुहचुहाते कवित्तों से उन्होंने अपनी प्रवेशिका परीक्षा की गणित की नीरस कापी को सरस कर दिया था! इन कवियों की तुलना में उन्हें विद्यापति और चण्डिदास-जैसे कवि पसन्द आये। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि से इन दोनों कवियों का फर्क भी समझा। स्वच्छन्दतावादी चेतना के कारण ही निराला ने श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रशंसा की और उन्हें खड़ी बोली का प्रथम 'स्वाभाविक कवि' कहा। यह बात और है कि बाद में उन्होंने 'पन्तजी और पल्लव' नामक विस्तृत निबन्ध में उनकी अविचारित बातों के लिए उनकी आलोचना की और उनकी कविता के दोषों का सटीक और सूक्ष्म विश्लेषण किया। 'समालोचना या प्रोपेगैण्डा?' इसका पूरक निबन्ध है।

वेदान्त की भूमि से ही निराला 'हिन्दी कविता-साहित्य की प्रगति' पर विचार करते हैं और उसमें 'दिव्यता के भाव' का अभाव पाते हैं। लेकिन इस वेदान्त का सकारात्मक पक्ष भी है। वह 'साहित्य की समतल भूमि' और 'मुसलमान और हिन्दू कवियों में विचार-साम्य'-जैसे निबन्धों में प्रकट हुआ है। इन निबन्धों में हिन्दू और मुसलमान दोनों कवियों के दार्शनिक भावों का निरूपण करने के बाद उन्होंने कहा है कि "साहित्य के भीतर से देखिए कि साहित्य की भूमि में हिन्दू और

मुसलमान बराबर हैं" और "हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं।" 'ऊँची भूमि' से मतलब है—'वेदान्त की भूमि'।

निराला का आत्मसंघर्ष जैसे सृजनात्मक साहित्य में प्रत्यक्ष है, वैसे ही उनकी आलोचना में भी। एक तरफ वेदान्त, दूसरी तरफ देश और समाज; एक तरफ अद्वैतवाद, दूसरी तरफ शृंगार! निराला दोनों में ताल-मेल बिठाने की कोशिश करते हैं, कभी बिठा भी लेते हैं, पर अनेक बार अपने को विषम स्थिति में पाते हैं। शृंगार-विरोधी आचार्यों को उत्तर देने के लिए उन्होंने 'बंगाल के वैष्णव कवियों की शृंगार-वर्णना' शीर्षक निबन्ध लिखा और उसमें कहा कि "जो लोग शृंगार के प्रतिकूलपन्थी हैं और सभा में शृंगार-रसाश्रित कविता के पाठ-मात्र से देवियों के पाक दामन में सियाह धब्बे लग जाने का खयाली पुलाव पकाया करते हैं, इतना ही नहीं···अपने रासभ-रव द्वारा चिरकाल के प्रतिष्ठित ब्रह्मचर्य की घोषणा करने लगते हैं···, उन महानुभावों को भला क्या मालूम कि वीर-रस का विरोधी शृंगार-रस ही प्रतिक्रिया के रूप से अपने शत्रु को सजग किये रहता है।" शृंगार-वर्णन के समर्थन में यह सिद्धान्त गढ़कर और बंगाल के वैष्णव कवियों की शृंगारिक कविता उद्धृत कर निराला ने अपना बचाव किया। निबन्ध के अन्त में उन्होंने उस कविता को दार्शनिक व्याख्या से भी ढँकने की कोशिश की।

कविता और साहित्य के सम्बन्ध में अपनी आलोचना में निराला ने ढेर-सी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कदाचित् पहली बार मुक्त काव्य पर विचार किया है और कहा है कि "छन्दोबद्ध काव्य में कृत्रिमता की कलई चाहे कुछ देर से खुले, परन्तु मुक्त काव्य में तो वह तत्काल पकड़ में आ जाती है।" इसी प्रसंग का विस्तार **परिमल** की भूमिका में हुआ है। ऊपर 'भाषा' शीर्षक टिप्पणी से एक उद्धरण दिया गया है, जिसका अन्तिम वाक्य है: "मुमकिन है, एक दिन लोग यह भी कहने लगें कि भाव सीधे होने चाहिए!" निराला की कविता की भाषा प्रायः कठिन होती थी इसलिए उन पर आक्षेप किये जाते थे और यह माँग की जाती थी कि साहित्य की भाषा सरल होनी चाहिए। उन्होंने इस समस्या को सरलीकृत ढंग से सुलझाने का विरोध किया और 'साहित्य और भाषा' शीर्षक निबन्ध में कहा कि भाषा का प्रवाह भावों के अनुकूल होना चाहिए और साहित्य में भाषा एक ही तरह की नहीं होती, उसके कई स्तर होते हैं। कुछ कविताएँ चित्रप्रधान होती हैं और कुछ भावप्रधान। निराला के अनुसार "एक प्रकार की मिश्रित कविता और है, मिश्र रागिनी की तरह, जिसके हृदय में भाव भी है, और आँखों में सौन्दर्य का जादू भी। इस प्रकार की रचनाएँ बहुत ऊँचे दर्जे के कवि कर सकते हैं।" ('कविता में चित्र और भाव' शीर्षक टिप्पणी) 'मेरे गीत और कला' शीर्षक अपने प्रसिद्ध निबन्ध में उन्होंने अपनी काव्य-कला पर ही प्रकाश नहीं डाला है, यह भी समझाया है कि कला का मतलब है 'अन्विति': "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है···।" यह कला एक नयी चीज थी, जो हिन्दी कविता की दुनिया में छायावादी कविता के साथ प्रकट हुई थी। इस प्रसंग में निराला ने यह बात महत्त्वपूर्ण कही है कि "पहले

से छन्द, दोहे, चौपाइयों की जो परिपाटी थी, वह इस कला के अनुरूप न थी।"

यहाँ यह कह देना जरूरी है कि भाव और कला के द्वन्द्व में निराला की स्पष्ट मान्यता है कि "सबसे अधिक आवश्यक है भाव-प्रवणता, जो साफल्य की एक-मात्र कुंजी है।" ('भाव और भाषा' शीर्षक टिप्पणी) 'भाव' से भी मतलब केवल भावना से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विषयवस्तु से है, जिसमें विचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'नवीन काव्य' शीर्षक टिप्पणी में वे विचार को 'काव्य का ज्ञान-काण्ड' बतलाते हैं और कहते हैं कि "साहित्यिक विचार ज्यों-ज्यों पुष्ट होते जाते हैं, भविष्य के साहित्यिकों को अधिक मार्जित साहित्य की सृष्टि के लिए सुविधा मिलती जाती है। यही कारण है कि खड़ी बोली के काव्य को बाहरी सुविधाएँ न मिलने के कारण भीतर बड़ी-बड़ी अन्तःप्रेरणाएँ नहीं मिलीं।" आखिरी वाक्य विशेष रूप से ध्यातव्य है। विचार बाहर से अर्जित होते हैं, लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि कवि के भीतर बड़ी-बड़ी अन्तःप्रेरणाएँ उत्पन्न करें। कविता में विचारों का विरोध करनेवाले भाववादियों को निराला का यह उत्तर है। 'रचना-रूप' शीर्षक एक दूसरी टिप्पणी में उन्होंने विचारों का महत्त्व इन शब्दों में प्रतिपादित किया है : "नवीन रक्त-संचार की तरह नये विचारों का निर्गमागम जब साहित्य तथा समाज में होता है, तभी समाज गतिशील और साहित्य जीवित रह सकता है।"

आदर्श और यथार्थ की समस्या साहित्य की पुरानी समस्या रही है। निराला इन दोनों में से किसी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। 'रचना-सौष्ठव' शीर्षक टिप्पणी में वे कहते हैं कि "संसार में जितने विषय, जितनी वस्तुएँ, मन और बुद्धि द्वारा ग्राह्य जो कुछ भी है--वह भला हो या बुरा—रचयिता की दृष्टि में बराबर महत्त्व रखता है।" इसीलिए जब आदर्श पर जोर दिया जाता है, तो वे यह कहते हैं कि "सत्साहित्य की सृष्टि के लिए जीवन की सभी दिशाएँ आवश्यक हैं, क्योंकि कोई गिर जाता है, तो उसके गिरने के कारण हैं, वे साहित्य के लिए उतने ही जरूरी हैं जितने उठनेवाले कारण" ('साहित्य का आदर्श' शीर्षक टिप्पणी), और जब यथार्थ पर जोर दिया जाता है, तो वे यह कहते हैं कि "साहित्यिक यदि किसी समूह के अनुसार चलता है, तो वह वह उच्चता नहीं प्राप्त कर सकता, जो समष्टि को लेकर चलता है।" ('रचना-सौष्ठव') निराला का मतलब साफ है—श्रेष्ठ साहित्य समाज के साथ नहीं, उससे आगे चलता है, लेकिन इतना आगे नहीं कि समाज छूट जाय। इसी में साहित्य और जनता की समस्या का भी हल है। जनता का सौन्दर्य-बोध विकसित नहीं होता, वह उपयोगिता को विशेष महत्त्व देती है, इसलिए साहित्य को पूरी तरह से उपयोगितावादी बना देना ठीक नहीं है। निराला कहते हैं, "जनता साहित्य के साथ नहीं रहती, साहित्य के साथ लायी जाती है···।" ('साहित्य और जनता' शीर्षक टिप्पणी) लेकिन यह भी एक तरह का सरलीकरण ही है, क्योंकि इसमें साहित्यकारों को जनता के प्रति दायित्व से बहुत कुछ मुक्त कर दिया गया है। उनका यह कथन विशेष महत्त्वपूर्ण है : "कभी-कभी उपयोगितावाद और सौन्दर्यवाद एक-दूसरे से मिले रहते हैं, जैसे मनुष्य का जीवन अधिक स्वच्छ, सुन्दर, सुखमय होकर अधिक स्वस्थ भी हो। इसी

तरह किसी वाद-विशेष को साहित्य में अलग महत्त्व न देकर साहित्य के ही एक द्रुम से भिन्न-भिन्न शाखा की तरह सन्निविष्ट समझें, तो विचार में मिट्टी, जल, आग, हवा और आसमान की तरह जुड़ी हुई सारी सृष्टियों को भिन्नता के भीतर से एक ही सूत्र में गुँथी हुई देख सकते हैं। यही उद्यम साहित्य का सर्वोत्तम विकास रहा है।" (उपर्युक्त)

निराला हिन्दी के उन विरल कवियों में से हैं, जो साहित्य में विचारों का महत्त्व स्वीकार करते हैं और आलोचना को उसके विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने कहा है कि "आलोचना साहित्य का मस्तिष्क है। अतः साहित्य के विकास का श्रेय अनेक अंशों में इसे ही प्राप्त है।" वे आलोचना के कैसे उत्कृष्ट रूप की कल्पना करते थे, यह भी द्रष्टव्य है: "आलोचना अच्छी वह है, जो कृति से पीछे न रहे, चाहिए कि बढ़ जाये।" (उपर्युक्त) 'साहित्य में समालोचना' शीर्षक टिप्पणी में वे हमें आलोचना-कर्म के खतरे से परिचित कराते हैं: "प्रत्येक लेखक, जो अपनी सच्ची मौलिकता से किसी कृति को जन्म देता है, अपना एक निराला वायुमण्डल अपने साथ रखता है। सम्भव है, उसकी कृति के भीतर पैठने के लिए आलोचक को अपने सभी पूर्व विचारों को बदलना पड़े। सहृदयतापूर्वक आलोचक जब तक ऐसा करने को प्रस्तुत नहीं रहता, वह लेखक की सच्ची आत्मा तक, जो उसकी कृति के भीतर बोल रही है, पहुँचने की आशा नहीं कर सकता।" निराला की एक टिप्पणी है 'भाषा-विज्ञान', जिसमें उन्होंने यह कहने के बाद कि 'रचना युद्ध-कौशल है और भाषा तदनुरूप अस्त्र', हिन्दी गद्य के विकास की आवश्यकता बतलायी है, क्योंकि 'गद्य जीवन-संग्राम की भी भाषा है।'

अपनी आलोचना में निराला ने एक बात पर बहुत बल दिया है—दूसरे देशों की सांस्कृतिक उपलब्धियों को स्वीकार करने पर। वे यह मानते थे कि साहित्य का विकास तभी होगा, जबकि परिवर्तित परिस्थितियों और समय के अनुसार वह चलेगा। इसके लिए यह जरूरी था कि संकीर्णता छोड़कर मुख्य रूप से पश्चिमी जगत् से सम्बन्ध स्थापित किया जाय। 'नवीन साहित्य और प्राचीन विचार' शीर्षक टिप्पणी में वे कहते हैं: "विजातीय भावों के मिश्रण से ही संस्कार हो सकता है। यदि किसी सृष्टि को प्रगतिशील रखना है, तो उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए विजातीय भावों का उसमें समावेश करना अत्यन्त आवश्यक है।...यह भाव-मिश्रण साहित्य के लिए भी आवश्यक है, नहीं तो कुछ काल तक एक ही संस्कार और एक ही प्रकार के विचारों की नेमि में चक्कर काटता हुआ साहित्य भी निर्जीव हो जाता है।" इसी टिप्पणी में उन्होंने यह भी कहा है कि "एकदेशीय साहित्य से बहुत बड़ी उन्नति, बहुत बड़े लाभ की सम्भावना नहीं। इसके अतिरिक्त एक युग-धर्म भी हुआ करता है। वह अपनी विशेषता लेकर आता और उसी को अपने लिए महत्त्व देता है। अब यह युग सार्वभौम साहित्य का. सब साहित्यों के संकलन-संगठन का है।" 'हमारा वर्तमान काव्य' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "यदि साहित्य या हमारा वर्तमान काव्य हिन्दू-संस्कारों में ही बँधा रहा—उन संस्कारों में, जो आज तक हमें बाँधकर संकीर्ण दायरे में एक प्रकार हमारी

रक्षा मुसलमान-संस्कृति के प्रचार से करते रहे--तो हमारी भावना की सीमा बढ़ नहीं सकती।" फिर वे कहते हैं, "आज हमारे सामने एक दूसरा ही प्रश्न साहित्य के भीतर से हल होने के लिए आया है। वह है प्रसार, इतना कि समस्त विश्व के मनुष्य हमारी मनुष्यता के दायरे में आ जायँ, हर तरह, कर्म वाणी और मन से भी।" भारतीय संस्कृति की दुहाई देनेवालों को उन्होंने 'काव्य-साहित्य' शीर्षक निबन्ध में कड़ी फटकार बतलायी है: "हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। धन्य है, हे संस्कृति के बच्चो! —नस-नस में शरारत भरी, हजार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक में दम हो गया, अभी संस्कृति लिये फिरते हैं।" उक्त प्रसार की भावना से प्रेरित होकर ही निराला ने व्रजभाषा का विरोध और खड़ी बोली का पक्ष-समर्थन किया। उन्होंने निर्द्वन्द्व भाव से कहा: "जो लोग व्रजभाषा के प्रेमी हैं, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिन्दी की नवीन संस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिन्दी की नवीन कृतियों को नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्रायः व्रजभाषा की श्रेष्ठता ज़ाहिर करने के लिए, तब उनकी इस रुचि की वजह उन्हें प्रयत्न करके साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए।" कारण यह कि "वे अपने ही घर को संसार की हद समझते हैं। साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धा क्या है, अपने व्यक्तित्व को साहित्य के भीतर से एक साहित्यिक किस प्रकार बढ़ा सकता है, अपर साहित्यों से भावों के आदान-प्रदान के लिए कैसी शिष्टता, कितनी उदारता होनी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृतिगत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन-से भाव सार्वजनीन और कौन-से एकदेशीय हैं, उन्हें पता नहीं। चिरकाल से एक ही समाज के चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गयी है, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रखी जाती है, तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दोहाई देकर उसके देशनिकाले पर तुल जाते हैं।"

इन बातों का यह मतलब कतई नहीं है कि निराला अपने साहित्य का विकास जातीय या राष्ट्रीय विशेषताओं को छोड़कर करने के लिए कहते हैं, या कि उनके मन में एक विश्ववादी साहित्य के निर्माण की कल्पना है। 'सौन्दर्य-दर्शन और कवि-कौशल' शीर्षक अपने निबन्ध के आरम्भ में ही उन्होंने कहा है कि "विश्व के लोग उसी कविता का आदर करेंगे, जो भावना में विश्व-भर की कही जा सकेगी। उसके बाहरी उपकरण तो एकदेशीय होंगे ही।" यह सार्वभौमता और एकदेशीयता की द्वन्द्वात्मकता है—रचना का रूप एकदेशीय, लेकिन उसका अन्तर्य सार्वभौम! निराला जिन मानव-मूल्यों को आधार बनाकर साहित्य-सृजन पर बल देते हैं, वे प्रत्यक्षतः सार्वभौम हैं। रही बात साहित्य के जातीय और राष्ट्रीय रूप की, तो उस सम्बन्ध में भी उनका कथन देख लेना चाहिए। 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध में वे यह पते की बात कहते हैं कि भाषा में प्राणशक्ति जातीय जीवन के साथ सम्बद्धता से आती है। उनका वाक्य है: "प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति-सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी

सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायेगा कि प्राणशक्ति उस भाषा में है।" उन्होंने व्रजभाषा-खड़ी बोली-विवाद में खड़ी बोली का पक्ष लिया, लेकिन उक्त निबन्ध में ही यह भी कहा कि "व्रजभाषा में भाषाजन्य जातीय जीवन था, जो बुद्ध के बाद के संस्कृत-कवि और दार्शनिकों में नहीं। इसलिए, यह निर्विवाद है कि व्रजभाषा के बाद की जो भाषा होगी, उसमें व्रजभाषा के कुछ चिह्न जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर अवश्य होंगे। खड़ी बोली का उत्थान व्रजभाषा के पश्चात् होता है। इसलिए व्रजभाषा के कुछ जीवन-चिह्न उसमें रहने जरूरी हैं।" 'जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर' और 'जीवन-चिह्न' ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

निराला की आलोचना की अनेक विशेषताएँ हैं। उसमें जितनी दृष्टि की तीक्ष्णता है, उतनी ही संवेदनशीलता भी। अभी पन्तजी का न 'पल्लव' निकला था, न 'वीणा', लेकिन उन्होंने उनका अभिनन्दन खड़ी बोली के प्रथम नैसर्गिक कवि के रूप में किया। बिहारी और रवीन्द्रनाथ की कविता की तुलना की तो रवीन्द्रनाथ की कविता की विशेषता उन्होंने यह कहकर बतलायी : "यह ध्वनि आप गूँजती है, इसकी झनकार कवि की अँगुलियों से नहीं होती।" वे काव्य-कौशल से अच्छी तरह परिचित थे इसलिए यह तुरत पहचान लेते थे कि कहाँ सफाई है, कहाँ उलझाव, भाषा कैसी है, उक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं या नहीं, कहाँ कृत्रिमता है, कहाँ स्वाभाविकता आदि। वे अर्थ-मीमांसा बहुत बढ़िया करते हैं, जिसका उदाहरण उनका 'सौन्दर्य-वर्णन और कवि-कौशल' शीर्षक निबन्ध है। 'विद्यापति और चण्डिदास' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने दिखलाया है कि विद्यापति में सौन्दर्य-वर्णन की क्षमता भी थी, जबकि चण्डिदास मुख्यतः भावुक थे; एक कलावन्त भी था, जबकि दूसरा मात्र कवि। यह निष्कर्ष निराला की प्रौढ़ आलोचनात्मक क्षमता का प्रमाण है। उनका 'पन्तजी और पल्लव' शीर्षक निबन्ध हिन्दी आलोचना का 'मास्टरपीस' है। यह अत्यन्त वेगपूर्ण आलोचना है, जिसमें पन्तजी की कविता के गुण-दोषों का अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण किया गया है। यह आलोचना राग-द्वेष से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि एक साहित्यिक आवश्यकता से प्रेरित होकर लिखी गयी है। निराला के प्रत्यालोचनात्मक निबन्धों का भी महत्त्व है, क्योंकि उनमें वे केवल अपना बचाव नहीं करते, कविता की समझ बढ़ाकर छायावादी कविता और इस तरह हिन्दी कविता का हित-साधन करते हैं। उनकी प्रत्यालोचना बहुत ही सटीक और चुभती हुई होती है। हास्य-व्यंग्य उनकी आलोचना की जान है। वैसे ही कभी-कभी वे उसे संस्मरणात्मक स्पर्श प्रदान कर सरस बना देते हैं। बीच-बीच में उनमें ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जो उनकी आलोचना को रचना के स्तर तक उठा देती हैं : "भावुकता की मादक-शक्ति विद्यापति में भी है, और बड़ी ही तीव्र, जैसे नागिन का जहर···", "उस समय के समाज, पार्लमेण्ट और बड़े-बड़े आदमियों के स्वभावों को जिस तरह शेली अपने शब्दों की शिखाओं से झुलसा देता है, उसी तरह रवीन्द्रनाथ भी अपनी पराधीन जाति को", "कला के विकास के साथ-साथ साहित्य में नयी भाषा भी विकसित होती है। हरा कँड़ेदार मजबूत डण्ठल ही कृशांगी नवीन कला को चाहिए" आदि।

कुछ असंगतियों के बावजूद निराला की आलोचना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही रूपों में हिन्दी आलोचना का एक अत्यन्त सार्थक प्रकरण है। इसके द्वारा उन्होंने साहित्य में प्राचीन मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष किया और उसमें नयी दृष्टि तथा नयी संवेदना के विकास में मूल्यवान् योगदान दिया। हिन्दी के जो जाने-माने छायावादी आलोचक हैं, उनकी उनसे कोई तुलना नहीं है। निराला का सौन्दर्य-बोध जितना सूक्ष्म और नवीन था, उतना किसी छायावादी आलोचक का नहीं। निश्चय ही प्रेमचन्द और मुक्तिबोध के साथ वे हिन्दी के तीसरे महत्त्वपूर्ण रचनाकार-आलोचक हैं।

नन्दकिशोर नवल

रानीघाट लेन, महेन्द्रू
पटना-800006
28 सितम्बर, 1982

क्रम

परिशिष्ट

रवीन्द्र-कविता-कानन

परिचय

रवीन्द्रनाथ के जीवन के साथ बंगभाषा का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों के प्राण जैसे एक हों। रवीन्द्रनाथ सूर्य हैं और बंगभाषा का साहित्य सुन्दर पद्म। रवीन्द्रनाथ के उदय के पश्चात् ही बंग-साहित्य का परिपूर्ण विकास हुआ। रवीन्द्र-नाथ के आने के पहले इसके सौन्दर्य की यह छटा न थी, न इसके सुगन्ध की इतनी तरंगें संसार में फैली थीं। पश्चिमी विद्वानों के हृदय में बंगभाषा के प्रति उस समय इस तरह का अनुराग न था। वे मधुलुब्ध भौंरे की तरह इसकी ओर उस समय इतना न खिचे थे।

वह बंगभाषा के जागरण की पहली अवस्था थी। कुछ बंगाली जगे भी थे, परन्तु अधिकांश में लोग जगकर अँगड़ाइयाँ ही ले रहे थे। आँखों से सुषुप्ति का नशा न छूटा था। आलस्य और शिथिलता दूर न हुई थी। उस समय मधुर प्रभाती के स्वरों में उन्हें सचेत करने की आवश्यकता थी। उनकी प्रकृति को यह कमी खटक रही थी। जीवन की प्रगति, रूखी कर्त्तव्यनिष्ठा और कर्म-तत्परता को संगीत और कविता की सदा ही जरूरत रही है। बिना इसके जीवन और कर्म बोझ हो जाते हैं। चित्त-उच्चाट के साथ ही संसार भी उदास हो जाता है, जीवन निरर्थक, नीरस और प्राणहीन-सा हो जाता है।

प्रकृति की कमी भी प्रकृति के द्वारा ही पूर्ण होती है। जागरण के प्रथम प्रभात में आवेश भरी भैरवी बंगालियों ने सुनी—वह संगीत, वह तान, वह स्वर, बस जैसा चाहिए वैसा ही। जाति के जागरण को कर्म की सफलता तक पहुँचाने के लिए, चलकर जगह-जगह पर थकी बैठी हुई जाति को कविता और संगीत के द्वारा आश्वासन और उत्साह देने के लिए उसका अमर कवि आया, प्रकृति ने प्रकृति का अभाव पूरा कर दिया। ये सौभाग्यमान पुरुष बंगाल के जातीय महाकवि श्री रवीन्द्र-नाथ ठाकुर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्ण प्रथम चरण तक तथा अब तक रवीन्द्रनाथ कविता साहित्य में संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। इनके छन्द अनगिनित आवर्तों और स्वर-हिलोरों की मधुर अगणित थपकियों से पूर्ण थे और पश्चिम की पथरीली चट्टानें ढहकर नष्ट हो गयीं—विषमता की जगह समता की सृष्टि हुई। प्रतिभा के प्रासाद में संसार ने रवीन्द्रनाथ को सर्वोच्च स्थान दिया। देखा गया कि एक रवीन्द्रनाथ में बड़े-बड़े कितने ही महाकवियों के

गुण एकसाथ मौजूद हैं। परन्तु इस बीसवीं सदी में जिसे प्राप्त कर संसार बसन्तोत्सव मना रहा है, वह कभी विकसित, पल्लवित, उच्छ्वसित, मुकुलित, कुसुमित, सुरभित और फलित होने से पहले अंकुरित दशा में था।

अंकुर को देखकर उसके भविष्य-विस्तार के सम्बन्ध में अनुमान लगाना निरर्थक होता है। क्योंकि प्रायः सब अंकुर एक ही तरह के होते हैं। उनमें होनहार कौन है और कौन नहीं, यह बतलाना ज़रा मुश्किल है। इसी तरह, वर्त्तमान के महाकवि को उनके बालपन की क्रीड़ाएँ देखकर पहचान लेना, उनके भविष्य के सम्बन्ध में सार्थक कल्पना करना, असम्भव है। क्योंकि उनके बालपन में कोई ऐसी विचित्रता नहीं मिलती, जिससे यौवन-काल की महत्ता सूचित हो। जो लोग वर्त्तमान के साथ अतीत की शृंखला जोड़ते हैं, वे वर्त्तमान को देखकर ही उसके अनुकूल अतीत की युक्तियाँ रखते हैं। रवीन्द्रनाथ के बाल्य की वह कृश नदी—उसका वह छोटा-सा तट, सब नदियों की तरह पानी की क्षुद्र चंचलता, आनन्द-आवर्त्त, गीत और नृत्य; यह सब देखकर उसके भविष्य-विस्तार की कल्पना कर लेना सरासर दुस्साहस है।

जिस समय रवीन्द्रनाथ अपने बालपन के क्रीड़ा-भवन में केलियों की कच्ची दीवारें उठाने और ढहाने में जीवन की सार्थकता पूरी कर रहे थे, अपना आवश्यक प्रथम अभिनय खेल रहे थे, वह बंग-साहित्य का निरा बाल्यकाल ही न था, न वह किशोर और यौवन का चुम्बन-स्थल था, वह किशोरता की मध्यस्थ अवस्था थी। बाल्य डूब रहा था और सौन्दर्य में एक खिचाव रह-रहकर आ रहा था। बाल्य की स्मृति-विस्मृति एक दूर की स्मृति-विस्मृति हो रही थी। बंगभाषा उस समय नौ वर्ष की एक बालिका थी।

उस समय राजा राममोहनराय के द्वारा बंगभाषा में गद्य का जन्म हो चुका था। उनकी प्रभावशालिनी लेखनी की बंगला साहित्य में मुहर लग चुकी थी। भाषा के शोधन और मार्जन में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हाथ लगा चुके थे। कविता की नयी ज्योति खुल चुकी थी—हेमचन्द्र मैदान में आ चुके थे। बंकिमचन्द्र उपन्यास और गद्य साहित्य में जीवन डाल चुके थे। नवीनचन्द्र की ओजस्विनी कविताएँ निकल रही थीं। मधुसूदनदत्त के द्वारा अमित्राक्षर छन्द की सृष्टि हो गयी थी।

इतना सब हो जाने पर भी वह बंग-भाषा में यौवन का शुभ भाव न था। जो कुछ था, वह बाल्य और किशोरता का परिचय मात्र ही था। किशोरी बंगभाषा के साथ इस समय अपनी मातृभूमि की मृदुल गोद पर खेल रहे थे किशोर रवीन्द्र-नाथ—बंगभाषा के यौवन के नायक—उसकी लीला के मुख्य सहचर—उसके तीसरे युग के एकछत्र सम्राट।

कलकत्ता के अपने जोड़ासाँको भवन में 1861 की 6 मई को रवीन्द्रनाथ पैदा हुए थे। इस वंश की प्रतिष्ठा बंगाल में पहले दर्जे की समझी जाती है। अलावा इसके इस वंश को एक और सौभाग्य प्राप्त था जो श्रीमानों को अक्सर नहीं मिलता। इस वंश में लक्ष्मी और सरस्वती की पहले ही से समान दृष्टि है। इसके लिए ठाकुर वंश बंगाल में विशेष प्रसिद्ध भी है। लक्ष्मी और सरस्वती के पार-स्परिक विरोध की कितनी ही कहानियाँ हिन्दुस्तान में मशहूर हैं। बंगाल में इन दोनों की मित्रता के उदाहरण में सबसे पहले ठाकुर घराने का नाम लिया जाता है।

रवीन्द्रनाथ के पिता स्वर्गीय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे और पितामह स्वर्गीय द्वारकानाथ ठाकुर। शारदा देवी आपकी माता थीं।

ठाकुर-वंश पिराली ब्राह्मण समाज की ही एक शाखा है। इस वंश को 'ठाकुर' उपाधि अभी पाँच ही छः पुश्त से मिली है। इस वंश के साथ बंगाल के दूसरे ब्राह्मणों के समाज का खान-पान बहुत पहले ही से नहीं है। इस वंश के इतिहास से मालूम हुआ कि पहले इस वंश की मर्यादा इतनी बढ़ी-चढ़ी न थी। वह बहुत साधारण भी न थी। समाज में इसके पतित समझे जाने के कारण इसमें क्रान्ति करनेवाली शक्तियों का अभ्युत्थान होना भी स्वाभाविक ही था। ईश्वर की इच्छा, क्रान्ति के भावों के फैलाने के लिए इस वंश की शक्ति को साधन भी यथेष्ट मिले और समाज से दबकर मुरझाने के बदले देश और संसार में उसने एक नयी स्फूर्ति फैलायी। धर्म, दर्शन, विचार-स्वातन्त्र्य, साहित्य, संगीत, कला और प्रायः सभी विषयों में ठाकुर घराने की इस समय एक खास सम्मति रहती है। संसार में उसकी सम्मति आदरयोग्य समझी जाती है। सामाजिक बाधाओं के कारण विलायत-यात्रा, धर्म-संस्कार, साहित्य-संशोधन और सभ्यता के हरएक अंग पर अपनी कृतियों के चिह्न छोड़ने का इस वंश को एक शुभ अवसर मिला।

श्राद्ध के समय इस घराने में दस पुरुषों तक के जो नाम आते थे वे ये हैं :—

"ओं पुरुषोत्तमाद बलरामो बलरामार्द्धरहरो हरिहराद्रामानन्दो रामानन्दान्महेशो पंचाननः पंचाननाज्जये रामो जय रामान्नीलमणि नीलमणे रामलोचनो रामलोचनाद्द्वारकानाथो नमः पितृपुरुषेभ्यो नमः पितृपुरुषेभ्य।"

"पुरुषोत्तम—बलराम—हरिहर—रामानन्द—महेश—पंचानन—जयराम—नीलमणि—रामलोचन—द्वारकानाथ—देवेन्द्रनाथ—रवीन्द्रनाथ—रथीन्द्रनाथ।

ठाकुर-वंश भट्टनारायण का वंश है। भट्टनारायण उन पाँच कान्यकुब्जों में हैं जिन्हें आदिशूर ने कन्नौज से अपने यहाँ रहने के लिए बुलाया था और बंगाल में खासी सम्पत्ति देकर उन्हें प्रतिष्ठित किया था। संस्कृत के वेणी-संहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण यही थे। जिनका नाम पितृपुरुषों की वंश-सूची में पहले आया है, वे पुरुषोत्तम यशोहर जिले के दक्षिण डिहो के रहनेवाले पिराली वंश के एक ब्राह्मण की कन्या से विवाह करके पिराली हो गये थे। ये यशोहर में रहने भी लगे थे।

इसी वंश के पंचानन यशोहर से गोविन्दपुर चले आये। यह मौजा हुगली नदी के तट पर बसा है। यहाँ नीच जातियाँ ज्यादा रहती थीं। ये उन्हें 'ठाकुर' कहकर पुकारती थीं। बंगाल में ब्राह्मणों के लिए यह सम्बोधन आमफहम है। इस तरह, पंचानन के बाद से इस वंश की यही 'ठाकुर' उपाधि चली आ रही है।

गोविन्दपुर में जब पंचानन पहले-पहल गये और बसे, उस समय भारत में अंग्रेज पैर जमा ही रहे थे। वहाँ के अंग्रेजों में पंचानन की जान-पहचान हो गयी। अंग्रेजों [illegible] ा, 24 परगने का जमींदार मुकर्र [illegible] हट्टे में एक मकान बनवाया और [illegible] न्त हो गया। उनके चार पुत्र थे। [illegible] ायण ने कलकत्ते के पथरिया

हट्टा और जोडासाँको में दो मकान बनवाये। इस वंश की सम्पत्ति का अधिक भाग रवीन्द्रनाथ के पितामह द्वारकानाथ ने स्वयं उपार्जित किया था और उनके ऋण के कारण उसका अधिकांश चला भी गया।

इस वंश का धर्म पहले शुद्ध सनातन धर्म ही था। उस समय ब्राह्म-समाज बीजरूप में भी न था। इसके प्रतिष्ठाता रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ थे। इस समाज की प्रतिष्ठा कई कारणों से की गयी थी। पहला कारण तो यही है कि ब्राह्मण-समाज में इस वंश की प्रतिष्ठा न थी। दूसरे इस वंश के लोगों में शिक्षा और संस्कृति बढ़ गयी थी। भावों में उदारता आ गयी थी। ये विलायत-यात्रा के पक्ष में थे। द्वारकानाथ विलायत हो भी आये थे। इन कारणों से समाज की दृष्टि में इस वंश की जो जगह रह गयी थी, वह भी जाती रही। इस वंश को इसकी बिलकुल चिन्ता नहीं हुई। ज्ञान-विस्तार के साथ ही इसकी सुरुचि भी परिष्कृत होती गयी। तुच्छ अभिमान की जगह उन्नत आर्य-संस्कृति का अभिमान पैदा हुआ। जाति और देश के प्रति प्रेम और प्रतिभा ने इस वंश को गौरव के शिखर पर स्थापित किया। रवीन्द्रनाथ का रंग और रूप देखकर आर्यों के सच्चे रंग एवं रूप की याद आ जाती थी। समाज और देश के मुख्य मनुष्यों द्वारा बाधा प्राप्त होने के कारण इस वंश के लोगों को अपने विकास के पथ पर अग्रसर होने की आत्म-प्रेरणा हुई। ये बढ़े भी और बहुत बढ़े। इनकी प्रतिभा में नयी सृष्टि रचने की जो शक्ति थी उसने देश और साहित्य का बड़ा उपकार किया, दोनों में एक युगान्तर पैदा कर दिया। जिसमें सृष्टि के हजारों मनुष्यों को उस मार्ग पर चलाने की शक्ति है, जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव पर टिका हुआ है, जिसकी बुद्धि अपने विचारों से अपने को धोखा नहीं देती, वह हजार उपेक्षाओं और असंख्य बन्धनों में रहने पर भी अपनी स्वाधीन गति के लिए रास्ता निकाल लेता है। इन लोगों ने भी ऐसा ही किया। अपने लिए आर्यसंस्कृति के अनुसार धर्म और समाज की सुविधा भी कर ली। इनके यहाँ अभी उस दिन तक देवी-देवताओं की पूजा हुआ करती थी। इन लोगों ने ब्राह्म-समाज की स्थापना की और वेदान्त वेद्य ब्रह्म की उपासना करने लगे। रवीन्द्रनाथ के पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ तो पक्के ब्राह्म-समाजी थे, परन्तु इनकी माता के हृदय में हिन्दूपन की छाया, मूर्ति पूजन के संस्कार, मृत्यु के अन्तिम समय तक मौजूद थे।

देश की तात्कालिक परिस्थिति जैसी थी, ईसाई धर्म जिस वेग से बंगाल में धावा मार रहा था, सनातनधर्मियों की संकीर्णता जिस तरह क्षुद्र होती जा रही थी, शहप्राप्ति की प्यास जिस तरह बंगालियों को पश्चिम की ओर बढ़ा रही थी, उन कारणों से उस समय एक ऐसे धर्म का उद्भव होना आवश्यक था जो बाहरी देशों से लौटे हुए हिन्दुओं को भारतीयता के घेरे में रखकर उसमें पारस्परिक ऐक्य और सहानुभूति बनाये रह सके—जाति-भिन्नता में भी एकता के बन्धनों को दृढ़ कर सके। दूसरी दृष्टि से, जिस तरह पण्डितों की संकीर्णता सक्रिय थी, उसी तरह देश में उदारता की एक प्रतिक्रिया होना आवश्यक हो गया था, यह अवश्यम्भावी था और प्राकृतिक भी था।

पहले-पहल राजा राममोहनराय के मस्तिष्क में ब्राह्मसमाज की स्थापना के

भाव पैदा हुए थे। परन्तु ब्राह्मसमाज को स्थायी रूप वे नहीं दे सके। इससे पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। इसे स्थायी रूप मिला, रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के द्वारा। जिस समय देवेन्द्रनाथ के हृदय में अद्वैत ब्रह्म की उपासना की आशा दूसरों की दृष्टि से बचकर पुष्ट हो रही थी, उस समय उनके यहाँ शालिग्राम की पूजा बड़े धूमधाम से की जाती थी। परन्तु, जिस बीज का अंकुर उग चुका था, उसका फलीभूत होना स्वाभाविक था। अस्तु 1838 ई. में महर्षि ने तत्वरंजिनी नाम की एक सभा की प्रतिष्ठा की। इसकी स्थापना उन्होंने अपने घर पर ही की थी। इसके दूसरे अधिवेशन के समय विद्यावागीश रामचन्द्र को उन्होंने बुलाया। विद्यावागीश महोदय ने इस सभा का नाम तत्वरंजिनी बदलकर तत्वबोधिनी रखा। 1842 ई. में यह सभा निर्जीव ब्राह्मसमाज के साथ मिला दी गयी। इसी साल महर्षि देवेन्द्रनाथ भी ब्राह्मसमाजी हो गये। इसमें नया जीवन डालने और कुछ दूसरे कारण से देवेन्द्रनाथ महर्षि कहलाये। उनके सुपुत्रों ने इस कार्य में उनकी सहायता की। किसी समय रवीन्द्रनाथ ने बड़ी योग्यता और तत्परता के साथ पिता के इस कार्य का संचालन किया था।

रवीन्द्रनाथ का बालपन सुख की कल्पनाओं और सरल केलियों के भीतर संसार का प्रथम परिचय प्राप्त कर मधुर और बड़ा ही सुहावना हो रहा था। रवीन्द्रनाथ उच्च वंश के लड़के थे। उन्हें कोई अभाव न था। परन्तु उन्हें बालपन में दीनता की गोद पर सहानुभूति की प्रार्थना करते हुए देखकर हृदय को अपार सुख की प्राप्ति होती है। उन्हें ऐसा ही साधारण जीवन बिताना पड़ा था।

रवीन्द्रनाथ पढ़ने के लिए ओरियण्टल सेमीनरी में भर्ती किये गये। उस समय इनके स्कूल जाते हुए एक ऐसी ही घटना घटी। पहले इनके दो साथी उस स्कूल में भर्ती किये गये। वे इनसे उम्र में कुछ बड़े थे। उन्हें बग्घी पर चढ़कर स्कूल जाते हुए और स्कूल से लौटकर बाहर के मनोरंजक दृश्यों का वर्णन करते हुए सुनकर रवीन्द्रनाथ को स्कूल जाने की बड़ी लालसा हुई। परन्तु इनकी उम्र उस समय बहुत थोड़ी थी। लोगों ने समझाया कि इस समय तो स्कूल जाने के लिए मचल रहे हो, परन्तु दो-चार दिन के बाद फिर जी चुराओगे। यह भय बालक रवीन्द्रनाथ को सत्याग्रह से विचलित न कर सका। आँसुओं के बल पर बालक की विजय हुई। दूसरे दिन रवीन्द्रनाथ ओरियण्टल सेमीनरी में बच्चों की कक्षा में भर्ती कर दिये गये। यहाँ बच्चों पर जैसा शासन था, इससे रवीन्द्रनाथ को बहुत शीघ्र यहाँ की पढ़ाई से जी छुड़ाना पड़ा।

ओरियण्टल सेमीनरी से बालक रवीन्द्रनाथ को नार्मल स्कूल में भर्ती कर दिया गया। उम्र इस समय भी इनकी बहुत थोड़ी ही थी। यहाँ दूसरी ही दिक्कत का सामना करना पड़ा। यहाँ बच्चों से अंग्रेजी में गाना गवाया जाता था। अंग्रेजी थियोरियाँ और अँगरेजी गाने सिखलाये जाते थे। हिन्दुस्तानी बच्चों के गले में मजकर एक अँगरेजी गाने की ऐसी शकल बन गयी थी कि उस पर इस समय के शब्द-तत्ववेत्ताओं को पाठोद्धार के लिए विचार करना चाहिए। रवीन्द्रनाथ को इस समय भी उस गाने की एक लाइन न भूली—

"कलोकी पुलोकी सिंगल
मेलालि मेलालि मेलालि ।"

इसके उद्धार के लिए रवीन्द्रनाथ को बड़ी मिहनत उठानी पड़ी । फिर भी "कलोकी" की सफल कल्पना नहीं कर सके । बाकी अंश का उन्होंने इस तरह उद्धार किया—"Full of glee, Singing merrily ! Singing merrily ! ! Singing merrily ! ! !"

नार्मल स्कूल में विद्यार्थियों के सहवास को रवीन्द्रबाबू ने बहुत ही दूषित बतलाया है । जब लड़कों के जलपान की छुट्टी होती थी, उस समय नौकर के साथ बालक रवीन्द्रनाथ को एक कमरे में बन्द रहना पड़ता था । इस तरह बालकों के उत्पात से वे आत्मरक्षा करते थे । एक दिन वहाँ किसी शिक्षक ने अपशब्द कह दिये । तब से उनके प्रति बालक रवीन्द्रनाथ की अश्रद्धा हो गयी । फिर बालक ने उस शिक्षक के किसी प्रश्न का कभी उत्तर नहीं दिया ।

रवीन्द्रनाथ ने सात ही वर्ष की उम्र में एक कविता पमार छन्द में लिखी थी । इसे पढ़कर इनके घरवालों को बड़ी प्रसन्नता हुई । यह कविता रवीन्द्रनाथ ने अपने भानजे ज्योति स्वरूप से उत्साह पाकर लिखी थी । उम्र में वे इनसे बड़े थे, अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते थे । इनके बड़े भाई स्वर्गीय द्विजेन्द्रनाथ को यह कविता पढ़कर बड़ा ही हर्ष हुआ । उन्होंने बहुतेरों को कविता दिखायी और एक दिन नेशनल पेपर के एडीटर नवगोपाल बाबू के आने पर उन्हें भी कविता सुनायी गयी । वर्तमानकाल के समालोचकों की तरह अनुदार और ज़रा-सी सम्मति देनेवालों की उस समय भी कमी न थी । नवगोपाल बाबू भी आखिर सम्पादक थे, गम्भीरतापूर्वक हँसे । दबे स्वरों में कहा, "हाँ, अच्छी तो है, ज़रा द्विरेफ खटकता है ।" नवगोपाल बाबू कविता के मर्मज्ञ थे या नहीं, यह तो हम नहीं कह सकते, परन्तु इतना हमें मालूम है कि उनकी कविता-मर्मज्ञता के सम्बन्ध में उस समय के बालक रवीन्द्रनाथ के जो भाव थे वे अब तक भी नहीं बदल सके, न अब तक वह द्विरेफ शब्द रवीन्द्रनाथ को खटका ।

बचपन में रवीन्द्रनाथ पर नौकरों का शासन रहता था । इन्हीं के बीच में वे पल रहे थे । रवीन्द्रनाथ के पिता उन दिनों पर्यटन कर रहे थे । अक्सर बाहर ही रहा करते थे । रवीन्द्रनाथ को माता की गोद पर पहली सीढ़ी के पार करने का सौभाग्य न मिला । माता उस समय रोग-ग्रस्त रहती थीं । रवीन्द्रनाथ की देखरेख नौकरों द्वारा ही हुआ करती थी । बड़े घरों के लड़के बालपन में भोजन-वस्त्र का अभाव नहीं महसूस करते । यह बात रवीन्द्रनाथ के लिए न थी—भोजन और वस्त्र का सुख-भोग उस समय इन्हें नहीं मिला । सुख उन्हें उनकी क्रीड़ाएँ देती थीं । उन्हीं की छाया में वे प्रसन्न होते थे । दस वर्ष तक रवीन्द्रनाथ को मोजा भी नहीं मिला । जाड़े के दिनों में दो सादे कुर्ते पहनकर जाड़ा काटना पड़ता था । रवीन्द्रनाथ ने अपने बालपन को जिन शब्दों में याद किया है, उनसे वे हरएक पाठक की सहानुभूति आकर्षित कर लेते हैं । एक जगह उन्होंने लिखा है, "इस तरह के अभावों से मुझे कष्ट न होता था । परन्तु जब हमारे यहाँ का दर्जी इनायत खाँ कुर्ते में जेब लगाना भी अनावश्यक समझता था तब दुःख अवश्य होता था ।" एक

जोड़ा स्लीपरों से बालक को जूते का शौक पूरा कर लेना पड़ता था। इस तरह के स्लीपरों से रवीन्द्रनाथ की इतनी सहानुभूति थी कि जहाँ उनके पैर रहते वहाँ जूतों की पहुँच न होती थी।

नौकरों के प्रभाव का एक उदाहरण लीजिए। इनके यहाँ एक नौकर खुलना जिले का रहना था। नाम श्याम था। था भी श्याम ही। एक रोज बालक रवीन्द्रनाथ को कमरे में बैठाकर चारों ओर से उसने लकीर खींच दी और गम्भीर होकर कहा, इसके बाहर पैर बढ़ाया नहीं कि आफत का पहाड़ टूटा। सीता की कथा रवीन्द्रनाथ पढ़ चुके थे। वे नौकर की बात पर अविश्वास न कर सके। वे चुपचाप वहीं बैठे रहे। इस तरह कई घण्टे उन्हें बैठे रहना पड़ा। झरोखे से अपने घर के पक्के घाट पर लोगों की भीड़, बगीचे में चिड़ियों की चहक, पूर्व ओर की चहारदीवारी के पास का चीनावट, पड़ोसियों का आना, नहाना, नहाने के प्रकार भेद, ये सब दृश्य बालक रवीन्द्रनाथ को उस कैद में भी धैर्य और आनन्द देनेवाले उनके परम प्रिय सहचर थे। उनके बालपन का अधिकांश समय प्रकृति के दूसरे छोर की मोहिनी सृष्टि के साथ उन्हें मैत्री के बन्धन में बाँधकर न जाने किस अलक्षित प्रेरणा से उनके भावी जीवन के आवश्यक अंग का सुधार कर रहा था। घर की प्रकृति के साथ रवीन्द्रनाथ का एक बड़ा ही मधुर परिचय हो गया था। उनके किशोर समय के आते ही यह प्रकृति की सुकुमार कविता के रूप में प्रगट हुआ।

प्रकृति-दर्शन की कितनी ही कथाएँ बालक रवीन्द्रनाथ की जीवनी में मिलती हैं। विस्तार भय से उनका उल्लेख हम न करेंगे। संक्षेप में इतना कह देना बहुत होगा कि जीवन की इस अवस्था को देखकर कवि के भावी जीवन का कुछ अनुमान हो जाता है।

नार्मल स्कूल के एक शिक्षक रवीन्द्रनाथ को घर पर भी पढ़ाते थे। ये नीलकमल घोषाल थे। स्कूल की अपेक्षा घर पर रवीन्द्रनाथ को अधिक पढ़ना पड़ता था। सुबह को लँगोट कसकर एक काने पहलवान से ये जोर करते थे। कुछ ठण्डे होकर, कुर्ता पहन, पदार्थ-विद्या, मेघनादवध काव्य, ज्यामिति, गणित, इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयों का अभ्यास करना पड़ता था। फिर स्कूल से लौटकर ड्राइंग और जिमनास्टिक सीखते थे। रविवार को गाना सिखलाया जाता था। सीतानाथ दत्त महाशय मन्त्रों के द्वारा कभी-कभी पदार्थ-विज्ञान की शिक्षा देते थे। कैम्बल मेडिकल स्कूल के एक विद्यार्थी से अस्थि-विद्या की शिक्षा मिलती थी। एक तारों से जोड़ा हुआ नरकंकाल पाठागार में लाकर खड़ा कर दिया गया था। उधर हेरम्ब तत्वरत्न मुकुन्द सच्चिदानन्द से आरम्भ कर 'मुग्धबोध' व्याकरण रटा रहे थे। बालक रवीन्द्रनाथ को अस्थि-विद्या के हाड़ों और वोपदेव के सूत्रों में हाड़ ही अधिक सरस और मुलायम जान पड़ते थे। बंगभाषा की शिक्षा के परिपुष्ट हो जाने पर इन्हें अँगरेजी की शिक्षा दी जाने लगी।

पहले-पहल इन्हें प्यारीलाल की लिखी पहली और दूसरी पुस्तक पढ़ायी गयी, फिर एक पुस्तक आक्सफोर्ड रीडिंग की। अँगरेजी की शिक्षा में रवीन्द्रनाथ का जी न लगता था। पढ़ते-पढ़ते शाम हो जाती थी। मन अन्तःपुर की ओर भागा

करता था। दिन-भर की मिहनत के बाद थका हुआ मन क्रीड़ा की गोद छोड़कर विदेशी भाषा के निर्दय बोझ के नीचे दबा रहना कैसे पसन्द करता ? रवीन्द्रनाथ को इस समय की दयनीय दशा की स्मृति में लिखना पड़ा है, "उस अंग्रेजी पुस्तक की जिल्द, काली भाषा क्लिष्ट विषयों की, विद्यार्थियों से ज़रा भी सहानुभूति नहीं, बच्चों पर उस समय माता सरस्वती की कुछ भी दया नहीं देख पड़ी। प्रत्येक पाठ्य-विषय की ड्योढ़ी पर सिलेबुलों के द्वारा अलग किया हुआ उच्चारण, और ऐकसेण्टों को देखिए तो आप समझेंगे कि किसी की जान लेने के लिए बन्दूक पर संगीन चढ़ायी गयी है।" अंग्रेजी की पढ़ाई से रवीन्द्रनाथ की उदासीनता देखकर मास्टर सुबोधचन्द्र इन्हें बहुत धिक्कारते थे। इनके सामने एक दूसरे छात्र की प्रशंसा करते थे। परन्तु इस उपमान और उपमेय की छुटाई-बड़ाई यानी इस समालोचना का प्रभाव रवीन्द्रनाथ पर बहुत कम पड़ता था। कभी-कभी इन्हें लज्जा तो आती थी, परन्तु उस काली पुस्तक के अँधेरे में पैठने का दुस्साहस भी एकाएक न कर सकते थे। उस समय शान्ति का एकमात्र सहारा प्रकृति की कृपा होती थी। प्रायः देखा जाता है, क्लिष्ट विषयों के दुरूह दुर्ग के अन्दर पैठने के लिए हाथ-पैर मारकर थके हुए बच्चे के प्रति दया करके प्रकृति देवी उसे निद्रा के आराम-मन्दिर में ले जाती है। रवीन्द्रनाथ की भी यही दशा होती थी। पुतलियाँ नींद की सुखद मदिरा पीकर पलकों की गोद में शिथिल होकर धीरे-धीरे मुँद जाती थीं। इतने पर भी इन्हें विदेशी शिक्षा की निर्दय चेष्टाओं से मुक्ति न मिलती थी। आँखों में पानी के छीटे लगाये जाते थे। इस दुर्दशा से मुक्ति के दाता इनके बड़े भाई थे। अपने छोटे भाई की शिक्षा-प्रगति को प्रत्यक्ष करते ही उन्हें दया आ जाती थी। वे मास्टर से कहकर इन्हें छुट्टी दिला देते थे। आश्चर्य तो यह है कि वहाँ से चलकर बिस्तरे पर लेटने के साथ ही रवीन्द्रनाथ की नींद भी गायब हो जाती थी।

नार्मल स्कूल छोड़कर ये बंगाल एकाडमी नाम के एक फिरंगी स्कूल में भर्ती हुए। वहाँ भी अंग्रेजी से इन्हें विशेष अनुराग न था। वहाँ कोई इनकी निगरानी करनेवाला भी न था। वह स्कूल छोटा था। उसकी आमदनी कम थी। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, "स्कूल के अध्यक्ष हमारे एक गुण पर मुग्ध थे। हम हर महीना, समय-समय पर, स्कूल की फीस दे दिया करते थे। यही कारण है कि लैटिन का व्याकरण हमारे लिए दुरूह नहीं हो सका। पाठ-चर्चा के अक्षम्य अपराध से भी पीठ अक्षत बनी रहती थी।"

बचपन में कविता लिखने की इन्होंने एक कापी आसमानी रंग के कागजों की बनायी थी। उसके कुछ पद्य निकल चुके हैं। होनहार तो ये पहले ही से थे। इनकी पहले की कविताओं में प्रतिभा यथेष्ट मात्रा में मिलती है। लेकिन, निरे बचपन से कविता करते रहने पर भी, इन्हें, कुछ अँगरेज, कौले और ब्रौनिंग की तरह, बचपन का प्रतिभाशाली कवि नहीं मानते। कुछ भी हो, हमें रवीन्द्रनाथ के उस समय के पद्यों में भी बड़ी ही सरस सृष्टि मिलती है।

पश्चिमी-संसार रवीन्द्रनाथ को नदी का कवि (River poet) मानता है। हैं भी रवीन्द्रनाथ नदी के कवि। उनकी कविताओं में जगह-जगह, अनेक बार, नदी

का सौन्दर्य, प्रवाह और तरंगों की मनोहरता दिखलायी गयी है। सफल भी रवीन्द्र-नाथ इन कविताओं में बहुत हुए हैं। नदी की कविता उनके लिए स्वाभाविक है। बंगाल नदियों के लिए प्रसिद्ध है। उधर रवीन्द्रनाथ के जीवन का बहुत-सा समय, नदियों के किनारे, उनके प्राकृतिक सौन्दर्य की उदार गोद में बीता है। सौन्दर्य-प्रियता रवीन्द्रनाथ की प्रकृति में उनके पिता की प्रकृति से दूसरी तरह की है। उनके पिता हिमालय शिखर-संकुल प्रदेश पसन्द करते थे, परन्तु रवीन्द्रनाथ को, समतल भूमि पर दूर तक फैली हुई, हरी-भरी, हँसती हुई, चंचल तथा विराट प्रकृति अधिक प्यारी है। जिन्हें रवीन्द्रनाथ आदर्श मानते हैं, वे कालिदास भी पर्वत-प्रिय कवि थे। रवीन्द्रनाथ की मौलिकता की यहाँ भी स्वतन्त्र चाल है।

पन्द्रहवें साल से पहले ही रवीन्द्रनाथ कुछ कविताएँ कर चुके थे। उनकी पहले की कविताएँ और समालोचना 'ज्ञानांकुर' में निकलती थीं। उन दिनों 'भारती' में भी ये लिखा करते थे। पहली और सबसे बड़ी इनकी कवि-कथा नाम की कविता 'भारती' में निकली थी। इस समय यह पुस्तिकाकार विकती है। कहते हैं कि जीवन की इस अवस्था में अँगरेज कवि शेली इन्हें बहुत प्यारा था। चूंकि यह उनकी कविता की पहली ज्योति थी—यौवन-काल की पहली रागिनी थी, इसलिए भावुकता और सर्वलोकप्रियता इसमें बहुत है। जीवन की अधखुली अवस्था में स्वभावतः संसार की ओर बहकर, अपनी धारा में उसे बहा ले चलने की भावना की प्रतिभा हरएक कवि में होती है। यही हाल उस समय रवीन्द्रनाथ का भी था। उनकी निर्जनप्रियता भी हद दर्जे की थी। अपने विकास की उलझनों को एकान्त में बैठे हुए दो-दो और तीन-तीन घण्टे तक वे सुलझाते रहते थे। हृदय की आँख इस तरह खुल रही थी। कुछ दिनों बाद बनफूल के नाम से इनकी एक दूसरी पुस्तक निकली। यह उनकी ग्यारह से पन्द्रह साल तक की कविताओं का संग्रह था। उन कविताओं से कुछ ही कविताएँ इस समय के संग्रह में रह गयी हैं। बीसवें साल के अन्दर-ही-अन्दर 'गाथा' नाम की एक पुस्तक और उन्होंने कविता-कहानी में लिखी। रवीन्द्रनाथ के अँगरेज समालोचक लिखते हैं कि इसे पढ़कर जान पड़ता है कि रवीन्द्रनाथ पर इस समय स्काट का प्रभाव था। बीसवें साल के अन्दर ही भानु-सिंह-संगीतों के बीस गाने तक उन्होंने लिख डाले थे। कहते हैं कि इस समय से रवीन्द्रनाथ का यथार्थ साहित्यिक जीवन शुरू होता है।

लेकिन, इस बीसवें साल से पहले जब वे सोलह साल के थे, 20 सितम्बर, 1877 को, पहली बार वे विलायत के लिए रवाना हुए थे और साल-भर बाद 4 नवम्बर 1878 को बम्बई वापस आये। 'भारती' में इनकी योरप-पर्यटन पर लिखी गयी कुछ चिट्ठियाँ निकल चुकी हैं जिससे सूचित हो जाता है कि योरप उस समय इनके लिए सन्तोषप्रद नहीं हो सका। अरुचिकर चाहे जितना रहा हो, परन्तु सर्वांशतः योरप इनके लिए निष्फल नहीं हुआ। सबसे बड़ा लाभ तो इन्हें यही हो गया कि जिस महत्ता को रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द और संगीतों द्वारा ये सार्वभौमिक करने के लिए पैदा हुए थे उसके समुद्बोधन के लिए इन्हें वहाँ यथेष्ट साधन मिल गये। पहली बात तो यह है कि इन्होने पृथ्वी का विशाल भाग उचित उम्र में प्रत्यक्ष देख लिया। दूसरी बात, संसार की बहुत-सी सभ्य जातियों की

शिक्षा और उनके आचार-व्यवहारों की परीक्षा हो गयी। तीसरे, प्राकृतिक दृश्यों की विचित्रता और हर प्रकृति के मनुष्यों का बाहरी प्रकृति के साथ आभ्यन्तरिक मेल, उसका वैज्ञानिक कारण, वहाँ जाने पर सब समझ में आ गया। बर्फ का गिरना और दूर फैली हुई बर्फीली भूमि की शोभा भी वहाँ दृष्टिगोचर हो गयी। अस्तु, विलायत पर लिखे गये रवीन्द्रनाथ के पत्र बड़े सरस हैं। यों भी रवीन्द्रनाथ बंगाल के पहले दर्जे के पत्र लेखक हैं। कभी-कभी बंगला के पत्रों में इनकी चिट्ठियाँ छपा करती थीं। विलायत से लौटने के कुछ ही दिनों के बाद 'मेघनाद-वध' काव्य पर इनकी एक प्रतिकूल समालोचना निकली। इस पैनी समालोचना पर अब ये हँसते हैं। कहते हैं, वह शक्ति की पहली अवस्था थी जब 'मेघनाद-वध' काव्य पर लिखी गयी मेरी समालोचना प्रकाशित हुई थी। उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि मैं बंगाल के अमर कवि की प्रतिकूल समालोचना लिख रहा हूँ।

इन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथ का 'करुणा' उपन्यास निकला। इस समय अक्सर कवि करुणा के पथिक हुआ करते हैं। संसार के दुःख और दाह के चित्रों से उनकी पूर्ण सहानुभूति रहा करती है। 'भग्न हृदय' नामक इस समय की लिखी हुई एक दूसरी पुस्तक में ऐसे ही भावों का समावेश हुआ है। यह पद्य-बद्ध नाटक है। यह रवीन्द्रनाथ की अठारह साल की उम्र में लिखा गया था। सोलहवें साल से तेइसवें साल तक की रवीन्द्रनाथ की स्थिति बड़ी चंचल थी। कोई शृंखला तब न हो पायी थी। उद्देश्य सदा ही परिवर्तित होते रहते थे।

1881 से 1887 तक का समय रवीन्द्रनाथ के लिए सच्चा साहित्यिक काल है। इस समय उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से विकसित हो गयी थी। इसी समय उनकी 'सन्ध्या-संगीत' नामक कविता पुस्तक निकली थी। इसके निकलने के साथ ही, बंगाल-भर में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा चमक उठी। उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों तक ने रवीन्द्रनाथ का लोहा मान लिया। कविता की दृष्टि से इनकी ये कविताएँ बड़े महत्त्व की हैं। उनमें एक विचित्र ढंग की नवीनता आ गयी है जो उस समय के कवियों और समालोचकों के लिए बिल्कुल एक नयी चीज थी। 'बाल्मीकि प्रतिमा' और 'काल-मृगया' दोनों ही संगीत-काव्य हैं। रवीन्द्रनाथ की नस-नस में धारा बह रही है। इनके अँगरेज समालोचक संगीत की दृष्टि से इन्हें बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। उस स्थान के लिए ये योग्य भी हैं। भावों के अतिरिक्त इनके शब्दों में बड़ा जोर है और छन्दों का बहाव जैसा वे चाहें बिल्कुल वैसा ही है। भाषा, भाव और छन्दों पर इतना बड़ा अधिकार, इन पंक्तियों के लेखक को, और कहीं नहीं मिला। उस दिन रवीन्द्रनाथ पर दी गयी बंगला के प्रसिद्ध औपन्यासिक शरत बाबू की यह राय कि "मेरा विश्वास है, भारत में इतना बड़ा कवि नहीं पैदा हुआ" बहुत अंशों में सच है। मुझे भी विश्वास है कि तुलसी को छोड़कर मुसलमानी शासनकाल से लेकर आज तक इतना बड़ा कवि भारत में नहीं पैदा हुआ।

'सन्ध्या-संगीत' अलक्ष्य भाव से 'प्रभात-संगीत' की ओर इशारा करती है, जैसे कुछ दिनों में इस नाम की पुस्तक भी निकलनेवाली हो। ऐसा ही हुआ। 'सन्ध्या-संगीत' के प्रकाशित हो जाने पर कुछ दिनों में 'प्रभात-संगीत' भी निकला। इसने बंगला-साहित्य में धूम मचा दी। इसकी भाषा, इसके भाव, इसके छन्द, सब

विचित्र ढंग के ; एक बिल्कुल अनूठापन लिये हुए। इस तरह की कविता बंगालियों ने पहले ही पहल देखी थी, और निस्सन्देह कविताएँ कवित्व की हद्द तक पहुँची हुई हैं। वहुतों को यहाँ तक भी विश्वास है कि रवीन्द्रनाथ की कविताओं में 'प्रभात-संगीत' के पद्य सर्वश्रेष्ठ हैं, कम-से-कम ओज और छन्दों के बहाव के विचार से तो अवश्य ही श्रेष्ठ हैं। फिर इनका 'विविध-प्रसंग' निकला। इसकी भाषा बिल्कुल नये ढंग की है। अपने पुराने उपन्यासों में रवीन्द्रनाथ जिसे आदर की दृष्टि से देखते हैं, वह 'बहू ठाकुरानीर हाट' भी इसी समय निकला था।

रवीन्द्रनाथ के 'प्रभात-संगीत' की कविताएँ आगे दी गयी हैं। उनसे मालूम हो जाता है कि रवीन्द्रनाथ के हृदय में किस तरह की उथल-पुथल मची हुई थी। संसार से मिलने के लिए वे किस तरह व्याकुल हो रहे थे। हृदय का बन्द द्वार कविता के आते ही खुल गया और प्रेम की जो धारा बही, उन्हें उनकी कविताओं के साथ, संसार-भर में वहाती फिरी।

1883 ई. में, कुछ समय तक वे करवार—पश्चिमी उपकूल में रहे। यहाँ वे प्रसन्न रहते थे। यहाँ की प्रकृति—उसकी विशालता—दूर तक फैली, आकाश से मिलती हुई, उन्हें बहुत पसन्द आयी। इसी साल, दिसम्बर में 22 वर्ष की उम्र में, उनका विवाह हो गया।

'प्रकृतिर परिशोध' लिखने के बाद कलकत्ता लौटकर उन्होंने 'छबि ओ गान' लिखा। कलकत्ता, जोड़ासाँको भवन से वे नजदीक की कुटिया में रहनेवाले निर्धन गृहस्थों का जीवन, दैनिक स्थिति, एकान्त में चुपचाप बैठे हुए देखा करते थे। सहानुभूतिशील कवि-हृदय में उसका प्रभाव पड़े बिना न रहता था। इस पर उन्होंने दुःखान्त एक नाटक लिखा—'नलिनी'। अब यह पुस्तक अप्राप्य है। इससे बढ़कर उनका दूसरा दुःखान्त नाटक 'मायार खेला' निकला।

करवार से लौटने के पश्चात् रवीन्द्रनाथ की मानसिक स्थिति बदल गयी थी। अब पहले की तरह निराशा न थी। आदर्शविहीन जीवन को साहित्य का मजबूत आधार मिल गया था। 'प्रभात संगीत के निकलने के बाद से जीवन पूर्ण और हृदय दृढ़ हो गया था। साहित्य-लक्ष्य पर स्थित हो जाने के कारण, इधर वे लगातार लेखनी-संचालन करते गये। 'आलोचना' में उनके कई प्रबन्ध निकले। समालोचक, रवीन्द्रनाथ प्रथम श्रेणी के हैं। शब्दों को सजाने और सत्य को लापता करनेवाले समालोचकों की तरह ये नहीं हैं। इनकी समालोचना चुभती हुई, यथार्थ ही सत्य को भाव और भाषा के भूषणों के साथ रखनेवाली हुआ करती है। इसी समय, 'राजर्षि' नामक एक उपन्यास इनका लिखा हुआ निकला, पीछे से यह नाटक में 'विसर्जन' के नाम से बदल दिया गया। यह उच्चकोटि का नाटक माना जाता है। इसके बाद, 'समालोचना', उनके प्रवन्धों का दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। इन दिनों बंगाल में बंकिमचन्द्र की तूती बोलती थी। बड़े-बड़े साहित्यिक उनकी धाक मानते थे। उनके उपन्यासों का खूब प्रचार बढ़ रहा था। बंकिमचन्द्र की प्रतिभा की ओर रवीन्द्रनाथ भी आकृष्ट हुए। दोनों में मित्रता हो गयी लेकिन कोई भी एक दूसरे के व्यक्तित्व को दबा नहीं सका। कुछ ही दिनों बाद मित्रता का परिणाम घोर प्रतिवाद हो गया। रवीन्द्रनाथ की 'हिन्दू-विवाह' पर दी गयी वक्तृता ने दोनों

में विवाद ला खड़ा कर दिया। जिस पर रवीन्द्रनाथ के प्रयोग ज्यादा जोरदार जान पड़ते हैं, समय के खयाल से आदर्श अवश्य ही बंकिमचन्द्र का बड़ा था। यह 1887 ई. का विवाद बड़े ऊँचे दर्जे का है। इसके अतिरिक्त 1888 ई. में कई और कविताएँ लिखकर रवीन्द्रनाथ ने बालिका-विवाह की खबर ली है।

यौवन की पूरी हद तक पहुँचने के पहले ही रवीन्द्रनाथ का 'कड़ी ओ कोमल' पुस्तिकाकार निकला। उनके छन्द और संगीत के सम्बन्ध पर विचार करनेवाले पश्चिमी समालोचकों की समझ में नहीं आया कि रवीन्द्रनाथ पर वास्तव में संगीत का प्रभाव अधिक है या छन्दों का। दोनों इस खूबी से परिस्फुर कर दिये जाते हैं कि समालोचकों की बुद्धि काम नहीं देती—वे जब जिसे देखते हैं तब उसे ही रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ कारीगरी समझ लेते हैं। हमारे विचार से रवीन्द्रनाथ दोनों के सिद्ध कवि हैं। संगीत पर उनका जितना जबरदस्त अधिकार है उतना ही अधिकार छन्दों पर है।

1887 ई. से 1895 ई. तक रवीन्द्रनाथ का साहित्यिक कार्य यौवन की विकसित अवस्था का कार्य है। इस समय उन्हें कोई अशान्ति नहीं, घात-प्रतिघातों से चित्त को क्षोभ नहीं होता, सहनशीलता काफी आ गयी है और सौन्दर्य को पराकाष्ठा तक पहुँचाने की कुशलता भी हासिल हो गयी। भाषा के पंख बढ़ गये हैं, भावना असीम-स्वर्ग की ओर इच्छानुसार स्वच्छन्द भाव से उड़ सकती है।

1887 ई. में रवीन्द्रनाथ गाजीपुर गये। कल्पना की मृदुल गोद का सुकुमार युवक-कवि, हरे-भरे दृश्यों से घिरा हुआ, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए दत्तचित्त हो रहा है। 'मानसी' के अधिकांश पद्य यहीं लिखे गये थे। 'मानसी' में रवीन्द्रनाथ कविता की नन्दन-भूमि में हैं—उसके एकमात्र प्रियतम कवि।

'मानसी' में, जहाँ, 'भैरवी' जैसी भावात्मक उत्कृष्ट कविताएँ हैं, वहाँ, 'सूरदासेर प्रार्थना' और 'गुरु गोविन्द' जैसी ऐतिहासिक, शान्ति-रस से भरे हुए, उच्च-कोटि के शिक्षाप्रद पद्य भी हैं। 'बंग-वीर' की तरह हास्य-रस की कविताएँ भी कई हैं। 'मानसी' पाठकों की मानसी ही है।

मानसी के बाद 'राजा ओ रानी' निकला। यह नाटक रवीन्द्रनाथ के उच्च-कोटि के नाटकों में है।

गाजीपुर छोड़ने के बाद रवीन्द्रनाथ की इच्छा हुई कि ग्रैण्डट्रंक रोड से, बैल-गाड़ी पर सवार हो, पेशावर से बंगाल तक का भ्रमण करें। लेकिन उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। उनके पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ ने उन्हें आज्ञा दी, "कुछ काम भी करो।" सियालदा में जमींदारी का काम था। पहले तो काम के नाम से रवीन्द्रनाथ कुछ डरे, परन्तु पीछे सम्मति दे दी। जमींदारी सँभालने से पहले दोबारा कुछ काल के लिए वे विलायत हो आये। अबकी योरप-भर में पर्यटन किया और योरोपियन और जर्मनी संगीत सीखकर लौटे। उनकी यात्रा का विवरण 'योरोपियन यात्री की डायरी' के नाम से निकल चुका है।

लौटकर सियालदा में जमींदारी सँभालने लगे। इस समय रवीन्द्रनाथ की उम्र तीस साल की थी। तमाम सभ्य संसार के लोगों से मिलकर भारत के सम्बन्ध में उन्होंने अपना स्वतन्त्र विचार निश्चय कर लिया था। वे समझ गये थे कि देश को

शिक्षित करने के लिए किस उपाय का अवलम्ब उचित होगा। वर्तमान शिक्षा देश को ज्ञान के आधार पर स्थित नहीं रख सकती। वह शक्ति इसमें नहीं। यह शिक्षा तो नौकरों की ही संख्या बढ़ा सकेगी। इस समय के विचारपूर्ण लेखों में उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा भी है। जितने वर्तमान आन्दोलन हो रहे हैं, इनमें देश को उन्नतिशील करने के अनेक आन्दोलनों पर पहले ही रवीन्द्रनाथ लिख चुके हैं, परन्तु आज उनसे वे अलग कर दिये जाते हैं। इन दिनों जातीय शिक्षा को जो महत्त्व दिया जा रहा है और जिसके लिए जितने ही राष्ट्रीय स्कूल खुल रहे हैं, इस प्रसंग पर बहुत पहले ही रवीन्द्रनाथ लिख चुके हैं। दूरदर्शिता रवीन्द्रनाथ में हद दर्जे की थी। उनकी प्रखर दृष्टि जिस तरह सौन्दर्य की कुछ बातों का आविष्कार कर लेती, उसी तरह दूर स्थित भविष्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को भी वह प्रत्यक्ष कर लेती थी। रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही नहीं, वे एक ऊँचे दर्जे के दार्शनिक भी हैं। यह रवीन्द्रनाथ का साधना-समय था। इस समय के लिए साधना के अँगरेजी-व्याख्यानों में रवीन्द्रनाथ की दूरदर्शिता के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। 'भारती' में इन व्याख्यानों का अनुवाद लगातार निकलता और 'भारती' से अन्य पत्रिकाओं में भी उद्धृत हुआ करता था। इस समय रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा सर्वतोमुखी हो रही थी। वे कविता तो करते ही थे, राजनीतिक और दार्शनिक भावनाओं के भी केन्द्र हो रहे थे।

जमींदारी का काम करते समय प्राकृतिक आनन्द रवीन्द्रनाथ को खूब मिलता था। इनकी जमींदारी एक जगह पर नहीं थी। रवीन्द्रनाथ ने अपने एक प्रबन्ध में, हाल ही में लिखा है, उनकी जमींदारी तीन जिलों में है। हिस्से में बँटी रहने के कारण बोट (छप्परवाली नाव) पर सवार होकर प्रकृति के मनोहर दृश्यों का अन्तरंग आनन्द प्राप्त करने का इन्हें खासा सुयोग मिल गया। अधिकांश समय पद्मा के विशाल वक्षःस्थल पर व्यतीत होता था। नदी पर रवीन्द्रनाथ की कविताएँ भी बहुत-सी हैं और सब एक-से-एक बढ़कर।

जमींदारी का काम लेकर सर्वसाधारण से मिलने का मौका भी रवीन्द्रनाथ को मिला। वे पहले भी मनुष्य-प्रकृति का निरीक्षण किया करते थे। अपने जोड़ासाँको भवन से लोगों को अनेक प्रकार से नहाते हुए देखकर उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। इस विषय पर वह स्वयं लिख चुके हैं। उसी मकान के इधर-उधर झोपड़ों के रहनेवाले निर्धन गृहस्थों का व्यवहार, उनका पारस्परिक आदान-प्रदान, उनकी दिनचर्या आदि देखकर उनके जीवन पर चुपचाप एकान्त में वे विचार किया करते थे। परन्तु यहाँ उन्हें व्यक्तिगत रूप से गरीब किसानों के साथ व्यवहार करना पड़ा। इससे जीवन की भीतरी अवस्था, उसके सुख और दुःख के चित्र वे अच्छी तरह देख सके। साहित्य का एक अंग और जोरदार हो गया।

जमींदारी के कार्य में रवीन्द्रनाथ ने अच्छी योग्यता दिखायी। कार्य में चारुता आ गयी और जमींदारी पहले से सुधर गयी। रवीन्द्रनाथ ने सिद्ध कर दिया कि प्रबन्ध कार्यों में भी वे दक्ष हैं। उन्होंने कृषि की उन्नति की। कितने ही उपाय पैदावार बढ़ाने के निकाले। लोगों को उनसे सन्तोष हुआ।

इस समय रवीन्द्रनाथ सुखी थे। उनकी दिनचर्या भी अच्छी थी। उनके लेखों

में सूचित है, पद्मा की गोद उन्हें बहुत पसन्द आयी। छिन्न-पत्र के नाम से उनकी कुछ गद्य-पंक्तियाँ और 'चित्रा' इसी समय लिखी गयी थी। 'चित्रा' का स्थान रवीन्द्रनाथ की कविताओं में बहुत ऊँचा है। लेकिन क्रमशः उनकी कविता उन्नति करती गयी। इसलिए कहना पड़ता है कि बाद की कविताएँ और अच्छी हैं। वैसे तो जीवन के अन्तिम दिनों मे रवीन्द्रनाथ ने जो कविताएँ लिखी हैं, हमारी समझ में उनका स्थान और ऊँचा है। सौन्दर्य की इतनी मनोहर सृष्टि बहुत कम मिला करती है।

इन्हीं दिनों 'चित्रांगदा' नाटक निकला। रवीन्द्रनाथ के नाटकों में 'चित्रांगदा' की जोड़ का दूसरा नाटक नहीं। यह सौन्दर्य के विचार से कहा जा रहा है। 'चित्रांगदा' पर प्रतिकूल समालोचना बहुत हो चुकी है। बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार डी. एल. राय महाशय की एक तीव्र आलोचना निकल चुकी है। उन्होंने आदर्श का पक्ष लिया था। 'चित्रांगदा' के सौन्दर्य को आदर्श भ्रष्ट करनेवाला करार देते हुए उन्होंने समालोचना समाप्त की है। परन्तु रवीन्द्रनाथ की कवित्वशक्ति की उन्होने मुक्तहस्त होकर प्रशंसा की है। यह सच है कि 'चित्रांगदा' पौराणिक आख्यान के आधार पर लिखी गयी है, इसलिए पौराणिक भावों की रक्षा होनी चाहिए थी, अर्जुन और चित्रांगदा के विषय-वासना की ओर जितना ध्यान रवीन्द्रनाथ ने दिया है, उतना उनकी शुद्धि और सन्तोष पर नहीं दिया। डी. एल. राय का यह विवाद आदर्श की दृष्टि से बुरा न था। परन्तु कुछ भी हो, कवि स्वतन्त्र है। उस पर ये दोष नहीं मढ़े जा सकते। दमयन्ती जैसी सती के सम्बन्ध पर लिखते हुए जैसा नग्न चित्र श्रीहर्ष ने खींचा है, वह उनके नैषध में प्रत्यक्ष कीजिए।

कुछ लोग 'चित्रांगदा' को नाटक न कहकर उत्कृष्ट कविता कहते हैं। रवीन्द्रनाथ के अँगरेज समालोचक तो 'चित्रांगदा' के अँगरेजी अनुवाद 'चित्रा' पर मुग्ध हैं। वे नाटकों में 'विसर्जन' को रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ नाटक मानते हैं। साथ ही उनका कहना है कि विसर्जन बंगला-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसी समय 'सोनार तरी' निकली। इसकी अधिकांश कविताएँ छायावाद पर हैं। परन्तु हैं बड़ी सुन्दर। यह रवीन्द्रनाथ की नवीनता लेकर आयी। दूसरी कविताओं से इसकी प्रकाशन-धारा बिलकुल नये ढंग की है। कुछ दिनों बाद 'चित्रा' निकली। जीवन के प्रथमार्द्ध काल में इससे अधिक मोहिनी सृष्टि रवीन्द्रनाथ की दूसरी नहीं। सौन्दर्य इसमें हद तक पहुँच गया है। कहते हैं इनकी 'उर्वशी' कविता संसार-भर की एक श्रेष्ठ कविता है। उर्वशी आगे, उद्धरण में, दी गयी है।

1895 ई. में 'साधना' समाप्त हो गयी। इसी साल 'चैताली' के अधिकांश पद्य निकले और 1896 ई. में कविताओं का पहला संग्रह प्रकाशित हुआ। साधना के निकल जाने के कुछ ही समय बाद 'चैताली' छपकर तैयार हुई। 'चैताली' के नामकरण में भी कविता है। एक तरह के धान चैत में होते हैं। उसी के नाम पर 'चैताली' नाम रक्खा गया। 'चैताली' यानी रवीन्द्रनाथ चैत के अन्तिम दाने चुन रहे हैं। 1887 ई. से 1900 ई. के अन्दर रवीन्द्रनाथ की चार और प्रसिद्ध पुस्तकें निकलीं—'कल्पना', 'कथा', 'कहानी' और 'क्षणिका'।

1901 ई. में मृत 'बंगदर्शन' में फिर से जान आयी—रवीन्द्रनाथ उसके

सम्पादक हुए।

इसी साल बोलपुर के पासवाले इनके आश्रम की नींव पड़ी। रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के यहाँ, ऊँची और खुली भूमि पर, बड़े-बड़े पेड़ देखकर साधना करने की इच्छा हुई थी। अब 'शान्ति-निकेतन' के नाम से यह संसार में प्रसिद्ध है। इस समय से ज्यादातर रवीन्द्रनाथ यहीं रहा करते थे। शान्ति-निकेतन भारतीय ढंग का विश्वविद्यालय हो, यह रवीन्द्रनाथ की आन्तरिक इच्छा थी। भविष्य के विश्वविद्यालय को वे बतौर एक छोटे से स्कूल के चलाने लगे। कलकत्ता विश्वविद्यालय की शिक्षा से उन्हें बड़ी घृणा थी। वे इसकी बुनियाद तक खोद-कर हटा देने के लिए तैयार थे। भारतीय ढंग से बालकों को शान्ति-निकेतन में आदर्श शिक्षा मिलती है।

1901 ई. से 1907 ई. तक रवीन्द्रनाथ ने उपन्यास लिखने में बड़ा परिश्रम किया। उनका 'गोरा' उपन्यास इसी समय निकला था। हृदय में उत्साह भी उमड़ रहा था और वे सदा कर्म-तत्पर भी रहा करते थे। परन्तु एकाएक उनका सारा हौसला पस्त हो गया। जीवन की धारा ही बदल गयी। 1902 ई. में उनकी स्त्री का देहान्त हो गया। इस समय रवीन्द्रनाथ का धैर्य देखने लायक था। हृदय दो टूक हो गया था, परन्तु शान्त गम्भीरता के सिवा, प्रसन्न मुख पर दुःख की छाया भी नहीं पड़ी। गम्भीरता की स्थिति में एकान्तप्रियता स्वभावतः बढ़ जाती है। अतः रवीन्द्रनाथ कुछ दिनों के लिए सांसारिक कुल सम्बन्ध तोड़कर अलमोड़ा चले गये। उनका छोटा लड़का माता के बिना एक क्षण भी न रहता था। रवीन्द्रनाथ बच्चे के लिए पिता व माता दोनों ही थे। 'कथा' की कुल कहानियाँ इस बच्चे के दिल-बहलाव के लिए ही लिखी गयी थीं। इसी साल उन्होंने 'स्मरण' लिखा —'स्मरण' उनकी पत्नी की स्मृति पर लिखा गया था। इसके कुल पद्य मर्मस्पर्शी हैं। सौन्दर्य को हद तक पहुँचाना तो रवीन्द्रनाथ के लिए बहुत आसान बात है। 1903 ई. में उन्होंने एक दूसरा उपन्यास 'दी रेक' लिखा। इसमें हिन्दू परिवार का आदर्श दिखलाया गया है कि परिवार में एक-दूसरे के प्रति हिन्दुओं की भाव-भक्ति, प्रेम और सेवा किस तरह की होती है। 1904 ई. में देश-भक्ति सम्बन्धी पद्यों का संग्रह, 'स्वदेश-संकल्प' के नाम से निकला। इसने बहुत जल्द लोकप्रियता प्राप्त कर ली। 1905 में 'खेया' निकली। इसी समय उनके छोटे लड़के की मृत्यु हो गयी।

1905 ई. में बंग-भंग आन्दोलन आरम्भ हुआ। बंगाल के कोने-कोने से एक ही आवाज उठने लगी। देशभक्ति दिखलाने का यह समय भी था। उस समय दल-के-दल बंगाली युवक स्वदेशी संगीत गाते हुए देश की जनता में नयी आग फूंक रहे थे। परन्तु इस समय जितनी जोरदार आवाज रवीन्द्रनाथ की थी उतनी किसी दूसरे की नहीं सुन पड़ी। कहते हैं कि राजनीति सम्बन्धी रवीन्द्रनाथ के जैसे जोरदार और तर्क-सम्बद्ध प्रबन्ध अँगरेजी साहित्य में भी बहुत कम निकलेंगे। विजय-मिलन, नामक वक्तृता रवीन्द्रनाथ के जोशीले गद्य का उदाहरण है।···

प्रतिभा का विकास

यों तो आत्म-विश्वास सभी मनुष्यों को होता है—सभी लोग अपनी शक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं, फिर कवियों और महाकवियों के लिए यह कौन बहुत बड़ी बात है। दूसरे लोगों को तो अनुमान मात्र होता है कि उनमें शक्ति की मात्रा इतनी है, परन्तु वे उस अनुमान को विषद रूप से जन-समाज के सामने रख नहीं सकते; कारण, उन पर वागदेवी की वैसी कृपा-दृष्टि नहीं होती; परन्तु जो कवि हैं, उन्हें जब अपनी प्रतिभा का ज्ञान हो जाता है तब वे, दूसरों की तरह निर्वाक रहकर अथवा थोड़े ही शब्दों में, अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं देते। वे तो अपने लच्छेदार शब्दों में पूर्ण रूप से उसे विकसित पर दिखाने की चेष्टा करते हैं। नहीं तो फिर सरस्वती के वरपुत्र कैसे? महाकवि श्रीहर्ष ने अपने नैषध-काव्य की अध्याय-समाप्ति में और कहीं महाकवि भवभूति ने भी, कैसे पुरजोर शब्दों में अपने महत्व की याद की है, यह संस्कृत के पण्डितों को अच्छी तरह मालूम है! परन्तु कवियों और महाकवियों के लिए इस तरह का वर्णन न तो अतिशय-कथन कहा जा सकता है और न प्रलाप ही। यह तो उनके आत्म-परिचय के रूप में किया गया उनका उतना ही स्वाभाविक उद्‌गार है जितना प्रकृति का वसन्त। अस्तु, प्रतिभा के विकास-काल में महाकवि रवीन्द्रनाथ किस तरह से हृदय की बातें खोल रहे हैं, सुनिए

"आजि ए प्रभाते सहसा केरने
पथहारा रबि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिये
आमार प्राणेर पर
बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा।"

(आज इस प्रभात के समय, सूर्य की एक किरण एकाएक अपनी राह क्यों भूल गयी, यह मेरी समझ में नहीं आता। वह कहीं ठहरने की जगह न पा, मेरे प्राणों पर आकर गिर रही है। मेरे हृदय की कन्दरा में बहुत दिनों के बाद किरण दिखायी दे रही है,—मेरी अन्धकार सलिल-राशि पर सोने की एक रेखा खिंची हुई है!)

पाठक! वर्णना की मनोहारिता पर ध्यान दीजिए। हृदय की इस उक्ति को अपने विचार के तराज़ू पर तोलकर देखिए, यह पूरी उतरती है या स्वाभावोक्ति में कहीं कोई कसर, कोई त्रुटि, कोई वाचालता, कोई बनावट या कोई मनगढ़न्त है।

कवि-हृदय का यह प्रथम प्रभात है। बाहर जिस किरण को पाकर कवि ने इतनी उक्तियाँ कही हैं, वह किरण बाहरी संसार के भगवान भुवन-भास्कर की

किरण नहीं, वह वनदेवी की ही प्रतिभा की किरण है--उसी की कनक-रेखा कवि के हृदय-पट पर खिच गयी है। बहुत दिनों तक हृदय में अन्धकार का राज्य था, वहाँ किसी तरह की ज्योति पहुँच न सकती थी। कवि भी अँधेरे में पड़ा हुआ था। जिस दिन हृदय में एकाएक इस कनक-किरण का प्रवेश हुआ, कवि चौंक पड़ा। अपने महान स्वरूप को देखकर वह मुग्ध हो गया। उसे पहले स्वप्न में भी यह विश्वास न था कि वह इतना महान है—उसके भीतर इतनी शक्ति है—इतनी विशालता है। वह इस सम्बन्ध में स्वयं कहता है—

"प्राणेर आवेग राखिते नारि,
थर थर करि कांपिछे वारि,
टलमल जल करे थल थल,
कल कल करि धरेछे तान।
आजि ए प्रभाते कि जानि केरने
जागिया उठेछे प्राण!"

(मैं अपने प्राणों के आवेग को रोक नहीं सकता। मेरे हृदय की सलिल-राशि थर-थर काँप रही है। जल टलमल कर रहा है—उथल-पुथल मचा रहा है—कल-कल स्वर से रागिनी अलाप रहा है। आज इस प्रभात में मेरे प्राण क्यों जग पड़े, यह मेरी समझ में नहीं आता!)

देखा आपने? यह काव्य-प्रतिभा के प्रथम विकास का समय है। हृदय खुल गया है। हृदय-सरोवर की सलिल-राशि छोटी-छोटी लहरियों से मचल रही है। कवि को यह देखकर आश्चर्य हो रहा है। उसने अपने जीवन-काल में अपनी अवस्था का इस तरह विपर्यय कभी नहीं देखा। यह सब उसको समझ में नहीं आता। वह आश्चर्य-चकित-सा अपने हृदय में लहरियों की चहल-पहल देख रहा है, उनके मृदु शब्दों में रागिनी की स्पष्ट झंकार सुन रहा है और वही रागिनी संसार को वह सुना रहा है।

जब तक कवि के हृदय की आँखें नहीं खुली थीं तब तक उसे अपनी पूर्व अवस्था का भान न था—जिस अन्धकार में पहले वह था, उसके सम्बन्ध में वह कुछ भी न जानता था। अँधेरे में पड़ा हुआ ही वह अपने सुख के कितने ही स्वप्न देखा करता था किन्तु उसे अँधेरा न जानता था, इसलिए कहता है—

"जागिया देखिनु चारिदिके मोर
पाषाणेरमित कारागार घोर
बुकेर उपरे आंधार बसिया
करिछे निजेरे ध्यान
नाजानि केनरे एतो दिन परे
जागिया उठेछे प्राण!"

(जगकर मैंने देखा, मेरे चारों ओर पत्थरों का बनाया हुआ घोर कारागार है, और मेरी छाती पर बैठा हुआ अन्धकार अपने ही स्वरूप का ध्यान कर रहा है। इतने दिनों बाद क्यों मेरे प्राण जग पड़े, यह मेरी समझ में नहीं आता।)

जब कवि की आँखें खुल जाती हैं, उसे अच्छे और बुरे का विवेक हो जाता है,

तभी वह अपनी और दूसरों की परिस्थिति का विचार कर सकता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ जगकर देखते हैं कि उनके चारों ओर पत्थरों का कारागार है। भला यह पत्थरों का कारागार है क्या चीज ? इसके यहाँ कई अर्थ हो सकते हैं और सभी सार्थक। पहले तो यह कहना चाहिए कि यह अज्ञान है क्योंकि जगकर कवि ने पहले अपनी पूर्व-परिस्थिति यानी अज्ञान को ही देखा होगा। भयानक अवस्था में पड़े हुए भी जिसका ज्ञान कवि को नहीं हो रहा था, पहले उसी की मूर्ति देखी होगी। अर्थात् ज्ञान होने पर पहले कवि ने अपने अज्ञान का अनुभव किया होगा। परन्तु कवि कहता है, मेरे चारों ओर पत्थरों का घोर कारागार है। इस 'चारों ओर' शब्द से सूचित होता है कि कवि को बाहर भी घोर अज्ञान देख पड़ा होगा—उसे बाहर के मनुष्य—उसके पास-पड़ोसवाले भी अज्ञान-दशा में दीख पड़े होंगे। कवि का यह दर्शन निरर्थक नहीं। उसके चारों ओर जो प्रकृति नजर आयी, वह भारत है। यहाँ पत्थर के कारागृह में कवि के साथ भारत भी है। आगे की पंक्ति में यह अर्थ और समझ में आ जाता है। जहाँ कवि कहता है, हृदय पर अन्धकार बैठा हुआ अपना ध्यान कर रहा है, वहाँ अन्धकार के साथ कवि अपने मोह का भी उल्लेख करता है और देश को दुर्दशाग्रस्त करनेवाले विदेशियों का भी। यहाँ विदेशियों की तुलना अन्धकार के साथ करके, उसे अपने और साथ ही देश के हृदय पर बैठकर अपना ध्यान करता हुआ यानी अपना स्वार्थ निकालता हुआ बतलाकर कवि देश की दुर्गति का चित्र ही आँखों के सामने रख देता है। यह अंकन इतनी सफलतापूर्वक किया गया है कि इसकी प्रशंसा के लिए कोई योग्य शब्द ही नहीं मिलता। यह पद्य एक ही अर्थ की सूचना नहीं देता, उसका पहला अर्थ खुला है, और वह पढ़ने के साथ पहले आध्यात्मिक भाव की ओर इंगित करता है। हृदय ज्ञान होने से पहले अन्धकाराच्छन्न हो रहा है। वहाँ किसी प्रकार का प्रकाश प्रवेश नहीं कर पाता। अन्धकार वहाँ बैठा हुआ अपने ध्यान में मग्न है। हृदय में अनेक प्रकार की अविद्याओं का राज्य हो रहा है। अविद्या के प्रभाव से वहाँ जितने प्रकार के अनर्थ हो सकते हैं, हो रहे हैं। ऐसे समय एकाएक हृदय पर की वह काली यवनिका उठ जाती है, वहाँ विद्या का प्रकाश फैल जाता है। अचानक यह परिवर्तन देखकर कवि अपने प्रकाश-पुलकित हृदय से कह उठता है—आज इतने दिनों बाद मेरे प्राणों में यह कैसा जागरण हो गया ?

अपने प्रेम और आनन्द के अनादि प्रवाह में बहता हुआ कवि कहता है—

"घुमाये देखिरे जेन स्वपनेर मोह माया,
पड़ेछे प्राणेर माझे एकटी हासिर छाया।
तारि मुख देखे देखे, आंधार हासिते सेखे,
तारि मुख चेये चेये करे निशि-अवसान,
सिहरि उठेरे वारि दोलेरे दोलेरे प्राण,
प्राणेर माझारे भासि, दोलेरे दोलेरे हासि,
दोलेरे प्राणेर परे आशार स्वपन मम
दोलेरे तारार छाया सुखेर आभास सम।

प्रणय प्रतिमा जबे स्वपने देखेरे कवि,
अधीर सुखेर भरे कांपे वुक थरे थरे,
कम्पमान वक्ष परे दोले से मोहिनी छवि,
दुखीर आधार प्राणे सुखेर संशय यथा,
दुलिया दुलिया सदा मृदु मृदु कहे कथा;
मृदु भय, कभु मृदु आश
मृदु हासी, कभु मृदु श्वास।
बहु दिन परे सोन विस्मृत गानेर तान,
दोलेरे प्राणेर माझे दोलेरे आकुल प्राण;
आध, आध, जागिछे स्मरणे,
पड़े पड़ नाहीं पड़े मने।
तेमनी तेमनी दोले, तारा‍टी आमार कोले,
कर ताली दिये वारि कल कल गान गाय
दोलाये दोलाये जेनो घूम पड़ाइते चाय।"

(सोते हुए मैंने देखा, स्वप्न की मोह-माया की तरह मेरे प्राणों में हँसी की एक छाया पड़ी हुई है। उसी का मुँह देख-देखकर अन्धकार भी हँसना सीखता है और उसी का मुँह जोहता हुआ वह रात्रि का अवसान कर देता है; (यह देख) पानी भी सिहर उठता है और मेरे प्राण भी झूमते रहते हैं। प्राणों के भीतर तैरती हुई हँसी भी झूम रही है—उसमें भी मन्द-मन्द कम्पन हो रहा है, और मेरे प्राणों में मेरी आशा का स्वप्न झूम रहा है और वहाँ झूमती-हिलती-काँपती है सुख के आभास की तरह तारों की छाया। जब स्वप्न में कवि अपनी प्रणय-प्रतिमा को देखता है, तब अधीर—सुख पर निर्भर—हृदय थर-थर काँपने लगता है और उस कम्पमान हृदय पर काँपती है वह मोहिनी छवि—जिस तरह दुखी के हृदय पर अन्धकार—प्राणों में सुख का संशय सदा काँप-काँपकर मृदु-मृदु बातें किया करता है। जिसमें मृदु भय भी है और कभी मृदु आशा भी झलक जाती है—मृदु हँसी है और कभी मृदु साँस भी बह चलती है। वह बहुत दिनों के बाद सुनी हुई भूले संगीत की तान हैं, जो प्राणों में काँप रही हैं और जिससे प्राण भी काँप रहे हैं, जिसकी अध-मुदी स्मृति मेरे स्मरण-पथ पर जग रही है—अभी-अभी आती है और फिर मुझे विस्मृति में छोड़ जाती है—इसी तरह वह तारा मेरी गोद में काँप रहा है, लहरियाँ तालियाँ बजा-बजाकर गाती हैं, मुझे झूले में झुलाकर मानो सुला देना चाहती हैं।)

जागरण के बाद यह कवि का आनन्दोद्गार है। वह सो रहा था—दृष्टि के आगे अँधेरा-ही-अँधेरा छाया हुआ था; ऐसे समय एक छोटी-सी तरंग की तरह—स्वप्न की सुन्दरता और चंचलता की तरह उसके हृदय में हँसी की एक बहुत छोटी लहर उठती है—अपने कम्पन के साथ—अपनी मृदु चंचलता के साथ—उसे भी चंचल कर देती है—उसे भी कँपा देती है। यहाँ कवि के दार्शनिक ज्ञान का भी आभास मिलता है और कविता में युक्ति की पुष्टि! कवि के हृदय में जब चक्राकार हँसी की हिलोर उठती है तब उसके साथ केवल वही नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व-छवि

उसे डोलती हुई और हँसती हुई नजर आती है। उसकी हँसी के मृदु कम्पन के साथ अन्धकार हँसता है, पानी के हिलोरें हँसती हैं, तारों की छाया में हँसी का कम्पन भर जाता है, स्वप्न की प्रणय-प्रतिमा हृदय के नृत्य के साथ-साथ हँसती है। दार्शनिक कहते हैं, जैसा भाव हृदय में होता है, बाहर भी उसी भाव की छाया देख पड़ती है। जब दुःख होता है तब जान पड़ता है, सम्पूर्ण प्रकृति खून के आँसू बहा रही है और जब हृदय में आनन्द का नृत्य होता है तब प्रकृति के पल्लव-पल्लव में उसे आनन्द का नृत्य देख पड़ता है। इस तरह दार्शनिक भीतर की प्रकृति और बाहर की प्रकृति में कोई भेद नहीं बतलाते। यहाँ महाकवि रवीन्द्रनाथ की जागृति के साथ ही जिस हँसी की छाया आकर उनके प्राणों को खिला जाती है, उसके साथ हम देखते हैं, विश्व-भर की प्रकृति कवि के इस आनन्द-स्वर में अपना स्वर मिलाकर उनकी मनोनुकूल रागिनी गाने लगती है। इस हँसी के चरित्र-चित्रण में आपने कमाल किया है अन्धकार को हँसाकर। जो अन्धकार पहले छाती का डाह हो रहा था, वह कवि की इस हँसी का मुँह देख-देख हँसना सीख रहा है। "तारि मुख देखे-देखे, आँधार हासिते सेखे" (इसका मुख देख-देखकर अन्धकार हँसना सीखता है।) यहाँ, 'हँसना सीखता है', इस वाक्य में साहित्य के साथ मनोविज्ञान की पूरी छटा है। अन्धकार स्वभावतः गम्भीर है। उसके लिए हँसना अपनी प्रकृति का अपमान करना है। और पहले कवि ने उसकी क्रूरता का ही दिग्दर्शन कराया है; यही नहीं किन्तु उसे बड़ा ही निठुर ओर ममतारहित—स्वार्थपर बतलाया है। ऐसी दशा में, यदि तवि अपनी सम्पूर्ण भीतरी और बाहरी प्रकृति के साथ उसे भी हँसाते तो मजा कुछ किरकिरा हो जाता। दूसरे कवि उसे हँसाना चाहते तो एकाएक हँसी दे सकते थे, परन्तु रवीन्द्रनाथ जैसे कुशल चित्रकार ऐसी भूल कब कर सकते थे? उन्होंने उसे हँसाया नहीं किन्तु वे अपनी हास्यमयी प्रकृति से उसे मुग्ध करके हँसाना सिखा रहे हैं। उनकी हँसी की हिलोर में अन्धकार का भी हृदय बिछल जाता है, वह भी हँसना चाहता है, परन्तु पहले कभी न हँसने के कारण वह हँस नहीं सकता—वह हास्यमयी प्रकृति का मुँह देखना चाहता है कि हँसे पर हँस नहीं सकता, अतएव हँसना सीख रहा है। यहाँ एक बात और ध्यान देने लायक है। पहले अन्धकार की निर्दयता दिखलायी जा चुकी है, विदेशियों की क्रूर प्रकृति के साथ भी उसकी तुलना की गयी है। परन्तु अब रवीन्द्रनाथ अपनी हास्यमयी प्रकृति की छटा दिखाकर उसे अपनी ओर इस तरह खींच लेते हैं कि उसे भी हँसने की इच्छा होती है—परन्तु क्रूर एकाएक हँस नहीं सकता—उधर हँसी का जमा हुआ रंग भी उस पर इस तरह पड़ जाता है कि वह अपने स्वभाव को वहाँ भूल जाता है और निर्दयता की अपेक्षा हास्य को ही ज्यादा पसन्द करता है, इसीलिए हँसना सीखता है। इससे सिद्ध है कि अपनी निर्भय और स्वाभाविक प्रसन्नता के द्वारा क्रूरों के मन पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। देश की ओर रवीन्द्रनाथ का यह भी एक बहुत बड़ा इशारा है और यौक्तिक तथा दार्शनिक तत्व की एक बात और कवि ने इन पंक्तियों में कह डाली है, पहले जीवन में अन्धकार था। जीवन का अन्धकार मोह-मय था अतएव निश्चेष्ट था, उसमें कोई भी क्रियाशीलता न थी, वह जड़ था। जब विद्या की ज्योति हृदय में

पहुँची, जागृति का युग आया, तब हृदय के मधुर स्पन्दन के साथ विश्व-संसार में कम्पन भर गया—तब हृदय के साथ सारी प्रकृति नृत्यमयी हो गयी—स्वप्न में नर्तन, हृदय में नर्तन, प्रणय की प्रतिमा में नर्तन, सुख की निर्भरता में नर्तन, मोहिनी प्रतिमा में नर्तन, स्मृति और अधमुदी विस्मृति में नर्तन, तारों में नर्तन, जल की लहरियों में नर्तन और सोते समय के झूले में नर्तन होने लगा—सबमें जीवन की स्फूर्ति आ गयी—पहले की—वह जड़ता दूर हो गयी।

अभी यह नर्तन बहुत ही मृदुल है, अभी यह कोमल कुमार का नर्तन है, अभी इसमें यौवन का उद्दाम ताण्डव नहीं आया। अभी इस प्रथम जागरण के नर्तन में केवल सौन्दर्य है, कर्म नहीं, सुख है किन्तु तृष्णा नहीं, प्रेम है किन्तु लालसा नहीं, कल्पना है किन्तु कला नहीं, जीवन है किन्तु संगठन नहीं। जब वह समय आता है, तब कवि की लालसा संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैल जाती है, जब हृदय अपने ही आधार में रहकर सन्नष्ट नहीं रहता—वह न जाने कहाँ,—उस किस विशालता को समेट लेना चाहता है, जब प्रतिभा सुन्दरी यौवन के सुचारु दर्पण में अपना प्रतिविम्ब देखकर कुछ गर्व करना, कुछ मान करना, कुछ अधिक प्रेम करना, कुछ वियोग करना, कुछ रूप का अभिमान करना सीखने के लिए लालायित होती है, तब महाकवि के हृदयोद्गार इन स्वरूपों में बदल जाते हैं—

"जागिया उठेछे प्राण,
(ओरे) उथली उठेछे वारी,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारी।
थर थर करि काँपिछे भूधर
शिला राशि राशि पड़िछे खसे,
फुलिया फुलिया फेनिल सलिल
गरजि उठिछे दारुण रोषे
हेथाय होथाय पागलेर प्राय
घुरिया घुरिया मातिया बेड़ाय,
बाहिरिते चाय, देखिते ना पाय
कोथाय करार द्वार।
प्रभाते रे जेनो लइते काड़िया,
आकाशेरे जेनो फेलिते छिड़िया
उठे शून्य पाने पड़े आछाड़िया
करे शेषे हाहाकार।
प्राणेर उल्लासे छुटिते चाय,
भूधरेर हिया टुटिते चाय,
आलिंगन तरे ऊर्द्ध्वे बाहु तुलि
आकाशेर पाने उठिते चाय।
प्रभात किरणे पागल होइया
जगत माझारे लुटिते चाय।

केन रे विधाता पाषाण हेनो,
चारिदिके तार बांधन केनो ?
भांगरे हृदय भांगरे बाधन,
साधरे आजिके प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आघात कर;
मातिया जखन उठेछे पराण,
किसेर आंधार किसेर पाषाण,
उथलि जखन उठेछे वासना
जगते तखन किसेर डर।"

(मेरे प्राण जग पड़े हैं, मेरे हृदय की सलिल-राशि उमड़ रही है, मैं अपने हृदय की वासनाओं को—अपने प्राणों के आवेग को रोक नहीं सकता। भूधर थर-थर काँप रहा है, शिलाओं की राशि उससे छूटकर गिर रही है। फेनिल सलिल फूल-फूलकर बड़े ही रोष से गरज रहा है। पागल की तरह वह जहाँ-तहाँ मतवाला होकर घूम रहा है। वह निकलना चाहता है। परन्तु कारागार का द्वार उसे देख नहीं पड़ता, मानो वह प्रभात को छीन लेने के लिए, आकाश को फाड़ डालने के लिए, शून्य की ओर बढ़ता है, परन्तु अन्त को रास्ते में ही गिरकर हाहाकार करता है। प्राणों के उल्लास से वह दौड़कर बढ़ना चाहता है, जिसे देखकर पहाड़ का हृदय भी टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहता है, वह आलिंगन के लिए ऊर्ध्व पथ की ओर अपनी बाँहें बढ़ाकर आकाश की ओर चढ़ जाना चाहता है। वह प्रभात की किरणों में पागल होकर संसार में लौटना चाहता है। विधाता ! इस तरह का पत्थर क्यों है ? उसके चारों ओर इस तरह के बन्धन क्यों हैं ? हृदय ! तोड़ इन बन्धनों को। अपने हृदय की साधना पूरी कर ले, लहरियों-पर-लहरियाँ उठाकर आघात-पर-आघात कर, जब प्राण मस्त हो रहे हैं तब अँधेरा कैसा और कैसा पत्थर ? जब वासना उमड़ चली है तब संसार में फिर किस बात का भय ?)

यह प्रतिभा-विकास की यौवन छटा है। आगे चलकर अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए महाकवि लिखते हैं—

"आमि—ढालिब करुणा-धारा
आमि—भांगिब पाषाण-कारा,
आमि—जगत् प्लाविया वेड़ाब गाहिया
आकुल पागल पारा।
केश एलाइया, फूल कुड़ाइया,
रामधनु आंका पाखा उड़ाइया,
रविर किरणे हासी छड़ाइया
दिबरे पराण ढाली।
शिखर होइते शिखरे घुरिब,
भूधर होइते भूधरे लुटिब,

हेसे खल खल, गेये कल कल
ताले ताले दिब ताली।
तटिनी होइया जाइब बहिया—
जाइब बहिया—जाइब बहिया—
हृदयेर कथा कहिया कहिया
गाहिया गाहिया गान,
जतो देव प्राण बहे जाबे प्राण,
फुरावे ना आर प्राण।
एतो कथा आछे, एतो गान आछे
एतो प्राण आछे मोर
एतो सुख आछे एतो साध आछे,
प्राण होये आछे भोर।"

(मैं करुणा की धारा बहाऊँगा, मैं पाषाण का कारागार तोड़ डालूंगा, मैं संसार को प्लावित करके व्याकुल पागल की तरह गाता हुआ घूमता फिरूँगा। मैं अपने बाल खोलकर फूल चुनकर, अपने इन्द्रधनुष के पंख फैलाकर सूर्य की किरणों में अपनी हँसी मिलाकर सबमें जान डालूंगा। मैं एक शिखर से दूसरे शिखर पर दौड़ूंगा, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर लोटूंगा, खिलखिलाकर हँसूंगा, कल-कल स्वरों में गाऊँगा और ताल-ताल पर तालियाँ बजाऊँगा। मैं नदी बनकर हृदय की बात कहता हुआ—गाने गाता हुआ बह जाऊँगा, जितना ही मैं जान डालता रहूँगा, उतना ही मेरे प्राण बहेंगे, फिर मेरे प्राणों का शेष न होगा। मेरी इतनी बातें हैं, इतने मेरे गान हैं, इतना जीवन और इतनी आकांक्षाएँ हैं कि मेरे प्राण उनसे मस्त हो रहे हैं।)

जिस समय हृदय के अन्तस्तल को आलोक-पुलकित प्रतिभा का अमर वर मिल रहा था—जिस समय पार्थिव और स्वर्गीय रश्मियाँ एकसाथ मिल रही थीं—जिस समय सलिल-राशि अपने प्रवाह के लिए स्वयं ही अपना रास्ता बना रही थी—जिस समय कली के भीतर की अवरुद्ध गन्ध अपने विकास के लिए—प्रकृति के सौन्दर्य के साथ अपना सौन्दर्य मिलाने के लिए—अपनी सुन्दरता का बिम्ब दूसरों की प्रसन्नता में देखने के लिए, मचल-मचलकर कली के कोमल दलों में धक्का मार रही थी, महाकवि रवीन्द्रनाथ की ये उसी समय की युक्तियाँ हैं। कली की सुगन्ध की तरह महाकवि की प्रतिभा भी अपनी छोटी-सी सीमा के भीतर सन्तुष्ट नहीं रहना चाहती। वह हरएक मानवीय दुर्बलता को परास्त करना चाहती है। यह उसका स्वाभाविक धर्म भी है। क्योंकि दैवी-शक्ति वही है जो मानवीय बन्धनों का उच्छेद कर देती है। जो बन्धन मनुष्य को क्रमशः दुर्बल करते जाते हैं, उन्हें खोलकर मनुष्य को मुक्त कर देने की शक्ति दैवी-शक्ति में ही है। कभी-कभी आसुरी उछृङ्खलता भी मानवीय पाशों का कृतान करती है, और अधिकांश समय में, दैवी-शक्ति के बदले आसुरी-शक्ति को ही मानवीय शृंखलाओं के नाश के लिए जन-समाज के उछृङ्खलता का बीजारोपण करते हुए हम लोग देखते हैं। प्रायः हम लोग उसकी क्षणिक उत्तेजना के वश में आकर

उसके विषमय भविष्य-थल की ओर ध्यान देना उस समय भूल जाते हैं। इससे जन-समुदाय एक कदम पीछे ही हट जाता है, यद्यपि पहले उसे आसुरी उत्तेजना के द्वारा बढ़ने का एक लालच-ऐसा होता है। परन्तु रवीन्द्रनाथ की यह उत्तेजना आसुरी उत्तेजना नहीं, उनकी यह ललकार जन-समुदाय में किसी प्रकार की आसुरी भावना नहीं लाती। उनके शब्द सोते हुओं को जगाते हैं, उन्हें अपना-कर—अपने स्वरूप में उन्हें भी मिलाकर—अपने भाव उनमें भी भरकर, अपनी ही तरह उन्हें भी उठाकर खड़ा कर देता है और उन्हें सुनाता है एक वह मन्त्र जो जागरण के प्रथम प्रभात में हरएक पक्षी संसार को सुनाया करता है, जिसमें उसका अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है —है केवल अपने आनन्द के स्वर से दूसरों को सुख देने की एक लालसा—स्वार्थपर होने पर भी, निःस्वार्थ। रवीन्द्रनाथ अपने भाव की निःस्वार्थ प्रेरणा से संसार को पुकारकर जागरण का संगीत सुन रहे हैं। यदि कुछ और तह तक पहुँचकर कवि की इस पुकार की छान-बीन की जाय तो हम देखेंगे, यह कवि की नहीं, किन्तु उसी प्रतिभा की पुकार है, उसी दैवी-शक्ति की अभ्युत्थान-ध्वनि है, जिसके आविर्भाव से कवि का हृदय उद्‌भासित हो उठा था। इस ध्वनि से जन-समुदाय का कोई अनर्थ नहीं हो सकता। इसमें भी उत्तेजना है, किन्तु क्षणिक नहीं। यह निर्जीवों को जिला देने के लिए, पद-दलितों में उत्साह की आग भड़काने के लिए, नग्न हृदयों को आशा की सुनहरी छटा दिखाने के लिए, सदा ही ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। यह अपने आनन्द की ध्वनि है, किन्तु इसमें दूसरे भी अपना प्रतिबिम्ब देख लेते हैं। यह व्यक्ति और देश के लिए तो ससीम है किन्तु विश्व के लिए निस्सीम। एकदेशिक भावों का मनुष्य इसमें एकदेशिक भाव की सुरीली किन्तु ओजस्विनी रागिनी पाता है और वह उसी के भावों में मस्त हो जाता है, और व्यापक विश्व-भावों का मनुष्य इसमें व्यक्ति की वह असीमता देखता है जिसकी समाप्ति, जीवन की तो बात ही क्या, युग और युगान्तर भी नहीं कर सकते। ससीम और असीम, एकदेशिक और व्यापक, ये दोनों ही भाव महाकवि की इस उक्ति में पाये जाते हैं। इससे देश का भी कल्याण होता है और विश्व का भी। यही इसकी विचित्रता है और यही इसका सौन्दर्य—अनूठापन। इन पंक्तियों के पाठ से पहले इसके क्रान्तिमूलक अतएव आसुरी होने का भ्रम हो जाता है; क्योंकि, 'लहरीर पर लहरी तुलिया, आघातेर पर आघात कर' आदि पंक्तियों में शक्ति की मात्रा इतनी है कि स्वभावत: इनके क्रान्ति भावमयी होने का विश्वास हो जाता है। परन्तु नहीं, कविता के पाठ से जिस स्नायविक उत्तेजना के कारण ऐसा होता है,वह उत्तेजना पढ़नेवाले ही की दुर्बलता है, वह कविता का क्रान्ति-कारी आसुरी भाव नहीं। हमारा मतलब क्रान्ति से यहाँ आसुरी भाव को लेकर है। यदि इस क्रान्ति को कोई दैवी-क्रान्ति कहे और इसका उपयोग मानवीय दुर्बलता के विरोध में करने के लिए तैयार हो, तो हम इसके मान लेने में द्विसक्ति भी नहीं करेंगे। हम स्वयं यह मानते हैं कि किस कविता का प्रणयन दैवी-शक्ति के द्वारा हुआ है, उसका उपयोग मानवीय दुर्बलताओं के विरोध में स्वच्छन्दतापूर्वक किया जा सकता है, और उससे दैवी भावनाओं को ही प्रोत्साहन मिलता है, न कि किसी आसुरी भावना को।

कवि को जब अपनी महत्ता का अनुभव होता है तब वह इस प्रकार अपनी व्याप्ति का वर्णन करता है—

"रवि-शशि भाँति गाथिबो हार,
आकाश आँकिया परिबो बास।
साँझेर आकाशे करे गालागालि,
अलस कनक जलद राश।
अभिभूत होये कनक-किरणे;
राखिते पारे ना देहेर भार।
येनोरे विवशा होयेछे गोधुलि,
पूरवे आंधार बेणी पड़े खुली।
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया,
सोनार आंचल तार।
मने हबे येन सोना मेघ-गुलि
खसिया पड़ेछे आमारि जले
सुदूरे आमारि चरण-तले।
आकुली-विकुली शत बाहुतुलि
यतो इ ताहारे धरिते जाबो
किछुतेई तारे काछे न पाबो।
आकाशेर तारा आबाक हबे
साराटी रजनी चाहिया रबे
जलेर तारार पाने।
ना पावे भाविया एलो कोथा होते,
निजेर छायारे जाबे चूम खेते
हेरिबे स्नेहेर प्राणे।
श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फुटिबे फूल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाये जावे,
शरम-विकला कुसुम रमणी
फिराबे आनन शिहरि अमनी
आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे।
भेसे गिये शेषे काँदिबे हाय
किनारा कोथाय पाबे!"

(मैं सूर्य और चन्द्र को गूँथकर हार पहनूंगा, आकाश को अंकित करके उसका वस्त्र पहनूंगा। देखो ज़रा उधर भी, सुनहरे बादलों के अलस दल सूर्य की कनक-किरणों को चूमकर इस तरह शिथिल हो गये हैं कि वे अपने ही शरीर का भार नहीं सँभाल सकते हैं। और उधर, मानो गोधूलि भी विवश हो रही है, क्योंकि देखो न,

पूरब की ओर उसकी खुली हुई वेणी का अँधेरा छा गया है और पश्चिम ओर उसका सुनहरा आँचल खुल-खुलकर गिरा जा रहा है। कभी मुझे ऐसा मालूम होगा कि सुनहरे मेघ मेरी ही सलिल-राशि पर टूट-टूटकर गिर रहे हैं—दूर मेरे ही पैरों के नीचे। मैं व्याकुल होकर अपने शत-शत बाहुओं को फैलाकर जितना ही उन्हें पकड़ने के लिए जाऊँगा, वे मेरी पकड़ में न आवेंगे। यह देखकर आकाश के तारों को आश्चर्य होगा। वे रात-भर पानी के भीतर के तारों की ओर हेरते रहेंगे। वे यह न समझ सकेंगे कि ये पानी के तारे कहाँ से आये, वे अपनी छाया को चूमने चलेंगे, पर मैं स्नेह की दृष्टि से देखता रहूँगा। मेरे दोनों तट कैसे श्याम हो रहे हैं!—इनमें कहीं-कहीं फूल खिल जायेंगे। लहरियाँ इन फूलों के पास खेलने के लिए आवेंगी और एक-एक इन्हें चूमकर भाग जायँगी। तब मारे शर्म के कुसुम-कुमारी सिहर उठेगी,—उसी समय अपना मुँह फेर लेगी—अन्त में लज्जा के आवेश में अवश होकर झड़ जायगी। हाय! बहती हुई वह जल में रोती फिरेगी, फिर उसे किनारा कहाँ मिलेगा?)

यह कवि की कविता-माधुरी है। इस कल्पना में वह ओज नहीं जो उनकी पहले की पंक्तियों में है। अन्धकार दूर हुआ, हृदय के अन्तर्पट पर प्रतिभा की किरण गिरी, फिर क्रमशः उसकी प्रखरता इस तरह बढ़ती गयी कि विश्व-भर का उसने ग्रास कर लिया--उसके उद्दाम वेग —प्रखर गति—-में विश्व का हृदय-स्पन्द द्रुततर होता गया, फिर उसमें लालसा की सृष्टि हुई, लालसा की ही उत्पत्ति कवि के हृदय में नयी-नयी सृष्टियों के बीज बोती है। क्योंकि, किसी भी सृष्टि के पहले हम लालसा या इच्छा को ही पाते हैं। यदि लालसा न हो, यदि इच्छा न हो तो सृष्टि भी नहीं हो सकती। यह बात शास्त्रीय है। इधर कविता में भी हमें यही क्रम मिलता है। प्रतिभा उर्वरा भूमि है और लालसा है बीज। इस बीज के पड़ने पर जो अंकुर उगता है, पूर्वोद्धृत पद्य में उसका रूप हम देख लेते हैं, वह अंकुर की ही तरह कोमल है और सुन्दर तथा मृदुल। और लालसा की प्रथम सृष्टि में जो रूप हमें देखने को मिलता है, वह आदिरस का ही रूप है और सृष्टि की सार्थकता को 'आदि' के द्वारा बड़ी ही खूबी से सिद्ध करता है। कवि की लहरियाँ अपने तट पर के खिले हुए फूलों को चूमकर भाग जाती हैं और उनका यह अभिसार—यह प्यार, नारी-स्वभाव की परिधि में रहने के कारण कुसुम-कामिनी से नहीं देखा जाता—वह लज्जा से सिहर उठती है और फिर चिरकाल के लिए, अपने प्यारे वृन्त का आश्रय छोड़ जाती है—अन्त में सलिल-राशि पर निरुपाय बह जाती है—उसे कहीं किनारा नहीं मिलता। इस सृष्टि में महाकवि रवीन्द्रनाथ आदिरस या शृंगार की सृष्टि किस खूबी से करके, कुसुम-कामिनी के निरुपाय बह जाने में इसका वियोगान्त अन्त करते हैं, ये बातें कविता-शिल्पियों के लिए ध्यान देने योग्य हैं। महाकवि की इस क्षुद्र सृष्टि में अनन्त शृंगार है और उसका अवसान भी होता है अनन्त वियोग में। कुसुम-कामिनी के उद्धार के लिए फिर तट नहीं मिलता, उसे किनारा नहीं मिलता। उसका सच्चा प्रेम नायिका-लहरियों के एक क्षणिक चुम्बन से ही मुरझा जाता है और साथ ही वह भी मुरझाकर झड़ जाती है और वहाँ बह जाती है जहाँ से फिर तट पर लगने की कोई आशा नहीं। कितनी सुन्दर सृष्टि है, छोटी और

सुसम्बद्ध—महान् !

रवीन्द्रनाथ अपने सौन्दर्य का अनुभव दूसरों को भी कराते हैं। वे उन्हें पुकार-पुकारकर कहते हैं—

"आजिके प्रभाते भ्रमरेर मत
बाहिर होइया आय,
एमन प्रभाते एमन कुसुम
केनोरे सुकाये जाय।
बाहिरे आसिया ऊपरे बसिया
केवलि गाहिबि गान,
तवेसे कुसुम कहिवे रे कथा
तवेसे खुलिबे प्राण।
अति धीरे-धीरे फुटिबे दल,
बिकसित होये उठिवे हास,
अति धीरे-धीरे उठिवे आकाशे
लघु पाखा मेली खेलिबे वातासे
हृदय खुलानो, आपना भुलानो,
पराणमातानो वास।
पागल होइया माताल होइया
केवल धरिबि रहिया रहिया
गुन् गुन् गुन् तान।
प्रभाते गाहिबि, प्रदोषे गाहिबि,
निशिथे गाहिबि गान,
देखिया फुलेर नगन माधुरी,
काछे काछे शुधु वेड़ाबि घुरि,
दिवा निशि शुधु गाहिबि गान।
थर थर करि कांपिबे पाखा
कोमल कुसुमे रेणुते माखा,
आबेगेर भरे दुलिया-दुलिया
थर-थर करि कांपिबे प्राण।
केवलि उड़िबि केवल बसिबि
कभुवा मरम माझारे पाशिबि,
आकुल नयने केवलि चाहिबि
केवलि गाहिबि गान।
अमृत-स्वप्न देखिबि केवल
करिबिरे मधुपान !
आकाशे हासिबे तरुण तपन,
कानने छुटिबे बाय,

चारि दिके तोर प्राणेर लहरी
उथलि-उथलि जाय ।
वायुर हिल्लोले झरिबे पल्लव
मर मर मृदु तान,
चारि दिक होते किसेर उल्लासे
पाखीते गाहिबे गान !
नदीते उठिबे शत शत ढेऊ,
गाबे तारा कल-कल,
आकाशे आकाशे उथलिबे शुधु
हरषेर कोलाहल ।
कोथाओ बा हासी, कोथाओ बा खेला,
कोथाओ बा सुख गान,
माझे बोसे तुइ विभोर होइया,
आकुल पराणे नयन मुदिया
अचेतन सुखे चेतना हाराये
करिबिरे मधुपान ।"

(आज इस प्रभात में भ्रमर की तरह तू भी निकलकर यहाँ आ जा । इस तरह के प्रभात में, इस तरह के कुसुम भला क्यों सूख जाते हैं ? तू बाहर निकल आ, यहाँ ऊपर बैठकर बस गाते रहना, उस कुसुम से तेरी बातचीत तभी होगी—तभी वह तेरे सामने अपने प्राणों के दल खोलेगा । बहुत धीरे-धीरे उसके दल खुलेंगे, तब उसकी हँसी भी विकसित हो जायगी, तब हृदय को खोल देनेवाली—अपने को भुला देनेवाली—प्राणों को मस्त कर देनेवाली सुगन्ध बहुत ही धीरे-धीरे आकाश की ओर चढ़ेगी—अपने छोटे-छोटे पंख फैलाकर हवा के साथ खेलती फिरेगी । पागल होकर, रह-रहकर तू केवल गुन्-गुन् स्वरों में तान अलापेगा । तू प्रभात के समय गायेगा, प्रदोष के समय गायेगा, निशीथ के समय गायेगा । फूलों की नग्न माधुरी देखकर तू उनके आस ही पास चक्कर मारता रहेगा और दिन-रात केवल तान छेड़ता रहेगा । कोमल फूलों की रेणु लिपटाये हुए तेरे पंख थर-थर काँपते रहेंगे । इसके साथ आवेग की निर्भयता पर झूम-झूमकर तेरे प्राण भी थर-थर काँपते रहेंगे । उड़ता रहेगा, फूलों पर बैठता फिरेगा, कभी मर्म में पैठकर व्याकुल दृष्टि से हेरता रहेगा और अपनी तान छेड़ेगा । अमृत के स्वप्नों पर तेरी दृष्टि अटकी रहेगी । तू केवल सदा मधुपान ही करता रहेगा । जब तक आकाश में तरुण सूर्य का उदय होगा—वनों में वायु प्रवाहित हो चलेगी तब मुझे ऐसा मालूम होगा कि तेरे चारों ओर जीवन की लहरें उथल-पुथल मचाती हुई बही चली जा रही हैं । जब हवा की हिलोरों में पल्लव मर्मर-स्वर से मृदु तान अलापने लगेंगे और न जाने किस उच्छ्वास के आवेश में पक्षी गाने लगेंगे—नदियों में कितनी ही लहरें उठेंगी और कल-कल स्वर से अपनी रागिनी गायेंगी—एक आकाश से दूसरे आकाश में केवल हर्ष का कोलाहल उमड़ता रहेगा —कहीं हास्य की रेखाएँ खिचेंगी—कहीं क्रीड़ा-कौतुक होगा—कहीं सुख के संगीत उठेंगे —तू उनके बीच में विह्वल होकर

बैठा हुआ अपने आकुल प्राणों से, आँखें मूँदकर, उस अचेतन सुख में अपनी चेतना खोकर सबका मधु पीता रहेगा।)

अपने हृदय के साथ दृश्य मिलाने के लिए महाकवि सम्पूर्ण विश्व को इन पंक्तियों द्वारा निमन्त्रण भेज रहे हैं। वे मधुकर के साथ उसकी उपमा देकर मधुकर की तरह उसे भी सम्पूर्ण पुष्प प्रकृति का आनन्द लूटने के लिए बुला रहे हैं। यह हृदय कितना विस्तीर्ण हो गया है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। हृदय का विस्तार सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति तक फैल जाता है। यह इतना बड़ा विस्तार है कि इसका वर्णन महाकवि के ही मुख से सुनिए—

"बारेक चेये देखो आमार मुख पाने,
उठेछे माथा मोर मेघेर माझ खाने।
आपनि आसि ऊषा शियरे बसि धीरे,
अरुण कर दिये मुकुट देन शिरे।
निजेर गला होते किरण-माला खुलि,
दितेछे रवि-देव आमार गले तुलि।
धुलिर धूलि आमि रयेछि धूलि परे
जेनेछि भाई बोले जगत चराचरे।"

(ज़रा मेरे मुँह की ओर भी देखो। देखो—मेरा मस्तक मेघों के बीच में जाकर लगा है। वहाँ ऊषा आप आकर धीरे-धीरे मेरे सिरहाने पर बैठकर अरुण करों का मुकुट मेरे सिर पर रख रही है। अपने गले से किरणों की माला खोलकर भगवान भास्कर उसे मेरे गले में डाल रहे हैं। यों तो मैं धूल की धूल हूँ—धूल ही पर रहता भी हूँ, परन्तु विश्व और चराचर के दर्शन मुझे अपने भाई के रूप में हुए हैं।)

इन पंक्तियों में कवि के स्वरूप का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उसका विशाल हृदय अपनी पहली क्षुद्र सीमा को तोड़कर किस तरह विश्व-ब्रह्माण्ड की व्याप्ति से मिलकर हो जाता है, इसका इन इतनी ही पंक्तियों में यथेष्ट उदाहरण है। उसका उन्नत ललाट मेघों को स्पर्श कर लेता—उनसे भी ऊँचा यदि कोई स्थान है तो वहाँ भी उसकी गति कोई बाधा नहीं पहुँचाती। इधर धूलि की धूलि होकर वह छोटे से भी छोटा बन जाता है। महान् भी है और क्षुद्र भी है। यदि विशालता की पराकाष्ठा तक पहुँचाने के लिए कवि ने क्षुद्रता को छोड़ दिया होता तो उसके यथार्थ हृदयोद्गार को समालोचक व्यर्थ की आत्म-प्रशंसा और अहंकार कहकर कलंकित भी कर सकते थे, क्योंकि क्षुद्र विशालता एक अंग ही तो है। रेणु से अलग कर देने पर विश्व-ब्रह्माण्ड का अस्तित्व स्वीकार करना हास्यास्पद नहीं तो और क्या होगा? अस्तु कवि की व्याप्ति विराट में भी है और स्वराट में भी। यह प्रतिभा देवी के कृपा-कटाक्ष का ही फल है कि पहले जिस हृदय में अन्धकार का साम्राज्य था आज वह विश्व के महान आकाश और क्षुद्र कण तक में व्याप्त होकर उन्हें प्रभा-पुलकित देख रहा है। आज उच्च और नीच, विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों में उसका अपना ही दर्पण लगा हुआ है जिनमें वह अपने ही स्वरूप के दर्शन कर रहा है। न वह महान को देखकर डरता है और न क्षुद्र को देखकर उससे घृणा करता है। वह महान में भी है और क्षुद्र में भी।

कवियों का हृदय स्वभावत: बड़ा कोमल होता है। वे दूसरों के साथ सहानुभूति करते-करते इतने कोमल हो जाते हैं कि किसी भी चित्र की छाया उनके हृदय में ज्यों-की-त्यों पड़ जाती है, उन्हें इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह उनका स्वाभाविक धर्म ही बन जाता है। सांसारिक व्यवहार में जितने प्रकार के विकारों की सृष्टि हो सकती है उनकी संख्या 9 से अभी तक अधिक नहीं हो पायी। इन्हीं 9 प्रकार के विकारों का विश्लेषण करके साहित्य में 9 रसों की सृष्टि की गयी है। इन नव रसों के नायक कवि वही होते हैं जो इस रसायनशास्त्र के पारदर्शी कहलाते हैं। नव रसों के समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है। जिस समय से देश पराधीनता के पींजड़े में वन-विहंगम की तरह बन्द कर दिया गया है, उस समय से लेकर आज तक की उसकी अवस्था का दर्शन, उससे सहानुभूति, उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्ध के जितने काम हैं, इनकी सीमा कवि-कर्म की परिधि के भीतर ही समझी जाती है। क्योंकि, प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करने-वाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर करेगा कौन ?—लल्लू बजाज और मैकू महतो ?

महाकवि रवीन्द्रनाथ ने केवल दूसरे विषयों की उत्तमोत्तम कविताओं की रचना में ही अपना सम्पूर्ण काल नहीं बिताया, उन्होंने देश के सम्बन्ध में भी बड़ी मर्मस्पर्शनी कविताएँ लिखी हैं। उनकी इस विषय की कविताओं में एक खास चमत्कार यह है कि वर्त्तमान समय के कवि यश:प्रार्थी होकर ही कविता लिखने का दुस्साहस करनेवालों की तरह, उनकी कविता में कहीं हाय-हाय का नाम-निशान भी नहीं रहता; किन्तु वह उनकी दूसरी कविताओं की तरह सरस, मर्मस्पर्शनी और भावमयी होती हैं; दूसरे भारतीयता क्या है और किस राह पर चलने से देश का भविष्य उज्ज्वल होगा—कैसे उसे अपनी पूर्व अवस्था की प्राप्ति हो सकेगी, यह महाकवि ने अपनी देश-विषय कविताओं में बड़ी निपुणता के साथ अंकित कर दिखाया है। आदर्श उनका वही है जो आर्य-महर्षियों का था और पथ-प्रदर्शन भी वही जो वेद और शास्त्रों का है। कवित्व का कवित्व, उपदेश का उपदेश और भारतीयता की भारतीयता।

"नयन मुदिया सुनि गो, जानिना,
कोन अनागत वरषे
तव मंगल-शंख तुलिया
बाजाय भारत हरषे !
डुबाये धरार रण-हुंकार
भेदि बणिकेर धन-झंकार
महाकाश-तले उठे ओंकार
कोनो बाधा नहीं मानी !

भारतेर श्वेत-हृदि-शतदले
दाँड़ाये भारती तव पदतले
संगीत ताने शून्ये उथले
अपूर्व महावाणी
नयनमूदिया भावीकाल पाने
चाहिनु, सुनिनु निमिषे
तव मंगल-विजय-शङ्ख
बाजिछे आमार स्वदेशे !"

(आँखें बन्द करके मैंने सुना, हे विश्वदेव, न जाने किस अनागत वर्ष में, तुम्हारा मंगल-शंख लेकर भारत आनन्दपूर्वक बजा रहा है। संसार के संग्राम-हुंकार को प्लावित करके, बणिकों के धन-झंकार को भेदकर भारत के ओंकार की ध्वनि महाकाश की ओर बढ़ रही है, वह कोई बाधा नहीं मानती। भारत के हृदय-श्वेत-शतदल पर, तुम्हारे पैरों के नीचे भारती खड़ी है; उसके संगीत के शून्य-पथ में एक अपूर्व महावाणी उमड़ रही है। मैंने आँखें मूँदकर भविष्य समय की ओर देखा, सुना, — मंगलघोष से भरा हुआ हमारे देश में तुम्हारा विजय-शंख बज रहा है !)

देश पर महाकवि ने जो कुछ कहा है, उसमें भारतीयता की ही गन्ध मिल रही है। वे देश को विपथगामी होने से बचा रहे हैं, वे उसके मंगल के लिए किसी ऐसे उपाय की उद्भावना नहीं करते जो भारत के लिए एक नवीन और उसकी प्रकृति के बिल्कुल खिलाफ हो। वे उसे उसी मार्ग पर उठाये रखना चाहते हैं, जिस पर रहकर उसने महामनीषी ऋषियों को उत्पन्न किया था। वे यदि चाहते तो अपनी ओजस्विनी कविता द्वारा देश को अपने इच्छानुकूल मार्ग पर, अथवा विदेश के किसी क्रान्तिकारी भाव पर चला सकते थे। परन्तु उन्होंने देश की नाड़ी पकड़कर उसे वह दवा नहीं दी जो किसी विदेशी ने अपने देश की रोग-मुक्ति के लिए उसे दी है। रवीन्द्रनाथ भारत के ओंकार की वर्णना में उसे किस उपाय से सर्वविजयी सिद्ध करते हैं, इस पर ध्यान दीजिए। उनके ओंकार-नाद से संसार का संग्राम-हुंकार प्लावित हो जाता है। इस प्लावन में अशान्ति नहीं, शान्ति है। यह बिना अस्त्रों की लड़ाई और सत्य की विजय है। इस ओंकार-नाद से धनिकों का धन-दर्प भी चूर्ण हो जाता है। इसी का मंगल-घोष महाकवि भविष्य के पथ पर अग्रसर होकर सुनते हैं। इससे सूचित है, भविष्य में रवीन्द्रनाथ इसी ओंकार के विजय-शब्द को भारतीय आकाश में गूँजते हुए सुन रहे हैं, अतएव वे भारत को उसी रूप में देखना चाहते हैं जिस रूप में उसे सुसज्जित करने के लिए महर्षियों ने युगों तक तपस्या की थी।

भारत के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का यह गीत बहुत ही प्रसिद्ध है—

"अयि भूवन-मनोमोहिनी,
अयि निर्मल सूर्यकरोज्वल धरणी
जनक-जननी-जननी !
नील-सिन्धुजल-धौत चरण तल,
अनिल-विकम्पित श्यामल अंचल,

अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र - तुषार - किरीटिनी ।
प्रथम-प्रभात उदय तव गगने,
प्रथम साम - रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन - भवने
ज्ञान-धर्म कत काव्य-काहिनी ।
चिर - कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश - विदेशे वितरिछ अन्न,
जाह्नवी यमुना विगलित-करुणा,
पुण्य पीयूष - स्तन्य वाहिनी !"

इसका अर्थ खुलासा है। पाठकों को इसके समझने में कोई दिक्कत न होगी।

रवीन्द्रनाथ देश की कल्याण-कामना करते हुए परमात्मा से जिन शब्दों में प्रार्थना करते हैं उससे उनके हृदय की छिपी हुई मर्म-पीड़ा के साथ उनके प्रांजल विश्वास का एक बहुत ही भावमय चित्र पाठकों के सामने अंकित हो जाता है। देश की दीनता का अनुभव कितने गहरे पैठकर रवीन्द्रनाथ करते हैं और उसके स्वरूप की पहचान करा देने के लिए अपने अक्षय शब्द-भाण्डार से कैसे-कैसे अर्थव्य और अजेय शब्दास्त्रों का प्रयोग करते हैं, यह भी पाठकों के लिए एक ध्यान देने की बात है। रवीन्द्रनाथ उपदेशक के आसन पर बैठकर, यह करो—यह न करो, कहकर उस पर उपदेशों की बौछार नहीं करते। वे कवि के ही शब्दों में जो कुछ कहते हैं, कहते हैं—

"अन्धकार गर्ते थाके अन्ध सरीसृप,
आपनार ललाटेर रतन - प्रदीप
नाहीं जाने; नाहीं जाने सूर्यालोक - लेश !
तेमनि आँधारे आछे एई अन्ध - देश
हे दण्डविधाता राजा, ये दीप्त रतन
पराये दियेछो भाले ताहार यतन
नाहीं जाने, नाहीं जाने तोमार आलोक !
नित्य बहे आपनार अस्तित्वेर शोक
जनमेर ग्लानि ! तव आदर्श महान
आपनार परिमापे करि खान खान
रेखेछे धूलिते ! प्रभु, हेरिते तोमाय
तुलिते ना हय माथा ऊद्‌र्ध्व पाने हाय !
जे एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर
खण्ड खण्ड करि ताहे तरिबे सागर ?"

(अन्धा साँप अँधेरे गढ़े में रहता है। उसे अपने ही मस्तक के रत्नप्रदीप का हाल नहीं मालूम। सूर्य के प्रकाश का भी उसे कोई ज्ञान नहीं। इसी तरह, हमारा यह देश भी अँधेरे में पड़ा हुआ है। हे दण्डविधाता ! हे महाराज ! जो दीप्तरत्न उसके मस्तक पर तुमने लगा दिया है, उसका आदर-यत्न करना वह नहीं जानता,

न उसे तुम्हारे प्रकाश का ही कोई ज्ञान है ! वह सदा अपने अस्तित्व का शोक-भार ढोया करता है,—अपने जन्म के लिए रोया करता है ! तुम्हारे महान आदर्श को अपनी बुद्धि के दायरे के अन्दर रख, उसने उसके टुकड़े बना डाले हैं और उन्हें धूल में डाल रक्खा है। हे प्रभु ! यह सब उसने इसलिए किया है कि तुम्हें देखने के लिए उसे कहीं ऊपर की ओर नजर न उठानी पड़े। कितनी बड़ी भूल है। जिस नाव पर चढ़कर लाखों मनुष्य पार हो सकते हैं, वह उसके टुकड़े बनाकर समुद्र को पार करना चाहता है !)

इस अन्योक्ति से रवीन्द्रनाथ देश को बहुत बड़ा उपदेश दे रहे हैं। परन्तु यह उपदेश वे उपदेशक बनकर नहीं दे रहे, वे कवि के भावों में ही उसकी आँखें खोल रहे हैं ! साँप अँधेरे गढ़े में पड़ा है। यहाँ साँप देश है और अँधेरा गढ़ा अज्ञान। उसके मस्तक पर मणि है, अर्थात् हरएक मनुष्य के भीतर अनादि और अनन्त शक्ति का भाण्डार है —उसके भीतर साक्षात् ब्रह्म विराजमान हैं। यह बात अर्थ-शास्त्र की ओर से भी पुष्ट होती है। देश में जितना अन्न होता है, उससे देश अपनी शक्ति को इतना बढ़ा सकता है कि फिर संसार के सब देश यदि एक ओर होकर उससे लड़ें तो भी उसे जीत नहीं सकते। एक बार इन पंक्तियों के लेखक से एक अर्थशास्त्र के पारंगत विद्वान् से बातचीत हुई थी। उन्होंने पहले दूसरे देशों का हाल कहा। फिर पश्चिमी देश भारत के साथ क्यों मैत्री नहीं करते, इसका अर्थशास्त्र-संगत एक कारण बतलाया और इसे अपनी सबल युक्तियों द्वारा पुष्ट भी किया। फिर उन्होंने कहा, लड़ाई में रसद से जितना काम होता है—लड़ाई के समय रसद की जितनी आवश्यकता है, उतनी न गोली की है—न बारूद की,—न मशीनगनों की है—न हवाई जहाजों की। भूख के मारे जब पेट में चूहे कलाबाजियाँ खाने लगेंगे तब बन्दूक में संगीन चढ़ाकर दिन-भर में पचास मील का डबल-मार्च कैसे किया जायगा ? सारी करामात रसद की है। भारत में जितना अन्न पैदा होता है उससे भारत अपनी रक्षा और दूसरों पर विजय प्राप्त करने के लिए चार करोड़ फौज सब समय तैयार रख सकता है। पाठक, ध्यान दीजिए भारत सदा के लिए—सब समय मैदानेजंग पर डटे रहने के लिए चार करोड़ सेना की पीठ ठोकता है। अब उसकी शक्ति का अन्दाजा आप सहज ही लगा सकते हैं। अस्तु ! इसकी पुष्टि तब और हो जाती है जब वे कहते हैं, जिस नाव पर से लाखों मनुष्य पार होते हैं, उसका तख्ता-तख्ता अलग करके यह समुद्र को पार करना चाहता है। भारत के बहुमत, सम्प्रदाय विभाग, संघशक्ति के कट-छँटकर टुकड़ों में बट जाने पर रवीन्द्रनाथ व्यंग कर रहे हैं, और इसके भीतर जो शिक्षा है, वह स्पष्ट है कि अब 'अपनी डफली और अपना राग' छोड़ो—यह 'अब' ढाई चावलों की खिचड़ी अलग पकाने का समय नहीं है, इससे देश की नाव समुद्र से पार नहीं जा सकेगी,—देश के पैरों की बेड़ियाँ नहीं कट सकेंगी।

आगे चलकर आप अपने अक्षय तूणीर से बड़े-बड़े विकराल अस्त्र निकालते हैं। इनका सन्धान देश के उन साधुओं पर किया जाता है जो मुफ्त ही का धन हजम कर जाया करते हैं और काम जिनसे कुछ भी नहीं होता। मन्दिर के विशाल मंच पर कुछ मन्त्र कहकर देश के उद्धार का द्वार खोलनेवाले इन बगुलाभगत

साधुओं को आपकी उक्ति से करारी चोट पहुँचती है। इससे उनके दुराचारों को भी कोई चोट पहुँचती है या नहीं, यह हम नहीं कह सकते हैं—

"तोमारे शतधा कवि क्षुद्र करि दिया
माटीते लुटाय जारा तृप्त सुप्त हिया
समस्त धरणी आजि अवहेला भरे
पा रेखेछे ताहादेर माथार ऊपरे।
मनुष्यत्व तुच्छ करि जारा सारा बेला
तोमारे लइया सुधु करे पूजा खेला
मुग्ध भाव भोगे,—सेइ बृद्ध शिशुदल!
समस्त विश्वेइ आजि खेलार पुत्तल!
तोमारे आपन साथे करिया सम्मान
जे खर्ब वामनगण करे अपमान
के तादेर दिबे मान? निज मंत्र स्वरे
तोमारेइ प्राण दिते जारा स्पर्द्धा करे
के तादेर दिबे प्राण? तोमारेओ जारा
भाग करे, के तादेर दिबे ऐक्य धारा?"

(हे ईश्वर! तुम्हारे सैकड़ों टुकड़ों में बँटे हुए जो लोग तुम्हारे ही छोटे-छोटे स्वरूप हैं—जो लोग मिट्टी पर लोटते हैं और उसी में जिन्हें तृप्ति मिलती है और आनन्द से वहीं सो जाते हैं, आज अवज्ञापूर्वक सम्पूर्ण संसार उनका सिर कुचल रहा है,—उन्हें ठोकरें लगा रहा है, जो लोग अपनी मनुष्यता को तिलांजलि देकर, करते तो हैं तुम्हारी पूजा की बात, परन्तु वास्तव में तुमसे बच्चों का ऐसा खेल किया करते हैं,—भोग ही जिनका भाव है और उसी में जो लोग मुग्ध रहते हैं, वे वृद्ध होते हुए भी शिशु हैं—वे आज सम्पूर्ण विश्व के खिलौने हो रहे हैं। हे ईश्वर! सर्वाकृति वामन होते हुए भी जो लोग तुम्हें अपने ही बराबर बतलाते हैं, ऐसा कौन है जो उन्हें सम्मान दे सके! अपने ही मन्त्र के उच्चारण से जो लोग तुम्हारे लिए अपने प्राणों को निछावर कर देने की स्पर्द्धा करते हैं, ऐसा कौन है जो जीवन का संचार करे? जो लोग तुम्हारे भी टुकड़े कर डालते हैं, कहो, उन्हें कौन एकता की रीति बतलाये?

पूर्वोद्धृत पंक्तियों में महाकवि ने भारत के धर्मध्वजियों और उनके विचार की खूब धूल उड़ायी है! आगे भारत की वर्त्तमान परिस्थिति में जो लोग कराह रहे हैं, उनके सम्बन्ध में लिखते हैं—

"आमरा कोथाय आछि कोथाय सुदूरे
दीपहीन जीर्ण भीत्ति अवसाद - पुरे
भग्न गृहे; सहस्रेर भ्रूकुटिर नीचे
कुब्ज पृष्ठे नतशिरे; सहस्रेर पीछे
चलियाछि सहस्रेर तर्जनी - संकेते
कटाक्षे कांपिया; लइयाछि सिर पेते

सहस्र शासन - शास्त्र; संकुचित - काया
कांपितेछि रचि निज कल्पनार छाया
सन्ध्यार आंधारे बसि निरानन्द घरे
दीन आत्मा मरितेछे शत लक्ष उरे!
पदे पदे त्रस्त चिते हय लुण्ठय्मान
धूलितले, तोमारे जे करि अप्रमाण!
जेनो मोरा पितृहारा धाई पथे - पथे
अनीश्वर अराजक भयार्त जगते!"

(हम लोग कहाँ हैं ? — दूर—बहुत दूर—उस नगर का नाम है विषाद—उसी के एक जीर्ण मन्दिर में,—जिसकी दीवारें पुरानी हो गयी हैं,—जहाँ एक दीप भी नहीं जल रहा ! — वहीं हजारों मनुष्यों की कुटिल भौंहों के नीचे कुब्जे की तरह—सिर झुकाये हुए,— हजारों मनुष्यों के पीछे-पीछे प्रभुत्व की तर्जनी के इशारे पर उनके कटाक्ष से काँप-काँपकर हम चल रहे हैं; — हमारी देह संकुचित हो गयी है,—हम अपनी ही गढ़ी हुई कल्पना की छाया देखकर काँप रहे हैं,—सन्ध्या के अँधेरे में, निरानन्द-गृह में बैठी हुई हमारी दीन आत्माएँ लाखों विपत्तियों की शंका कर-करके जी दे रही हैं। पग-पग पर हमारा जी काँप उठता है —हम धूल में लोटने लगते हैं—तुम्हें हम अप्रमाणित भी तो करते हैं ! बिना बाप का अनाथ बच्चा जिस तरह गली-गली मारा-मारा फिरता है, उसी तरह हम भी इस अनीश्वर अराजक और भयार्त संसार में मारे-मारे फिरते हैं !

रवीन्द्रनाथ की इस उक्ति से हमें अपनी वर्तमान देश-दशा का बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। महाकवि के चरित्र-चित्रण में जो खूबी है—उनकी वही खूबी भावों के व्यक्त करने में भी पायी जाती है। वे एक निर्लिप्त फोटो-ग्राफर की तरह फोटो नहीं उतारते; उस चित्र के सुख और दुःख से अपनी हृदय-वीणा को इस तरह मिला देते हैं कि वह चित्र को अपनी सम्पूर्ण समवेदना गाकर सुनाया करती है। यही उनके चित्रण की स्वर्गीय ज्योति है—यही उनकी महत्ता है। देश के वर्तमान नग्न-ताण्डव का रूप खींचकर वे उसके सामने एक आदर्श भी रखते हैं। इस आदर्श की रचना महाकवि स्वयं नही करते, वे उसे वेदान्त की अमृतवाणी सुनाते हैं—कहते हैं—

"एकदा ए भारतेर कोन वनतले
के तुमी महान प्राण, कि आनन्द बले
उच्चारि उठिले उच्चे—"सुनो विश्वजन,
सुन अमृतेर पुत्र जतो देवगण
दिव्यधामवासी, आमि जेनेछि ताँहारे,
महान पुरुष जिनी आंधारेर पारे
ज्योतिर्मय ताँरे जेने, ताँर पान चाही
मृत्युरे लंघिते पार, अन्य पथ नाही!"
आर वार ए भारते के दिबे गो आनी
से महाआनन्दमय, मे उदात्त बाणी

संजीवनी, स्वर्गे मर्त्ये सेई मृत्युंजय
परम घोषणा, सेई एकान्त निर्भय
अनन्त अमृत वानी !
रे मृत भारत !
सुधु सेई एक आछे नाहि अन्य पथ !

(हे महामनीषी ! तुम कौन हो ?—एक समय भारत के किसी अरण्य की छाया में किस आनन्द के उच्छ्वास में आकर तुमने यह उच्चारण किया था ?—"हे विश्व के मनुष्यो ! हे दिव्यधाम के रहनेवाले अमृत के पुत्र देवताओ ! सुनो, उस महापुरुष को हमने जान लिया है—वे ज्योतिर्मय पुरुष अन्धकार के उस पार रहते हैं; उन्हें जानकर उनकी ओर दृष्टि करके तुम मृत्यु की सीमा को पार कर सकते हो, और दूसरा मार्ग नहीं है।" हे महर्षि ! वह महा आनन्दमयी—जीवन-संचार करनेवाली—उदात्त वाणी,– स्वर्ग और मर्त्य के बीच में मृत्यु के जीतने की वह परम घोषणा,—अनन्त की वह निर्भय अमृत वार्त्ता और कौन देगा ? अरे मृत भारत ! तेरे लिए वही एक मार्ग है, और कोई पथ नहीं है।)

प्राणों में बिजली की स्फूर्ति भर देनेवाली, मुरदों में भी जान डाल देनेवाली हृदय के सुप्त तारों में झंकार की तीव्र कम्पन ध्वनि भर देनेवाली अपनी ओजस्विनी कविता में, उसी विषय को लेकर महाकवि फिर कहते हैं—

"ए मृत्यु छेदिते हबे, एई भयजाल,
एई पुञ्ज - पुञ्जीभूत जड़ेर जञ्जाल,
मृत आवर्जना ! ओरे जागितेई हबे
ए दीप्त प्रभात काले, ए जाग्रत भवे,
एई कर्मधामे ! दुई नेत्र करि आँधा
ज्ञाने बाधा, कर्मे बाधा, गति पथे बाधा,
आचारे विचारे बाधा करि दिया दूर
धरिते हइबे मुक्त विहंगेर सुर
आनन्दे उदार उच्च ! समस्त तिमिर
भेद करि देखिते हइबे ऊद्ध्वं सिर
एक पूर्ण ज्योतिर्मये अनन्त भुवने !
घोषणा करिते हबे असंशय मने—
"ओगो दिव्यधामवासी देवगण जतो
मोरा अमृतेर पुत्र तोमादेर मतो।"

(इस मृत्यु का उच्छेद करना होगा—इस भयपाश का कृतान करना होग।-यह एकत्र हुई जड़ की राशि—मृत निस्सार पदार्थ दूर करना होगा। अरे—इस उज्ज्वल प्रभात के समय, इस जाग्रत संसार में, इस कर्मभूमि में, तुझे जागना ही होगा। दोनों आँखों के रहते भी वे फूटी हैं; यहाँ ज्ञान में बाधा है, कर्मों में बाधा पड़ रही है, चलने-फिरने में भी बाधा है और आचार-विचार ? वे भी बाधा में बँधे हुए हैं ! इन सब बाधाओं को पार करना होगा और आनन्दपूर्वक उदार उच्च कण्ठ से मुक्त विहंगों का स्वर अलापना होगा। सम्पूर्ण तिमिर-राशि का भेद करके

अनन्त भुवनों में एकमात्र ऊर्ध्व सिर उस पूर्ण ज्योतिर्मयी को देखना होगा। चित्त की सारी शंकाओं को दूर करके घोषणा कर—"हे दिव्य-धामवासी देवताओ ! तुम्हारी तरह हम भी अमृत के पुत्र हैं !"

महाकवि वर्त्तमान पश्चिमी सभ्यता पर कटाक्ष कर रहे हैं—

"शताब्दीर सूर्य आजि रक्तमेघ माझे
अस्त गेलो,—हिंसार उत्सवे आजि बाजे
अस्त्रे अस्त्रे मरणेर उन्माद - रागिनी
भयंकरी ! दयाहीन सभ्यता - नागिनी
तुलेछे कुटिल फण चक्षेर निमिषे !
गुप्त विष - दन्त तार भरी तीव्र विषे
स्वार्थे स्वार्थे बेधेछे संघात लोभे - लोभे
घटेछे संग्राम;—प्रलय मंथन - क्षोभे
भद्र वेशी बर्बरता उठियाछे जागी
पंकशय्या होते ! लज्जा - शरम तेयागी
जाति-प्रेम नाम धरि प्रचण्ड अन्याय !
धर्मेरे भासाते चाहे बलेर वन्याय
कवि-दल चीत्कारिछे जागाइया भीति
श्मशान-कुक्कुर देर काड़ा काड़ी-गीति !"

(रक्तवर्ण मेघों में आज शताब्दियों के सूर्य अस्त हो गये। आज हिंसा के उत्सव में, अस्त्रों की झनकार के साथ-ही-साथ, मृत्यु की भयंकर उन्माद-रागिणी बज रही है। निर्भय सभ्यता-नागिनी अपने विषवाले दाँतों में तीखा जहर भरकर क्षण-क्षण में अपना कुटिल फन खोल रही है। स्वार्थ के साथ अस्वार्थ का संघात हो रहा है,—लोभ के साथ लोभ का संग्राम मचा हुआ है। मथकर प्रलय को ला खड़ा करने के उद्दाम रोष से, भद्रवेशिनी बर्बरता अपनी पंक-शय्या से जगकर उठी है, लाज-शर्म से हाथ धो, जाति-प्रेम के नाम से प्रचण्ड अन्याय धर्म को अपने बल की बाढ़ में बहा देना चाहता है। कवियों का समूह पञ्चमस्वर में श्मशान-श्वानों की छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है और लोगों में भय का संचार कर रहा है।)

शताब्दियों के सभ्यता-सूर्य को पश्चिमी रक्तवर्ण मेघों में अस्त करके, पश्चिमी सभ्यता का जो नग्न चित्र महाकवि ने इन पंक्तियों में दिखलाया है, वह तो पूरा उतरा ही है; इसके अलावा महाकवि की साहित्यिक बारीकियों पर भी यहाँ एकाएक ध्यान चला जाता है। उनकी इस उक्ति में जितनी स्वाभाविकता आ गयी है, उतनी ही उसमें कवित्व-कला की विभूति भी है। रक्तवर्ण मेघों में सभ्यता-सूर्य अस्त होते हैं। एक तो स्वभावतः सूर्य के अस्त होने पर मेघ लाल-पीले देख पड़ते हैं, दूसरे मेघों की रक्तिम आभा पश्चिमी सभ्यता के संग्राम-वर्णन की साहित्यिक छटा को और बढ़ा देती है; क्योंकि संग्राम या रजोगुण का रंग भी लाल है—इसी संग्राम या रजोगुण में शताब्दियों के सभ्यता-सूर्य अस्त हो गये हैं—अब वह उज्ज्वल प्रकाश नहीं है। अब ललाई मात्र रह गयी है। इसके बाद है रात्रि का अन्धकार—तमोगुण !

जातीय संगीतों के गानेवाले कवियों की उपमा रवीन्द्रनाथ ने मरघट के कुत्तों से क्यों दी, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे चलकर इस तरह करते हैं—

"स्वार्थेर समाप्ति अपघाते। अकस्मात्
पूर्ण स्फूर्ति माझे दारुण आघात
विदीर्ण विकीर्ण करि चूर्ण करे तारे
काल-झंझा-झंकारित दुर्योग आंधारे।
एकेर स्पर्द्धारे कभू नाहीं देय स्थान
दीर्घकाल निखिलेर विराट विधान।
स्वार्थ जतो पूर्ण हय लोभ-क्षुधानल
तत तार बेड़े उठे,—विश्व धरातल
आपनार खाद्य बोली ना करी विचार
जठरे पूरिते चाय !—बीभत्स आहार
बीभत्स क्षुधारे करे निदय निलाज।
तखन गर्जिया नामे तव रुद्र बाज।
छुटियाछे जाति-प्रेम मृत्युर सन्धाने
बाही स्वार्थ-तरी, गुप्त पर्वतेर पाने।"

(स्वार्थ की समाप्ति अपघात में होती है—एकाएक स्वार्थी की जान जाती है। जब वह अकड़-अकड़कर,—सीना तानकर चलने लगता है, तब उसके पाप के घड़े पर बैठता भी है समय का पुरजोर झपेड़ा और वह फूटकर चूर-चूर हो जाता है। काल-झंझा के दुर्योगान्धकार में दारुण आघात उसकी परिपूर्ण स्फूर्ति को एकाएक चूर्ण-विचूर्ण कर देता है।)

ईश्वरीय विधान किसी की स्पर्धा को चिरकाल एक-सा नहीं रखता—किसी के यहाँ सब दिन घी के दिये नहीं बलते। और स्वार्थ का पेट जितना ही भरता जाता है, उतना ही वह पैर भी फैलाता जाता है और उसकी भूख भी उतनी ही बढ़ती जाती है। इसीलिए वह, अपना भक्ष्य समझकर, बिना विचार के ही, तमाम संसार को अपने पेट में डाल लेना चाहता है !—वीभत्स भोजन उसकी वीभत्स क्षुधा को और निर्दय, और निर्लज्ज बनाता जाता है। तभी उसके मस्तक पर, हे विश्वेश ! तुम्हारा रुद्र वज्र गरजकर टूट पड़ता है। अतएव, यह (पश्चिमी) जाति-प्रेम, अपनी ही मृत्यु की तलाश में, स्वार्थ की नाव खेता हुआ गुप्त पर्वत की ओर चला जा रहा है।)

पश्चिम के जिन रक्ताभ मेघों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनके सम्बन्ध में आप कहते हैं—

"एई पश्चिमेर कोने रक्त-राग-रेखा
बहे कभू सौम्य-रश्मि अरुणेर लेखा
तव नव प्रभातेर ! ए सुधू दारुण
सन्ध्यार प्रलय-दीप्ति ! चितार आगुन
पश्चिम-समुद्र-तटे करिछे उद्गार
विष्फुलिंग—स्वार्थ दीप्त लुब्ध सभ्यतार

मशाल हइते लये शेष अग्नि-कणा।
एई श्मशानेर माझे शक्तिर साधना
तव आराधना नहे, हे विश्व-पालक !
तोमार निखिल-प्लावी आनन्द आलोक
हय तो लुकाये आछे पूर्व-सिन्धु तोरे
बहु धैर्ये नम्र स्तब्ध दुःखेर तिमिरे
सर्वरिक्त अश्रुसिक्त दैन्येर दीक्षाय
दीर्घकाल—ब्राह्ममुहूर्तेर प्रतीक्षाय !"

(पश्चिम के कोनों में लाल-लाल यह जो रेखा खिची हुई है, इससे तुम्हारे नवप्रभात के सौम्यरश्मि सूर्य की सूचना नहीं होती। यह तो भयंकरी सन्ध्या की प्रलय-दीप्ति है। देखो न, समुद्र के पश्चिमी तट में चिता की आग से चिनगारियाँ निकल रही हैं और इस चिता में आग कैसे लगी ? स्वार्थ से जलती हुई लोभी सभ्यता की मशाल की अन्तिम चिनगारी इस पर पड़ी थी। इस श्मशान में शक्ति की जो आराधना हो रही है वह तुम्हारी आराधना नहीं है। हे विश्वपालक ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बहा देनेवाला तुम्हारे आनन्द का मधुर प्रकाश कहीं समुद्र के पूर्वी तट में छिपा होगा—दुःख के साथ अन्धकार में बड़े धैर्य के साथ नम्र रहकर दीर्घकाल से दीनता की दीक्षा में आँसू बहाता हुआ सर्वस्व गँवाकर वह 'ब्राह्म मुहूर्त' की प्रतीक्षा करता होगा।)

यहाँ इन पंक्तियों में महाकवि के निर्मल हृदय-पट पर स्वदेश-प्रेम का वही मनोहर चित्र खिचा हुआ देख पड़ता है, जिसके चारुता-सम्पादन में पहले के ऋषियों और महर्षियों ने तपस्या करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन पार कर दिया था। महाकवि के हृदय में ईर्ष्या और द्वेष की एक कणिका भी नहीं देख पड़ती। वे अपनी हृदयहारिणी वर्णना में किसी द्वेष-भाव-मूलक कविता की सृष्टि नहीं करते। वे संसार को वही भाव देते हैं जो उन्हें अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में मिले हैं। जिस तरह वे दूसरी जातियों को जातिप्रेम के नाम पर खून की नदियाँ बहाते हुए देखकर घृणापूर्ण शब्दों में याद करते हैं, उसी तरह अपने देश के उद्धार के लिए भी, वे उसे क्रान्ति का पाठ नहीं पढ़ाते। वे तो उसे, प्रतिभा और साहस, धर्म और विश्वास, दैव और पुरुषकार की सहायता से, निरस्त्र होकर भी संसार के समक्ष वीर्य का उदाहरण रखने के लिए उपदेश देते हैं। यही भारतीयता है और यही उन्होंने जीवन में परिणत कर दिखाया है। उन्होंने अनुभव किया है, संसार के अन्तःस्तल में सर्वव्यापी परमात्मा का ही स्थान है, अतएव वे विरोधी-भाव के द्वारा संसार में अपनी युक्ति के बढ़ाने का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? इस सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं—

तोमार निर्द्दीप्त काले
मुहुर्तेई असम्भव आसे कोथा होते
आपनारे व्यक्त करी आपन आलोते
चिर-प्रतीक्षित चिर-सम्भवेर वेशे !
आछो तुमि अन्तर्यामी ए लज्जित देशे,

सबार अज्ञात सारे हृदये हृदये
गृहे-गृहे रात्रि-दिन जागरुक होये
तोमार निगूढ़ शक्ति करितेछे काज
आमी छाड़ी नाई आशा ओगो महाराज !"

(जब तुम्हारा निर्दिष्ट समय आ जाता है तब असम्भव चिरकाल के आकांक्षित की तरह चिर-सम्भव के रूप में, मुहूर्त में ही अपने को व्यक्त करके न जाने कहाँ से आ जाता है ! हे अन्तर्यामिन् ! इस लज्जित देश में भी तुम हो। सबके अज्ञात भाव से हृदय-हृदय में—गृह-गृह में जाग्रत रहकर तुम्हारी ही गूढ़ शक्ति अपना कार्य कर रही है। अतएव, हे महाराज ! मैंने आशा नहीं छोड़ी।)

देखिए आप महाकवि के भाव को, देखिए उनके हृदय के विश्वास को और उनकी भारतीयता को। यहाँ महाकवि साधारण तौर पर ईश्वर की ही इच्छा को इच्छा और उन्हीं के कर्म को कर्म मान रहे हैं। उनकी अलक्षित शक्ति के द्वारा ही, समय के आने पर, असम्भव सम्भव के आकार में बदल जाता है और उनकी इच्छा की पूर्ति होती है, इससे बड़ी भारतीयता हमारी समझ में तो और कुछ नहीं हो सकती। क्योंकि, अवतारवाद की जड़ एकमात्र यही भाव है। असम्भव को सम्भव कर दिखाने की प्रचण्ड शक्ति को लेकर जो पैदा होते हैं - जिनके आविर्भाव से संसार में एक युग-परिवर्तन-सा हो जाता है, भारत में उन्हें ही अवतार की आख्या दी जाती है। महाकवि भी इस आशय की पुष्टि करते हैं।

इस तरह, स्वदेश के सम्बन्ध में आपने और भी अनेक कविताओं की रचना की है। बंगलक्ष्मी, मातार आह्वान, हिमालय, शान्ति, यात्रा-संगीत, प्रार्थना, शिला-लिपि, भारत-लक्ष्मी, से आमार-जननी रे, नववर्षेरगान, भिक्षायां नैव नैव च—आदि कितनी ही कविताएँ महाकवि ने देशभक्ति के उच्छ्वास में आकर लिखी हैं और इनमें सभी कविताएँ महाकवि की वर्णन-विशेषता प्रकट कर देती हैं। आपके 'प्राचीन भारत' पद्य का कुछ अंश हम पाठकों के मनोरंजनार्थ उद्धृत कर चुके हैं। लोकाचार या देशाचार को आप किन शब्दों में याद करते हैं, जरा यह भी सुन लीजिए,—बहुत छोटी कविता है, नाम है 'दुइ उपमा'—

"जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे,
सहस्र शैवाल-दाम बांधे आसि तारे;
जे जाति जीवनहारा अचल असार
पदे-पदे बांधे तारे जीर्ण लोकाचार !
सर्व जन सर्व क्षण चले जेई पथे,
तृण-गुल्म सेथा नाहीं जन्मे कोनो मते—
जे जाति चलेना कभू, तारि पथ परे
तन्त्र मन्त्र संहितार चरण ना सरे !

(जिस नदी का प्रवाह रुक जाता है, वह फिर बह नहीं सकती है। फिर तो सेवार की हजारों जंजीरें उसे आकर जकड़ लेती हैं। इसी तरह जिस जाति के जीवन का नाश हो गया है—जो जाति अचल और जड़वत हो गयी है, उसे भी, पद-पद पर, जीर्ण-लोकाचार जकड़ लेते हैं। जो आम रास्ता है—जिस पर लोग

सब समय चलते-फिरते हैं, उसमें कभी घास नहीं उग सकती। इसी तरह, जो जाति कभी चलती नहीं, उसके पथ पर तन्त्र, मन्त्र और संहिताएँ भी पंगु हैं।)

कन्धे में भिक्षा की झोली डालकर जो लोग राज्य-प्राप्ति की आशा से दूसरों का दरवाजा खटखटाया करते हैं; उनके प्रति विदेशियों का कैसा भाव है, इसके सम्बन्ध में भी महाकवि की उक्ति सुन लीजिए। परन्तु पहले हम इतना कह देना चाहते हैं कि रवीन्द्रनाथ अपनी कविता में व्यक्तिगत आक्षेप करके किसी का दिल नहीं दुखाना चाहते। वे जो कुछ कहते हैं, अपने स्वदेश को ही लक्ष्य करके कहते हैं—

"जे तोमारे दूरे राखि नित्य घृणा करे
हे मोर स्वदेश,
मोरा तारी काछे फिरी सम्मानेर तरे
परी तारी वेश !
विदेशी जानेना तोरे अनादरे ताई
करे अपमान,
मोरा तारी पिछे थाकी योग दिते चाई
आपन सन्मान !
तोमार जे दैन्य मातः ताई भूषा मोर
केन ताहा भूली,
परधने धिक् गर्व, करी कर जोड़
भरी भिक्षा-झुली !
पुण्य हस्ते शाक अन्न तुली दाव पाते
ताई जेनो रुचे,
मोटा वस्त्र बुने दाव यदि निज हाते
ताहे लज्जा घुचे !
सेई सिंहासन यदि अञ्चलटी पातो
करो स्नेह दान,
जे तोमारे तुच्छ करे, से आमारे मातः,
कि दिबे सम्मान !"

(ऐ मेरे स्वदेश ! जो मनुष्य तुम्हें दूर रखकर नित्य ही तुमसे घृणा किया करता है, हम सम्मान के लिए उसी के वेश में उसके पास चक्कर लगाया करते हैं। विदेशी तुम्हें (तेरी महत्ता को) नहीं जानते, इसलिए उनमें निरादर का भाव है और वे तुम्हारा अपमान किया करते हैं, और हम तुम्हारी गोद के बच्चे उनके पीछे लगे हुए, उनके इस कार्य की सहायता किया करते हैं! माँ ! तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र और आभूषण हैं, इस बात को मैं क्यों भूलूँ—माँ ! दूसरे के धन के लिए अगर गर्व हो तो उस गर्व पर धिक्कार है। हाथ जोड़कर हम भीख की झोली भरते हैं। माँ ! अपने पवित्र हाथों से तुम जो रोटियाँ और भाजी—थाली पर रख देती हो, ईश्वर करे, उसी भोजन में हमारी रुचि हो, और अपने हाथों से तुम जो मोटे कपड़े बुन देती हो, उन्हीं से हमारी लज्जा-निवृत्ति

हो—हमारी देह ढक जाय। अपने स्नेह का दान करने के लिए यदि तुम अपना अंचल बिछा दो, तो हमारे लिए वही सिंहासन है, माँ ! तुम्हें जो तुच्छ समझता है वह हमें कौन-सा सम्मान दे देगा ?)

महाकवि का संकल्प

महाकवि रवीन्द्रनाथ की कविताओं का एक भाग अलग है। उसमें कुछ कविताएँ 'संकल्प' के नाम से एकत्र की गयी हैं। इन कविताओं में एक विचित्र सौन्दर्य है। सावन की सिंची लताओं की तरह इनकी सुकुमार आभा महाकवि के मनोरम काव्योद्यान की और भी शोभा बढ़ाती है। इनसे उनके पल्लवित काव्य-कुंजों में एक दूसरी ही श्री आ गयी है। महाकवि के संकल्प के रूप में जो भाव आये हैं, उनसे उनकी सुकुमार कल्पना-प्रियता के साथ उनकी कोमल भावनाओं की भी यथेष्ट सूचना मिलती है।

कवि के संकल्प के जानने की आवश्यकता भी है। वह क्या चाहता है, उसका उद्देश क्या है। वह अपने जीवन का प्रवाह किस ओर बहा ले जाना चाहता है, उसकी भावनाओं में किसी खास भाव की अधिकता क्यों हुई ? ये सब बातें हमें अच्छी तरह तभी मालूम हो सकती हैं जब कवि स्वयं उनमें अपनी कवित्व-कला की ज्योति भरे और उन्हें आइने से भी साफ, इतिहास से भी सरल करके रखे।

महाकवि का संकल्प क्या है, यह उन्हीं के मुख से सुनिए—

"संसारे सबाइ जबे साराक्षण शत कर्मे रत
तुइ सुधू छिन्नबाधा पलातक बालकेर मत
मध्याह्ने माठेर माझे एकाकी विषण्ण तरुच्छाये
दूर-वनगन्धवह मन्दगति क्लान्त तप्त वाये
सारा दिन बाजाइली बांशी !—ओरे तुइ उठ आजि
आगुन लेगेछे कोथा ? कार शंख उठियाछे बाजि
जागाते जगत जने ? कोथा होते ध्वनिछे क्रन्दने
शून्यतल ? कोन अन्धकार माझे जर्जर बन्धने
अनाथिनी मागिछे सहाय ? स्फीतकाय अपमान
अक्षमेर वक्ष होते रक्त शोषि करितेछे पान
लक्ष मुख दिया ! वेदनारे करितेछे परिहास
स्वार्थोद्धत अविचार ! संकुचित भीत क्रीतदास
लुकाइछे छद्मवेशे ! ओइ जे दाँड़ाये नतशिर
मूक सबे,—म्लान मुखे लेखा सुधू शत शताब्दीर

वेदनार करुण काहिनी; स्कन्धे जतो चापे भार—
वहि चले मन्दगति जतक्षण थाके प्राण तार,—
तार परे सन्तानेरे दिये जाय वंश वंश धरि;
नाहीं भर्त्से अदृष्टेरे, नाहीं निन्दे, देवतारे स्मरि
मानवेरे नाहीं देय दोष, नाहीं जाने अभिमान,
सुधू दुटी अन्न खुंटी कोनो मते कष्ट विनष्ट प्राण
रेखे देय बाँचाइया ! से अन्न जखन केह काड़े,
से प्राणे आघात देय गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचारे,
नाहीं जाने कार द्वारे दाँड़ाइवे विचारेर आशे,
दरिद्रेर भगवाने बारेक डाकिया दीर्घश्वासे
मरेसे नीरवे;—एइ सब मूढ़ म्लान मूक मुखे
दिते हवे भाषा, एई सब श्रान्त शुष्क भग्न बुके
ध्वनिया तुलिते हबे आशा; डाकिया बलिते हवे—
मुहूर्ते तुलिया सिर एकत्र दाँड़ाओ देखी सबे !
जार भये तुमी भीत से अन्याय भीरु तोमा चेये,
जखनि जागिवे तुमी तखनि से पलाइबे धेये;
जखनि दाँड़ावे तुमी सम्मुखे ताहार, – तखनि से
पथ-कुक्कुरेर मत संकोचे सत्रासे जावे मिशे;
देवता विमुख तारे, केहो नाहीं सहाय ताहार
मुखे करे आस्फालन, जानेसे हीनता आपनार
मने मने !"—

(जब संसार में, सब आदमी, सब समय, सैकड़ों कामों में लगे रहते हैं, तब भागे हुए बन्धनविहीन बालक की तरह, दुपहर के समय, बीच मैदान में, तरु की विषादमग्न छाया के नीचे, दूर-दूर के जंगलों से सुगन्ध को ढोकर ले आती हुई—धीमी—थकी और तपी हुई हवा में अकेले बैठे हुए तूने खूब तो बाँसुरी फूंकी; भला आज अब तो उठ। क्या तू नहीं जानता ?—कहाँ आग लगी हुई है,—संसार के आदमियों के जागने के लिए किसका शङ्ख बज रहा है ?—कहाँ के उठते हुए क्रन्दन से आकाश ध्वनित हो रहा है,—किस अँधेरे में पड़ी बन्धनों से जकड़ी हुई अनाथिनी सहायता की प्रार्थना कर रही है ! अरे देख,—वह देख—पीनोन्नत-शरीर अपमान अक्षमों के वक्ष से खून चूस-चूसकर, अपने लाखों मुखों से पान कर रहा है ! – स्वार्थ से उद्धत अविचार वेदना का परिहास कर रहा है ! —भय से सिकुड़ा हुआ गुलाम भेष बदलकर छिप रहा है ! —वह देख, सब-के-सब सिर झुकाये हुए खड़े हैं– किसी की जबान भी नहीं हिलती ! —और देख उनके म्लान मुखों में शत-शत शताब्दियों की वेदना की करुण-कहानी लिखी हुई है ! —उनके कन्धे पर जितना भी बोझ रक्खा जाता है, जब तक प्राण हैं, वे उसे धीरे-धीरे ढोये चलते हैं, और फिर यही बोझ वे अपनी सन्तानों को वंश-परम्परागत अधिकार के रूप से दे जाते हैं—न इसके लिए अपने भाग्य को ही कोसते हैं, न विधाता को याद करके उनकी निन्दा ही करते हैं और न दूसरे मनुष्य को ही कोई दोष देते हैं;

अधिक और क्या, वे इसके लिए अभिमान करना भी नहीं जानते; बस चार दाने चुनकर किसी तरह दुःख से पिसे हुए प्राणों को बचाये रक्खे हैं। जब कोई उनका यह अन्न भी छीन लेता है—जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचारी उन जैसे प्राणों को भी आघात पहुँचाता है, तब उसे हाय, इतना भी नहीं समझ पड़ता कि विचार की आशा से किसके द्वार पर वह जाकर खड़ा होगा! — यह निश्चय है कि एक वह समय आता है जब दरिद्रों के ईश्वर का एक बार स्मरण करके दीर्घ श्वास के साथ ही वह अपनी मानव-लीला की समाप्ति कर देता है। इन सब थके हुए—सूखे हुए —भग्न-हृदयों में शब्दों की प्रतिध्वनि के साथ आशा को जाग्रत करना होगा; इन्हें पुकार-पुकारकर, कहना होगा—"ज़रा थोड़ी देर के लिए सिर ऊँचा करके एक साथ सब खड़े तो हो जाओ। जिस भय से इतना तुम डर रहे हो वह अन्याय तुमसे भी भीरु है। तुम जागे नहीं कि वह भागा। तुम उसके सामने खड़े हुए नहीं कि वह रास्ते के कुत्ते की तरह संकोच और त्रास के मारे सिकुड़कर रह जायगा। उससे देवता भी विमुख हैं, उसका सहायक कोई नहीं, उसका यह जितना रोब-दाब है—जितनी बड़ी-बड़ी बातें वह करता है, यह सब बस जबानी जमा खर्च है,— मन-ही-मन वह अपनी हीनता—अपनी कमजोरियों को खूब समझता है।)

"कवि, तबे उठे ऐसो,—यदि थाके प्राण
तबे ताई लहो साथे,—तबे ताई आजि कर दान।
बड़ो दुःख बड़ो व्यथा,—सम्मुखे कष्टेर संसार
बड़ई दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र बद्ध अन्धकार
अन्न चाई, प्राण चाई, आलो चाई, चाई मुक्त वायु,
चाई बल, चाई स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु,
साहस विस्तृत वक्षपट। ए दैन्य माझारे, कवि,
एकवार निये एसो स्वर्ग होते विश्वासेर छवि!
एवार फिराओ मोरे, लोये जाओ संसारेर तीरे।
हे कल्पने, रङ्गमयि! दुलायोना समीरे समीरे
तरंगे-तरंगे आर! भुलायो ना मोहिनी मायाय!
विजन विषाद-घन अन्तरेर निकुञ्जच्छायाय
रेखो ना बसाये आर! दिन जाय, संध्या होये आसे!
अन्धकारे ढाके दिशि, निराश्वास उदास बातासे
निश्वसिया केंदे उठे वन! बाहिरिनु हेथा होते
उन्मुक्त अम्बर तले, धूसर - प्रसर राजपथे,
जनतार माझ खाने! कोथा जाव, पान्थ, कोथा जाव,
आमी नहीं परिचित, मोर पाने फिरिया ताकाव!
बल मोरे नाम तब, आमारे कोरो ना अविश्वास!
सृष्टि छाड़ा सृष्टि माझे बहुकाल करियाछि वास
सगिहीन रात्रि दिन; ताइ मोर अपरूप वेश,
आचार नूतनतर; ताई मोर चक्षे स्वप्नावेश,

वक्षे ज्वले क्षुधानल !--जे दिन जगते चले आसी,
केन् मां आमारे दिली सुधू एई खेलीवार बांशी !
बाजाते बाजाते ताई मुग्ध होये आपनार सुरे
दीर्घ दिन दीर्घ रात्रि चले गेनु एकान्त सुदूरे
छाड़ाये संसार सीमा !—से वांशीते सिखेछि जे सुर
ताहारी उल्लासे यदि गीतशून्य अवसाद-पुर
ध्वनिया तुलिते पारी, मृत्युञ्जयी आशार संगीते,
कर्म हीन जीवनेर एक प्रान्त पारी तरंगिते
सुधू मुहुर्तेर तरे, दुःख यदि पाय तार भाषा,
सुप्ति होते जेगे उठे अन्तरेर गभीर पिपासा
स्वर्गेर अमृत लागी, तवे धन्य हवे मोर गान,
शत शत असन्तोष महागीते लभिबे निर्वाण।"

(कवि ! तो फिर बैठे क्यों हो ?—उठो—चलो,—तुम्हारे पास कुछ नहीं है ?—प्राण ?—प्राण तो हैं।—बस इतना ही अपने साथ ले लो,—आज ज़रा अपने प्राणों का दान तो करके देखो। देखो—यहाँ बड़ा दुःख है—बड़ी व्यथाएँ हैं !—देखो अपने सामने ज़रा उस दुःख के संसार को—बड़ा ही दरिद्र है—शून्य है—क्षुद्र है—बड़ा ही क्षुद्र - अन्धकार में बद्ध हो रहा है !—सुनो उसे अन्न चाहिए—प्राण चाहिए—आलोक चाहिए—खुली हवा चाहिए। और ?—और चाहिए बल—स्वास्थ्य—आयु, आनन्द से भरी, चमकीली, और हृदय दृढ़,—साहस सुविस्तृत। इस दीनता के भीतर कवि ! एक बार—बस एक बार स्वर्ग से विश्वास की छबि उतार लाओ। रंगमयि कल्पने ! अब मुझे लौटा संसार के तट पर ले चल—हवा के झोंकों में, तरंगों में, अब मुझे न झुला—अपनी मोहिनी माया में अब मुझे न मोह—निर्जन और विषाद से गहरी अन्तःस्तल की कुंज-छाया में अब मुझे बैठा न रख। दिन बीत जाता है, शाम हो आती है; दिशाओं को अन्धकार ढक लेता है; आश्वास-तक-न-देनेवाले उदास वायु में साँस ले-लेकर वन रो उठता है ! यहाँ से खुले आकाश के नीचे, धूलि-धूसर फैले हुए राज-पथ में, जनता के बीच, मैं निकल गया। पथिक—ओ पथिक ! कहाँ जाते हो ? मुझसे तुम्हारा पहले का कोई परिचय तो नहीं है—परन्तु सुनो, मेरी ओर ज़रा दृष्टि फेरो; मुझे अपना नाम तो बतलाओ—मुझ पर अविश्वास न करो, मैं एक अजीब आदमी हूँ—जान पड़ता है, सृष्टि से अलग हूँ, परन्तु बहुत दिन मैं इस सृष्टि में रह भी चुका हूँ—दिन-रात अकेला, बिना-साथी का। इसीलिए तो मेरा यह विचित्र वेश है,—नये ढंग के आधार हैं; इसीलिए मेरी आँखों में स्वप्न का आवेश है, हृदय में भूख की ज्वाला उठ रही है। माँ ! तूने मुझे सिर्फ यह खेलने की वंशी क्यों पकड़ायी, जिस दिन मैं संसार में चला आया था। इसीलिए तो बजाता हुआ अपने स्वर से मुग्ध होकर, दीर्घ दिन और दीर्घ रात्रि लगातार मैं चलता ही गया और एकान्त में बहुत दूर संसार की सीमा छोड़कर निकल गया। उस वंशी से जो स्वर मैंने सीखा है, उसी के उच्छ्वास से यदि गीत-शून्य इस अवसाद-पुरी को प्रति-ध्वनित करके मैं जगा सका—मृत्यु को जीतनेवाले आशा के संगीतों से यदि एक

मुहूत के लिए भी कर्महीन जीवन के एक प्रान्त को मैं तरंगित कर सका—दुःख को यदि भाषा मिल गयी—सुप्ति के भीतर से यदि अन्तर की प्रखर प्यास स्वर्ग के अमृत के लिए जग पड़ी,—तो मेरा गान धन्य हो जायगा,—सैकड़ों असन्तोषों को महागीत के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति हो जायगी।)

"कि गाहिबे, कि सुनाबे!—बल, मिथ्या आपनार सुख,
मिथ्या आपनार दुःख! स्वार्थमग्न जे जन विमुख
बृहत् जगत् होते जे कखनो सेखेनी बांचिते!
महाविश्व जिवनेर तरंगेते नाचिते नाचिते
निर्भये छुटिते हबे सत्येरे करिया ध्रुवतारा!
मृत्युरे करिना शंका! दुर्दिनेर अश्रु जलधारा
मस्तके पड़िबे झरि—तारि माझे जाबो अभिसारे
तार काछे, जीवन सर्वस्वधन अर्पियाछि जारे
जन्म जन्म धरी! — — —
— — — —
— — तारी लागी रात्रि-अन्धकारे
चलेछे मानव-यात्री युग होते युगान्तर पाने
झड़-झंझा . वज्रपाते, ज्वालाये धरिया सावधाने
अन्तर प्रदीप खानी! — — —
— — — —
— — —छुटेछे से निर्भीक पराणे
संकट-आवर्तमाझे, दियेछे से विश्व - विसर्जन,
निर्यातन लयेछे से वक्ष पाती; मृत्युर गर्जन
सुनेछे से संगीतेर मतो! — — —
— — — —
हृत्पिण्ड करिया छिन्न रक्तपद्म अर्घ्य-उपहारे
भक्ति भरे जन्मशोध शेष पूजा पूजियाछे तारे
मरणे कृतार्थ करि! प्राण सुनियाछि तारी लागी
राजपुत्र परियाछे छिन्न कन्था विषम-विरागी
पथेर भिक्षुक; — — — —
— — — —
— —प्रिय जन करियाछे परिहास
अति परिचित अवज्ञाय; गेछे से करिया क्षमा
नीरवे करुण नेत्रे—अन्तरे वहिया निरुपमा
सौन्दर्य प्रतिमा! — — —
— — — —
— — —सुधु जानी से ताहारी महान
गम्भीर मंगल-ध्वनि सुना जाय समुद्रे समीरे,
ताहारि अंचल-प्रान्त लुटाई नीलाम्बर घिरे,

तारि विश्वविजयिनी परिपूर्ण प्रेममूर्ति खानी
विकाशे परम क्षणे प्रियजन मुखे! सुधू जानी
से विश्व-प्रियार प्रेमे क्षुद्रतारे दिया बलिदान
वर्जिते हइवे दूरे जीवनेर सर्व असम्मान,
सम्मुखे दाँड़ाते हबे उन्नत मस्तक उच्चे तुलि—
जे मस्तके भय लेखे नाई लेखा दासत्वेर धूलि
आंके नाई कलंक-तिलक! ताहारे अन्तरे राखी
जीवन-कण्टक-पथे जेते हबे नीरवे एकाकी,
सुखे-दुखे धैर्य धरी, विरले मूछिया अश्रु आँखी,
तिदिवसेर कर्मे प्रतिदिन निरलस थाकी
सुखी करी सर्व जने! तार परे दीर्घ पथशेषे
जीवयात्रा-अवसाने क्लान्त पदे रक्त-सिक्त वेशे
उत्तरिव एक दिन श्रान्तिहारा शान्तिर उद्देशे
दुःखहीन निकेतने! प्रसन्न वदने मन्द हेसे
परावे महिमा लक्ष्मी भक्त कण्ठे वरमाल्य खानी,
करपद्म परशे शान्त हबे सर्व-दुःख ग्लानी
सर्व अमङ्गल! लुटाइया रक्तिम चरण तले
धौत करि दिब पद आजन्मेर रुद्ध अश्रु जले।
सुचिर संचित आशा सम्मुखे करिया उद्घाटन
जीवनेर अक्षमता काँदिया करिबे निवेदन,
मागिब अनन्त क्षमा! हय तो घुचिबे दुःख निशा,
तृप्त हबे एक प्रेमे जीवनेर सर्व प्रेम तृषा!"

(कवि, तुम क्या गाओगे?—क्या सुनाआगे? यह गाना और सुनाना सब व्यर्थ है। बल्कि यह कहो कि अपने सुख और दुःख मिथ्या हैं। जो मनुष्य अपने स्वार्थ में पड़ा हुआ है, जो बृहत् संसार से विमुख है, उसने बचना नहीं सीखा! महाविश्व की जीवन-तरङ्गों पर नाचते हुए, सत्य को ध्रुवतारा करके, निर्भय होकर हमें तेजी के साथ बढ़ना होगा। हम मृत्यु की शंका नहीं करते। हमारे दुर्दिन की अश्रु-जलधारा मस्तक पर झरती रहेगी और उसी के भीतर से हमारा अभिसार उसके निकट जाने के लिए होगा जिसे हम हर जन्म से अपना जीवन-सर्वस्व धन देते आ रहे हैं। × × × उसी के लिए, रात में—अँधेरे में—आँधी, तूफान और वज्रपात में भी मानव-यात्री अन्तर-प्रदीप को जलाकर उसे सावधानी से पकड़े हुए एक युग से दूसरे युग की ओर चला जा रहा है। × × × वह संकट के आवर्तों से निर्भय होकर दौड़ा चला जा रहा है। उसने विश्व का विसर्जन कर दिया है, उसने हृदय खोलकर निर्यातन स्वीकार कर लिया है, उसने मृत्यु के गर्जन को संगीत की तरह सुना है। × × × अपने हृदय-पिण्ड को छिन्न करके, रक्त-पद्म की तरह अर्घ्य और उपहार के रूप में जीवन-भर के लिए, भक्तिपूर्वक उसने उसकी अन्तिम पूजा की है—मृत्यु के द्वारा अपने प्राणों को कृतार्थ करके मैंने सुना है, उसी के लिए राजपुत्र ने फटे कपड़े पहने हैं—विषयों से विरक्त होकर वह

रास्ते का, भिक्षुक बन गया है। × × × उसके प्रियजनों ने एक अत्यन्त परिचित अवज्ञा के द्वारा उसका परिहास किया है; परन्तु वह, उन्हें क्षमा करके, करुणापूर्ण नेत्रों से चुपचाप चला गया है— हृदय में अपनी निरुपमा सौन्दर्य-प्रतिमा का ध्यान लेकर। × × × मैं तो बस इतना ही जानता हूँ कि वह उसी की महान मंगल-ध्वनि है जो समुद्र में और समीर में सुन पड़ रही है, नील अम्बर को घेरकर लोटता हुआ यह उसी के अंचल का छोर है, उसी की, विश्व को जीत लेनेवाली, परिपूर्ण प्रेम की मूर्ति, शुभ समय के आने पर अपने प्रिय के मुख को विकसित कर देती है। मैं बस इतना ही जानता हूँ कि उस विश्वप्रिया के प्रेम में क्षुद्रता की बलि देकर, जीवन के सम्पूर्ण असम्मान को दूर हटाना होगा, उन्नत मस्तक को और ऊँचा करके सामने खड़ा होना होगा — उस मस्तक को उठाना होगा जिसमें भय की रेखा नहीं खिंची—दासता की धूलि ने जिस पर कलंक का टीका नहीं लगाया। उसे ही अन्तर में रखकर जीवन के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चुपचाप अकेला जाना होगा,—सुख और दुःख में धैर्य रखकर, एकान्त में आँसू पोंछते हुए,—प्रतिदिन के कर्मों में सब समय आलस छोड़ और सब आदमियों को सुखी करके। इसके पश्चात् दीर्घ पथ के जीवन की प्रगति की समाप्ति होने पर, थके हुए पैरों और खून में डूबे हुए अपने वेश को लेकर, श्रान्तिहीन शान्ति के उद्देश्य पर चलता हुआ एक दिन मैं उस स्थान में पहुँचूंगा जहाँ दुःख का नाम भी नहीं है। प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द हँसती हुई महिमालक्ष्मी भक्त के कण्ठ में वरमाल्य डालेगी, जिसके कर-पद्म का स्पर्श करते ही सम्पूर्ण दुःख, ग्लानि और अमङ्गल शान्त हो जायँगे। उसके रक्तिम चरणों पर लोटकर मैं अपने जीवन-भर के रुके हुए आँसुओं से उसके पैर धो दूंगा। चिरकाल से संचित की हुई आशा को उसके सामने प्रकट करके मैं रो-रोकर अपने जीवन की अक्षमताएँ निवेदित करूँगा, और अनन्त क्षमा मागूँगा; सम्भव है इससे मेरी दुःख-निशा का अवसान हो और एक ही प्रेम के द्वारा जीवन की सब प्रकार की प्रेम-तृष्णाएँ तृप्त हों।)

कैसा अद्भुत संकल्प है! कितने ही दिनों से संचित किये हुए भावों का भाण्डार, संकल्प के चित्रों में, पाठकों को अमूल्य रत्न दे रहा है। महाकवि के इस संकल्प में, मनुष्य-जीवन का कर्त्तव्य, तीनों की दशा का वर्णन, उनके उत्थान का उपाय, नीचता का तिरस्कार, इन्हीं सब सांसारिक भावों की गणना की गयी है। दीनों की दुर्दशा के साथ कवि की पूर्ण सहानुभूति पायी जाती है। परन्तु कविता का यह भाव बदल जाता है। अन्त में वह संसार छोड़ देता है। अपने गीतों की भीम गर्जना के द्वारा पददलित संसार को बार-बार प्रतिध्वनित करके जगाना वह भूल जाता है। उसे यह सब अचिर, नश्वर और क्षणस्थायी जान पड़ता है। इस संसार से उसकी विरक्ति हो जाती है। यहाँ बड़ों में भी वह स्वार्थ देखता है और छोटों में भी उसे वही शब्द सुन पड़ता है। वह इस क्षुद्र जगत् को पार कर जाता है। जहाँ मृत्यु को हृदय से लगानेवाले परम प्रेमी विरागी संसार का त्याग कर चले जाते हैं—जहाँ महा-राजाधिराज भी अपनी सुख-सम्पदा को छोड़कर अपने प्रियतम से मिलने के लिए चले जाते हैं और वज्रप्रहार को भी धैर्यपूर्वक सह लेने के लिए तैयार रहते हैं, आँसुओं को पीकर प्रेम के उसी कण्टकाकीर्ण पथ को पार करने के लिए कवि भी तैयार हो

जाता है। परन्तु जिसके पास पहुँचने के लिए वह इतना उद्यम करता है, वह है कौन ?—सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड की सौन्दर्य-प्रतिमा—जिसके उद्देश में कवि प्रेम के अगणित संगीतों की सृष्टि करके बहा देते हैं,—आसमान में जिसका आँचल लोटता है।

यह प्रश्न उठता है कि पहले तो कवि दीनों की दुर्दशा का दिग्दर्शन करता है,—उनके अपमान को दूर करने, उन मूकों को भाषा देने, उनमें जीवन संचार करने का संकल्प करता है, वह कवि बनकर अपने स्वर से संसार का प्रान्त तरंगित कर देने के लिए इच्छा प्रकट करता है—फिर एकाएक उसे इस तरह उसी संसार से विराग क्यों हो जाता है ?

इसका उत्तर देने से पहले हम प्रासंगिक कुछ दूसरी बातें कहना चाहते हैं। इस इतने बड़े पद्य में ऐसी सुन्दर अर्थ-संगति रखना रवीन्द्रनाथ जैसे कवित्वकला के पारदर्शी महाकवि का ही काम था। पहले रवीन्द्रनाथ की अद्भुत शब्द-श्रृंखला पर ध्यान दीजिए। एक-एक भाव की लड़ी चालीस-चालीस पचास-पचास पंक्तियों तक बढ़ती ही चली गयी है; और तारीफ यह कि भाव कहीं छूटने-टूटने नहीं पाया। जान पड़ता है, शब्द और भाव उनके गुलाम हैं, इच्छामात्र की देर होती है और वे हाथ बाँधकर हाजिर हो जाते हैं। बहुत-से विद्वानों की राय है कि, कविता का सौन्दर्य यह है कि शब्द थोड़े हों और भाव अधिक और गहन; इस तरह कविता का सौन्दर्य ज्यादा खुलता है, जैसे बिहारी के दोहे। इस कथन में सत्य की छाया नहीं है सो बात नहीं। परन्तु कविता के सौन्दर्य की व्याख्या के लिए एक-कथन को ही सत्य मान लेना वैसी ही भूल होगी जैसी साकार और निराकार के झगड़े में अक्सर हुआ करती है। यह कोई बात नहीं कि सौन्दर्य विन्दु में ही हुआ करता है, सिन्धु में नहीं। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि बिन्दु का सौन्दर्य अलग है और सिन्धु का अलग। जो लोग शब्द-बिन्दु में कवित्व-सिन्धु के भर देने को उच्चकोटि की कविता बतलाने के आदी हो रहे हैं, उनसे हम विनयपूर्वक कहेंगे, भाई ! आपकी उक्ति में तर्क का विरोध होता है। क्योंकि बिन्दु में कभी सिन्धु समा नहीं सकता, हाँ बिन्दु में सिन्धु का चित्र भले ही पड़ जाय। आँख की पुतली पर संसार का एक बहुत बड़ा चित्र पड़ता है, इसलिए क्या कोई यह कह सकता है कि आँख में संसार समा गया ? वह तो ज्यों का त्यों बाहर ही रहता है, कभी किसी की आँख का आपरेशन करके संसार का एकाध टुकड़ा अब तक बाहर नहीं निकाला गया। बिन्दु में सिन्धु को भर देनेवाली बात पर भी यही एतराज है। यह हम मानते हैं कि पद्य के एक जरा-से टुकड़े में सौन्दर्य की मात्रा बहुत हो सकती है; परन्तु इस तरह टुकड़ों में ही सौन्दर्य भरने के लिए हम कवियों को सलाह नहीं दे सकते। क्योंकि बिन्दु में सिन्धु की छाया पड़ने पर एक सौन्दर्य पैदा होता है और सिन्धु में सुन्दर अगणित बिन्दुओं को देखकर एक और सौन्दर्य। यह कोई बात नहीं कि सब समय थोड़े में ही बड़े के दर्शन किये जायँ और बड़ों में असंख्य क्षुद्रों के नहीं।

महाकवि रवीन्द्रनाथ के इस पूर्वोद्धृत पद्य में यदि कोई बिन्दु में सिन्धु की छाया देखना चाहे तो उसे निराश होना होगा। उसमें वह आनन्द है जो सिन्धु में अगणित बिन्दुओं को देखकर होता है। अस्तु ! पहले संसार के घोर उत्पीड़न को

देखना, उत्पीड़न के यथार्थ-मर्म को खोलना, उत्पीड़ितों को उत्पीड़न के सामने लाकर खड़ा करना ! उनके अगनित असन्तोषों को अपने गीत के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति कराना, तब स्वयं निर्वाण के पथ पर निकलना और सत्यं शिवं सुन्दरम् की मूर्ति—अपनी निरुपमा सौन्दर्यमयी—से मिलना, इस क्रम में कैसा सुन्दर संगीत है, इस पर पाठक ध्यान दें । रवीन्द्रनाथ तब तक निर्वाण की प्राप्ति के लिए नहीं निकलते जब तक सैकड़ों असन्तोषों को उनके गीतों के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती । इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ आपने कवि को सम्बोधन करके कहा है —क्या गाओगे—क्या सुनाओगे ! कहो, हमारे ये सुख और दुःख मिथ्या हैं, जो स्वार्थ-मग्न है वह वृहत् संसार से विमुख है—उसने बचना नहीं सीखा, वहाँ उनकी इन पंक्तियों से सूचित हो जाता है कि उनके गीतों से सम्पूर्ण असन्तोषों को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती । यदि सम्पूर्ण असन्तोषों को निर्वाण-लाभ हो गया होता तो आगे चलकर स्वार्थमग्न मनुष्यों को वृहत् संसार से विमुख बतलाकर महाकवि एकाएक वैराग्य धारण न कर लेते । उन्हीं की पंक्तियों से सूचित होता है कि उनके वैराग्य धारण करने से पहले— निरुपमा सौन्दर्य-प्रतिमा के पास पहुँचने से पहले, संसार में, असन्तोष और स्वार्थ यथेष्ट मात्रा में रह जाते हैं और उनके सुधार से निराश अतएव विरक्त होकर ही मानो वे वैराग्य के पथ पर आते हैं ।

यह दोष नहीं है, किन्तु कला की एक उत्कृष्ट विभूति है । सम्पूर्ण असन्तोषों को निर्वाण की प्राप्ति न कराना, इसमें कला के साथ-साथ दर्शन की पुष्टि होती है । कला इसमें वह है जिसमें मनुष्य के मन का चित्र दिखलाया है और दर्शन वह जिसमें सनातन सत्य की पुष्टि । रवीन्द्रनाथ यह तो कहते ही नहीं कि पीड़ितों और लांछितों के साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं है । वे उनसे पूर्ण सहानुभूति रखते हैं, कितने ही असन्तोष निर्वाण या सन्तोष के रूप में बदलते हैं—अनेकों का सुधार हो जाता है । परन्तु स्मरण रहे इन अनेकों का सुधार कुछ रवीन्द्रनाथ की इच्छा से नहीं होता,—रवीन्द्रनाथ तो सुधार की योजनामात्र पेश करते हैं—सुधार के गीतमात्र गाते हैं, सुधरते हैं लोग अपनी इच्छा से । 'शत-शत असन्तोष महागीते लभिबे निर्वाण,' महाकवि की इस उक्ति में शतशत (अनेक, किन्तु सब नहीं) असन्तोष जीवधारी बतलाये गये हैं, (Personified) और वे स्वयं ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं । व्याकरण की दृष्टि से असन्तोष स्वयं कर्त्ता है और 'लभिबे'—'लाभ करेंगे' उसकी क्रिया, अतः मनुष्यरूपधारी सैकड़ों असन्तोष स्वयं ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, उनके इस कार्य में रवीन्द्रनाथ का गीत सहायक मात्र है । जिस तरह बिना कारण के कर्त्ता की कार्य-सिद्धि नहीं होती है, उसी तरह, यहाँ बिना महाकवि की सहायता के असन्तोषों को मुक्ति नहीं मिलती है । बस इतना ही श्रेय रवीन्द्रनाथ को दिया जाता है । और कार्यकर्त्ता अपनी इच्छा से ही करता है— असन्तोष अपनी इच्छा से ही मुक्त होते हैं । उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर महाकवि अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते, इससे उन्होंने अपने विशाल शास्त्र-ज्ञान का परिचय दिया है, क्योंकि जिस तरह समष्टिगत आत्मा स्वतन्त्र है, उसी तरह व्यक्तिगत आत्मा भी स्वतन्त्र है, और व्यक्ति की कुल क्रियाएँ भी स्वतन्त्र हैं । मनुष्य मन की प्रगति के अनुकूल ही काव्य-चित्र में भाषा-तूलिका को संचालित

करके, महाकवि ने कला को विकसित कर दिया है और बहुतों की मुक्ति बतलाकर और बहुतों को उसी अवस्था में छोड़ उसी असन्तोष में डालकर आपने शास्त्रों की एक सच्ची व्याख्या-सी कर दी है। सृष्टि में किसी बीज का नाश नहीं होता। यदि सम्पूर्ण असन्तोष संसार से गया होता तब तो असन्तोष के बीज का नाश ही हो गया था। इससे कविता में एक बहुत बड़ी असंगति आ जाती है। असन्तोष को संसार में पूर्ववत् प्रतिष्ठित रखकर, संसार की क्षुद्रता को छोड़ विश्व-ब्रह्माण्ड की सौन्दर्य श्री के पास कवि का पहुँचना ही स्वाभाविक हुआ है। अब रही संसार से उनके विमुख होने की बात, सो इसका वृत्तान्त उन्होंने स्वयं ही लिखा है। संसार में वही रह सकता है, जो अस्वार्थपर है, असंकीर्ण है।

अपने संकल्प-समूहों में अशेष का चित्रण करते हुए महाकवि लिखते हैं —

"आबार आह्वान ?
जतो किछु छिलो काज सांग तो करेछी आज
दीर्घ दिन मान।
जागाये माधवी वन चले गेछे बहु क्षण
प्रत्यूष नवीन !
प्रखर पिपासा हानी पुष्पेर शिशिर टानी
गेछे मध्य दिन।
माठेर पश्चिमे शेषे अपराह्न म्लान हेसे
होलो अवसान,
पर पारे उत्तरिते पा दियेछि तरणीते,
आबार आह्वान ?"

(फिर तुम मुझे बुलाते हो ? जितने मेरे काम थे, उन सबको तो मैंने समाप्त कर डाला—इस दीर्घ दिन के साथ-साथ ! नवीन प्रभात तो माधवी वन को जगाकर बहुत पहले ही चला गया है। फूलों की ओस चाटकर, उनमें प्रखर प्यास भरकर दुपहर भी चली गयी है ! प्रान्तर के अन्तिम पश्चिमांश में, मलिन भाव से हँसकर पिछला पहर भी डूब गया है ! इस समय, उस पार जाने के लिए मैंने नाव पर पैर रक्खा ही और तुमने मुझे फिर बुलाया ?)

"नामे सन्ध्या तन्द्रालसा सोनार आंचल खसा
हाते दीप शिखा,
दिनेर कल्लोल पर टानी दिया झिल्ली स्वर
घन यवनिका !
ओ पारेर कालो कुले काली घनाइया तुले
निशार कालिमा,
गाढ़ से तिमिरतले चक्षु कोथा डूबे चले
नाही पाय सीमा !
नयन पल्लव परे स्वप्न जड़ाइया धरे
थेमे जाय गान;
क्लान्ति टाने अङ्ग मम प्रियार मिनति सम
एखनो आह्वान् ?"

(सन्ध्या उतर रही है। नींद से उसकी आँखें अलसायी हुई हैं, उसके सोने का आँचल खुल-खुलकर गिर रहा है, उसके हाथ में प्रदीप की शिखा कैसी शोभा दे रही है। झिल्लियों के स्वर ने दिन के कल्लोल पर एक घोर यवनिका खींच दी है! रात का अँधेरा उस पार के काले तट की स्याही को और गहरा कर देता है! उस गहरे अँधेरे में आँखें कहीं डूबती चली जाती हैं, इसका कुछ ओर-छोर नहीं मिलता! आँख की पलकों को स्वप्न जकड़ लेता है, गाना भी रुक जाता है, प्रिया की मिन्नत की तरह क्लान्ति मेरे अङ्गों को समेटती है, और तुम अब भी मुझे बुला रही हो?)

"रे मोहिनी, रे निष्ठुरा ओरे रक्त-लोभातुरा
कठोर स्वामिनी,
दिन मोर दिनू तोरे शेषे निते चास हरे
आमार यामिनी,
जगते सबारी आछे संसार-सीमार काछे
कोनो खाने शेष,
केनो आसे मर्मच्छेदि, सकल समाप्ति भेदि,
तोमार आदेश?
विश्व जोड़ा अन्धकार सकलेरी आपनार
एकेलार स्थान,
कोथा होते तारो माझे विद्युतेर मतो बाजे
तोमार आह्वान?"

(अयि मोहिनि—निष्ठुर—खून की प्यासी—मेरी कठोर स्वामिनि! अपना दिन तो मैंने तुझे दिया अब मेरी रात भी तू हर लेना चाहती है? संसार में, संसार की सीमा के पास, किसी जगह, सबकी समाप्ति है, तो फिर मर्म को छेदकर सब समाप्तियों का भेद करता हुआ तेरा आदेश मेरे पास क्यों आता है? यह विश्व-भर में जुड़ा हुआ अँधेरा—यहाँ सबके लिए अकेली जगह अलग है, इस अँधेरे के भीतर भी बिजली की तरह तेरा आह्वान, कहाँ से आकर झलक जाता है?)

"दक्षिण समुद्र पारे, तोमार प्रासाद द्वारे
हे जाग्रत रानी,
बाजे ना कि सन्ध्या काले शान्त सुरे क्लान्त ताले
वैराग्येर वाणी?
सेथाय कि मूक बने घुमाय ना पाखीगणे
आँधार शाखाय?
तारागुली हर्म्य शिरे उठे ना कि धीरे-धीरे
निःशब्द पाखाय?
लता-वितानेर तले बिछाय ना पुष्प दले
निभृत शयान?
हे अश्रान्त शान्तिहीन, शेष होये गेलो दिन
एखनो आह्वान?"

(दक्षिण समुद्र के उस पार, तुम्हारे महल के दरवाजे, ए मेरी जागती हुई रानी ! क्या शाम के वक्त शान्त स्वर और क्लान्त ताल में वैराग्य की वाणी नहीं बजती ? क्या वहाँ के मूक वनों की अँधेरी शाखाओं पर पक्षी सोते नहीं ? तारे, चुपके-चुपके महल के सीस पर धीरे-धीरे क्या वहाँ नहीं चढ़ते ?—लता-वितानों के नीचे, फल-दल, क्या वहाँ एकान्त-शय्या की रचना नहीं करते ? ऐ शान्तिहीन अभ्रान्त ! दिन समाप्त हो चुका और तुम अब भी मुझे बुलाते हो ?)

"रहिलो रहिलो तबे आमार आपन सबे,
आमार निराला,
मोर सन्ध्या दीवालोक, पथ-चावा दुटी चोख
चले गाँथा माला।
खेया तरी जाक बोये गृह-फेरा लोक लोये
ओ पारेर ग्रामे,
तृतीयार क्षीण शशि धीरे पड़े जाक खसि
कुटिरेर बामे !
रात्रि मोर, शान्ति मोर, रहिल स्वप्नेर घोर
सुस्निग्ध निर्वाण,
आवार चलिनु फिरे बहि क्लान्त नत शिरे
तोमार आह्वान !
बलो तबे कि बाजाबो फूल दिये कि साजाबो
तव द्वारे आज,
रक्त दिये कि लिखिबो, प्राण दिये कि सिखिबो
कि करिबो काज ?
यदि आँखी पड़े ढुले, क्लान्त हस्त यदि भूले
पूर्व निपुणता,
वक्षे नाहीं पाई बल, चक्षे यदि आसे जल
बेधे जाय कथा,
चेयोना को घृणा भरे करोना को अनादरे
मोर अपमान,
मने रेखो, हे निदये, मेनेछिनु असमये
तोमार आह्वान !
सेवक आमार मत रयेछे सहस्र शत
तोमार दुआरे
ताहार पयेछे छटी, घुमाये सकले जुटी
पथेर दुधारे।
सुधू आमि तोरे सेवी विदाय पाइते देवी
डाक क्षणे क्षणे;
बेछे निले आमारेई दुःसह सौभाग्य सेई
बहि प्राणपणे !

सेई गर्वे जागि रब, सारा रात्रि द्वारे तव
अनिद्र नयान,
सेई गर्वे कण्ठे मम वहि वरमाल्य सम
तोमार आह्वान !"

(अगर इस तरह बुलाना ही तुम्हारा उद्देश है, तो यह लो, मेरा सब कुछ, मेरा निर्जन यहीं रहा; मेरा शाम के दिये का उजाला, मेरी रास्ते पर लगी हुई दोनों आँखें, मेरी बड़े प्रयत्न की गुँथी हुई माला, सब कुछ रहा। घर लौटे आदमियों को लेकर, उस पार के गाँव में, खेवा जा रहा है—तो जाय, तीज का पतला चाँद कुटिया के बायीं ओर—धीरे-धीरे टूटकर गिर रहा है—तो गिर जाय ! मेरी रात, मेरी शान्ति, स्वप्न की गहराई और वह मेरा बहुत ही शीतल निर्वाण, सब कुछ रहा ! अब फिर मैं लौटा—थके और झुके हुए सीस पर तुम्हारा आह्वान लेकर। अच्छा तो अब बतलाओ, मैं क्या बजाऊँ ? — तुम्हारे द्वार पर आज फूलों से क्या सजाऊँ—अपना खून बहाकर उससे क्या लिखूँ ?—-अपने प्राणों का उत्सर्ग करके उससे क्या सीखूँ ?—क्या काम करूँ ? अगर आँखें नींद से मुँद जायँ, ढीला हाथ अगर पहले की निपुणता भूल जाय, अगर हृदय को बल न मिले, आँखों में आँसू आ जायँ, बात रुक जाय, तो मेरी ओर घृणा से न ताकना—अनादर की दृष्टि से मेरा अपमान न करना; ऐ निर्दये ! याद रखना, तुम्हारे असमय के आह्वान को भी मैंने मान लिया था। मुझसे सेवक तुम्हारे द्वार पर हजारों हैं, उन्हें छुट्टी मिल गयी है, वे सब एकत्र हो रास्ते के दोनों ओर सो रहे हैं। देवि, तुम्हारी सेवा करके केवल मुझे छुट्टी ही नहीं मिलती, सभी समय मेरी पुकार होती है; अनेक सेवकों में तुमने मुझे ही चुन लिया है, इस दुरूह सौभाग्य की रक्षा मैं दिलो-जान से कर रहा हूँ। इसी गर्व से मैं तुम्हारे द्वार पर जागता रहूँगा, झपकियाँ भी न लूँगा, इसी गर्व से मैं अपने कष्ट में वरमाल्य-सा तुम्हारे आह्वान को धारण करूँगा।)

"हबे, हबे, हबे जय हे देवी, करिने भय,
हबो आमी जयी !
तोमार आह्वान-वाणी सफल करिबो रानी,
हे महिमामयी।
काँपिबे ना क्लान्त कर, भाँगिबे ना कण्ठस्वर
टुटिबे ना वीणा
नवीन प्रभात लागी दीर्घ रात्रि रबो जागि
दीप निभिबे ना !
कर्मभार नवप्राते नव सेवकेर हाते
करि जाबो दान,
मोर शेष कण्ठ स्वरे जाइबो घोषणा करे
तोमार आह्वान !"

(हे देवि, मुझे भय नहीं है, मैं जानता हूँ, मेरी विजय होगी। हे रानी, हे महिमामयी, तुम्हारी आह्वान-वाणी को मैं सफल करूँगा। थका हुआ भी, मेरा

हाथ न काँपेगा, मेरा गला न बैठ जायगा, मेरी वीणा न टूटेगी; नवीन प्रभात के लिए तमाम रात मैं जागता रहूँगा, दीया भी न गुल होगा; नये प्रभात के आने पर कार्य-भार तुम्हारे किसी नये सेवक को सौंप जाऊँगा, अपने अन्तिम कण्ठस्वर में मैं तुम्हारे आह्वान की घोषणा करके जाऊँगा।)

किस संकल्प की भीड़ों से, हृदय की किस वासना के मधुर सम पर ठहर-ठहरकर, 'अशेष' की यह रागिनी महाकवि रवीन्द्रनाथ अलाप रहे हैं, इसका पता लगाना बड़ा कठिन काम है। साधारण मन इस विचित्र ढंग की वर्णना को पढ़कर, जिसके नाम के साथ सूरत का ज़रा भी मेल नहीं पाया जाता, स्वभावतः चौंककर थोड़ी देर के लिए निराधार-सा हो जाता है--अर्थ में डुबकी लगाने के लिए कोशिश तो करता है, पर पानी पर उसे बर्फीली चट्टान का एक हास्यास्पद भ्रम हो जाता है। नादान बालक की प्रश्नभरी मौन दृष्टि से इन पंक्तियों की ओर देखकर ही रह जाता है, जटिल अर्थ-ग्रन्थि के सुलझाने का साहस, भाषा के सुदृढ़ दुर्ग को देखकर, पस्त हो जाता है।

परन्तु परिस्थिति वास्तव में ऐसी जटिल नहीं। पंचभूतों में बन्द आत्मा की तरह वह महान होने पर भी दुर्बोध नहीं। भाषा के पींजड़े में भाव-शेर बन्द है,—बड़ा है--प्रखर-नख है, पर कुछ कर नहीं सकता। थोड़ी देर पींजड़े के पास खड़े रहिए, धैर्य के साथ; उसके सब स्वभावों से परिचित हो जाइयेगा, गर्जना भी सुनने को मिल जायगी, और उसकी गर्जना में, यदि आप समझदार हैं, तो उसका भाव भी ताड़ जायँगे कि वह क्या चाहता है।

महाकवि की इस कविता का शीर्षक है, 'अशेष' परन्तु अशेषता की साफ छाप कविता की पंक्तियों में कहीं पड़ने नहीं पायी, अशेषता, जीवन के अवश्यम्भावी सत्य किन्तु अज्ञात भविष्य की तरह, भाषा की गोद में बिल्कुल छिप गयी है। यह 'अशेष' क्या है ?—वही 'आह्वान' जिसका उल्लेख प्रत्येक भाव के अन्त में होता गया है। कवि सूत्रपात में ही कहता है—"सब काम समाप्त हो चुके,—प्रत्यूष माधवी-वन को जगाकर चला गया – फूलों की ओस पीकर, उनकी प्यास बढ़ाकर, दुपहर भी चली गयी, पिछला पहर भी पच्छिम के छोर में ढक गया, सबका अन्त हो गया; पर तुम्हारा आह्वान अब भी है—उसकी समाप्ति नहीं हुई – तुम मुझे अब भी बुला रही हो।" यही 'अशेष' है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यह आह्वान 'अशेष' है—माना, परन्तु यह है किसका आह्वान ? यह एक कल्पनामात्र है या इसमें कुछ वास्तविकता भी है ? यदि कल्पना है तो इसकी सार्थकता किस तरह सिद्ध होती है ? यदि वास्तविकता है तो यह क्या है ?

हम इसे कल्पना भी कहेंगे और इसे वास्तविकता का रूप भी देंगे—वास्तविकता से हमारा मतलब सत्य से है। पहले तो हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कल्पना कभी निर्मूल नहीं होती – उसमें भी सत्य की झलक रहती है, अथवा यों कहिए कि कल्पना स्वयं सत्य है। आप कल्पना का विश्लेषण कीजिए। वह है क्या चीज ? एक बहुत सीधा उदाहरण हमारे सामने यह संसार है। शास्त्र कहते हैं, यह कल्पना है। परन्तु क्या कोई इससे संसार को मिथ्या मान लेता है ?--वह

उसे सत्य ही देखता है। दूसरे वह अस्तित्वशाली भी है। क्या कोई कह सकता है कि संसार नहीं है? भारत का एक दर्शन संसार का अस्तित्व नहीं मानता। परन्तु यह कब? जब वह ब्रह्म में अवस्थित है। जब ब्रह्म में है तब उसके निकट संसार के ये चित्र भी नहीं हैं। परन्तु संसारियों के लिए संसार कभी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी तरह कल्पना को भी लोग निर्मूल बतलाते हैं, परन्तु संसार की तरह कल्पना भी साधारण है, वह कभी निर्मूल नहीं कही जा सकती। स्वर्ग और पाताल को कवियों ने अपनी कल्पना के बल पर एक करके दिखलाने की चेष्टा की है। उनकी वह कल्पना भी बे-सिर-पैर की नहीं हो पायी। यदि उस कल्पना को वे पूरी न उतार दें तो फिर वे कवि कैसे? एक जगह कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—रात अपने अँधेरे पंख फैलाये हुए — आ रही है। उनकी इस कल्पना को झूठ बतलाने का अधिकार इस युक्ति से होता है—रात के न पंख होते हैं और न वह उन्हें फैलाकर कभी आती है, इस तरह की युक्ति से कल्पना को झूठ बतलानेवाले भ्रम में हैं। इसी कल्पना को सत्य हम इस युक्ति से कहेंगे—अँधेरे (काले) पंख फैलाकर आना स्वाभाविक है और यह स्वाभाविकता पक्षी के लिए है, रात के पंख भले ही न हों, परन्तु यदि रात को पक्षी की उपमा देकर कवि उसे पंख फैलाकर आने के लिए कहता तो यह कोई दोष न था। उपमान-उपमेय साहित्य का एक अंग है, यह सभी साहित्यिक मानते हैं। 'रात, अँधेरे पंख फैलाकर आ रही है', यह वाक्य यदि यों कहा जाता—'रात्रि-विहगी अपने अन्धकार-पंखों को फैलाकर आ रही है', तो इसमें किसी को दोष दिखाने का साहस न होता। क्योंकि पंख फैलाना विहगी के लिए ही सिद्ध होता है, रात के हिस्से में रह जाता बस अन्धकार, परन्तु इस युग की नवीनता संस्कृत के प्राचीन उपमान-उपमेय के बन्धनों से अलग हो गयी है। उसे अब उस तरह की वर्णना पसन्द नहीं। अस्तु इस कल्पना में हमें असत्य की छाया कहीं नहीं मिलती, और इसी युक्ति से सिद्ध होता है कि कल्पना कभी असत्य नहीं होती, एक कल्पना में चाहे दूसरी कल्पना भले ही भिड़ा दी जाय और इस तरह के कार्यों में जो जितना कुशल है, साहित्य के मैदान में वह उतना ही बड़ा महारथी। अतएव हम कहेंगे, महाकवि के 'अशेष' में कल्पना भी है और सत्य भी।

अब प्रथम प्रश्न के साथ हम महाकवि की सुलझी हुई भी जटिल-सी जान पड़नेवाली ग्रन्थियों को खोलने की चेष्टा करेंगे। 'आह्वान' अशेष है, यह हम बतला चुके हैं। यह बतलाना है कि यह किसका आह्वान है। हम पुनरुक्ति न करेंगे। आप अशेष के प्रथम दोनों पैराग्राफ पढ़ जाइए, देखिए, पहले सन्ध्या का वर्णन है। फिर रात होती है। दिन-भर काम करके थके हुए कवि की पुतलियों से स्वप्न आकर लिपट जाते हैं—उसका संगीत रुक जाता है—प्रिया की आरज़ू में अपनी ओर खींच लेने की जो एक विचित्र शक्ति होती है, वही उस समय क्लान्ति को प्राप्त है। वह भी कुल अंग समेट रही है, ऐसे समय कवि को फिर पुकार सुन पड़ती है, वह ज़रा सुख की नींद नहीं सोने पाता। तभी तीसरे पैराग्राफ के आरम्भ में मोहिनी कहकर भी अपनी स्वामिनी को वह निष्ठुर बतलाता है। मोहिनी इसलिए कि कवि उस पर मुग्ध है; निष्ठुर इसलिए कि कवि के विश्राम के समय भी वह उसे पुकारती है। तभी कवि कहता है, मैंने अपना दिन तो तेरी सेवा में पार कर

दिया अब मेरी रात भी तू हर लेना चाहती है। कितनी स्वाभाविक उक्ति है एक विश्रामप्रार्थी कवि की।

यह पुकार उसकी है जिसकी सेवा में कवि दिन-भर रहा था। कवि अपनी कविता को छोड़कर किसकी सेवा करेंगे ?अतएव यह पुकार कविता-कामिनी की है। विश्राम के समय में भी वह कवि को छुट्टी नहीं देती। हृदय में उसकी पुकार खलबली मचा रही है—भाव के अनर्गल स्रोत उमड़ रहे हैं।

जब उस क्लान्त अवस्था में भी कवि अपने को सँभाल नहीं सका तब उसके मुँह से यह उक्ति निकली—"यह लो, मेरा सबकुछ रहा, मैं तुम्हारी सेवा के लिए (कविता लिखने के लिए) तैयार होता हूँ। परन्तु यदि नींद से पलकें मुँद जायँ—यदि थका हुआ इसलिए ढीला हाथ पहलेवाली निपुणता (पहले की तरह कविता करने की कुशलता) भूल जाय—आँखों में आँसू भर आयें तो ऐ निर्दये, मेरा अपमान न करना, बल्कि यह याद करना कि मैंने असमय में भी तुम्हारा आह्वान स्वीकार कर लिया था।" यही इस कविता की बुनियाद है, परन्तु कितनी मजबूत है, पाठक स्वयं पढ़कर देखें। इस कविता के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि यह एक वह कृति है जो साहित्य को अमर कर रही है।

संकल्प-समूह में 'भैरवी गान' पर महाकवि की एक कविता है। यह भी साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है। महाकवि कहते हैं—

"ओगो के तुमि बसिया उदास मूरति
विषाद-शान्त शोभाते !
ओई भैरवी आर गेयोनाको एई
प्रभाते !
मोर गृहछाड़ा एई पथिक पराण
तरुण हृदय लोभाते।"

(विषाद के द्वारा इस शान्त हुई शोभा में बैठी ओ उदास मूर्ति, तुम कौन हो ? घर से निकले हुए मेरे इन पथिक प्राणों के तरुण हृदय को लुभाने के लिए इस प्रभात में वह भैरवी अब न गाओ।)

"ओई मन-उदासीन, ओई आशाहीन
ओई भाषा-हीन काकली
देय व्याकुल परशे सकल जीवन
बिकली।
देय चरणे बाँधिया प्रेम-बाहु घेरा
अश्रु - कोमल शिकली।
हाय मिछे मने हये जीवनेर व्रत
मिछे मने हय सकली।"

(वह मन को उदास कर देनेवाली,—बिना आशा की, बिना भाषा की, तान, अपने व्याकुल स्पर्श के साथ मेरे सम्पूर्ण जीवन को विकल कर देती है। वह मेरे पैरों में प्रेम की बाहों से घिरी आँसुओं से कोमल जंजीर डाल देती है। हाय! उस समय तो फिर जीवन के सम्पूर्ण व्रत झूठे जान पड़ते हैं—सब मिथ्या प्रतीत होते हैं।)

कहीं कुछ नहीं है, भैरवी रागिनी की वर्णना है। उसकी बिना भाषा की एक तान यह हालत कर देती है। घर छोड़कर बाहर आये हुए कवि को वह अपना विकल स्पर्श करा,---उसके कानों में पैठकर अपनी तान—मुरकियों के साथ उसके हृदय में भी मरोर पैदा कर देती है। इतना ही नहीं, वह कवि को उसके घर की भी याद दिला देती है। घर में जिसे अकेली छोड़कर वह बाहर निकल आया है, उसे भी उसके ध्यान-नेत्रों के सामने लाकर छोड़ जाती है और कवि देखता है कि उसकी प्रियतमा उसके पैरों में आँसुओं से कोमल प्रेम-बाहों की जंजीर डाल रही है। बस चाल रुक जाती है। फिर वह उसे छोड़कर बाहर जाने की इच्छा नहीं करता। फिर तो जिन व्रतों की पूर्ति के लिए वह बाहर निकला था, वे सब उसकी प्रेम-प्रतिमा के सामने झूठे जान पड़ते हैं। यह हालत भैरवी की एक तान से होती है, देखा आपने ? इसी भाव को पुष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ आगे लिखते हैं—

"जारे फेलिया एसेछि, मने करि, तारे
फिरे देखे आसी शेषवार;
ओई काँदिछे से जेनो एलाए आकुल
केशभार !
जारा गृह-छाये बसि सजल-नयन
मुख मने पड़े से सबार।"

(जी चाहता है, जिसे छोड़कर चला आया हूँ, उसको एक बार और, और इस अन्तिम बार के लिए, क्यों न चलकर देख लूँ ? जी कहता है, वह रो रही है—उसकी केश-राशि खुलकर बिखर गयी है। घर की छाया में बैठे हुए भी सजल-नयन मेरे घरवालों का मुँह मुझे याद आ रहा है।)

"सेई सारा दिन मान सुनिभृत छाया
तरु-मर्मर-पवने,
सेई मुकुल - आकुल - बकुल - कुञ्ज
भवने,
सेई कुहु - कुहुरित विरह रोदन
थेके थेके पशे श्रवणे !"

(दिन-भर की एकान्त छायावाली, पातों को हिलाती हुई हवा में मुकुलों के भार से व्याकुल हुए बकुल-कुंजों के कुटीर में गूँजता हुआ विरह-रोदन रह-रहकर मेरे कानों में पैठ रहा है।)

कवि अपनी प्रियतमा पत्नी के रोदन की व्याख्या कर रहा है, उसका स्थान निर्देश कर रहा है। उसे याद आता है, उसकी पत्नी इस समय उस फुलवाड़ी में है जहाँ दिन-भर छाया रहती है। और हवा पातों को झुला जाया करती है, जहाँ मुकुलित मौलश्री के अनेक कुंज हैं और बीच में बैठने का एक कुटीर है। वहीं उसकी प्रिया उसकी याद कर-करके आँसुओं से आँचल भिगो रही है। कोयल की कुहू के साथ मिला हुआ उसकी प्रिया का विरह-रोदन उसके कानों में प्रवेश कर रहा है। यह इतना उत्पात, पाठक याद रक्खें, भैरवी की एक ज़रा-सी तान सुनकर होता है।

"सदा करुण कण्ठे काँदिया गाहिवो,—
'होलो ना किछई हबेना,
एई मायामय भवे चिर दिन किछु
रबे ना।
केह जीवनेर जतो गुरुभार व्रत
धूलि होते तुलि लबे ना।
एई संशय माझे कोन पथे जाई,
कारतरे मरी खाटिया!
आमि कार पिछे दुखे मरितेछि, बुक
फाटिया!
भवे सत्य मिथ्या के करेछे भाग,
के रेखेछे मत आँटिया!
यदि काज निते हय, कतो काज आछे
एका कि पारिबो करिते!
काँदे शिशिर-विन्दु जगतेर तृषा
हरिते!
केन आकुल सागरे जीवन सँपिबो
एकेला जीर्ण तरीते!
शेषे देखिबो पड़िल सुख - यौवन
फुलेर मतन खसिया
हाय वसन्त - वायु मिछे चले गेलो
श्वसिया!
सेइ जेखाने जगत छिलो एक काले
सेई खाने आछे बोसिया!' "

(करुण-कण्ठ से सदा यह रोकर गाऊँगा—"कुछ न हुआ ! कुछ होगा भी नहीं!—न इस मायामय संसार में चिरकाल कुछ रहेगा ही ! जीवन के जितने गुरुभार हैं, उन्हें कोई धूल से उठा भी न लेगा। इस संशय में मैं किस पथ पर जाऊँ ?—मैं इतनी मेहनत भी करूँ तो किसके लिए ? वृथा दुःख से मेरी छाती फटी जा रही है ! किसका दुःख ! संसार में सत्य और मिथ्या का भाग किसी ने किया भी ?—किसने मजबूती से अपना मत पकड़ रक्खा है ? अगर काम ही मुझे लेना है, तो काम बहुत-से हैं; मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मेरा यह प्रयत्न तो वैसा ही है जैसा संसार को प्यासा देखकर ओस की एक बूँद का रोना ! क्यों मैं अकेला इस अछोर समुद्र की टूटी नाव पर चढ़कर जान दूँ ? परन्तु अन्त में हाय ! अन्त में देखूँगा, यह सुख का यौवन फूल-सा झर गया है। और वसन्त की हवा वृथा ही साँस लेकर चली जा रही है ! इतने पर भी देखूँगा, यह संसार एक समय जहाँ था, वहीं बना हुआ है।")

ये कवि के संकल्प-विकल्प हैं। वह नवीन व्रत की साधना के लिए निकला है, परन्तु अब उसके पैर आगे नहीं बढ़ते। प्रिया का मुँह वह भूल नहीं सकता, यही

उसकी कमजोरी है और संकल्प की प्रतिकूलता पर विचार करता हुआ वह कहता है, मेरी आकांक्षा वैसी ही है जैसी ओस के एक बूँद की, संसार की प्यास बुझाने के लिए। वह कहता है, अगर मैं लौट जाऊँ तो देखूँगा, क्रमश: मेरा यौवन मलिन होकर वार्धक्य की जीर्ण भूमि पर फूल-सा झरकर गिर गया है। उससे कोई काम नहीं हुआ। वसन्त की हवा वृन्त को वृथा ही हिला-झुलाकर चली जाती है। और संसार न एक पग बढ़ा न एक पग हटा। इस उक्ति में कवि का यही भाव है कि मनुष्य चाहे कुछ करे, संसार का आसन इससे नहीं डिगता, वह अपने ही स्थान पर अचल भाव से डटा रहता है, उसके पाप और पुण्य, सुख और दु:ख, भाव और अभाव पूर्ववत् बने ही रहते हैं।

शिशु-सम्बन्धिनी रचना

जो कवि और महाकवि होते हैं वे प्रकृति के हरेक कमरे में प्रवेश करने का जन्म-सिद्ध अधिकार लेकर आते हैं। वे प्रकृति की प्रत्येक भूमि पर—जनाना महल में भी—बेधड़क चले जाते हैं। प्रकृति को उन पर अविश्वास नहीं। वह उन्हें अपना बहुत ही सच्चरित्र और सुशील बच्चा समझती है, उनसे उसे किसी अनर्थ का भय नहीं। प्रकृति के जिस यथार्थ इतिहास के लिखने का अधिकार लेकर वे आते हैं, उसे वह उनसे छिपा भी नहीं सकती। कारण, वह जानती है, इस पर्दा-सिस्टम का परिणाम उसके लिए अच्छा न होगा। क्योंकि उस तरह संसार से उसकी पूजा उठ जायगी। यही कारण है कि जड़ और चेतन, सबकी प्रकृति कवि को अपना स्वरूप दिखा देती है। ये दर्पण हैं और प्रकृति का प्रत्येक विषय उन पर पड़नेवाला सच्चा बिम्ब है।

बच्चों के लिए, बच्चों ही के स्वभाव की बहुत-सी कविताएँ महाकवि ने लिखी हैं। उनकी ये कविताएँ पढ़कर बच्चों ही की तरह हृदय में एक अपार आनन्द उमड़ चलता है। दूसरी बात यह कि भाषा का संगठन भी महाकवि ने वैसा ही किया है जैसा अक्सर बच्चों की भाषा में पाया जाता है। इन कविताओं में एक दूसरे ढंग की किन्तु बहुत ही सुहावनी और मनमोहिनी प्रतिभा का विकास देख पड़ता है। इसकी भाषा की तो जितनी भी प्रशंसा हो, थोड़ी है। जान पड़ता है, एक बच्चा बोल रहा है। देखिए विषय है, 'ज्योतिष-शास्त्र', परन्तु यह पण्डितों का 'ज्योतिष-शास्त्र' नहीं, यह बच्चों की ज्योति है। महाकवि लिखते हैं—

"आमी सुधू बोसेछिलाम—
कदम गाछेर डाले।
पूर्णिमा-चाँद आट्का पड़े

जखन सन्ध्याकाले
तखन कि केउ तारे
धरे आनते पारे ?
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !
चाँद जे थाके अनेक दूरे
केमन करे छुँइ !'
आमी बोलि 'दादा तुमी
जानो ना किच्छुइ !
मा आमादेर हासे जखन
ओइ जानलार फाँके
लखन तुमि बोलवे कि मा
अनेक दूरे थाके ?'
तबू दादा बले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका ।''

बच्चा अपनी माँ से कहता है—

(मैंने बस इतना ही कहा था कि जब पूनो का चाँद शाम को कदम्ब की डाली पर अटक जाय तब भला कोई उसे पकड़कर ले आवे । मेरी बात को सुनकर दादा (बड़े भाई) ने हँसते हुए मुझसे कहा—'लल्ला, तेरे जैसा बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा, चाँद कुछ यहाँ थोड़े ही रहता है जो मैं उसे छू लूँ । वह तो बहुत दूर रहता है ।' दादा की बात सुनकर मैंने कहा, 'दादा, तुम कुछ नहीं जानते । अच्छा उस झरोखे के दराज में जब हम लोग यहाँ से माँ को हँसते हुए देखते हैं तब क्या तुम कहोगे कि माँ बहुत दूर रहती है ?' मेरे इस तरह कहने पर भी दादा ने मुझसे कहा, 'लल्ला, तेरे जैसा बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा ।')

''दादा बले, 'पाबी कोथाय
अत बड़ फाँद ?'
आमी बोली, 'केन दादा
ओइ तो छोटो चाँद,
दुटी मुठोय ओरे
आनते पारी धोरे !'
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय, 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !
चाँद यदि एइ काछे आसतो
देखते कतो बड़ो !'
आमी बोली, 'कि तुमी छाई
इस्कूले जे पड़ो ।

मा आमादेर चूमो खेते
माथा करे नीचू
तखन कि मार मुखटी देखाय
मस्त बड़ो किछू ?'
तबू दादा बले आमाय, 'खोका,
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !' "

(दादा ने कहा, 'इतना बड़ा फन्दा तू कहाँ से लायेगा ?' तब मैंने कहा, 'क्यों दादा, वह देखो न, छोटा-सा तो है चाँद, दोनों मुट्ठियों में भरकर, कहो तो उसे पकड़ लाऊँ।' मेरी बात सुनकर दादा ने हँसते हुए कहा, 'लल्ला, तेरी तरह का बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा। यह चाँद अगर पास आ जाय तो तू देखता कि यह कितना बड़ा है।' मैंने कहा, 'क्या तुम खाक स्कूल जाते हो ? जब हमारी माँ सिर झुकाकर हम लोगों को चूम लेती हैं तब क्या माँ का मुँह बहुत बड़ा हो जाता है ?' मेरे इस तरह के कहने पर भी, दादा ने कहा, 'लल्ला, तेरी तरह बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा।')

महाकवि की इस कविता का मर्म पाठक समझ गये होंगे। इसमें बच्चे के भोलेपन को किस तरह कविवर की भोली तूलिका अंकित करती है, पाठकों ने देखा होगा। कविता लिखते हुए महाकवि भी बालक हो गये हैं, भाव बालक, वर्णन बालक, महाकवि बालक; सहृदय पाठक भी पढ़ते हुए बालपन की सुखद स्मृति में पहुँचकर बालक ही हो जाते हैं। चाँद को पेड़ की ओट में उगा हुआ देख, बालक उसे कदम्ब की डाल पर अटका हुआ कहता है। पेड़ों के छेद से छनकर आती हुई चाँदनी जब दर्शक पर अपनी मोहिनी डाल, उसे चाँद के पास आकर्षित कर ले जाती है, तब वह देखता है, चाँद खुद किसी मोहिनी शक्ति से खिंचा हुआ अपने सुदूर आकाश को छोड़ पेड़ों की डाली से आकर लिपट गया है, जैसे थककर और चलना न चाहता हो—जैसे पेड़ों से लिपटकर अपनी सहायता की प्रार्थना करता हो—विश्व-विधान से जान बचाने के लिए। कदम्ब की डाली पर चाँद को अटक गया देख बच्चे ने अपने बड़े भाई से उसे ले आने के लिए कहा था। इस पर उसके भाई ने उसे बेवकूफ कहा। इसी बात का उसे रंज है। वह भाई की बात पर विश्वास नहीं कर सका, और करना भी नहीं चाहिए था, कर लेता तो बच्चे की प्रकृति पर प्रौढ़ता की छाप जो लग जाती। परन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ, इस विषय को किसी नीरस उक्ति द्वारा महाकवि ने समाप्त नहीं किया, वे बच्चे की पुरजोर युक्ति भी उसी से कहलाते हैं; वह कहता है, जब हमारी माँ झरोखे से निहारती है तब क्या वह इतनी दूर रहता है कि हम उसके पास जा नहीं सकते ? यहाँ मधुर सौन्दर्य के साथ कवित्व-कला के एक बहुत ही कोमल दल को महाकवि ने खोलकर खिला दिया है। लघु-हस्त रवीन्द्रनाथ ही इस कोमल पंखड़ी को खोल सकते थे, दूसरे के स्पर्श मात्र से दल में दाग लग जाता, फिर वह इस तरह से खुल न सकता था। एक तो चाँद के साथ मुख की उपमा और वह भी बच्चे के अज्ञात भाव से, बच्चे को यह साहित्यिक तौल क्या मालूम, वह तो स्वभावत: अपनी माँ को याद करता है और जिस तरह झरोखे पर बैठी हुई, अपनी माँ के पास वह

अनायास ही ज़ीने पर चढ़कर चला जा सकता है, उसी तरह अपने भाई के लिए भी, पेड़ पर चढ़कर चाँद को पकड़ लाना, वह सम्भव सिद्ध करता है। जब उसका भाई कहता है, चाँद बहुत बड़ा है, तब भी उसे विश्वास नहीं होता, वह कहता है, जब हमारी माँ हमें चूमती है, उसका मुँह हमारे मुँह पर रख जाता है, तब क्या वह बहुत बड़ा हो जाता है ? जब माँ का मुँह पास आने पर नहीं बड़ा होता तो चाँद कैसे बड़ा हो जायगा ? देखिए कितनी मजबूत युक्ति है ? कितना भोलापन है ! महाकवि की भाषा की तो कुछ बात ही न पूछिए। छोटे-छोटे बच्चे जिस भाषा में बोलते-बतलाते हैं, बिल्कुल वही भाषा, मधुर और खूब मँजी हुई, बच्चों की; पर कवित्व-रस से सराबोर।

एक कविता है 'समालोचक'। इसमें बच्चा अपने पिता की समालोचना करता है :

"बाबा नाकी बइ लेखे सब निजे !
किच्छुइ बोझा जायना लिखेन किजे !
से दिन पड़े सुनाच्छिलेन तोरे
बुझेछिली बल माँ सतिय कोरे !
एमन लेखाय तबे
बल दिखी की हबे ?
तोर मुखे माँ जेमन कथा सुनी
तेमन केनो लेखेन नाको उनी ?
ठाकुरमा की बाबा के कक्खनो
राजार कथा सुनायनी को कोनो ?
से सब कथागुली
गेछे बुझी भूलि ?
स्नान करते बेला होलो देखे
तुमी केवल जाओ माँ डेके डेके,—
खाबार निये तुमिइ बोसे थाको,
से कथा ताँर मनेइ थाके नाको !
करेन सारा बेला
लेखा लेखा खेला !
बाबार घरे आमी खेलते गेले
तुमी आमाय बलो दुष्टू छेले !
बको आमाय गोल करले परे—
"देखचिस ने लिखछे बाबा घरे ?"
बल तो, सत्ति बल,
लिखे की हय फल !
आमी जखन बाबार खाता टेने
लिखी बोसे दोआत कलम एने—
क ख ग घ ङ य र ल व
आमार बेला केन राग करो ?

बाबा जखन लेखे
कथा कवना देखे !
बड़ बड़ रुल काटा कागज
नष्ट बाबा करेन ना कि रोज ?
आमी यदि नौका करते चाई
अमनी बलो—नष्ट करते नाई !
सादा कागज, कालो
करले बुझी भालो ?"

बच्चा अपनी माँ से कहता है—

(क्यों माँ ! बाबूजी पुस्तकें लिखते हैं—न ? परन्तु क्या लिखते हैं कुछ खाक समझ में नहीं आता। अच्छा उस दिन तो तुझे पढ़कर सुना रहे थे, क्या तू कुछ समझती थी, माँ सच-सच बता। अगर तू नहीं समझती तो इस तरह के लिखने से भला होगा क्या ?

माँ, तेरे मुँह से कैसी बातें सुनता हूँ, उस तरह की बातें बाबूजी क्यों नहीं लिखते ? क्या बूढ़ी दादी ने बाबूजी को राजा की बातें कभी नहीं सुनायीं ? वे सब बातें बाबूजी अब भूल गये हैं—क्या ?

माँ, उन्हें नहाने की देर करते देख जब तू उन्हें पुकार-पुकारकर चली आती है, और खाना लिये तू बैठी रहती है, तब क्या उन्हें इस बात की याद भी नहीं होती ? दिन-भर लिख-लिखकर खेल किया करते हैं !

जब मैं कभी बाबूजी के कमरे में खेलने के लिए जाता हूँ, तब तू मुझे कहती है—क्यों रे तू बड़ा बदमाश है ! चिल्लाने पर तू मुझे बकती है। कहती है, तेरे बाबूजी लिख रहे हैं। अच्छा माँ, सच कहो, लिखने से फल क्या होता है ?

जब मैं बाबूजी का खाता खींचकर दावात-कलम ले, क ख ग घ ङ, य र ल व लिखता हूँ, तब मेरी बारी पर तू क्यों गुस्सा होती है ? और जब बाबूजी लिखते हैं तब तू कुछ नहीं बोलती !

लकीरवाले बड़े-बड़े कागज क्या बाबूजी नहीं बरबाद करते ? जब मैं नाव बनाने के लिए माँगता हूँ तब तू कहती है, कागज बरबाद न करना चाहिए। क्यों माँ, सफेद कागज को काला करना ही अच्छा होता है—क्या ?)

यह बच्चे की समालोचना है। युक्ति कितनी मजबूत है ! बच्चे की स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट नहीं हो पायी। बच्चा हो या वृद्ध, वह अपनी बुद्धि के मापदण्ड से संसार को नापता है, यही मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्यमात्र इस स्वभाव के वश है। इस स्वभाव को कोई छोड़ भी नहीं सकता। अगर स्वभाव छूट जाय, प्रकृति से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय, तब यह संसार भी नष्ट हो जाय। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का घात-प्रतिघात ही संसार है—यही उसकी लीला। अस्तु, प्रकृति या स्वभाव को मनुष्य छोड़ नहीं सकता। हम देखते हैं, हमारे देश में एक विषय पर अनेक प्रकार की समालोचनाएँ हुआ करती हैं, एक विद्वान के मत से दूसरे विद्वान का मत नहीं मिलता। यह क्यों ? इसका कारण बस यही कि उनके स्वभाव जुदा-जुदा हैं—उनकी प्रकृति एक नहीं। मन का एक दूसरा स्वभाव यह भी है कि वह जो

कुछ चाहता है, जिसे पसन्द करता है उसी के अनुकूल युक्तियाँ जोड़ता जाता है। बच्चा भी अपनी समालोचना में अपने को अपने बाबूजी से कहीं अधिक बुद्धिमान समझता है, परन्तु उसकी बातों में प्रवीण समालोचकों की रूढ़ता नहीं है, सरलता-पूर्वक वह अपनी माँ से अपने बाबूजी की मूर्खता की जाँच कर रहा है। अपने बाबूजी का लिखना वह खुद नहीं समझ सका, अतएव उसे विश्वास नहीं कि उस भाषा को उसकी माँ समझती होगी। महाकवि ने बच्चे के स्वभाव का बड़ा ही सुन्दर चित्रांकण किया है। बच्चे की दृष्टि में संसार खिलवाड़ है, उसके बाबूजी भी लिख-लिखकर खिलवाड़ किया करते हैं। उसे एक बात का बड़ा दुःख है। वह जब अपने बाबूजी की दावात और कलम लेकर ककहरा गोदने लगता है तब उसकी माँ उसे तो डाँटती है; पर उसके बाबूजी से कुछ नहीं बोलती जो दिन-भर बैठे हुए खिलवाड़ किया करते हैं। ये कविताएँ निरी सीधी भाषा में लिखी हुई होने पर भी उच्च कोटि की हैं। मनुष्य के मन में पैठना जितना सरल है बालक की प्रकृति को परखना उतना ही कठिन।

अब बच्चे का विज्ञान सुनिए। एक कविता 'वैज्ञानिक' नाम की है। बच्चा अपनी माँ से कहता है—

"जेमनी मागो गुरु गुरु
मेघेर पेले साड़ा,
अमनी एल आषाढ़ मासे
वृष्टि जलेर धारा।
पूवे हावा माठ पेरिये
जेमनी पड़लो आसी
बाँस बागाने सों-सों कोरे
बाजिये दिये बाँसी—
अमनी देख मा चेये
सकल माटी छेये
कोथा थेके उठलो जे फूल
एतो राशी राशी!
तुइ जे भाविस ओरा केवल
अमनी जेनो फुल,
आमार मने हय मा तोदेर
सेटा भारी भूल!
ओरा सब इस्कूलेर छेले
पुंथी पत्र कांखे,
माटीर नीचे ओरा ओदेर
पाठशालाते थाके।
ओरा पड़ा करे
दुआर-बन्द घरे,

खेलते चाइले गुरु मशाय
दाँड़ करिये राखे।
बोशेक जैष्टि मासके ओरा
दुपुर बेला कय
आषाढ़ होले आँधार कोरे
विकेल ओदेर हय।
डाल पालारा शब्द करे
घर बनेर माझे
मेघेर डाके तखन ओदेर
साढ़े चारटे बाजे।
ओमनी छुटी पेये
आसे सबाइ धेये,
जानिस मागो ओदेर जेन
आकाशेतेइ बाड़ी
रात्रे जेथाय तारा गुली
दाँड़ाय सारी सारी
देखिसने मा बागान छेये
व्यस्त ओरा कतो
बुझते पारिस केनो ओदेर
ताड़ा ताड़ी अतो?
जानिस कि कार काछे
हाथ बाड़िये आछे
मा कि ओदेर नेइको भाविस
आमार मायेर मतो?"

(माँ! ज्यों ही गरगराहट से मेघों की आहट पायी जाने लगी, ज्यों ही आषाढ़ की धारा झरने लगी, ज्यों ही पूरब की हवा मैदान पार करके बाँस के झाड़ों में बाँसुरी फूंकती हुई आने लगी, कि फिर तू देख, न जाने कहाँ से ये इतने फूल निकल पड़ते हैं—ढेर के ढेर। तू सोचती होगी, वे ऐसे ही सब फूल हैं—न? माँ, मुझे तो जान पड़ता है, यह तेरी बहुत बड़ी भूल है। वे फूल नहीं, वे मदरसे के लड़के हैं, देख न बगल में किताब दबाये हुए हैं। वे मिट्टी के नीचे अपनी पाठशाला में रहते हैं। हम लोग जैसे दरवाजे खोलकर पढ़ते हैं, वे उस तरह नहीं पढ़ते, वे दरवाजा बन्द कर लेते हैं, तब पढ़ते हैं। वे मारे डर के खेलना भी नहीं चाहते, अगर चाहें भी तो पण्डितजी खड़ा कर रखें। उनकी दुपहर कब होती है, तू जानती है?—वैशाख और जेठ में। और जब आषाढ़ आता है, तब मेघों के अँधेरे में उनका पिछला पहर होता है। और जब घोर जंगलों में डालियों की खड़खड़ाहट, हवा की सनसनाहट और मेघों में गर्जना होने लगती है, तब इस शब्द में उनके साढ़े चार बजते हैं। बस छुट्टी मिली नहीं कि सबके-सब दौड़ पड़े—जर्द, सफेद, सब्ज और लाल, कितनी ही तरह के कपड़े पहने हुए। माँ! सुन, जान

पड़ता है ये सब आकाश में रहते हैं जहाँ रात को तारे कतार बाँधकर खड़े होते हैं। देख न, बगीचे-भर में फैले हुए, कितनी जल्दबाजी देख पड़ती है। माँ, क्या तू कह सकती है—उनमें इतनी जल्दबाजी क्यों है ? तू जानती है, ये किसके पास हाथ फैलाये हुए हैं ? तू क्या सोचती है मेरी माँ की तरह उनके माँ नहीं है ?)

बच्चे के मुख से बच्चे की तुलना और बच्चे की आलंकारिक भाषा में, रवीन्द्रनाथ एक बहुत बड़ा तत्व कहला देते हैं। न कहीं अस्वाभाविकता है। न असंगति, इतने पर भी वे जो कुछ कहना चाहते हैं, कहा कर पूरा उतार देते हैं। जहाँ बच्चा फूलों के सम्बन्ध में अपनी माँ से कहता है, वे पाताल में पढ़ने के लिए जाते हैं, वहाँ उनका उद्देश्य बीज की शिक्षा के लिए या प्रगति के लिए भेजना है—वह संसरणशील होकर निकलता है। जेठ-बैशाख फूल रूपी छात्रों की दुपहर, मेघों की गर्जना, उनके छुट्टी के समय में की गयी घण्टे की आवाज है; यह सब अलंकार मात्र है। हाँ, इसमें दलों के विकसित होने की एक वैज्ञानिक व्याख्या भी है, परन्तु इतनी छानबीन की आवश्यकता नहीं। परन्तु जहाँ बच्चा आकाश को उनका घर बतलाता है, वहाँ कल्पना कमाल कर देती है। आकाश तत्व को ही शास्त्रों में सब बीजों का आश्रयस्थल कहा गया है। जहाँ बच्चा अपनी माँ से कहता है, मेरे जिस तरह माँ है, उस तरह उनके भी माँ है, वहीं एक दूसरे सूक्ष्म सोपान पर पहुँचकर शास्त्र के सर्वोच्च सत्य को महाकवि जिस खूबी से सिद्ध कर देते हैं, उसकी प्रशंसा के लिए एक भी उचित शब्द मुँह से नहीं निकलता। आकाश को घर बतलाकर यदि कवि चुप रह गये होते तो उनसे एक बहुत बड़ी गलती हो जाती, क्योंकि घर का मालिक भी तो एक होता है। उसकी फिर कोई पहचान नहीं हो सकती थी। परन्तु बच्चे के मुँह से उसका भी उल्लेख आपने करा दिया और मालकिन के रूप में फूलों की माँ बतलाकर। वह है ब्रह्म, आकाश से भी सूक्ष्म—आकाश की सूक्ष्मता में अवस्थान करनेवाला—सबका जनक—सबकी जननी। बच्चे के मुख से इतनी स्वाभाविक भाषा और स्वाभाविक वर्णन के द्वारा इतना ऊँचा विज्ञान कहलाकर बच्चे को पूरी तरह सिद्ध कर देना साधारण मनुष्य का काम नहीं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने जिस सरलता से इतना गहन तत्व कह डाला है, दूसरे के लिए इसका प्रयास उतना ही दुस्साध्य है।

बच्चों की भाषा में 'नदी' पर आपने कविता लिखी है। कविता बहुत बड़ी है। कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं। देखिए, सीधी भाषा में भी कितने ऊँचे भाव आ सकते हैं—

"ओरे तोरा कि जानिस केउ
जले केनो उठे एतो ढेउ !
ओरा दिवस रजनी नाचे,
ताहा शिखेछे काहार काछे ?
सुन चल् चल् छल् छल्
सदाइ गाहिया चलेछे जल।
ओरा कारे डाके बाहु तुले,
ओरा कार कोले बोसे दुले ?

सदा हेसे करे लुटो पुटी,
चले कोन् खाने छुटो छुटी ?
ओरा सकलेर मन तुषी
ओछे आपनार मने खुशी।

आमी बोसे बोसे ताइ भावी
नदी कोथा होते एलो नाबी !
कोथाय पाहाड़ से कोन खाने,
ताहार नाम कि केहइ जाने ?
केहो जेते पारे तार काछे ?
सेथाय मानुष कि केउ आछे ?
सेथा नाहीं तरु नाहीं घास,
नाहीं पशु पाखीदेर वास,
सेथा शब्द किछु ना सुनी
पाहाड़ बोसे आछे महामुनि !
ताहार माथार उपरे शुधु—
सादा बरफ करिछे धूधू
सेथा राशि-राशि मेघ जतो
थाके घरेर छेलेर मतो !
सुधु हिमेर मतन हावा,
सेथाय करे सदा आसा-जावा,
सुधु सारा रात तारा गुली
तारे चेये देखे आँखीं खुली।
सुधु भोरेर किरण एसे
तारे मुकुट पराय हेसे।

सेई नील आकाशेर पाये,
सेथा कोमल मेघेर गाये,
सेथा सादा बरफेर बुकि
नदी घुमाय स्वप्न - सुखे।
कवे मुखे तार रोद लेगे
नदी आपनी उठिलो जेगे
कबे एकदा रोदेर बेला
ताहार मने पड़े गेलो खेला,
सेथाय एका छिलो दिन राती
केहइ छिलो ना ताहार साथी;
सेथाय कथा नाई कारो घरे,
सेथाय गान केह नाहीं करे।

ताइ झुम झुम फिरि फिरि
नदी बाहिरिलो घिरी - घिरी
मने भाविलो जा आछे भवे
सबइ देखिया लइते हबे
नीचे पाहाड़ेर बुक जुड़े
गाछ उठेछे आकाश फुँड़े ।
तारा बुड़ो बुड़ो तरु जतो,
तादेर बयस के जाने कतो !
तादेर खोपे-खोपे गाँठे गाँठे
पाखी बासा बाँधे कुटो-काठे ।
तारा डाल तुले कालो कालो
आड़ाल करेछे रविर आलो ।
तादेर शाखाय जटार मतो
झुले पड़ेछे शेवला जतो ।
तारा मिलाये मिलाये काँध
जेनो पेतेछे आँधार फाँद ।
तादेर तले - तले निरिबिली
नदी हेसे चले खिलि खिली ।
तारे के पारे राखिते धरे
से जे छुटी छुटी जाय सरे ।
से जे सदा खेले लुको चुरी,
ताहार पाये पाये बाजे तुड़ी ।

पथे शिला आछे राशि राशि
ताहा ठेलि चले हासि हासि ।
पाहाड़ यदि थाके पथ जुड़े,
नदी हेसे जाय बेंके चुरे ।
सेथा बास करे शि - तोला
जतो बुनो गाछ दाड़ी-झोला ।
सेथाय हरिण रोंवांय भरा
तारा कारेव देय ना धरा ।
सेथाय मानुष नूतन तरो
तादेर शरीर कठिन बड़ो ।
तादेर चोक दुटो नय सोजा,
तादेर कथा नाहीं जाय बोझा,
तारा पाहाड़ेर छेले मेये
सदाई काज करे गान गेये ।

तारा सारा दिन मान खेटे,
आने बोझा भरा काठ केटे।
तारा चड़िया शिखर परे
बनेर हरिण शिकार करे।

नदी जतो आगे आगे चले
ततोइ साथी जुटे दले दले।
तारा तारी मतो, घर होते
सबाइ बाहिर होयेछे पथे;
पाये ठुन-ठुन बाजे तुड़ी,
जेनो बाजिते छे मल चुड़ी;
गाये आलो करे झिक झिक,
येन परेछे हीरार चीक।
मुखे कल कल कतो भाषे
एतो कथा कोथा होते आसे।
शेषे सखीते सखीते मेली
हेसे गाये गाये हेला हेली।
शेषे कोला कुली कलरवे
तारा एक होये जाय सवे।
तखन कल कल छूटे जल,
काँपे टलमल धरातल,
कोथाओ नीचे पड़े झर झर,
पाथर केंपे उठे थर थर,
शिला खान - खान जाय टुटे,
नदी चले एलो केटे कुटे।
धारे गाछगुलो बड़ो बड़ो
तारा होये पड़े पड़ो - पड़ो।
कत बड़ो पाथरेर चाप
जले खसे पड़े झुप - झाप।
तखन माटी गोला घोला जले
फेना भेसे जाय दले - दले।
जले पाक घुरे घुरे उठे,
जेन पागलेर मतो छुटे''

(क्योंजी, क्या तुम कोई कह सकते हो, ये पानी में इतनी तरंगें क्यों उठती हैं ? वे दिन-रात नाचती रहती हैं; अच्छा यह नाच उन लोगों ने किससे सीखा है ? सुनो, चल्-चल् छल-छल् गाती हुई चली जा रही हैं। वे वाहें पसारकर किसे बुलाती हैं ? देखो—वे झूम रही हैं—बता दो मुझे—वे किसकी गोद पर बैठकर

झूम रही हैं ? सदा हँस-हँसकर लहालोट हो जाती हैं, और दौड़ी चली जा रही हैं— किसकी ओर जा रही हैं ? वे सबके मन को सन्तुष्ट करके खुद भी आनन्द में हैं।

बैठा हुआ मैं यह सोचता हूँ कि नदी कहाँ से उतरकर आयी है ? वह पहाड़ भी कहाँ है ? क्या उसका नाम कोई जानता है ? क्या वहाँ कोई आदमी भी रहता है ? वहाँ तो न पेड़ है न घास; न वहाँ कोई पशु-पक्षियों का घर है, वहाँ का कोई शब्द भी तो नहीं सुन पड़ता, बस एकमात्र महर्षि पर्वत बैठे हुए हैं ! उनके सिर पर केवल सफेद बर्फ छायी हुई है। कितने ही मेघ घर के बच्चे की तरह वहाँ रहते हैं ! सिर्फ हिम की तरह ठण्ढी हवा सदा आया-जाया करती है, उसे कोई देखता है तो बस सारी रात आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखते ही रहते हैं। केवल सुबह की किरण वहाँ आती है और हँसकर उसे मुकुट पहना जाती है।

उस नीले आसमान के पैरों पर कोमल मेघों की देह में, शुभ्र तुषार की छाती पर अपने स्वप्नमय सुख के साथ नदी सोती रहती है ! न जाने कब उसके मुँह में धूप लगी थी, देखो न, नदी जग पड़ी है। धूप के लगने पर उसे न जाने कब खेल की याद आ गयी ! वहाँ उसके खेलने के साथी और कोई न थे, थे बस दिन और रात ! वहाँ किसी के घर में बातचीत नहीं होती, कोई गाता भी नहीं। इसीलिए तो धीरे-धीरे झिर-झिर झुर-झर करती हुई नदी वहाँ से निकल चली। उसने सोचा, संसार में जो कुछ है, सब देख लेना चाहिए। नीचे पहाड़ की छाती-भर में फैले आकाश को छेदकर पेड़ निकले हुए हैं। वे सब बड़े पुराने पेड़ हैं, उम्र उनकी कौन जाने कितनी होगी ! उनके कोटरों में और हरएक गाँठ में लकड़ियाँ और तिनके चुन-चुनकर पक्षी घोंसले बनाते हैं। उन लोगों ने काली-काली डालियाँ फैला-फैलाकर सूरज के उजाले को बिलकुल छिपा लिया है। उनकी फूलों में जटा की तरह न जाने कितना सिवार लिपटा हुआ झूल रहा है। उन्होंने एक-दूसरे के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर मानो अन्धकार का जाल बिछा रखा है। उनके नीचे बड़ा एकान्त है, नदी वहाँ जाकर हँस पड़ती है, और हँसती हुई वहाँ से चल देती है। उसे अगर कोई पकड़ना चाहे तो पकड़ नहीं सकता, वह दौड़कर भाग जाती है। वह सदा इसी तरह छुई-छुअल खेलती रहती है और उसके पैरों में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े बजते रहते हैं।

रास्ते पर जो शिलाओं की राशि मिलती है, उसे वह मुस्कराती हुई पैरों से ठेलकर चली जाती है। पहाड़ अगर रास्ता घेरे हुए खड़ा हुआ हो तो हँसती हुई, वह वहाँ से घूमकर जाती है। वहाँ ऊँचे उठी सींगों और लटकती हुई दाढ़ीवाले सब जंगली बकरे रहते हैं। वहाँ रोओं से भरे हुए हिरन रहते हैं, वे किसी को पकड़ाई नहीं देते। वहाँ एक नये ढंग के आदमी रहते हैं। उनकी देह बड़ी मजबूत होती है। उनकी आँखें तिरछी होती हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती। वे पहाड़ की सन्तानें हैं। वे सदा गाते हुए काम करते हैं। वे दिन-भर मिहनत करके

बोझ-भर लकड़ी काटकर लाते हैं। वे पहाड़ की चोटी पर चढ़कर जंगली हिरणों का शिकार किया करते हैं।

नदी जितनी ही आगे-आगे चलती है, उतने ही उसके साथी भी होते जाते हैं; दल-के-दल उसकी तरह वे भी घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े हैं। उसके पैरों में पत्थर की गोलियों की ठनकार होती रहती है, जैसे कड़े और चूड़ियाँ बजती हों। उसकी देह में किरणें ऐसी चमकती हैं जैसे उसने हीरे की चिक (टीक) पहनी हो। उसके मुख में कल-कल स्वर से कितनी ही भाषाएँ निकलती हैं, भला इतनी बात कहाँ से आती हैं ? अन्त में सब सखियाँ एक-दूसरे से मिल-जुलकर हँसती हुई झूम-झूमकर एक-दूसरे की देह में गिरती हैं। फिर, भेंटते समय के कलरव के साथ ही वे सब एक हो जाती हैं। तब कल-कल स्वर से पानी बह चलता है, धरा ट्लमल् टल्मल् काँपने लगती है। कहीं झर-झर स्वर से पानी नीचे गिरता है, और पत्थर थर्राने लगता है। शिलाओं के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, नदी, नाला काटकर चली जाती है। रास्ते के जितने बड़े-बड़े पेड़ हैं सब गिरने पर हो जाते हैं। कितने ही बड़े-बड़े पत्थरों के चहार टूट-टूटकर झपाझंप पानी में गिरने लगते हैं। तब गली हुई मिट्टी के गँदले पानी में फेनों का दल बह चलता है। यानी भँवर उठती है और पागल की तरह वह भी दौड़ चलती है।)

नदी पर लिखी महाकवि की इस कविता की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। कविता के भाव आपने खूब प्रस्फुट कर दिये हैं। बच्चों के लिए ऊँचे भावों की साहित्यिक कविता भी बहुत अच्छी की जा सकती है, इसका आँखों देखा प्रमाण आपको इन पंक्तियों से मिल जायगा। एक दूसरी कविता पढ़िए। नाम है 'मास्टर बाबू'। यहाँ बच्चा खुद मास्टर की कुर्सी ग्रहण करता है। उसका छात्र है बिल्ली का बच्चा। बंगाल में एक कहानी बहुत प्रचलित है। किसी स्यार (मास्टर साहब) ने एक मदरसा खोला था। उसमें सैकड़ों झींगुर और कितने ही चौपाये-छैपाये और सैकड़ों पैरवाले जीवों के बच्चे पढ़ने के लिए आते थे। अस्तु कहानी बहुत लम्बी-चौड़ी है, हम तो बिल्ली के बच्चे के पढ़ानेवाले मानवशिशु के मास्टर बनने का कारण मात्र बतलाना चाहते हैं। कहना न होगा कि बच्चे को वह प्रचलित कहानी सुनकर ही मास्टर बनने का शौक चर्राया था। बच्चा खुद भी पाठ-शाला जाता है, शायद पहली पुस्तक पढ़ चुका है, उसके पढ़ने के ढंग से यह बात प्रकट हो जाती है। उसने स्वयं जो पाठ याद किया है, वही बिल्ली के बच्चे को भी पढ़ाता है। हाँ, जिस स्यार ने पाठशाला खोली थी, उसने अपना नाम 'कानाई मास्टर' रखा था। इसीलिए बच्चा कहता है—

"आमी आज कानाई मास्टर
पड़ो मोर बेराल छानाटी,
आमी ओके मारिने मा बेंत
मिछि मिछि बसी निये काठी !
रोज रोज देरी करे आसे,
पड़ाते देय ना ओ तो मन,

डान पा तुलिये तुले हाइ
जतो आमी बोली सुन् सुन्
दिन - रात खेला खेला खेला,
लेखाय पड़ाय भारी हेला।
आमी बोली च छ ज झ ञ,
ओ कैवल बोले म्यों म्यों।
प्रथम भागेर पाता खुले
आमी ओरे बोझाई मा कतो
चुरी करे खासने कखनो
भालो होस गोपालेर मतो !
जतो बोली सब हय मिछे
कथा यदि एकटी ओ सुने !
माछ यदि देखेछे कोथाव
किछुई थाके ना आर मने !
चड़ाइ पाखीर देखा पेले
छुटे जाय सब पड़ा फेले !
यदि बोली च छ ज झ ञ
दुष्टुमि करे बले म्यों !
आमि ओरे बोली बार बार
पड़ार समय तुमी पड़ो—
तार परे छुटी होये गले
खेलार समय खेला कोरो !
भालो मानुषेर मतो थाके
आड़े आड़े चाय मुख पाने,
एमनी से भान करे, जेनो
जा बोली बुझेछे तार माने !
एकटू सुयोग बुझे जेई
कोथा जाय आर देखा नेइ !
आमी बोली च छ ज झ ञ
ओ केवल बोले म्यों-म्यों !"

(मैं आज कानाई मास्टर हूँ, मेरे बिल्ली के बच्चे पढ़ो ! मैं उसे बेंत नहीं मारता, दिखाव-भर के लिए लकड़ी लेकर बैठता हूँ, समझी माँ ! रोज देर करके आता है, पढ़ने में उसका जी भी नहीं लगता। दाहिना पैर उठाकर जँभाई लेने लगता है चाहे कितना भी उसे समझाऊँ ! दिन-रात बस खेल-कूद में पड़ा रहता है, पढ़ने-लिखने की ओर तो ध्यान देता ही नहीं। मैं जब कहता हूँ,—च, छ, ज, झ, ञ, तब वह बस म्यों-म्यों किया करता है। माँ, पहली किताब के पन्ने खोलकर मैं उसे समझाता हूँ, कभी चुराकर न खाना, गोपाल की तरह भलामानस बन। परन्तु चाहे जितना कहूँ एक भी बात उसके कान में नहीं पड़ती। कहीं मछली देखी

कि रहा-सहा भी सब भूल गया। अगर कहीं उसने 'चड़ाई' गौरइया पक्षी देख लिया तो बस सब पढ़ना-लिखना छोड़कर दौड़ा। जब मैं कहता हूँ, च छ ज झ ञ तब वह म्यों-म्यों करके रह जाता है। मैं उससे बार-बार कहता हूँ पढ़ने के वक्त पढ़ा करो, जब छुट्टी हो जाय, तब खेलने के वक्त खेलना। भलेमानस की तरह बैठा रहता है तिरछी निगाह करके मेरा मुँह ताकता है, ऐसा भाव बतलाता है जैसे उसका अर्थ सब समझता हो। जहाँ कहीं ज़रा-सा मौका मिला कि उड़ जाता है, बस फिर दर्शन ही नहीं।)

कविवर रवीन्द्रनाथ ने बच्चों की भाषा में ऐसी कितनी ही कविताएँ लिखी हैं। पढ़कर बच्चों के स्वभाव पर उनका विचित्र अधिकार देख मुग्ध हो जाना पड़ता है।

शृङ्गार

जहाँ रवीन्द्रनाथ ने विश्व-प्रकृति के श्रृंगार-भाव का चित्रांकण किया है, वहाँ उन्होंने उसके कोमल सौन्दर्य की जितनी विभूतियाँ हैं, उन्हें बड़ी निपुणता के साथ प्रस्फुट कर दिखाया है। उनकी यह कला बड़ी ही मनोहारिणी है। वे बाहरी सौन्दर्य के इधर-उधर बिखरे हुए—प्रक्षिप्त अंशों को जिस सावधानी से चुनकर उनका एक ही जगह समावेश कर देते हैं, उनकी अवलोकन-शक्ति इतनी प्रखर जान पड़ती है कि मानो उसके प्रकाश में एक छोटी-से-छोटी वस्तु भी नहीं छूटने पाती, जैसे पूर्णता स्वयं उन्हें अवलोकन की राह बता रही हो। दूसरी खूबी, उनके वर्णन की है। प्रकृति का पर्यवेक्षण करनेवाला ही कवि नहीं हो जाता, उसे और भी बहुत-सी बातों की नाप-तौल करनी पड़ती है। एक ही शब्द के पर्यायवाची अनेक शब्द होते हैं। उनमें किस शब्द का प्रयोग उचित होगा, किस शब्द से कविता में भाव की व्यंजना अधिक होगी, इसका भी ज्ञान कवियों को रखना पड़ता है। शब्दों की इस परीक्षा में रवीन्द्रनाथ अद्वितीय हैं। आपसे पहले हेमचन्द्र, नवीनचन्द्र, माइकेल मधुसूदन आदि बंग-भाषा के बहुत बड़े-बड़े कवि हो गये हैं, परन्तु यह परख रवीन्द्रनाथ की जितनी जँची-तुली होती है, उतनी उनसे पहले के किसी कवि में नहीं पायी जाती। छन्द के लिए तो रवीन्द्रनाथ को आप रत्नाकर कह सकते हैं। इतने छन्दों की सृष्टि संसार में किसी दूसरे कवि ने नहीं की। रवीन्द्रनाथ के छन्दों से उनके भावों की व्यंजना और अच्छी तरह प्रकट होती है। जिस तरह, शब्दों के बिना, रागिनी के सच्चे अलाप से उसका यथार्थ चित्र श्रोताओं के सामने अंकित हो जाता है, उसी तरह छन्दों के आवर्त से ही रवीन्द्रनाथ को कविता का भाव प्रत्यक्ष होने लगता है।

एक कविता है 'याचना'। कविता श्रृंगार रस की है, बहुत छोटी है। परन्तु,

उतने ही में नायक की याचना पूरी हो जाती है। वह जितने तरह की याचनाएँ अपनी नायिका से कर सकता है, सब उतने में ही आ जाती हैं। तारीफ यह कि है तो शृंगार रस, परन्तु अश्लील याचना कहीं नहीं होती। सब याचनाओं में भाव की ही भिक्षा पायी जाती है। पढ़कर पाठकों को फिर क्यों न भावावेश हो जाय ?

"भालो बेसे सखि निभृत यतने
आमार नामटी लिखियो—तोमार
मनेर मन्दिरे ।। 1 ।।
आमार पराणे जे गान बाजिछे
ताह'र तालटी सिखियो – तोमार
चरणमंजिरे ।। 2 ।।"

अर्थ : ऐ सखि ! प्यार करके, एकान्त में यत्नपूर्वक, अपने मनोमन्दिर में मेरा नाम लिख लेना ।। 1 ।। मेरे प्राणों में जो संगीत बज रहा है, उसकी ताल, अपने पैरों में बजनेवाले नूपुरों से सीख लेना ।। 2 ।।

नायक की प्रार्थना कितनी सीधी है, परन्तु कहने का ढंग गजब कर रहा है। मूल कविता में कला की कहीं कोई कसर नहीं रहने पायी, बल्कि उसका रूप इतना सुन्दर अंकित हो गया कि बड़े-बड़े वाक्यों की प्रशंसा भी उसके आसन तक नहीं पहुँच पाती। भावों के साथ रवीन्द्रनाथ के छन्द और भाषा पर भी ध्यान दीजिए। जो जिसे प्यार करता है और दिल से प्यार करता है, वह उसका नाम प्रकट नहीं होने देता। वह उसको हृदय के सबसे गुप्त स्थान में छिपाये रहता है। नायिका से नायक की यही याचना है। पद्य के दूसरे हिस्सेवाली नायक की याचना कलेजे में चोट कर जाती है। उसके प्राणों में उसकी प्रियतमा की जो रागिनी बज रही है—प्यार की जो अलाप उठ रही है, उसकी ताल उसकी नायिका के नूपुरों में गिरती है ! कितनी बारीक निगाह है ! प्रेम की एक ही डोर के खिंचाव में दो मनुष्यों की संसृति हो रही है। नायक के गले में जिस प्रेम की रागिनी बजती है, नायिका की गति में उसके नूपुर प्रत्येक पदक्षेप के साथ मानो उसी रागिनी की ताल दे रहे हैं।

फिर महाकवि लिखते हैं—

"धरिया राखियो सोहागे आदरे
आमार मुखर पाखीटी—तोमार
प्रासाद-प्रांगणे ।। 1 ।।
मने करे सखि बाँधिया राखियो
आमार हातेर राखीटी—तोमार
कनक-कङ्कणे ।।2 ।।"

अर्थ : मेरे बहुत ज्यादा बकवास करनेवाले इस पक्षी को सोहाग और आदर के साथ सपने प्रासाद के आँगन में पकड़ रखना ।। 1 ।। ऐ सखि, मेरे हाथ की इस राखी को याद करके अपने सोने के कंगन के साथ लपेट लेना ।। 2।।

"आमार लतार एकटी मुकुल
भूलिया तूलिया राखियो—तोमार
अलक-बन्धने ।। 1 ।।

आमार स्मरण - शुभ - सिन्दूरे
एकटी बिन्दु आँकियो—तोमार
ललाट-चन्दने ।। 2 ।।"

अर्थ : मेरी लता से एक कली भ्रमवशात् तोड़कर अपने जूड़े में खोंस लेना ।। 1 ।। मेरी स्मृति का शुभ सिन्दूर लेकर, अपने ललाट के चन्दन के साथ, उसका भी एक बिन्दु बना लेना ।। 2 ।।

अपनी लता से नायिका को भ्रमवशात् या एकाएक (भूलिया) एक कली तोड़ लेने के लिए अनुरोध करके 'भ्रमवशात्' या (भूलिया) शब्द से, कवि नायिका की भावुकता सिद्ध करता है। वह जानबूझकर उससे कली इसलिए नहीं तुड़वाता कि उसकी नायिका उसी की चिन्ता में बेसुध हो रही है। अतएव संस्कारवश कली को तोड़कर जूड़े में खोंस लेने के लिए अनुरोध करता है,—'भूलिया'—भूलकर, उसके उसी भाव की सूचना देता है। उसकी नायिका का चन्दन-बिन्दु शोभा दे रहा है; उस ललाट में अपनी स्मृति के सिन्दूर का एक बिन्दु और बना लेने की प्रार्थना हृदय के किस कोमल परदे पर अँगुली रखकर बोल बिल्कुल साफ खोल देती है, पाठक ध्यान दें।

"आमार मनेर मोहेर माधुरी
माखिया राखिया दियोगो—तोमार
अङ्ग सौरभे ।। 1 ।।
आमार आकुल जीवन मरण
टूटिया लूटिया नियोगो—तोमार
अतुल गौरवे ।। 2 ।।"

अर्थ : मेरे मन के मोह की माधुरी, ऐ सखि ! अपने अङ्ग सौरभ के साथ तेल और फुलेल के साथ मिलाकर रख देना ।। 1 ।। मेरे व्याकुल इस जीवन और मरण को अपने अनुपम गौरव के साथ टूटकर लूट लेना ।। 2 ।।

यहाँ हमें चौरपंचासिंकावाले सुन्दर कवि की याद आ गयी। इस तरह का एक भाव उसकी भी अन्तिम प्रार्थना में हमने पढ़ा था। उसके दो चरण हमें याद हैं। वह अपनी नायिका को लक्ष्य करके कहता है—जब मैं मर जाऊँगा तब मेरे शरीर के पाँचों तत्व तेरी सेवा करें ! यही ईश्वर से मेरी प्रार्थना है—

"त्वद्वापीषु पेयस्त्वदीय मुकुरे ज्योतिस्त्वदीयांगणे।
व्योम्नि व्योम त्वदीय वर्त्मनि धरातलत्वात वृन्तेऽनिलः ।।"

अर्थात् मेरे शरीर का जल भाग तेरी वापी में चला जाय, ज्योति का अन्त तेरे आईने में जाय और तेरे आँगन के ऊपर के आकाश भाग, तू जहाँ चले तेरे उस रास्ते पर मृत्तिकांश और तेरे ताड़ के पंख में मेरे शरीर का अनिल भाग समा जाय। रवीन्द्रनाथ के नायक की प्रार्थना इसी तरह की है, परन्तु उसका ढंग दूसरा है।

एक और कविता देखिए। शीर्षक है 'बालिका वधू'। अपने देश की विवाही हुई छोटी-छोटी बालिकाओं को वधू के वेश में देखकर महाकवि कहते हैं—

1— "ओगो वर, ओगो बंधु,
एइ जे नवीना बुद्धि विहीना
ए तव बालिका बधू ॥ 1 ॥
तोमार उदार बातास एकेला
कतो खेला निये कराय जे बेला,
तुमी काछ एले भावे तुमी तार
खेलिबार धन सुधू,
ओगो वर ओगो बंधु ॥ 2 ॥

2— जानेना करिते साज—
केश वेश तार होले एकाकार
मने नाहीं माने लाज ॥ 3 ॥
दिने शतवार भांगिया गड़िया,
धूला दिये घर रचना करिया,
भावे मने मने साधिछे आपन
घर करनेर काज
जाने ना करिते लाज ॥ 4 ॥

3— कहे एरे गुरुजने
ओजे तोर पति, ओ तोर देवता,
भीत होये ताहा सुने ॥ 5 ॥
केमन करिया पूजिबे तोमाय
कोनो मते ताहा भाविया ना पाय,
खेला फेली कभू मने पड़े तार—
"पालिबो पराण पणे
जाहा कहे गुरु जने ॥ 6 ॥"

4— वासर शयन परे
तोमार बाहुते बांधा रहिलेक
अचेतन घुम भरे ॥ 7 ॥
साड़ा नाहीं देय तोमार कथाय
कतो शुभक्षण वृथा चलि जाय,
जे हार ताहारे पराले से हार
कोथाय खसिया पड़े
वासक शयन परे ॥ 8 ॥

5— सुधू दुर्दिने झड़े
—दस दिक त्रासे आँधारिया आसे
धरातले अम्बरे—
तखन नयने घूम नाई आर,
खेला धूला कोथा पड़े थाके तार,
तोमारे सबले रहे आँकड़िया

हिया काँपे थरे थरे—
दुःख दिनेर झड़े ॥ 9 ॥

6— मोरा मने करि भय
तोमार चरणे अवोध जनेर
अपराध पाछे हय ॥ 10 ॥
तुमी आपनार मने मने हासो
एई देखितेई बुझी भाल बासो,
खेला घर द्वारे दाँड़ाइया आड़े
किजे पाव परिचय,
मोरा मिछे करि भय ॥ 11 ॥

7— तुमी बुझियाछ मने,
एक दिन एर खेला घुचे जावे
ओइ तव श्रीचरणे ॥ 12 ॥
साजिया यतने तोमारि लागिया
वातायन तले रहिबे जागिया
शतयुग करि मानिबे तखन
क्षणेक अदर्शने,
तुमी बुझियाछ मने ॥ 13 ॥

8— ओगो वर, ओगो बंधु,
जान जान तुमी—धूलाय बसिया
ए बाला तोमारि बधू ॥ 14 ॥
रतन आसन तुमी एरी तरे
रेखेछो साजाये निर्जन घरे,
सोनार पात्रे भरिया रेखेछ
नन्दन-वन-मधू
ओगो वर, ओगो बंधु ॥ 15 ॥"

अर्थ : ओ वर—ऐ दुलहा, ओ बंधु ! यह बुद्धिहीन नयी बालिका तुम्हारी बहू है ॥ 1 ॥ तुम्हारी देह से लगकर आयी हुई उदार हवा इसे कितने खेलों में डालकर देर करा देती है कि क्या कहूँ (यहाँ वर के उदार भावों के कारण बालिका वधू के खेल में कोई बाधा नहीं पड़ती— जितनी देर तक उसका जी चाहता है, वह खेलती रहती है, यह भाव है) और जब तुम उसके पास आते हो तब वह तुम्हें भी अपने खेल की वस्तु समझती है ॥ 2 ॥

2—वह वेष-भूषा करना नहीं जानती, उसके गुथे हुए बालों के खुल जाने पर भी उसे लज्जा नहीं आती ॥ 3 ॥ दिन-भर में सौ बार धूल से वह घर बनाती और बिगाड़ती है, और फिर उसकी रचना करती है । वह मन-ही-मन सोचती है —यह मैं अपने घर और गृहस्थी का काम सम्हाल रही हूँ ॥ 4 ॥

3—उससे उसके पूजनीय लोग जब कहते हैं—'अरी, वे तेरे पति हैं—तेरे देवता हैं—तू इतना भी नहीं जानती', तब वह भय से सिकुड़ जाती और उनकी

बातें सुनती है ॥ 5 ॥ परन्तु किस तरह वह तुम्हारी पूजा करे, सोचने पर भी तो इसका कोई उपाय उसकी समझ में नहीं आता। कभी खेल छोड़कर वह अपने मन में सोचती है—"पूज्यजनों के इस आदेश का मैं हृदय से पालन करूँगी ॥ 6 ॥"

4—वासर-सेज पर तुम्हारी बाहों में बँधी रहने पर भी वह मारे नींद के बेहोश पड़ी रहती है ॥ 7 ॥ फिर वह तुम्हारी बातों का कोई जवाब नहीं देती, कितने ही शुभ-मुहूर्त व्यर्थ बीत जाते हैं, जो हार तुमने उसे पहनाया वह न जाने सेज पर कहाँ खुलकर गिर जाता है ॥ 8 ॥

5—आँधी जब चलने लगती है—घोर दुर्दिन आ जाता है—जब धरातल और आकाश में त्रास छा जाता है—दसों दिशाएँ अन्धकार से ढक जाती हैं तब फिर उसकी आँख नहीं लगती, उसकी धूल और उसका खेल न जाने कहाँ पड़ा रहता है, बलपूर्वक वह तुम्हें पकड़े रहती है—सिमटती हुई तुमसे और भी सट जाती है; उस आँधी और दुर्दिन के समय उसका हृदय थर-थर काँपता रहता है।

6—हम लोगों के चित्त में शंका होती है कि कहीं ऐसा न हो कि यह नादान तुम्हारे श्रीचरणों में कोई अपराध कर बैठे ॥ 10 ॥ तुम मन-ही-मन हँसते रहते हो, जान पड़ता है—तुम यही देखना पसन्द भी करते हो, भला उसके घरौंदे के पास आड़ में तुम क्यों खड़े रहते हो ?—तुम्हें इससे कौन-सी जानकारी हो जाती है ?—हम लोग व्यर्थ ही घबराते हैं—न ? ॥ 11 ॥

7—तुमने अपने मन में समझ रखा है, एक दिन तुम्हारे श्रीचरणों पर उसका खेल समाप्त हो जायगा। ॥ 12 ॥ तब वह तुम्हारे लिए बड़े यत्न से अपने को सँवारकर झरोखे के पास जागती हुई बैठी रहेगी, तुम्हारे क्षण-भर के अदर्शन को शतयुगों के बराबर दीर्घ समझेगी, यह तुम समझे हुए हो। ॥ 13 ॥

ओ वर—ओ मित्र ! तुम जानते हो, धूल में बैठी हुई यह बाला तुम्हारी ही वधू है। ॥ 14 ॥ इसी के लिए निर्जन भवन में तुमने रत्नों से आसन सजा रखा है और सोने के पात्र में नन्दन वन की मधु भरकर रख दी है। ॥ 15 ॥

यहाँ हमें अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि महाकवि रवीन्द्रनाथ किस तरह चित्र का अवलोकन करते हैं, किस तरह हृदय के भीतर की बातों को समझते और शब्दों में उसकी यथार्थ मूर्ति उतार लेते हैं। बालिका वधू और उसके पति के देव-भावों को किस खूबी से चित्रित किया है—साद्यन्त स्वाभाविक और साद्यन्त मनोहर !

श्रृंगार की एक कविता महाकवि की और बड़ी सुन्दर है, नाम है, 'रात्रे ओ प्रभाते'। इसमें युवक पति और युवती पत्नी के निश्छल प्रेम का प्रतिबिम्ब पड़ता है—

1—"कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
कुंजकानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन सुरा
धरेछि तोमार मुखे ॥ 1 ॥
तुभी चेये मोर आँखी परे
धीरे पात्र लयेछो करे

हेसे करियाछो पान चम्बनभरा
सरस बिम्बाधरे
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
मधुर आवेश भरे ।। 2 ।।
तव अवगुण्ठन खानि
आमी केड़े रेखेछिनु टानि
आमी केड़े रेखेछिनु बक्षे तोमार
कमल-कोमल पाणी ।। 3 ।।
भावे निमीलित तव नयन युगल
मुख नाहीं छिलो वाणी ।। 4 ।।
आमी शिथिल करिया पाश
खुले दियेछिनु केशराश,
तव आनमित मुखखानि
सुखे थुयेछिनु बुके आनि,
तुमी सकल सोहाग सयेछिले, सखि
हासी-मुकुलित मुखे,
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
नवीन मिलन सुखे ।। 5 ।।
2—आजि निर्मलवाय शान्त ऊषाय
निर्जल नदी तीरे
स्नान अवसाने शुभ्रवसना
चलियाछो धीरे-धीरे ।। 6 ।।
तुमी बाम करे लोये साजि
कतो तुलेछो पुष्प राजि
दूरे देवालय तले ऊषार रागिनी
बाँसिते उठेछे बाजि
एई निर्मलवाय शान्त ऊषाय
जाह्नवी तीरे आजि ।। 7 ।।
देवि तव सिंथीमूले लेखा
नव अरुण सिंदूर-रेखा
तब वाम बाहु बेड़ी शंख वलय
तरुण इन्दुलेखा ।। 8 ।।
एकि मङ्गलमयी मूरति विकाशि
प्रभाते दितेछ देखा ।। 9 ।।
राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमी एसेछो प्राणेश्वरि,
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमी सुमुख उदिले हेसे;

आमी सम्भ्रम भरे रयेछि दाँड़ाये
दूरे अवनत शिरे
आजि निर्मलवाय शान्त ऊषाय
निर्जन नदी तीरे ।। 10 ।।"

अर्थ : [1] ऐ प्रिये ! कल बसन्त की चाँदनी में, अर्धरात के समय, उपवन के लता-कुंज के नीचे छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा सुखपूर्वक मैंने तुम्हारे होंठों पर लगायी थी ।। 1 ।। तुमने मेरी दृष्टि से अपनी दृष्टि मिलाकर, धीरे-धीरे वह सुरापात्र ले लिया था, फिर हँसकर, मधुर आवेश से भरकर, कल वसन्त की चाँदनी अर्धरात में, चुम्बन-भरे अपने सरस बिम्बाधरों से उसका पान कर गयी थीं ।। 2 ।। मैंने तुम्हारा घूंघट खोल डाला था और तुम्हारे कमल-कोमल हाथ को हृदय पर खींचकर रख लिया था ।। 3 ।। उस समय तुम्हें भावावेश हो गया था, तुम्हारी दोनों आँखों की अधखुली हालत थी और न मुख में एक शब्द आ रहा था ।। 4 ।। बन्धनों को शिथिल करके मैंने तुम्हारी केशराशि खोल दी थी, तुम्हारे झुके हुए मुख को सुखपूर्वक हृदय से लगा लिया था, सखी, कल वसन्त की चाँदनी अर्धरात में नवीन मिलन-सुख के समय, मेरे द्वारा किये गये इन सब सुहागों को हँस-हँसकर तुमने सहन किया था—तुम्हारी हँसी की कली ज्यों-की-त्यों मुकुलित ही बनी रही—न मसली—न मसल जाने के दर्द में आह भरने के इरादे से उसने मुँह खोला ।। 5 ।।

[2] आज इस बहती हुई साफ हवा में, शान्त ऊषा के समय, निर्जन नदी के तट पर से स्नान समाप्त करके धीरे-धीरे चली आ रही हो ।। 6 ।। बायें हाथ में साजी लेकर तुमने तो ये बहुत से फूल तोड़े, इस समय वह सुनो, दूर के उस देव-मन्दिर में, वंशी में, ऊषा की रागिनी बज रही है और इस निर्मल वायु, शान्त ऊषा और निर्जन नदी में भी उसकी तान समायी हुई है ।। 7 ।। हे देवि ! तुम्हारी माँग में बालसूर्य सिन्दूर की कैसी लाल रेखा खिची हुई है। और तुम्हारी बायीं बाँह को घेरे हुए शंख-वलय तरुण इन्दु-सा शोभायमान हो रहा है ।। 8 ।। यह क्या ?—यह कैसी मंगल-मूर्ति का विकास मैं इस प्रभात के समय देख रहा हूँ ।। 9 ।। ऐ प्राणेश्वरी ! रात के समय तो प्रेयसी की मूर्ति से तुम मेरे पास आयी थीं, सुबह को यह कब देवी की मूर्ति में हँसकर तुम्हारा उदय मेरे सम्मुख हुआ ? आज इस निर्मल वायु, शान्त ऊषा और निर्जन नदी-तट पर के समय में तुम्हारे सम्मान के भावों में सिर झुकाये हुए दूर खड़ा हुआ हूँ ।। 10 ।।

इस कविता में नारी-सौन्दर्य के दो चित्र दिखलाये गये हैं। इन दोनों का समय कविता के शीर्षक से सूचित हो जाता है । एक चित्र रात का है और दूसरा प्रभात का, इसीलिए इस कविता का नाम महाकवि ने 'रात्रे ओ प्रभाते' रखा है। दोनों चित्रों की विशेषता महाकवि की अमर लेखनी की चित्रण-कुशलता को देखकर समझ में आ जाती है। वसन्त की चाँदनी रात में पति के हाथों से यौवन की छलकती हुई सुरा का प्याला पत्नी ले लेती है । यहाँ—

"तुमी चेये मोर आँखी परे
धीरे पात्र लयेछो करे ।"—

महाकवि के इस मनोराज्य की जटिल किन्तु मोहिनी माया की ओर इतना स्पष्ट संकेत देखकर मन मुग्ध हो जाता है। सहधर्मिणी यौवन का प्याला एकाएक नहीं ले लेती, उसके लेने में एक विज्ञान है, एक वैसी ही बात है जिसके चित्रण में कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

बहुरि वदन-विधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितै दृष्टि करि बाँकी॥
खंजन-मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति तिनहिं कह्यो सिय सैननि॥

गोस्वामीजी की सीता में पति की ओर निहारने पर चंचलता आती है, और उस समय वही स्वाभाविक था—परन्तु रवीन्द्रनाथ की पति-सुहागिनी यहाँ स्थिर है, धीर है, प्रेम की अचल और गम्भीर मूर्ति है। वह पति के मुख की ओर ताकती है, पति की आँखों की राह जो आग्रह टपक रहा था, समझकर चुपचाप प्याला ले लेती है और फिर हँसकर जिन अधरों पर सैकड़ों चुम्बन मुद्रित हो रहे थे, उनसे उस यौवन-सुरा का पान कर जाती है। यह वह अपनी इच्छा से नहीं करती, पति को सन्तुष्ट करने के लिए करती है। फिर रात्रि की केलि जब आरम्भ के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक पहुँचती—प्रभात होता, तब उस स्त्री की वह मूर्ति नहीं रह जाती। वह अपने पति की दृष्टि में देवी की मूर्ति-सी आकर खड़ी होती है। सूर्य की पहली किरण पेड़ों के कोमल पल्लवों पर पड़ने नहीं पाती और उसका नहाना, फल तोड़ना सब समाप्त हो जाता है। उसका पति स्वयं कहता है—

"राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमी एसेछो प्राणेश्वरी
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमी समुखे उदिले हेसे।"

सुबह के समय वह हँसकर अपने पति के पास खड़ी होती है, परन्तु उसका पति उसके सम्मान के लिए सिर झुका लेता है। यहाँ महाकवि पवित्रता की महिमा दिखा रहे हैं। यह वही स्त्री है, जो अपने स्वामी की आज्ञा मानकर रात को उसके हाथ से यौवन-सुरा का प्याला लेकर बिना किसी प्रकार के संकोच के सुरा पी गयी थी और आज सुबह को यह वही स्त्री है, जिसे उसका पति सिर झुकाकर सम्मानित कर रहा है। इस कविता में एक ही स्त्री के दो रूपों की वर्णनाएँ हैं, एक उसके रात के स्वरूप की—प्रेमिका के मानवीय सौन्दर्य की और दूसरी उसके सुबह के स्वरूप की—देवी-सौन्दर्य की। इन दोनों सौन्दर्यों को विकसित कर दिखाने में रवीन्द्रनाथ को पूरी सफलता हुई है। इस पर हम ज्यादा कुछ इसलिए नहीं लिख सकते कि रवीन्द्रनाथ स्वयं अपनी कविता में विकसित रूप देते हैं। जहाँ कवि संक्षेप में वर्णन करते हैं वहाँ टीकाकारों की बन जाती है, वे उसके मनमाना अर्थ करने लगते हैं। रवीन्द्रनाथ का यह गुण समझिए या दोष, वे अपनी कविता में टीकाकारों के लिए 'किन्तु' या 'परन्तु' भी नहीं छोड़ जाते।

शृंगार पर महाकवि रवीन्द्रनाथ की एक और गजब की कविता देखिए, नाम है 'ऊर्वशी'। इसमें वारांगणा का सौन्दर्य है। स्वाभाविकता वही जो उनकी हरएक

कविता में बोलती है—

1—नहो माता, नहो कन्या, नहो बधू, सुन्दरी रूपसि,
हे नन्दनवासिनी ऊर्वशि ॥ 1 ॥
गोष्ठे जब सन्ध्या नामे श्रान्त देहे स्वर्णांचलटानी
तुमी कोनो गृह प्रान्ते नाहीं जाल सन्ध्या दीप खानी;
द्विधाय जड़ित पदे, कम्प्रवक्षे नम्र नेत्र पाते
स्मित हास्ये नाहीं चलो सलज्जित वासर शय्याते
स्तब्ध अर्द्ध राते ॥ 2 ॥
ऊषार उदय सम अनवगुण्ठिता
तुमी अकुण्ठिता ॥ 3 ॥

2—वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनी विकशि
कबे तुमी फूटिले ऊर्वशि ॥ 4 ॥
आदिम वसन्तप्राते, उठेछिले मन्थित सागरे,
डानहाते सुधापात्र, विषभाण्ड लये बाम करे;
तरंगित महासिन्धु मन्त्रशान्त भुजंगेर मतो
पड़ेछिलो पदप्रान्ते, उच्छ्वसित फणा लक्ष शत
करि अवनत ॥ 5 ॥
कुन्दशुभ्र नग्नकान्ति सुरेन्द्र वन्दिता,
तुमी अनिन्दिता ॥ 6 ॥

3—कोनो काले छिले ना कि मुकुलिका बालिका बयसी
हे अनन्त यौवन ऊर्वशि ! ॥ 7 ॥
आँधार पाथार तले कार घरे बसिया एकेला
माणिक मुकुता लये करेछिले शैशवेर खेला,
मणिदीपदीप्त कक्षे समुद्रेर कल्लोल संगीते
अकलङ्क हास्यमुखे प्रवालपालंके घुमाइते
कार अङ्कटीते ? ॥ 8 ॥
जखनि जागिले विश्वे, यौवने गठिता
पूर्ण प्रस्फुटिता ॥ 9 ॥

4—युग युगान्तर होते तुमी सुधू विश्वेर प्रेयसी
हे अपूर्वशोभना ऊर्वशि ! ॥ 10 ॥
मुनिगण ध्यान भाँगि देय पदे तपस्यार फूल,
तोमारि कटाक्ष घाते त्रिभुवन यौवन चंचल,
तोमार मदिर गन्ध अन्ध वायु बहे चारि भिते,
मधुमत्त भृङ्गसम मुग्ध कवि फिरे लुब्ध चिते,
उद्दाम संगीते ॥ 11 ॥
नूपुर गुंजरि जाव आकुल-अंचला
विद्युत्-चंचला ॥ 12 ॥

5—सुर सभा तले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल-हिल्लोल ऊर्वशि !
छन्दे छन्दे नाचि उठे सिन्धु माझे तरंगेर दल,
शस्यशीर्षे सिहरिया काँपि उठे धरार अंचल,
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा,
अकस्मात् पुरुषेर वक्षो माझे चित्त आत्महारा,
नाचे रक्त धारा ।। 13 ।।
दिगंते मेखला तव टूटे आचम्बिते
अयि असम्वृते ! ।। 14 ।।
6—स्वर्गेर उदयाचले मूर्तिमती तुमी हे उषसी,
हे भुवन मोहिनी ऊर्वशि ! ।। 15 ।।
जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदिरक्ते आँका तव चरण-शोणिमा,
मुक्तवेणी विवसने, विकसित विश्व-वासनार
अरविन्द माझखाने पादपद्म रेखेछो तोमार
अति लघुभार ।। 16 ।।
अखिल मानसस्वर्गे अनन्त रंगिणी,
हे स्वप्न संगिनि ।। 17 ।।
7—ग्रोइ सुनो दिशे दिशे तोमा लागी काँदिछे क्रन्दसी—
हे निष्ठुरा वधिरा ऊर्वशि ! ।। 18 ।।
आदियुग पुरातन ए जगते फिरिबे कि आर,—
अतल अकूल होते सिक्त केशे उठिबे आबार ?
प्रथमसे तनुखानि देखा दिबे प्रथम प्रभाते,
सर्वाङ्ग काँदिबे तव निखिलेर नयन-आघाते
वारिविन्दु पाते ।। 19 ।।
अकस्मात् महाम्बुधि अपूर्व संगीते
रबे तरंगिते ।। 20 ।।
8—फिरिबे ना, फिरिबे ना—अस्त गेछे से गौरवराशि
अस्ताचलवासिनी ऊर्वशि ! ।। 21 ।।
ताई आजि धरातले वसन्तेर आनन्द-उच्छ्वासे
कार चिरबिरहेर दीर्घश्वास निये बहे आसे,
पूर्णिमा-निशीथे जबे दश दिके परिपूर्ण हासी
दूर स्मृति कोथा होते बाजाय व्याकुल-करा बाँसी—
झरे अश्रुराशि ।। 22 ।।
तबू आशा जेगे थाके प्राणेर क्रन्दने,
अयि अबन्धने !" ।। 23 ।।

अर्थ:1—नन्दनवनवासिनी ओ रूपवती ऊर्वशी ! तुम न माता हो न कन्या हो और न वधू हो ।। 1 ।। थकी देह पर सोने का आँचल खींचकर सन्ध्या जब गौओं

के चरागाह में उतरती है, तब ऐ ऊर्वशी ! तुम घर के कोने में शाम का दीपक नहीं जलाती—न संकोचवश जकड़े हुए पैरों से, काँपते हुए कलेजे से, नीची निगाह करके, मन्द-मन्द हँसती हुई, अर्धरात के सन्नाटे में प्रिय की सेज की ओर लज्जित भाव से जाती हो ।। 2 ।। तुम्हारा तो घूँघट सदा उसी तरह खुला रहता है जैसे ऊषा का उदय, और तुम सदा अकुण्ठित रहती हो ।। 3 ।।

2—बिना वृन्त के फूल की तरह अपने ही में अपने को विकसित करके, ऐ ऊर्वशी ! तुम कब खिलीं ? ।। 4 ।। आदिम वसन्त के प्रभात काल में मथे हुए सागर से तुम निकली थीं, अपने दाहिने हाथ में सुधापात्र और बायें में विष का घट लेकर; तरंगित महासिन्धु मन्त्रमुग्ध भुजङ्ग की तरह अपने लाखों उच्छ्वासित फनों को झुकाकर तुम्हारे श्रीचरणों के एक किनारे पर पड़ा हुआ था ।। 5 ।। कुन्द के समान शुभ्र तुम्हारी नग्न कान्ति की चाह सुरपति इन्द्र को भी रहती है, तुम्हारी भला कौन निन्दा कर सकता है ? ।। 6 ।।

3—ऐ ऊर्वशी ! तुम्हारे इस यौवन का क्या कभी अन्त भी होता है ?—न, अच्छा, माना कि तुम्हारा यौवन अनन्त है, परन्तु यह तो बताओ, कली की तरह कभी तुम बालिका भी थीं या नहीं ? ।। 7 ।। अतल के अन्धकार में तुम किसके यहाँ अकेली बैठी हुई मणियों और मुक्ताओं को लेकर अपने शैशव का खेल करती थीं ?—मणियों के दीपों से प्रदीप्त भवन में समुद्र के कल्लोल के गीत सुनकर निष्कलंक मुख से हँसती हुई प्रवालों के पलँग पर तुम किसके अंक में सोती थीं ? ।। 8 ।। इस विश्व में जब तुम्हारी आँखें खुलीं, तब तुम्हारा यौवन गठित हो चुका था—तुम बिलकुल खिल गयी थीं ।। 9 ।।

4—अपूर्व शोभामयी, ऐ ऊर्वशी ! युग-युगान्तर से तुम इस विश्व की प्रेयसी हो, बस ।। 10 ।। ऋषि और महर्षि ध्यान छोड़कर अपनी तपस्या का फल तुम्हारे श्रीचरणों को अर्पित कर देते हैं, तुम्हारे कटाक्ष की चोट खाकर यौवन के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठते हैं । तुम्हारी शराब-जैसी नशीली सुगन्ध को अन्ध वायु चारों ओर ढोये लिये जा रही है और मधु पीकर मस्त हुए भौंरों की तरह कवि तुमपर मुग्ध और लुब्धचित्त होकर उद्दाम संगीत गाते हुए चूमते हैं ।। 11 ।। तुम अपने नूपुर बजाती हुई, अंचल को विकल करके, बिजली की तरह चंचल गति से कहीं चली जाती हो ।। 12 ।।

5—देह में लोल हिलोरों का नृत्य दिखानेवाली ऐ ऊर्वशी ! जब तुम देवताओं की सभा में पुलकित और हुलसित होकर नृत्य करती हो, तब तुम्हारे छन्द-छन्द पर सिन्धु में तरंगें नाच उठती हैं,—शस्य के शीर्षों में (बालियों में)—धरा का अंचल काँप उठता है—तुम्हारे उन्नत उरोजों पर शोभा देनेवाले हार से छूटकर आकाश में तारे टूट गिरते हैं,—एकाएक पुरुषों के हृदय में चित्त अपने को भूल जाता है—नस-नस में खून की धारा बह चलती है ।। 13 ।। ओ अपने को न सँभाल सकनेवाली ! एकाएक दिगन्त में तेरी मेखला टूट गिरती है ।। 14 ।।

6—ऐ भुवनमोहिनी ऊर्वशी ! स्वर्ग के उदयाचल में तुम मूर्तिमती ऊषा हो ।। 15 ।। तुम्हारे देह की तनुता (नजाकत) संसार के आँसुओं की सरिता के तट पर धोयी गयी है, तुम्हारे तलवे की ललाई तीनों लोक के हृदय-रक्त से रंजित की

गयी है, बालों को खोलकर खड़ी हुई ओ विवस्त्र ऊर्वशी ! विश्व-वासना के विकसित अरविन्द पर तुम अपने अति लघुभार चरणों को रखे हुए हो ।। 16 ।। ऐ मेरी स्वप्न की संगिनी ! सम्पूर्ण संसार के मानस-स्वर्ग में तुम अनन्त रंग दिखला रही हो ।। 17 ।।

7—ऐ निष्ठुर वधिर ऊर्वशी ! वह सुनो तुम्हारे लिए चारों ओर से रोदन उठ रहा है ।। 18 ।। पुरातन आदि युग क्या फिर इस संसार में लौटेगा ? - अछोर अतल से ऐ सिक्तकेशिनी क्या तू फिर उमड़ेगी ? प्रथम प्रभात में वह प्रथम तनु क्या देखने को फिर मिलेगा ?—जब निखिल के कटाक्ष-प्रहार से और गिरते हुए वारि-विन्दुओं के आघात से तुम्हारा सर्वाङ्ग रोता रहेगा ।। 19 ।। महासागर एक अपूर्व संगीत के साथ अकस्मात् तरंगित होता रहेगा ।। 20 ।।

8—ऐ अस्ताचल-वासिनी ऊर्वशी ! उस गौरव-शशि का अस्त हो गया है,—अब वह न लौटेगा ।। 21 ।। इसीलिए आज पृथ्वी में वसन्त के आनन्दोच्छ्वास के साथ न जाने किसके चिरविरह का दीर्घ श्वास बहा चला आ रहा है, पूर्णिमा की रात्रि में जब दसों दिशाएँ हास्य से पूर्ण हो जाती हैं, तब न जाने दूरस्मृति कहाँ से व्याकुल कर देनेवाली वंशी बजाती रहती है, आँसू झरते रहते हैं ।। 22 ।। ओ बन्धन-मुक्त ऊर्वशी, प्राणों के क्रन्दन में भी आशा जागती रहती है ।। 23 ।।

'ऊर्वशी' रवीन्द्रनाथ की एक अनुपम सृष्टि है । इसमें शृंगार को महाकवि की लेखनी ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है । रवीन्द्र नाथ के समालोचक टमसन साहब समालोचना के लिए जिन अजित बाबू की जगह-जगह तारीफ करते हैं, अजित बाबू ने खुद लिखा है—"ऊर्वशी में सौन्दर्यबोध का जैसा परिपूर्ण प्रकाश है वैसा यूरोप के साहित्य-भर में मिलना मुश्किल है ।" अजित बाबू की राय, सम्भव है कि सच हो । परन्तु दुःख है, उन्होंने कविता के गुणों का विश्लेषण करके उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की, न एक ही ढंग की यूरोपीय कविताओं का उद्धरण करके तुलनात्मक विचार करने का कष्ट उठाया । कुछ भी हो, ऊर्वशी के चित्रचित्रण में महाकवि की एक अद्भुत शक्ति लक्षित होती है, इसमें सन्देह नहीं । देव-सौन्दर्य में देवभावों का विकास कर दिखाना बहुत सीधा है । ऐसा तो प्रायः सभी कवि कर सकते हैं । हिन्दी में शुद्ध शृंगार और स्वकीया के वर्णन में सफे-के-सफे रँग डाले गये हैं, यही बात संस्कृत में भी है । परन्तु जहाँ परकीया नायिकाओं या वारांगनाओं का वर्णन आया है, वहाँ तो कवि नायिकाओं से बढ़कर अश्लीलता करते हुए पाये जाते हैं—"दे मागदे दे मागादे करें रति में तगादे हैं," ये सब उनके भावों के जीते-जागते चित्र हैं । यह हम मानते हैं कि मनुष्य-स्वभाव का यह भी एक चित्र है, अश्लील भले ही हो, पर झूठ नहीं; अतएव साहित्य में इसे भी स्थान मिलना चाहिए । यह बात और है । हम पहले ही लिख चुके हैं कि अश्लील में शील और कुरूप में सौन्दर्य, विकार में निर्विकार की व्यंजना और मनोहर होती है और वह भी सत्य है, अतएव वह अधिक हृदयग्राह्य है । कविकुल चूड़ामणि कालिदास ने, कविराजराजिमुकुटालंकारहीरःकण श्रीमान श्रीहर्ष ने और इस तरह अनेक संस्कृत के महारथी कवियों ने कुल-कामनियों के अन्तःपुर की लीलाएँ लिखते हुए अश्लीलता को हृदय तक पहुँचा दिया है,—"यदि पीनस्तनीं पुनरहं पश्यामि,

मन्मथशरानलपीडितानि गात्राणि सम्प्रति करोमि सुशीतलानि"—बेचारे अपने हृदय की बात 'बेलाग' कह डालते हैं,—फिर उनके वंशज हिन्दीवाले—अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का अधिकार क्यों छोड़ देते?—"स्वधर्मे मरणं श्रेयः।" अस्तु।

'ऊर्वशी' के आरम्भ में वेश्या-सौन्दर्य पर बड़ी सावधानी से रवीन्द्रनाथ की तूलिका संचालित होती है। उस नन्दन-वासिनी में वे न मातृ-भाव पाते हैं, न कन्या-भाव, न वधू-भाव। वह कुलवधू की तरह लजाती हुई अर्धरात के सन्नाटे में अपने प्रियतम की सेज के पास नहीं जाती, वह घूँघट से कभी मुँह नहीं मूँदती; ऊषा के उदय की तरह उसका मुँह खुला रहता है; उसमें कुण्ठा नहीं है—किसी का दबाव नहीं है। महाकवि की उपमा "ऊषा का उदय" देखने लायक है। उपमा चोट कर जाती है। इतनी जाँची-तुली हुई है कि जान पड़ता है इससे बढ़कर और कोई उपमा यहाँ के लिए उपयोग्य नहीं। ऊषा स्वर्णाभा है, मधुर है, स्निग्ध है, मनोहर है और सबकी दृष्टि में पड़ती है, उसमें अवगुण्ठन, घूँघट या परदा नहीं, यही सब बातें ऊर्वशी में भी हैं, वह स्वर्ण वर्ण है, मनोरमा है और सबके लिए समभाव से मुक्तमुखी है।

ऊर्वशी के हरएक पदबन्ध में, उसके एक-एक भाव पर दृष्टि डाली गयी है और महाकवि की कविता-किरण उनके प्रत्येक विचार में ज्योति की रेखा खींच देती है। रम्भा जिस तरह चौदह रत्नों के साथ समुद्र से निकली थी, उसी तरह ऊर्वशी की उत्पत्ति-कल्पना भी महाकवि सिन्धु के विशाल गर्भ से करते हैं। उसे अनन्तयौवना कहकर जब उसी से उसके बाल्य की बात पूछते हैं, मुकुलिता बालिका के घर की, उसकी क्रीड़ाओं की, प्रवाल-पलँग पर सोने की बात पूछते हैं, तब कल्पना अपनी मोहिनी में डालकर क्षण-भर में मुग्ध कर लेती है, और पूर्ण यौवन में गठित करके उस सोती हुई को एकाएक संसार की आश्चर्य-भरी दृष्टि के सामने ला खड़ा करके तो गजब कर देते हैं। जहाँ लुब्धकवि, मधु पीकर मतवाले हुए भौरों की तरह गाते हुए उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वहाँ उसका नूपुरों को बजाकर, हिलोरों से अंचल को विकल करके बिजली की गति से गायब हो जाना वास्तव में वेश्या-स्वभाव का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखा जाता है। देवसभा के नृत्य का दृश्य भी बहुत ही चित्ताकर्षक है। इस सौन्दर्य का अन्त दुखान्त है; यहाँ कला का उत्कृष्ट परिचय मिलता है। वेश्याओं के सौन्दर्य का अन्त एक तो यों भी दुःखमय होता है, परन्तु यहाँ महाकवि एक दूसरी कल्पना से उसे दुःखमय कर देते हैं। वह दुःख ऊर्वशी के लिए नहीं है कवि के लिए है। इस सौन्दर्य को वे पुरातन युग की कल्पना में डुबो देते हैं। उस गौरव-शशि के अस्त हो जाने की याद कवि को रुला देती है। फिर वसन्त की हवा में विरह की साँस बह चलती है और हृदय के रोदन में एक आशा को जगाकर मुक्त ऊर्वशी का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। यहाँ ऊर्वशी की सुन्दरता की इतनी मधुर वर्णना भी कवि को प्रसन्न नहीं कर सकती,—वे वह युग चाहते हैं—सत्यं शिवं सुन्दरम्‌वाला युग; इसीलिए कविता के वेश्या-सौन्दर्य में भी सत्यं शिवं सुन्दरम् की अमर छाप लग गयी है और नश्वर में अविनश्वर ज्योति आ गयी है।

किसी कवि में एकसाथ बहुत से गुण नहीं मिलते। कितने ही शब्दशिल्पी ऐसे देखे गये हैं जिनमें संगीत का नाममात्र भी न था। शब्दों के मायाजाल की रचना करते हुए ही उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय और सारी एकाग्रता खर्च कर दी है। जो लोग अपनी या किसी दूसरे की कविताएँ सस्वर पढ़ लेते हैं, मुशायरे में अपना सुकोमल स्वर सुनाकर श्रोताओं को मुग्ध कर लेते हैं, वे सुकण्ठ चाहे भले ही हों पर वे संगीत-मर्मज्ञ नहीं। जिस तरह अच्छी कविता लिखने के लिए पिंगल और अलंकार-शास्त्र का जानना आवश्यक है, उसी तरह संगीत-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने या सुगायक बनने के लिए राग-रागनियों के स्वरूप, उनके स्वरों की पहचान, समय का निर्देश, ताल और मात्राओं की सूझ और आवश्यक सूक्ष्मातिसूक्ष्म और और विषयों का अधिकार प्राप्त करना भी बहुत ही जरूरी है। अतएव कहना चाहिए, कविता की तरह संगीत की भी एक अलग शाखा है और उसके पठन और अनुशीलन में कदाचित् कविता की अपेक्षा अधिक समय लग जाता है। और यही कारण अक्सर कवियों को संगीतशास्त्र के अथाह सागर में आत्मसमर्पण करते हुए हतोत्साह कर देता है।

हिन्दी-साहित्य में जिन प्रसिद्ध कवियों ने घनाक्षरी, सवैया, दोहा, सोरठा और चौपाई आदि अनेकानेक छन्दों की सृष्टि की है, बहुत सम्भव है, सभास्थल में वे सस्वर उन्हें गाते भी रहे हों, और चूँकि आजकल मुशायरे में अक्सर कविता गाकर पढ़ने का रिवाज प्रचलित है,—साधारण से लेकर अच्छे-से-अच्छे कवि कविता को गाकर पढ़ते हैं, अतएव वे प्राचीन कवि भी जिनसे उत्तराधिकार के रूप में कविता को गाकर पढ़ना हमें प्राप्त हुआ है और हम अब भी उसकी मर्यादा को पूर्ववत् अचल और अखण्डनीय बनाये हुए हैं, कविता का पाठ गाकर ही करते रहे होंगे। परन्तु यह मानी हुई बात है कि कविता एक और कला है और संगीत एक और। अतएव यह निस्सन्देह है कि अच्छी कविता लिखनेवाले किसी कवि के लिए अच्छा गा लेना कोई ईश्वरीय नियम नहीं। तात्पर्य यह कि कवि होकर, साथ ही कोई गवैया भी नहीं बन सकता; परन्तु कविता की तरह, सीखकर गाने की बात और है। यहाँ मैं यह सिद्ध नहीं कर रहा हूँ कि आजकल के मुशायरे में ब्रह्मभोज के कराह मलते समय की किरकिरी आवाज को मात करनेवाले कविता-गायक कवियों की तरह पिछले जमाने में सभी कवि भी थे, नहीं सूरदास जैसे सुगायक सिद्ध महाकवि भी हिन्दी में हो गये हैं। यहाँ इस कथन में मेरा लक्ष्य यह है कि शब्दशिल्पी संगीत-शिल्पियों की नकल न करें तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थ-व्यंजना के लिए भावपूर्वक साधारणतया पढ़ना भी ठीक है, किसी अच्छी कविता को रागिनी में भरकर स्वर में माजने की चेष्टा करके उसके सौन्दर्य को बिगाड़ देना अच्छी बात नहीं।

ठीक यही बात गानेवाले के लिए भी है! उसके पास स्वर है, पर शब्द नहीं। उसके स्वर की धारा बड़ी ही साफ है, परन्तु जिन शब्द-वीचियों की सहायता से

उसकी क्रीड़ा लक्षित हो रही है, उनमें वैसी एकता, सौन्दर्य-शृंखला और चमक बिल्कुल नहीं है। कर्मनासा के जल की तरह उन्हें देखकर लोग उनसे तृष्णा-निवृत्ति की आशा छोड़ देते हैं—उनमें वैसी कोई शक्ति नहीं जो प्राणों में पैठकर उन्हें शीतल कर सके। हम देखते हैं, गवैयों के रचे हुए संगीत के जितने भी काव्य हैं, उनका अधिकांश उद्देश किसी तरह उनसे निकाला गया है—अलावा इसके कविता की दृष्टि से उनमें कोई दम नहीं।

हिन्दी में सूर, कबीर, तुलसी और मीराबाई आदि बहुत से महाकवि ऐसे हो गये हैं, जिन्हें हम समस्वर से शब्दशिल्पी भी कहते हैं और सुगायक भी; मीरा और सूर के लिए तो केवल यह कहना कि अच्छा गाते थे, अपराध होगा, ये संगीत-सिद्ध थे,—संगीत की उस कोमलता तक पहुँचे हुए थे जहाँ परम कोमल सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्ण की स्थिति है।

इस बीसवीं सदी के लिए बंग-साहित्य में जिस तरह के संगीत-मर्मज्ञ की आवश्यकता थी, महाकवि रवीन्द्रनाथ के द्वारा वह पूरी हो गयी। रवीन्द्रनाथ जितने ही बड़े शब्दशिल्पी हैं उतने ही बड़े संगीत-विशारद भी हैं; बल्कि उनके लिए यह कहना चाहिए कि संसार में श्रेष्ठ स्थान उन्हें जिस पुस्तक के द्वारा प्राप्त हुआ है, वह संगीत की ही है—'गीताञ्जली' में भाव-भाषा और स्वर के समावेश से जिस स्वर्गीय छटा का उद्बोध होता है, महाकवि रवीन्द्रनाथ ने बड़ी निपुणता से उसे संसार के सामने ला रखा है।

एक बार स्वर्गीय डी. एल. राय महाशय के सुपुत्र बाबू दिलीपकुमार राय ने महात्मा गांधी से मिलकर कला और संगीत के सम्बन्ध में उनसे कुछ प्रश्न किये थे; महात्माजी ने कहा; मैं उस कला और उस संगीत का आदर करता हूँ जो कुछ चुने हुए आदमियों के लिए न होकर सर्वसाधारण के लिए हो। इस पर दिलीपबाबू का उत्तर बड़ा ही सुन्दर हुआ था। उन्होंने कहा, "इस तरह कला को उत्कर्ष प्राप्त करने की जगह कहाँ रह जाती है? जो चीज सर्वसाधारण की है, वह अवश्य ही असाधारण नहीं हो सकती और जिसके असाधारणता नहीं है, वह आदर्श भी नहीं है; और यदि आदर्श रहा तो साधारण जनों के उन्नत होने का लक्ष्य भी नहीं रह जाता; साधारण मनुष्यों की उन्नति का आदर्श के न रहने पर द्वार ही रुक जाता है।"

दिलीपबाबू का भाव हृदय से स्वागत करने योग्य है। पूर्व और पश्चिम के पर्यटन से संगीत के सम्बन्ध में दिलीपबाबू का ज्ञान कितना बढ़ा-चढ़ा है, यह उनके लेखों से मालूम हो जाता है। एक जगह उन्होंने हिन्दी-संगीत के साथ बंगला-संगीत की तुलना करते हुए लिखा है—'हिन्दी-संगीत बंगला-संगीत से बहुत ऊँचा है, बंगालियों को अभी बहुत काल तक हिन्दीभाषी गवैयों के चरणों पर बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी होगी।" दिलीपबाबू के वाक्य को अपनी स्मृति से मैं उद्धृत कर रहा हूँ, इस समय उनके लेख मेरे पास नहीं हैं; इन वाक्यों में शब्दों की एकता चाहे न हो पर उनके भाव ऐसे ही हैं, इस पर मुझे दृढ़ विश्वास है। दिलीपबाबू के ये शब्द बहुत ही जँचे-तुले और सहृदयता के सूचक हैं, इनसे दिलीपबाबू की निष्पक्ष समालोचना का भी पता चल जाता है। एक दिन आपस में बातचीत हो रही थी कि

यही राय "आमार विज्ञान" के लेखक पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा ने जाहिर की। हम यह भी देखते हैं कि अच्छे बंगाली गवैये ध्रुवपद-धम्मार अक्सर हिन्दी में गाते हैं, फिर उनका अपनी भाषा के संगीत का प्रेम एक तरह छूट जाता है।

हिन्दी संगीत की योग्यता पर अब इस समय अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यहाँ एक बात बिना कहे नहीं रहा जाता। पश्चिम के संगीतज्ञों को भारत के संगीत से अभी तक विशेष प्रेम नहीं हुआ है। भारत के कुछ नामी उस्ताद योरप हो आये हैं, परन्तु उनके वाद्य का प्रभाव अभी वहाँ उतना नहीं पड़ा जितने की आशा की जाती है। प्रभाव न पड़ने के मुख्य दो कारण हैं। पहला यह कि भारत के रागों और रागिनियों को वे समझ नहीं सकते,—इनसे उनके हृदय में न तो किसी भाव का उद्रेक होता है, न कोई रस-संचार; दूसरी बात यह है—तान मुरकी में वहाँवालों को इतना अधिक स्त्रीत्व दिखलायी पड़ता है कि वे वीर जातियों के वंशज इसका सहन नहीं कर सकते; यहाँ की नृत्यकला को भी वे लोग इसी दृष्टि से देखते हैं, अन्यथा यहाँ के नृत्य और संगीत से अपने साहित्य में कुछ लेने की चेष्टा करते। संगीत की समालोचना में योरपवाले वास्तव में भूल करते हैं, और कुछ अंशों में हमारी भी भूल है। हमारे यहाँ भैरव, मालकोस, दीपक आदि रागों के जैसे स्वरूप चित्रित किये गये हैं, उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकेगा कि इनमें स्त्रीत्व है, भैरव में तो पुरुषत्व का विकास इतना अधिक करके दिखलाया गया है कि संसार में उस तरह का मस्त और दुनियाँ को तुच्छ समझनेवाला पुरुष संसार की किसी भी जाति में न रहा होगा। भैरव-राग के अलापने पर वैसा ही भाव हृदय में पैदा हो जाता है। हमारे यहाँ, ध्रुपद-धम्मार आदि तालों में स्त्रीत्व का तो कहीं निशान भी नहीं है। इनमें गाते समय गवैये को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं ध्रुपद गाते हुए स्वर में कम्पन न हो जाय—यानी आवाज सदा भरी हुई और सीधी निकलती रहे, उसके काँपने से स्त्रीत्व के आ जाने का भय है। जो लोग इसका निर्वाह नहीं कर सकते, वे चूकते हैं। हमारे यहाँ मृदङ्ग के बोल भी पुरुषत्व के उद्दीपक हैं। जब से राग-रागिनियों की खिचड़ी पकी, गजल-युग आया, तब से संगीत में स्त्रीत्व का प्रभाव बढ़ा है।

शब्दशिल्पी होकर संगीत को कला के शीर्ष स्थान तक ले जानेवाले, स्वर की लड़ी में भाव भरे उत्तमोत्तम शब्द पिरोनेवाले, हरएक रस और हरएक रागिनी में कविता और संगीत-कला के दो पृथक चित्रों में समान तूलिका संचालन करनेवाले—बराबर रंग चढ़ानेवाले, एक ओर शब्दों द्वारा—दूसरी ओर रागिनी की खुली मूर्ति खींचकर,—आवश्यकतानुसार शृंगार-करुण-वीर-शान्त और बरवा मालकोस-छाया आदि रसों और राग-रागिनियों का दिव्य संयोग दिखानेवाले, योरप को भारतीय कविता और भारतीय संगीत के उद्दाम छन्दों और कोमल-कठोर भावों से मुग्ध और चकित कर देनेवाले महाकवि रवीन्द्रनाथ प्रथम भारतीय हैं।

कला को आदर्श स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिए किस तरह साधारण जनों की सीमा को पार कर जाना पड़ता है, किस तरह से अनमोल शब्द शृंखलित भाव के साथ स्वर की लड़ी में पिरोये जाते हैं, आगे चलकर विश्व-कवि के कुछ उद्धृत संगीतों में देखिए—

(संगीत-1)

"आहा, जागि पोहाल विभावरी
क्लान्त नयन तव सुन्दरी ।। 1 ।।
म्लान प्रदीप उषानिल चंचल,
पाण्डुर शशधर गत-अस्ताचल,
मुछ आँखीजल, चलो सखि चलो,
अंगे नीलाञ्चल सँवरी ।। 2 ।।
शरत - प्रभात निरामय निर्मल,
शान्त समीरे कोमल परिमल,
निर्जन वनतल शिशिर-सुशीतल,
पुलकाकुल तरुवल्लरी ।। 3 ।।
विरह-शयने फेलि मलिन मालिका,
एसो नव भुवने एसो गो बालिका,
गाँथी लह अंचले नव शेफालिका,
अलके नवीन फूलमंजरी ।। 4 ।।"

अर्थ : "अहा ! जगकर सारी रात तुमने बिता दी, सुन्दरी ! तुम्हारी आँखों में थकन आ गयी है ! ।। 1 ।। दिये की ज्योति मलिन पड़ गयी है, चाँद मुरझा के अस्ताचल में धँस गया है; तुम अपने आँसू पोंछो, —चलो - सखी ! —नीलाम्बरी साड़ी के अंचल-प्रान्त को देह में सँभाल लो ! ।। 2 ।। (इस समय) शरत का प्रभात (कैसा,) स्वास्थ्यकर और निर्मल हो रहा है । शान्त भाव से ढुरते हुए समीर के साथ कोमल परिमल भी आ रहा है, निर्जन वन का तल भाग ओस से धुलकर शीतल हो गया है और द्रुमलताएँ पुलक की अतिशयता से व्याकुल हो रही हैं ! ।।3।। विरह-सेज पर अपनी मलिन माला छोड़कर अयि बालिका, इस नवीन संसार में आओ ! शेफालिका (हरसिंगार) फूलों की नयी माला अंचल में गूँथ लो ! बालों में फूलों की नयी मंजरी खोंस लो ! ।। 5 ।।"

विश्व कवि के इस संगीत का प्लाट (नक्शा) यह है : पहले कवि ने आगत यौवना किसी कामिनी के विरह की कल्पना की है, उसे सारी रात प्रियतम की प्रतीक्षा करनी पड़ी है । सेज पर प्रियतम की प्रतीक्षा में—उसे भोर हो गया—आँखों में जागरण की लालिमा और क्लान्ति आ गयी है । नायिका की इस दशा को कवि-हृदय—अधिक देर तक नहीं देख सका—यहीं से उसके लिए कवि की सहानुभूति चित्रण-तूलिका के सहारे उतरकर एक अपूर्व ढंग से उसे संयोग का समाचार सुनाती है—सहानुभूति से लेकर समाचार के अन्त तक महाकवि की चित्रण-कुशलता गजब करती है—हृदय को बरबस अपनी ओर खींच लेती है । इस गीत-काव्य का श्रीगणेश करते हुए महाकवि अपने तुले हुए शब्दों में नायिका के नयनों के साथ समवेदना प्रकट करने के लिए बढ़कर जब कहते हैं—

"आहा जागि पोहाल विभावरी
क्लान्त नयन तव सुन्दरी"

तब ये शब्द उनके रोम-रोम से विरहिणी के लिए समवेदना सूचित कर देते हैं—नायिका के विरह-व्याकुल हताश भाव को उनकी सहृदयता एक क्षण भी नहीं देख सकती। महाकवि के उद्धृत पूर्वोक्त वाक्य में, उनकी अथाह सहानुभूति के साथ एक भाव जो और मिला हुआ है, वह है नायिका की उसी अवस्था से गुजरकर महाकवि का व्यक्तिगत अभिज्ञता का संचय—मानो कवि भी यह विरह का दुःख भोग चुका है, और चूँकि उसे इस दुःख का यथार्थ अनुभव है, इसलिए नायिका में अनुभवजन्य स्वजातीय भाव का आवेश देख उसके (कवि के) हृदय से एक वह अपनापन नायिका की ओर बढ़ रहा है जिसे सर्वथा हम स्वजातीय कह सकते हैं, और इसलिए इस सहानुभूति में एक खास सौन्दर्य आ गया है—दोनों हृदय मानो एक हो रहे हैं, फर्क इतना ही है कि एक ओर जागरणजनित दुःख—बाट जोहकर थकी हुई छलछलायी आँखें, और दूसरी ओर है एक सच्चा सहृदय—मर्मज्ञ—अकारण प्यार करनेवाला। सहृदय रवीन्द्रनाथ यहीं से नायिका को मिलन-भूमि की ओर ले चलते हैं, वे विरह के वर्णना में इतनी हाय-हाय नहीं मचाते कि पाठक भी ऊब जायँ, उधर, सहानुभूति के कोरे शब्दों से ही नायिका के प्रति सहृदयता प्रकट करके कवि अपनी मित्रता का उतना बड़ा परिचय हरगिज न दे सकते जितना बड़ा उन्होंने नायिका को मिलन-मन्दिर की ओर बढ़ाकर दिया है। महाकवि नायिका से कहते हैं—

> "म्लान प्रदीप उषानिल चंचल,
> पाण्डुर शशधर गत - अस्ताचल,
> मुछ आँखीजल, चलो सखि चलो,
> अंगे नीलांचल सँवरी।"—

प्रथम दो पंक्तियों में प्रकृति का चित्र है, बाकी पंक्तियों में नायिका के लिए धैर्य और साथ-साथ आशा। "अंगे नीलांचल सँवरी" इस पंक्ति में विशृङ्खल भाव से—ढके हुए अंगों से खुलकर इधर-उधर पड़े हुए नीलाम्बरी साड़ी के अंचल-भाग को सँभालकर निकलने के लिए कहकर कवि नायिका को प्रियतम से मिला देने की आशा दिलाता है। वस्त्र सँभालने की ओर इशारा करके महाकवि ने नायिका की विरह-भावना की ओर इशारा भी किया है; इस चित्र में बहुत मामूली बात भी कवि के ध्यान से नहीं हटने पायी। विरह की अवस्था में वस्त्र का खुल जाना बहुत ही स्वाभाविक है, और मिलने के पूर्व उसके सँभालने की ओर इंगित करना उतना ही कवित्वपूर्ण। "चलो सखि चलो" इस वाक्य में रवीन्द्रनाथ मानो नायिका की सखी बन जाते हैं; यहाँ जब एक ओर क्षोभ, अभिमान, विरह और निराशा नजर आती है और दूसरी ओर धैर्य, प्रेम, सहृदयता और आशा का आश्वासन मिलता है, तब हृदय में कविता की कैसी दो दिव्य मूर्तियाँ एकाएक खड़ी हो जाती हैं, वर्णनाशक्ति की सीमा से बाहर है। आगे चलकर महाकवि प्रकृति में स्वागत का चित्र दिखलाते हैं—"पुलकाकुल तरुवल्लरी" कहकर तरु और लताओं में प्रभात समय का प्राकृतिक पुलक दिखलाते हुए, कल्पना के द्वारा नायक के आ जाने का पुलक भी भर देते हैं। यहाँ प्रकृति के सत्य से कल्पना के सत्य का मेल है, प्रकृति के पुलक में नायक के आगमन का पुलक है।

"विरह-शयने फेलि मलिन मालिका,
एसो नव भुवने एसो गो वालिका।"

यहाँ विरह शय्या पर कल की गूँथी हुई मलिन माला को छोड़कर वालिका (नवयौवना तरुणी) को नवीन संसार में बुलाने का अर्थ यही है कि महाकवि उसके संयोग की सूचना देते हैं। उनका यह भाव और साफ हो जाता है जब वे कहते हैं—

"गाँथी लह अंचले नव शेफालिका,
अलके नवीन फूलमंजरी।"

मलिन मालिका को छोड़, अंचल में नयी शेफालिका की माला गूँथ लेने और वालों में पुष्प-मंजरी के खोंसने का इशारा सूचित करता है संयोग का समय अब आ गया! अपनी दुःखिनी सखी को उसके प्रियतम के पास महाकवि इस तरह कवित्वपूर्ण ढंग से ले चलते हैं।

(संगीत—2)

"बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे
आमार निभृत नव जीवन परे।। 1।।
प्रभात - कमल-सम
फुटिलो हृदय मम
कार दुटि निरुपम चरण तरे।। 2।।
जेगे उठे सब शोभा सब माधुरी
पलके पलके हिया पुलके पुरी,
कोथा होते समीरण
आने नव जागरण,
पराणेर आवरण मोचन करे।। 3।।
लागे बुके सुखे-दुखे कतो जे व्यथा,
केनने बुझाये कबो जानि ना कथा।
आमार वासना आजि
त्रिभुवने उठे बाजि,
काँपे नदी वन-राजि वेदना-भरे।। 4।।

अर्थ : "मेरे निभृत (निर्जन) और नवीन जीवन पर यह मधुर स्वर से किसकी वीणा बजी ?।। 1।। प्रभात-कमल की तरह मेरा हृदय किसके दो निरुपम चरणों के लिए विकसित हो गया ?।। 2।। पल-पल में हृदय को पुलकपूर्ण करके सम्पूर्ण शोभा—सम्पूर्ण माधुरी जग रही है। न जाने समीर कहाँ से नवीन जागरण ला रहा है (कि उसके स्पर्श मात्र से शरीर में सजीवता आ रही है)—इस तरह वह प्राणों पर पड़े हुए पर्दे को हटा देता है। जीवन की जड़ता, मोह और आलस आदि को दूर कर देता है।। 3।। सुख और दुःख के समय हृदय में न जाने व्यथा के कितने झोंके लगते हैं!—उन्हें मैं किस तरह समझाकर कहूँ—मुझे उसकी भाषा नहीं मालूम। आज मेरी ही वासनाएँ सारे संसार में मुखरित हो रही हैं। उनकी आहों से वृक्ष, जंगल, नदी आदि काँप रहे हैं। अचानक न जाने किसकी वीणा सुमधुर स्वर

से बज उठी ।। 4 ।।

इस संगीत की रचना में महाकवि ने छायावाद का आश्रय लिया है । यों तो जान पड़ता है कि कविता निराधार है—आसमान में महल खड़ा करने की युक्ति की तरह बेबुनियाद है, परन्तु नहीं, हृदय के सच्चे भावों को चित्र का रूप देकर महाकवि ने इस कविता में जीवन की अमर स्फूर्ति भर दी है। इस कविता में जितना ऊँचा कवित्व है—प्राणों की भाषा का जितना उच्च विकास है, उतना ही गम्भीर दर्शन भी है । हमारे मनोज्ञ पण्डित कहते हैं, बाहरी संसार के साथ मन का जबर-दस्त मेल है, जब मन में किसी प्रकार का हर्ष अपनी मनोहर महिमा पर इतराता रहता है, तब उसका चित्र हमें बाहरी संसार में भी देख पाता है,—उसकी छाया—वैसा ही भाव बाहरी संसार में भी हम प्रत्यक्ष करते हैं,—मानो संसार का एक-एक कण हमारे सुख के साथ सहानुभूति रखता हुआ हमारे हर्ष की प्रतिध्वनि हमें सुना रहा है; और जब दुःख की अधीरता हृदय को डावाँडोल कर देती है, तब भी हम बाहर संसार में मानो उसी की मलिन रेखा पात-पात में प्रत्यक्ष करते हैं । यहाँ, इस कविता में महाकवि के हृदय में पहले सुख का अंकुर निकलता है, फिर वही वासना के रूप में फैलकर बढ़ जाता है—इतना बढ़ता है कि तीनों लोक को अपने विस्तार से ढक लेता है । यही इस कविता की बुनियाद है और चित्रण की अपूर्व कुशलता इसका मनोहर शरीर। हृदय में सुख-साम्राज्य के फलकर वासना की वंशी छेड़ने के साथ ही महाकवि के मुख से निकलता है—

"बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे
आमार निभृत नव जीवन परे"—

महाकवि का जीवन नवीन है—एकान्त में सुरक्षित है, और वहीं एक वीणा मधुर स्वर से बजती है । हम कह चुके हैं यह सुख की वीणा है, यौवन के निर्जन प्रान्त में वीणा महाकवि को मुग्ध करने के लिए बज रही है । परन्तु यह किसकी वीणा है—बजानेवाला कौन है, यह कवि को नहीं मालूम,—इतना ही रहस्य है—यही रहस्यवाद—छायावाद है । यह जरूर है कि महाकवि के यौवन कुंज की हरी-भरी कुटीर में महाकवि के सिवा और कोई न था,—अपने यौवन की पल्लवित महिमा को देख हृदय की निर्जन कन्दरा में मधुर स्वर से उसका स्वागत करनेवाले महा-कवि ही थे, परन्तु अपनी सत्ता पर ऐसे स्थल में यदि वे जोर देकर निश्चयपूर्वक कुछ कहते तो कविता का सौन्दर्य अवश्य ही नष्ट हो जाता । अज्ञात यौवना के यौवन और अंग-सम्बन्धी प्रश्नों की तरह महाकवि ने वीणा बजानेवाले पर अपनी अज्ञात का आरोप करके कविता को बहुत ही सुन्दर चित्रित कर दिया है । वीणा बजानेवाले वे स्वयं हैं, परन्तु अपने को भूलकर वीणा बजानेवाले को जानने के लिए उनकी उत्सुकता स्वयं यहाँ कविता बन रही है। महाकवि की अज्ञता अन्तिम बन्द को छोड़कर और सब बन्दिशों में है । वीणा बजने के साथ-साथ हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"प्रभात-कमल-सम
फुटिलो हृदय मम
कार दुटि निरुपम चरण तरे ।"—

वीणा-झंकार के होते ही प्रभात-काल के कमल की तरह महाकवि के हृदय के दल खुल जाते हैं और उनके इस प्रश्न से कि —यह (हृदय) किसके दो अनुपम चरणों के लिए विकसित हो गया ?—एक और अज्ञेयवाद खड़ा हो जाता है। महाकवि के इस प्रश्न में बहुत बड़ी कविता है। चित्रकार पद्म को अंकित करके उस पर षोडशी कामिनी या किसी देवी-मूर्ति को खड़ी कर सौन्दर्य-ज्ञान की हद कर देते हैं, उधर कवि भी कमल से चरणों की उपमा देते हैं, यहाँ भी महाकवि का हृदय वीणा-ध्वनि सुनकर मानो किसी कामिनी के लिए कमल की तरह विकसित हो जाता है। परन्तु वह कामिनी है कौन, यह महाकवि को नहीं मालूम। हृदय-कमल का विकास किसी कामिनी के उस पर चरण रखने के लिए ही हुआ यह ठीक है, कमल भी खिला है और कामिनी का वहाँ आना भी निस्सन्देह है, परन्तु वह कामिनी है कौन ?—कवि को नहीं मालूम, एक अज्ञात युवती को वह अपना सम्पूर्ण हृदय देने के लिए बढ़ा हुआ है। बढ़ा हुआ ही क्यों,—हृदय का विकास मानो दान के लिए ही हुआ है—उस पर उस कामिनी का स्वतः सिद्ध अधिकार है, हृदयवाले का जैसे वहाँ कुछ भी नहीं, जैसे युवती आकर कहे—"जब तक हृदय नहीं खिला था, तब तक तो वह तुम्हारा था, अब खुलकर हमारा है, चलो छोड़ो राह, जाने दो हमें अपने आसन पर।" पाठक ध्यान दें—किस खूबी से रवीन्द्रनाथ हृदय का दान करते हैं और वह भी एक उस युवती को जिसके सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं जानते। हृदय खुल जाने पर सारी शोभा और सम्पूर्ण माधुरी का जग जाना बहुत ही स्वाभाविक है, इस पर वे कहते हैं—

> "जेगे उठे सब शोभा सब माधुरी
> पलके - पलके पिया पुलके पुरी।—
> कोथा होते समीरण
> आने नव जागरण
> पराणेर आवरण मोचन करे।"

यहाँ उन्होंने सिर्फ हवा की करामात दिखलायी है कि वह अंगों का स्पर्श करके किस तरह उनमें नया जागरण—नवीन स्फूर्ति पैदा करती—प्राणों पर पड़े हुए जड़ आवरण को हटा देती है; परन्तु आगे चलकर अपनी वासना के साथ बाहरी प्रकृति की सहानुभूति दिखलाते हुए उन्होंने चित्रण-कुशलता की हद कर दी है—

> "आमार वासना आजि
> त्रिभुवने उठे बाजि,
> काँपे नदी वन-राजि वेदना-भरे।"

यहाँ महाकवि पत्तियों और लहरों को काँपते हुए देखकर जो यह कहते हैं कि आज मेरी ही वासना का डंका तीनों लोक में बज रहा है और इसी से वन और नदियों में वेदना का संचार दीख पड़ता है—वे काँप रहे हैं, इससे कविता पूर्ण रूप से खुल जाती है, कवि-हृदय को बिम्बित कर दिखाने के लिए एक बहुत ही साफ आइने का काम करती है।

(संगीत—3)

"आजि शरत - तपने, प्रभात-स्वपने
कि जानि पराण कि जे चाय ।।1।।
ओइ शेफालीर शाखे कि बलिया डाके,
विहग-विहगी कि जे गाय ।।2।।
आजि मधुर बातासे, हृदय उदासे,
रहे ना आवासे मन हाय ! ।।3।।
कोन कुसुमेर आशे, कोन फूल वासे,
सुनील अकाशे मन धाय ।।4।।
आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई
जीवन विफल हय गो ।।5।।
ताइ चारी दिके चाय, मन केंदे गाय,
"ए नहे, ए नहे, नय गो !" ।।6।।
कोन स्वप्ननेर देशे, आछे एलो केशे,
कोन छायामयी अमराय ! ।।7।।
आजि कोन उपवने, विरह-वेदने
आमारो कारणे केंदे जाय ।।8।।
आमि यदि गाइ गान, अधिर पराण,
से गान शुनाब कारे आर ।।9।।
आमी यदि गाँथि माला, लये फुल-डाला,
काहारे पराव फुल हार ।।10।।
आमी आमार ए प्राण यदि करि दान
दिबो प्राण तबे कार पाय ।।11।।
सदा भय हय मने पाछे अजतने
मने मने केहो व्यथा पाय ।।12।।"

अर्थ : "आज शरद ऋतु के सूर्योदय में—प्रभात के स्वप्नकाल में जी न जाने क्या चाहता है ? ।।1।। उस शेफालिका (हरसिंगार) की शाखा पर बैठे हुए विहंग और विहंगी क्या जानें क्या कह-कहकर एक दूसरे को पुकारते हैं और उनके गाने का अर्थ भी क्या है ? ।।2।। आज की मधुर वायु प्राणों को उदास कर देती है —हाय ! —घर में मन भी नहीं लगता ! ।।3।। न जाने किस फूल की आशा से किस सुगन्ध के लिए मन नीले आसमान की ओर बढ़ रहा है ! ।।4।। आज —न जाने वह कौन—एक अपना मनुष्य मानो नहीं है, इसीलिए इस प्रभात-काल में मेरा जीवन विफल हो रहा है ! ।।5।। इसीलिए मन चारों ओर हेरता है, और जो कुछ भी उसकी दृष्टि में आता है, उसे देखकर व्यथा के शब्दों में गाते हुए कहता है—'यह वह नहीं है—वह (कदापि) नहीं !' ।।6।। न जाने किस स्वप्न-देश की छायामयी अमरावती में वह मुक्तकेशी (इस समय) है ! ।।7।। आज न जाने किस उद्यान में वह विरह की वेदना में भरी हुई आती है, और मेरे लिए

वहाँ से रोकर चली जाती है ।।8।। मैं अगर किसी संगीत की रचना भी करूँ—संगीतों की माला गूँथूँ, तो प्राणों के अधीर होने पर वे संगीत—फिर मैं किसे सुनाऊँगा ? ।।9।। और अगर फूलों की माला गूँथूँ तो वह हार भी मैं किसे पहनाऊँ ? ।।10।। अगर मैं अपने प्राणों का दान करना चाहूँ तो किसके चरणों में मैं इन्हें समर्पित करूँ ।।11।। मेरा मन सदा डरता रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी त्रुटि से हृदय में किसी को चोट लगे ।।12।।

यह चित्र कवि के उदास भाव का है। जिस समय प्राणों में एक खोयी हुई वस्तु के लिए मौन प्रार्थना गूँजती रहती है, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रार्थना का आभास मात्र रहता है परन्तु क्यों और किसके लिए प्रार्थना होती है, यह बात प्यासे हृदय को नहीं मालूम होती । इस संगीत में महाकवि की वैसी ही दशा है। शरद ऋतु के स्वर्ण-प्रभात को देखते ही महाकवि के हृदय में एक आकांक्षा घर कर लेती है। सौन्दर्य के साथ आकांक्षा, पुष्प के साथ कीट, यह ईश्वरीय नियम है। इस नियम का बन्धन कवि को भी स्वीकृत है। मनुष्य की सीमा में रहकर अपनी रागिनी को—अपने प्रकाश को असीम सौन्दर्य में मिला देने की कुशलता में रवीन्द्रनाथ अद्वितीय हैं । वे प्रत्येक वस्तु के साथ अपने हृदय को मिलाकर उसकी महत्ता से अपने को महान करना जिस तरह जानते हैं, उसी तरह अपने हृदय की भाषा से संसार के हृदय को मुग्ध कर लेना भी उन्हें मालूम है। उनके इस संगीत में उदास स्वर बज रहा है, यह उदासीनता शरतकाल के स्वप्न-सुन्दर प्रभात को देखकर आती है। इस उदासी में प्राणों की खोयी हुई वस्तु का अभाव है और उसी के लिए मन आकाश के एक अनजाने छोड़ में उड़ जाता है । इस उक्ति की स्वाभाविक छटा देखने ही लायक है। महाकवि के मन की ही बात नहीं, मनुष्यमात्र के मन में जब उदासीनता की घटा घिर आती है, तब उस उच्चाटन के साथ वह न जाने किस एक अजाने देश में अपने हृदय को छोड़कर उड़ता फिरता है । इस भाव को महाकवि की भाषा किस अद्भुत ढंग से अदा करती है, देखिए—

"कोन कुसुमेर आशे, कोन फुल वासे,
सुनील आकाशे मन धाय ।"

आसमान में जिसके लिए मन चक्कर काट रहा है, कवि को उसका परिचय नहीं मालूम । यह बात उसे आगे चलकर मालूम होती है—वह अपनी उदासीनता का कारण समझता है। परन्तु समझने से पहले मन हरेक वस्तु को पकड़कर, उसे उलट-पुलट कर देखता है, और उसे अपनी उदासीनता का कारण न समझकर छोड़ देता है, जैसा स्वभावतः किसी भूले हुए आदमी की याद करते समय लोग किया करते हैं—जो नाम या जो स्वरूप मन में आता है वे प्राचीन स्मृति के सामने पेश करते और वहाँ से असम्मति की सूचना पाकर उसे छोड़ दूसरा नाम या दूसरा स्वरूप पेश करते हैं, जब तक स्मृति किसी नाम या स्वरूप को स्वीकृत नहीं करती तब तक इजलास के गवाहों की तरह नाम या रूप पेश होते रहते हैं । इस तरह की पेशी महाकवि के उदास मन में भी होती है, वे कहते हैं—

"आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई
जीवन विफल हय गो
ताइ चारि दिके चाय मन केंदे गाय,
'ए नहे, ए नहे, नय गो'।"

जिसके लिए मन रो रहा है, उसकी सम्पूर्ण स्मृति महाकवि भूले हुए हैं—मन के सामने जिस किसी को वे पेश करते हैं उसके लिए मन कह देता है, "यह नहीं है, मैं इसे नहीं चाहता।" इसके पश्चात् महाकवि को मचले हुए मन की प्रार्थना-मूर्ति याद आती है और अपूर्व कवित्व में भरकर वे अपनी भाषा की तूलिका द्वारा उसे चित्रित करते हैं—

"कोन स्वपनेर देशे आछे एलो केशे
कोन छायामयी अमराय।
आजि कोन उपवने बिरह-वेदने
आमारि कारणें केंदे जाय।"

कवि की प्रेयसी वह खुले बालोंवाली किसी छायामयी अमरपुरी की रहनेवाली है। अब इतनी देरबाद उसकी याद आयी। साथ ही महाकवि अपने उच्चाटन की मदिरा उसकी भी आँखों में छलकती हुई देखते हैं और स्वर उसके भी कण्ठ से सुनते हैं। वह वहाँ किसी उद्यान में विरह-व्यथा से भरी हुई आती है और उनके लिए रोकर चली जाती है।

उस विरह-विधुर-सुरपुरवासिनी की याद करके महाकवि को भाषा के धागे में संगीत पिरोना बिलकुल भूल जाता है, वे इससे उदास हो जाते हैं, क्योंकि जिन चरणों में संगीत की लड़ी उपहार के रूप में रखी जाती है, वे उनसे बहुत दूर हैं—वहाँ तक उनकी पहुँच किसी तरह नहीं हो सकती, इस हताश भाव की ध्वनि में संगीत भी गूँजकर समाप्त हो जाता है।—व्यथा के बादल कुछ बूँद टपकाकर जलती हुई जमीन को और जला जाते हैं।

(संगीत—4)

"लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा
देखि नाइ कभु देखि नाइ एमन तरणी बावा ।।1।।
कोन् सागरेर पार होते आने
कोन सुदूरेर धन।
भेसे जेते चाय मन;
फेले जेते चाय एई किनाराय
सब चावा सब पावा ।।2।।
पिछने झरिछे झर-झर जल
गुरु गुरु देया डाके,
मुखे एसे पड़े अरुण किरण
छिन्न मेघेर फाँके।

ओगो काण्डारी, केगो तुमी, कार
हासी कान्नार धन।
भेवे मरे मोर मन,
कोन सुरे आजि बाँधिबे यन्त्र
कि मन्त्र हवे गावा ॥3॥"

अर्थ : "मेरे इस साफ और सफेद पाल में हवा के मधुर-मन्द झोंके लग रहे हैं, इस तरह से नाव का खेना मैंने कभी नहीं देखा ॥1॥ भला किस समुद्र के पार से—किस दूर देश का धन इसमें खिंचा आ रहा है ?—मेरा मन वहाँ बहकर पहुँच जाना चाहता है, और साथ ही,—इधर—इस किनारे पर सारी प्रार्थना और सम्पूर्ण प्राप्तियों को छोड़ जाना चाहता है ॥2॥ पीछे झर-झर स्वर से जल झर रहा है, मेघों में गर्जना हो रही है, और कभी छिन्न बादलों के छेद से सूर्य की किरणें मेरे मुख पर आ गिरती हैं। ए नाविक, तुम कौन हो ?—किसके हास्य और आँसुओं के धन हो ? मेरा मन सोच-सोचकर रह जाता है; तुम आज किस स्वर में बाजा मिलाओगे—कौन-सा मन्त्र आज गाया जायगा ? ॥3॥"

(संगीत—5)

"यामिनी ना जेते जागाले ना केनो,
बेला होलो मरि लाजे ॥1॥
सरमे जड़ित चरणे केमने
चलिब पथेर माझे ॥2॥
आलोक परशे सरमे मरिया
देख लो शेफाली पड़िछे झरिया,
कोन मते आछे पराण धरिया
कामिनी शिथिल साजे ॥3॥
निबिया बाँचिलो निशार प्रदीप
उषार बातास लागी;
रजनीर शशी गगनेर कोने
लुकाय शरण माँगी !
पाखी डाकी बले—गेल विभावरी;
वधू चले जले लोइया गागरी,
आमी ओ आकुल कवरी आवरी
केमने जाइबो काजे ॥4॥"

अर्थ : रात बीतने से पहले तुमने मुझे क्यों नहीं जगाया ? दिन चढ़ गया—मैं लाजों मर रही हूँ ॥1॥ भला बताओ तो—इस हालत में जबकि मारे लज्जा के मेरे पैर जकड़-से गये हैं, मैं रास्ता कैसे चलूं ? ॥2॥ आलोक के स्पर्श मात्र से मारे लज्जा के संकुचित होकर—वह देखो—शेफालिकाएँ (हरसिंगार के फूल) झड़ी जा रही हैं, और इधर मेरी जो दशा है—क्या कहूँ, अपनी इस शिथिल सज्जा को देख किसी तरह हृदय को सँभाले हुए हूँ ॥3॥ उषा की वायु से बुझकर बेचारे

निशा के प्रदीप की जान बची,—उधर रात का चाँद आसमान के कोने में शरण लेकर छिप रहा है, पक्षी पुकारकर कहते हैं—"रात बीत गयी," बगल में घड़ा दबाये हुए बहुएँ पानी भरने के लिए जा रही हैं,—इस समय मैं खुली हुई अपनी व्याकुल वेणी को ढक रही हूँ, भला बताओ तो—कैसे मैं इस समय काम करने के लिए बाहर निकलूँ ?"

(संगीत—6)

"हेला फेला सारा बेला ए की खेला आपन सने ॥ 1 ॥
एई बातासे फूलेर वासे मुख खानी कार पड़े मने ॥ 2 ॥
आँखिर काछे बेड़ाय भासि,
के जाने गो काहार हासि,
दुटी फोंटा नयन सलिल रेखे जाय एई नयन कोने ॥ 3 ॥
कोन छायाते कोन उदासी
दूरे बाजाय अलस बाँशी,
मने हय कार मनेर वेदना केंदे बेड़ाय बाँसीर गाने ॥ 4 ॥
सारा दिन गाँथी गान,
कारे चाहि गाहे प्राण,
तरु तले छायार मतन बसे आछी फुल बने ॥ 5 ॥"

अर्थ : "सब समय हृदय में विरक्त के ही भाव बने रहते हैं, यह अपने साथ खेल हो रहा है ? ॥1॥ इस बातास में, फूलों की सुबास के साथ जिसकी याद आती है, वह मुख किसका है ? ॥2॥ आँखों के आगे वह तैरती फिरनेवाली किसकी हँसी है जो दो बूँद आँसू इन आँखों के कोने में रख जाया करती है ? ॥3 ॥ वह उदासीन कौन है—दूर न जाने किस छाया में अलस भाव से बंसी बजा रहा है, जी में आता है—हो न हो यह किसी के मन की वेदना होगी—बाँसुरी के गीत के साथ रोती फिर रही है ॥4॥ दिन-भर मैं संगीत की लड़ियाँ गूँथा करता हूँ,—क्यों—किसे मेरा हृदय चाहता है ? किसके लिए गाया करता है ? —इस पेड़ के नीचे छाया की तरह मैं किसके लिए फुलवाड़ी में बैठा हुआ हूँ ? ॥ 5 ॥"

(संगीत—7)

"आमाय बाँधबे यदि काजेर डोरे
केन पागल कर एमन कोरे ? ॥ 1 ॥
बातास आने केन जानी
कोन गगनेर गोपन वाणी
पराण खानी देय जे भरे ॥ 2 ॥
(पागल करो एमन कोरे ॥)
सोनार आलो केमने हे
रक्ते नाचे सकल देहे ॥ 3 ॥

कारे पाठाओ क्षणे-क्षणे
आमार खोला वातायने,
सकल हृदय लये जे हरे।
पागल करे एमन कोरे ॥ 4 ॥"

अर्थ : "मुझे अगर तुम कार्यों के धागों से बाँधना चाहते हो, तो इस तरह मुझे पागल क्यों कर रहे हो ? ॥1॥ मैं भला क्या जानूँ कि क्यों बातास वह एक किस आकाश की गुप्त वाणी ले आती है, फिर मेरे इन प्राणों को पूर्ण कर देती है ॥2॥ न जाने क्यों, किस तरह स्वर्ण-रश्मियाँ खून के साथ मेरे तमाम देह में नाचती रहती है ॥3॥ तुम किसे बार-बार मेरे खुले हुए झरोखे के पास भेजते हो ? वह मेरे सम्पूर्ण हृदय को हर लेता और इस तरह मुझे पागल कर देता है ॥4॥"

(संगीत—8)

"तोमारि रागिणी जीवन-कुञ्जे
बाजे जेन सदा बाजे गो ॥ 1 ॥
तोमारि आसन हृदय-पद्मे
राज जेनो सदा राजे गो ॥ 2 ॥
तव नन्दन-गन्ध-मोदित
फिरि सुन्दर भुवने,
तव पद-रेणु माखि लये तनु
साजे जेन सदा साजे गो ॥ 3 ॥
सब विद्वेष दूरे जाय जेन
तव मङ्गल-मन्त्रे
विकाशे माधुरी हृदय बाहिरे
तब संगीत-छंदे ! ॥ 4 ॥
तव निर्मल निरव हास्य
हेरी अम्बर व्यापिया,
तव गौरवे सकल गर्व
लाजे जेन सदा लाजे गो ॥ 5 ॥"

अर्थ : "मेरे प्राणों के कुंज में मानो सदा तुम्हारी ही रागिनी बज रही है ॥1॥ मेरे हृदय के पद्म पर मानो सदा तुम्हारा ही आसन अवस्थित है ॥2॥ नन्दन-वन की सुगन्ध से मोदमग्न तुम्हारे सुन्दर भवन में मैं विचरण करता हूँ, ऐसा करो कि मेरा शरीर तुम्हारे चरणों की रेणु धारण करके सजा हुआ रहे ॥3॥ सब द्वेष तुम्हारे मंगल-मन्त्र के प्रभाव से दूर हो जाय, तुम्हारे संगीत और छन्दों के द्वारा तुम्हारी माधुरी मेरे हृदय में और बाहर विकसित हो रहे ॥4॥ तुम्हारे निर्मल और नीरव हास्य को मैं सम्पूर्ण आकाश में फैला हुआ देखूँ, इस तरह तुम्हारे गौरव के आगे मेरा सारा गर्व लज्जित हो जाय ॥5॥"

(संगीत—9)

"सकल गर्व दूर करि दिबो
तोमार गर्व छाड़िबो ना ।। 1 ।।
सबारे डाकिया कहिब, जे दिन
पाब तव पदरेणु-कणा ।। 2 ।।
तव आह्वान आसिबे जखन
से कथा केमने करिब गोपन ?
सकल वाक्ये सकल कर्मे
प्रकाशिवे तव आराधना ।। 3 ।।
अत मान आमि पेयेछि जे काजे
से दिन सकलि जाबे दूरे
शुधु तव मान देह सने मोर
बाजिया उठिबे एक सुरे !
पथेर पथिक सेओ देखे जावे
तोमार बारता मोर मुख भावे,
भव संसार वातायन-तले
वोसे रबो जबे आनमना ।। 4 ।।"

अर्थ : "मैं अपना और सब गर्व दूर कर दूँगा, परन्तु तुम्हारे लिए मुझे जो गर्व है, उसे मैं कदापि न छोड़ूँगा ।।1।। सब लोगों को पुकारकर मैं कह दूँगा जिस दिन तुम्हारी चरणरेणु मुझे मिल जायगी (तुम्हारी कृपा के मिलते ही मैं दूसरों को पुकारकर उसका हाल उन्हें सुना दूँगा—तुम्हारी कृपा-प्राप्ति के लिए उनमें भी उत्साह भर दूँगा।) ।।2।। तुम्हारी पुकार जब मेरे पास आयेगी, तब उसे मैं कैसे गुप्त रख सकूँगा ?—मेरे सब वाक्यों और सम्पूर्ण कार्यों से तुम्हारी पूजा प्रकट होगी ।।3।। मेरे कार्य से मुझे जो सम्मान मिला है, उस दिन इस तरह के सब सम्मान दूर हो जायँगे, एकमात्र तुम्हारा मान मेरे शरीर और मन में एक स्वर से बजने लगेगा; चाहे रास्ते का पथिक क्यों न हो, पर वह भी मेरे मुख के भाव से तुम्हारा सन्देश देख जायगा, जब इस संसाररूपी झरोखे के नीचे मैं अन-मना हुआ बैठा रहूँगा ।।4।।"

(संगीत—10)

"अल्प लइया थाकि ताइ मोर
जाहा जाय ताहा जाय ।। 1 ।।
कणाटुकु यदि हाराय ता लये
प्राण करे हाय हाय ।। 2 ।।
नदी-तट सम केवलि बृथाई
प्रवाह आँकड़ि राखिवारे चाई,
एके एके बुके आघात करिया
ढेउ गुलि कोथा धाय ।। 3 ।।

जाहा जाय आर जाहा किछु थाके
सब यदि दी सपिया तोमाके
तबे नाहीं क्षय, सबि जेगे रय
तव महा महिमाय ॥ 4 ॥
तोमाते रयेछे कतो शशीभानु,
कभु ना हाराय अणुपारमाणु
आमार क्षुद्र हाराधन गुलि
रबे ना कि तव पाय ? ॥ 5 ॥"

अर्थ : "मैं थोड़ी-सी वस्तु समेटकर रहता हूँ, इसलिए मेरा जो कुछ जाता है वह सदा के लिए चला जाता है ॥1॥ एक कण भी अगर खो जाता है तो जी उसके लिए हाय-हाय करने लगता है ॥2॥ नदी के कगारों की तरह सदा प्रवाह को पकड़ रखने की मैं वृथा ही चेष्टा किया करता हूँ; एक-एक तरंग आती है और मेरे हृदय को धक्का मारकर न जाने कहाँ चली जाती है ! ॥3॥ जो कुछ खो जाता है और जो कुछ रह जाता है, वे सब अगर मैं तुम्हें सौंप दूँ, तो इनका क्षय न हो; सब तुम्हारी महान् महिमा में जगते रहें ॥4॥ तुममें कितने ही सूर्य और कितने ही चन्द्र हैं, कभी एक कण या परमाणु भी नहीं खो जाता; क्या मेरी खोयी हुई क्षुद्र चीजें तुम्हारे आश्रम में न रहेंगी ? ॥5॥"

महाकवि रवीन्द्रनाथ के भक्ति-संगीत की बंगला में बड़ी तारीफ है । बड़े-बड़े समालोचक तो यहाँ तक कहते हैं कि संगीतकाव्य लिखकर अपने इष्टदेव को सन्तुष्ट करनेवाले बंगाल के प्राचीन कवियों में रवीन्द्रनाथ का स्थान बहुत ऊँचा है, कितने ही भक्त कवियों के संगीत तो बिलकुल रूखे हैं, उनमें सत्य चाहे जितना भरा हो—दर्शन की अकाट्य युक्ति से उनकी लड़ियों में चाहे जितनी मजबूती ले आयी गयी हो, परन्तु हृदय को हरनेवाली कविता की उसमें कहीं बू भी नहीं है । रवीन्द्रनाथ की लड़ियाँ भक्ति के अमर सरोवर में कविता की अमृत लहरियाँ हैं । हृदय की जो भाषा अपनी वेदना से उबलकर अपने इष्टदेव के पास पहुँचती है, उसमें एक दूसरी ही आकर्षणशक्ति रहती है । रवीन्द्रनाथ हृदय की भाषा के नायक हैं । उनकी आवेदनभरी भाषा जिस ढंग से निकलती है, जिस भाव से भर-कर इष्टदेव के मन्दिर-द्वार पर खड़ी होती है, उसमें एक सच्चे हृदय के साफ बिम्ब के सिवा कुछ नहीं देख पड़ता ।

इस संगीत के भी वही चित्र हैं जो रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"आमि सकल गरब दूर करि दिब
तोमार गरब छाड़िब ना ।"

उनके इस निवेदन में हरएक पाठक की अन्तरात्मा उनके हृदय का स्वच्छ मुकुर और उसमें खुले हुए निष्काम भाव को प्रत्यक्ष करती है । "मैं सब प्रकार का गर्व छोड़ दूंगा, परन्तु तुम्हारा गर्व मुझसे न छोड़ा जायगा," इस उक्ति में इष्ट के प्रति --भक्ति की कितनी ममत्वमयी प्रीति है ! —पढ़नेवाले का हृदय बरबस उसे अपनापन दे डालता है । रवीन्द्रनाथ ईश्वर की कृपा-दृष्टि स्वयं नहीं ले लेना चाहते, वे दूसरों को उनकी कृपा का पात्र बनाना चाहते हैं । इसलिए वे कहते हैं,

"जिस दिन मुझे तुम्हारी कृपा मिलेगी, उस दिन और को भी पुकारकर तुम्हारी कृपा का समाचार सुना दूँगा।" इस वाक्य में रवीन्द्रनाथ के हृदय की विशालता जाहिर है। इसकी पुष्टि में वे एक युक्ति भी देते हैं। वह यह कि "जब मेरे लिए तुम्हारी पुकार होगी तब उसे मैं कैसे छिपाऊँगा ?—मेरी बातें और मेरे कार्य खुद तुम्हारी आराधना प्रकट कर देंगे।" प्रभु की कृपा-प्राप्ति का संवाद दूसरों को कैसी विचित्र युक्ति से दिया जा रहा है।

●●●

स्फुट निबन्ध

तुलसीकृत रामायण में अद्वैत तत्त्व

हिन्दी का सौभाग्य है कि उसके काव्यकुंज की तुलसी-मंजरी की जैसी सुगन्ध संसार की साहित्य-वाटिका में शायद कहीं नहीं। कवि-कृतियों में गोस्वामी तुलसीदासजी कृत रामायण का स्थान कितना ऊँचा है, इसकी आलोचना, उचित रीति पर, अभी तक नहीं की गयी। जो कुछ समालोचना, विद्वानों की कृपा से, देखने में आती है—वह पर्याप्त तो क्या, नहीं के बराबर है। हमें दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी की उन्नत अवस्था में सिद्ध-समालोचक और नामी लेखक रामायण की योग्यता का प्रसार अवश्य करेंगे। वे इस अमोल रत्न का प्रकाश और-और भाषाओं पर भी डालने का प्रयत्न करेंगे। रामायण के अर्थ-गाम्भीर्य, भाव-माधुर्य, श्रुति-लालित्य और शब्द-योजना आदि काव्यगुणों का ज्ञान, रामायण की श्रेष्ठता के अनुरूप, उसी को होगा जो स्वयं अच्छा कवि हो, अच्छा समालोचक हो, ईश्वरानुरागी हो और भव-बन्धनों से अलग हो। जिनका मन संसार के कुरुचि-मार्ग में ही भ्रमण करता है — वह शिष्य जैसे, रामायण से शिक्षा भले ही ले किन्तु समालोचना का उसे कोई अधिकार नहीं, उसमें वह योग्यता है ही नहीं। गुसाईंजी के जिस मन की मूर्ति रामायण है, उसकी आलोचना वही कर सकता है जो मनोरत्न का पक्का जौहरी हो। हमारा निवेदन है, देश के गुरु स्थानीय संन्यासी देवता इस ओर ध्यान दें।

रामायण के काव्यगुणों पर विचार-विश्लेषण करने के लिए हमने लेखनी नहीं उठायी। एक तो हमारा विषय ही दूसरा है; दूसरे, वह दुस्साहस भी हममें कम है। रामायण की अतुलनीयता पर हमारा विश्वास इतना दृढ़ है कि युक्ति जब उसके लालित्य की थाह लेने का—उसके माधुर्य को ससीम कर दिखाने का—बीड़ा उठाती है तब विश्वास सस्नेह उससे कहता है, 'बहन! ऐसा साहस मत करो। तुम्हारा मनस्काम व्यर्थ होगा। रामायण के भावपूर्ण शब्दों के सुदूर उद्गम स्थान तक तुम्हारी पहुँच नहीं।' अस्तु।

द्वैतवादियों की दृष्टि में यद्यपि रामायण एक द्वैतभाव संकुल ग्रन्थ है—यद्यपि उसमें भगवान श्रीरामचन्द्रजी के लीला-महत्त्व का ही कीर्तन अधिक किया गया है—संसार का सुधार करने के लिए यद्यपि द्वैतवाद की जन्मभूमि गृहस्थाश्रम के ही चरित्र-चित्रण में अधिक निपुणता दिखायी गयी है तो भी श्रीमद्गोस्वामीजी का लक्ष्य है अद्वैत ब्रह्म। गृही मनुष्यों को द्वैतभूमि से—सीमा से खींचकर अद्वैत-

भूमि पर—असीम और अखण्ड सत्ता पर स्थापित कर देने के लिए तथा धनवान और भौतिक शक्ति से उद्दण्ड राजों-महाराजों के सामने राजनीति का आदर्श रखने के लिए—भोग की निस्सारता और त्याग की महत्ता दिखाने के लिए, सुखी मनुष्य भी कहाँ तक और कैसे कठोर कर्म कर सकता है—इसका उपदेश करने के लिए भगवान श्रीरामचन्द्रजी का अवतार हुआ, यही चित्र गुसाईंजी ने रामायण में खींचा है। परन्तु अपने अद्वैत लक्ष्य का स्पष्टीकरण उन्होंने प्रायः हर जगह किया है। प्रमाणस्वरूप दस-पाँच पंक्तियों का इस लेख में हम उद्धरण करते हैं।

रामायण की भूमिका लिखते हुए गुसाईंजी निर्गुण ब्रह्म—अद्वैत भूमि से ही द्वैतभूमि पर उतरते हैं। रामायण की भूमिका रामचरितमानस-सरोवर से शुरू होती है। इस सरोवर में उतरने के चार घाट हैं—'घाट मनोहर चारि'। ये चारों घाट गुसाईंजी के कल्पित घाट नहीं हैं; और न कविता की पदपूर्ति के ही लिए गुसाईंजी ने 'चारि' शब्द बैठा दिया है। ये चारों घाट वेद-निर्दिष्ट ईश्वर प्राप्ति के चारों मार्ग हैं—ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग। इन्हीं चारों में से किसी एक के सहारे मनुष्य सरोवर में उतर सकता है वा ईश्वर-दर्शन कर सकता है। गोस्वामीजी की उदारता तो देखिए। वे किसी एक ही मार्ग का पक्ष नहीं पकड़ते। वे तो कहते हैं, इन चारों में से जिस रास्ते से तुम्हारी इच्छा हो, उसी से चलकर तुम ईश्वर के दर्शन कर सकते हो। उनका न तो कोई घाट संगमरमर पत्थर का बना हुआ है अतएव सुगम, और न कोई घाट टूटा, पुराना और बबूल के काँटों से रुँधा हुआ अतएव दुर्गम। आगे आप लिखते हैं—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।।
रघुपति महिमा अगुण अबाधा। बरनव सोइ वर वारि अगाधा।।

घाट तो चार गुसाईंजी ने बनाये पर सीढ़ियों का सालंकार वर्णन क्या ऐसे कलाकुशल कवि छोड़ देते? नहीं, उन्होंने 'सप्त प्रबन्ध' से ही सीढ़ियों के गहरे अर्थ की ओर संकेत किया है। वे सात सीढ़ियाँ क्या हैं? ये हैं योगियों के सात चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। मूलाधार से चलकर अन्यान्य चक्रों को पार करती हुई कुण्डलिनी शक्ति जब सहस्रार में लीन हो जाती है तभी साधकजन ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। इस गुप्त भेद को खोलने के लिए गुसाईंजी 'ज्ञान नयन' का स्वागत करते हैं। सातवें सोपान पर से जिस वारि में सिद्धजन गोते लगाते हैं वह सगुण सलिल नहीं किन्तु वह श्रीरामचन्द्रजी का शुद्ध बुद्ध, तथा मुक्त-स्वरूप, अगुण, अथाह वा ब्रह्ममय अद्वैतवारि है। पूर्वोक्त चौपाई के पीछे गोस्वामीजी सगुण ईश्वर स्वीकार करते हैं—'राम सीय यश सलिल सुधा सम। उपमा बीचि विलास मनोरम'; जहाँ 'बीचि' पैदा हुई—अद्वैत ब्रह्म-सरोवर पर तरंगें उठीं—आकार बना कि साकार का समर्थन हुआ।

बनवास के समय शिंशुपा वृक्ष के नीचे कुश और पत्तों के आसन पर श्रीरामचन्द्रजी और जानकीजी को सोते हुए देखकर द्वैतभाव से विकल विह्वल निषाद के विलाप का गुसाईंजी मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन करते हैं—

तन पुलकित लोचन जल बहई। बचन सप्रेम लषण सन कहई।।
मणिमय रचित चारु चौबारे। जनु रति पति निज हाथ सँवारे।।
शुचि सुविचित्र सुभोगमय, सुमन सुगन्ध सुवास।
पलँग मंजु मणिदीप जहँ, सब विधि सकल सुपास।।
विविध वसन उपधान तुराई। क्षीर फेन मृदु मंजु सुहाई।।
तहँ सियराम शयन निशि करहीं। निज छवि रति मनोज मद हरहीं।।
पिता जनक जग विदित प्रभाऊ। ससुर सुरेश सखा रघुराऊ।।
रामचन्द्र पति सो वैदेही। महि सोवत विधि वाम न केही।।

दुःख की अधिकता के कारण निषाद के चित्त पर द्वैतभाव का प्रभाव खूब पड़ा था। द्वैतभाव तभी दूर होता है जब अद्वैतभाव का बोध हो। यह स्वाभाविक बात है कि जब किसी का लड़का मर जाता है तो पास-पड़ोस के लोग लड़के के बाप को संसार की नश्वरता के दृश्य दिखाते—गाँव में जिन-जिन लोगों के लड़के अकाल में ही काल के घर चले गये हैं, उनका हाल कहते हैं। यदि पड़ोसी दुःख में सहानुभूति की मात्रा बढ़ा दे तो दुःख कभी घटे ही नहीं। निषाद के विषाद में श्री लक्ष्मणजी ने भी यह नीति नहीं छोड़ी। परन्तु पड़ोसियों की तरह लक्ष्मणजी के 'मुँह में कुछ और पेट में कुछ और' नहीं था। उन्होंने अद्वैत तत्त्व का अनुभव करते हुए ही निषाद के दुःखमय द्वैतभाव को दूर किया। लक्ष्मणजी समझाते हैं—

बोले लषण सरल मृदु बानी। ज्ञान विराग भक्ति रस सानी।।
कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता।।
योग वियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।।
जनम मरण जहँ लगि जग जालू। सम्पति विपति कर्म अरु कालू।।
धरणि धाम धन पुर परिवारू। स्वर्ग नर्क जहँ लगि व्यवहारू।।
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।।
सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जग जोय।।
अस विचारि नहिं कीजिय रोषू। बादि काहु जनि दीजिय दोषू।।
मोह निशा सब सोवनहारा। देखहिं स्वप्न अलीक अपारा।।
यहि जग यामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।
जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।।
होय विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुवीर चरण अनुरागा।।
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।।
सकल विकाररहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा।।

इन्हीं पंक्तियों में धर्म की कुल कथा निषाद को लक्ष्मणजी ने सुना दी। हिन्दुओं के सारे शास्त्र, वेद और वेदान्त बस इसी के आधार पर खड़े हैं। लक्ष्मणजी ने समझाया—'यह संसार कुछ नहीं है। इसका अस्तित्व है ही नहीं। जैसे स्वप्न की कोई जड़ नहीं वैसे ही यह संसार भी निर्मूल है। इसमें परमार्थ नहीं है। इससे विरक्त हो जाना चाहिए। अन्यथा हम पूर्ण ब्रह्म श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम के अधिकारी न हो सकेंगे। सर्वत्र उन्हीं की सत्ता विराजमान है। वे ही विकाररहित, भेद-

रहित और नित्य वस्तु हैं।' वही अद्वैत तत्त्व है।

ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही हो जाता है—

सो जानै जिहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई।

यह अवस्था जब तक प्राप्त न हो तब तक साधक माया-समुद्र में तैर रहा है किन्तु पार नहीं जा सकता। मन महाराज जब तक नहीं मरते तब तक माया पिण्ड नहीं छोड़ती। जहाँ तक मन की दौड़ है, वहाँ तक माया का राज्य है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।

मन बिना कुछ कल्पना किये नहीं रह सकता। वह चाहे जो कुछ कल्पना करे—वह कल्पना चाहे जैसी हो—उसमें सत्य उतना ही है जितना स्वप्न में है। अच्छी कल्पना में विकार की मात्रा भले ही सहायक हो—किन्तु है वह केवल सविकार स्वप्न। ब्रह्म समुद्र में मनोनद जब लीन हो जाता है तभी साधक को एक-मात्र सत्य—अद्वैत ब्रह्म का बोध होता है। वह सत्य उसके पास ही है। उसकी भावना उसे ऊँच-नीच दिखाती, सत्य से उसे दूर कर देती है—**सुधा समुद्र समीप विहाई। मृग जल निरखि मरहु कत धाई।** भगवान श्रीरामचन्द्रजी मनुष्यों को अद्वैत सत्य पर प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानो माया के राज्य में आये थे; 'माया मानुष रूपिणौ'—

विप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुण गो पार॥

महर्षि वाल्मीकि वेदविद् ब्रह्मज्ञ थे। उनके निकट संसार का रहस्य छिपा नहीं था। उनकी माया की ग्रन्थियाँ खुल गयी थीं। उन्हें त्रिकाल का भी हाल मालूम था। महर्षि ने भगवान श्रीरामचन्द्रजी में ब्रह्म का पूर्ण प्रकाश देखा था। अपने आश्रम में श्रीरामचन्द्रजी को देखकर उनके स्वरूप के विषय में वे कहते हैं—

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि वर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति जिहि निगम कह॥

कुटी बनाने के लिए श्रीरामचन्द्रजी महर्षि से किसी अच्छे स्थान का पता पूछते हैं। ऋषिवर का पहला उत्तर बड़ा ही मनोहर और अद्वैत भावोद्दीपक है—

पूंछेहु मोहिं रहौं कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होउ तहँ देहु कहि, तुमहिं बतावों ठाउँ॥

यही है ब्रह्मभाव, सर्वव्यापकता और अद्वैत तत्त्व।

नारद और श्रीरामचन्द्रजी के वार्तालाप में श्रीरामचन्द्रजी के विकार राहित्य का गुसाईंजी ने कैसा सुन्दर चित्रण किया है! जानकीजी के वियोग से श्रीरामचन्द्रजी को गुसाईंजी ने पहले रुलाया तो जरूर है पर उसी समय नारद का प्रसंग छेड़ श्रीरामचन्द्रजी के विकार राहित्य का भी दृश्य दिखा दिया है। एक विरक्त भक्त को आसक्ति की मूर्ति स्त्री कहाँ तक पतित कर देती है उसका उप-देश नारद को वही रामचन्द्रजी करते हैं जो कुछ पहले, स्त्री वियोग-विकल हो रहे थे। इस प्रसंग से श्रीरामचन्द्रजी का निर्विकार ब्रह्म स्वभाव प्रकट हो जाता है।

इस विषय में श्री शिवजी की ही समालोचना मनन योग्य है। शिवजी कहते हैं—

गुणातीत सचराचर स्वामी। उमा राम सब अन्तरयामी।।
कामिन की दीनता दिखाई। धीरन के मन विरति दृढ़ाई।।
क्रोध मनोज लाभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया।।
सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जा पर होय सो नट अनुकूला।।
उमा कहौं मैं अनुभव अपना। हरिको भजन सत्य जग सपना।।

रामायण में अद्वैतभाव भरा हुआ है। इस पर अधिक लिखकर लेख का कलेवर बढ़ाना हम अनावश्यक समझते हैं। हाँ, जरूरत पड़ने पर, फिर कभी, इसी या तो किसी दूसरे विषय पर कुछ लिखने की आशा हम अवश्य रखते हैं। रामायण के ज्ञाता पाठक रामायण के अद्वैत तत्त्व पर ध्यान देंगे, हमें पूर्ण विश्वास है—

व्यापक ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ एक भगवन्ता।।
सोइ सच्चिदानन्द घनश्यामा। अज विज्ञान रूप गुणधामा।।
अगुण अदम्भ गिरा गोतीता। समदर्शी अनवद्य अजीता।।
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह निरुज अविनासी।।
इहाँ मोह कर कारण नाहीं। रवि सम्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।।

भक्त हेतु भगवान प्रभु, राम धरेहु तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।।
यथा अनेकन वेश धरि, नृत्य करै नट कोय।
जोइ जोइ भाव दिखावै, व्यापु न होय न सोय।।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर आश्विन, संवत् 1979 (वि.) (सितम्बर-अक्तूबर, 1922)। **संग्रह** में संकलित]

ज्ञान और भक्ति पर गोस्वामी तुलसीदास

अधिकांश मनुष्यों के विचार ये हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया है। परन्तु बात ऐसी नहीं। गुसाइंजी ने तात्कालिक समाज की रुचि के ख्याल से शब्दों के बाहरी अर्थ द्वारा भक्ति की प्रधानता भले ही दिखलायी हो परन्तु उनका भीतरी भाव ज्ञान और भक्ति का ऐक्य है। यह भाव उन्हीं के शब्दों से प्रकट हो जाता है, इसका उल्लेख हम दस-पाँच पंक्तियों में करते हैं।

गोस्वामीजी सिद्ध पुरुष थे। इसके समर्थन के लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं, यह सर्वमान्य है। साथ ही, यह भी स्वीकार्य है कि सिद्ध वही होता है या

वही कहलाता है जिसने मनुष्य-जीवन के वेद-सिद्ध सिद्धान्त को अपनी साधना और प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा प्राप्त कर लिया है, जिसने जीवन और मृत्यु के प्रश्न को हल कर लिया है, जिसे मानव-जीवन की जटिल-से-जटिल हरएक समस्या का सामना करना पड़ा और अपने साधन-सामर्थ्य से उसके रहस्य का भेद समझना पड़ा है; कदाचित यही कारण है कि संसार के सभी सभ्य समाज सिद्ध महात्माओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उनके प्रदर्शित लक्ष्य को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इस दृष्टि से हम भारत के तीन सौ वर्ष पीछे के समाज का हाल किसी इतिहासकार के ग्रन्थ की अपेक्षा महात्माओं द्वारा लिखी गयी पुस्तकों में और भी विशद रूप से समझ सकते हैं। गोस्वामीजी ने कलियुग-वर्णन में जो चित्र खींचा है वह उन्हीं के समय का चित्र है। उस समय उन्होंने समाज के मनुष्यों की जैसी योग्यता देखी थी, तदनुसार ही उन्हें धार्मिक उपदेश दिया, उनके मस्तिष्क पर कोई गुरु-भार उपदेश नहीं रख दिया कि वे दब जायँ या न समझ सकें अथवा अपने मस्तिष्क में उसकी धारणा या रक्षा न कर सकें।

यही कारण है कि गुसाईंजी ने रामायण के उत्तरकाण्ड में और अन्यत्र भी भक्ति को प्रधान माना है। परन्तु वही भक्ति का यह सूत्र—

विरति-चर्म असि-ज्ञान-मद, लोभ-मोह-रिपु मारि।
जय पायी सोइ हरि भगति, मुनिवर कहहिं विचारि।।

लिखते हुए ज्ञान की आवश्यकता को नहीं छोड़ सके। और भी—

जाने बिन न होय परतीती।
बिन परतीति होय नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई।

यहाँ तो ज्ञान ही भक्ति-पथ का प्रथम साधन हो रहा है। जहाँ आपने यह लिखा है—

सुकृति चारिउ अनघ उदारा।
ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा।।

वहाँ ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है। इस सर्वधर्म-समन्वय के युग में गुसाईंजी की यह उक्ति—'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा' मान्य है। दोनों का एकीकरण करके भी आपने जो यह लिखकर कि 'नाथ मुनीश कहहिं कछु अन्तर' प्रसंग बढ़ाया है वह केवल उस समय के समाज के लोगों को शिक्षा देने के लिए, अन्यथा गुसाईंजी में यह भेद-भाव कब रह सकता है जबकि वे सिद्ध महात्मा थे?

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर ज्येष्ठ, संवत् 1980 (वि.) (मई-जून, 1923)। **चयन** में संकलित]

एक ही बात को लोग हजार ढंग से कहते हैं। शायद इसीलिए कहा है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" एक ही प्रकार के शब्द किसी के मुँह से निकलकर कानों के परदे फाड़ डालते हैं, और किसी के मुँह से निकलकर कानों में अमृत बरसाते हैं। जिनके वचन-विन्यास में यह शक्ति होती है, जिनके शब्दों में मधुरता का यह स्वाद मिलता है, वे कवि कहे जाते हैं। कवि शब्दों को जोड़ते नहीं। उनके शब्द हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार होते हैं। आदि और अद्वितीय कवि वाल्मीकि की प्रथम कविता इसका प्रमाण है। कवियों में बनावट का लेश भी नहीं रहता। कृत्रिमता हो, तो वे अपने आसन से गिरा दिये जायँ; लोगों पर उनके वाक्यों का कुछ भी प्रभाव न पड़े। कवियों के हृदय-निर्गत कविता-रूपी उद्‌गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में पैठ या बैठ जाती है, प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता प्रायः वही सम्मति सच मानती है, जो कवि से प्राप्त होती है। इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएँ देखने को मिलती हैं, जिनका प्रवाह एक दूसरी ओर कवि ने ही फेरा, और जनता को तदनुकूल अपनी प्रगति का निर्णय करना स्वीकृत हुआ। जनता तो हृदय देखती है, हृदय की बात सुनती है, और हृदय की प्रेरणा से ही अपने कर्त्तव्य का निर्णय करती है। किरकिरे शब्दों की वह तत्काल थाह ले लेती है। सविकार भावों को तौलकर स्वभावतः जनसमूह पीछे हट जाता है। बढ़ता उस ओर है, जहाँ उसे सरस वाक्यों से विशाल हृदय की सूचना मिलती है। हृदय को तोड़कर कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

"उनकी गल-ध्वनि कर्ण में है कठिनता से पैठती;
अन्तःकरण की बात ही अन्तःकरण में बैठती।"

कितने ही ऐसे सहृदय कवि शाही जमाने के रत्न माने जाते हैं। उस समय गद्य का जन्म नहीं हुआ था। हृदय का उच्छ्‌वास कविता के रूप में ही निकलता था। उस समय कवि राजों-महाराजों के प्रभूत सम्मान के पात्र थे। देश में प्रतिभा का आदर था। महाकवि भूषण तो शिवाजी महाराज के दाहने हाथ ही थे। अनेक अन्य कविजन भी देसी नरेशों ही के नहीं, बादशाह तक के सभा-भूषण समझे जाते थे। समय का रुख जिस ओर होता है, जिस ओर चलने के लिए कवि की अन्तरात्मा उसे संकेत करती है, कवि को सफलता की आशा होती है, उसी ओर उसकी काव्य-प्रतिभा विकसित होती है। अतएव तत्कालीन कवियों का एक बड़ा सम्प्रदाय शृंगार-रस-सागर की तह तक पहुँचकर बचे-खुचे रत्न निकालने ही में व्यस्त रहा। हाँ, कुछ शृंगार-रस-विमुख कवि भी उस समय हो गये हैं। इन भक्त कवियों की कविताएँ प्रायः स्तुतियाँ या संगीत हैं। ये कवि 'एक पन्थ, दो काज' में लगे रहते थे। कविता भी करते थे, और इष्ट-देव को सन्तुष्ट रखते हुए अपना परकाल भी बनाते थे। किसी-किसी ने समय के सदुपयोग के खयाल से भक्ति-पूर्ण बड़े-बड़े ग्रन्थ तक लिख डाले हैं। उस समय की हिन्दी-कविता अपने

विषय की चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी । हम संकोच के साथ नहीं, निःसंकोच होकर कह सकते हैं कि भारत की किसी भी वर्तमान प्रान्तीय भाषा को कवित्व का वह दरजा अब तक नहीं मिला है ।

उस समय के कवि-समुदाय में गोस्वामी तुलसीदासजी श्रेष्ठ माने जाते हैं । जनता ने उनकी रचना—रामायण—का कितना आदर किया, यह प्रत्यक्ष है । यह बात निर्विवाद है कि आर्यावर्त के अधिकांश लोगों ने रामायण-निर्दिष्ट मार्ग को ही अपना मार्ग मान लिया । भारत का एक बहुत बड़ा भाग रामायणको अपना धर्मग्रन्थ समझने लगा । रामायण की चौपाइयाँ वेद-वाक्य हो गयीं । आज निरे मूर्ख भी, एक नहीं, दो नहीं, अनेकानेक चौपाइयों की आवृत्ति कर जाते हैं । भारत की वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान दीजिए, तो यह बात स्वतःसिद्ध सिद्धान्त के समान जान पड़ती है कि 'हिन्दू' हिन्दी, 'हिन्दुस्तान' का सबसे अधिक उपकार गोस्वामीजी ने ही किया है । अपढ़ जनता के मर्म-स्थान को मानो वह जान गये थे । उनकी अन्तर्दृष्टि के निकट मानो भारत के भविष्य का रहस्य खुल गया था । वह समाज-संचालन-क्रिया का पर्यवेक्षण करके समझ गये थे कि पतनोन्मुख हिन्दू-जाति को उन्नतिशील बनाना अभी दुःसाध्य ही नहीं, असाध्य है । उसका गिरना रोकना मानो उसे और भी गिराना है । यही कारण है, जो गोस्वामीजी ने समय की प्रतीक्षा की, और भावी सन्तान को सुपथ-गामी करने के लिए रामायण के रूप में अपने श्रेष्ठ और अमूल्य विचार भारत को सौंप गये । उनकी गहरी विवेचन-शक्ति को सूचित हो गया था कि समय रामायण का सद्व्यवहार अवश्य करेगा । रामायण लिखने के लिए उन्हें परमातमा का आदेश भी तो मिला था । रामायण ही में लिखा है—

"भनिति भोरि शिब-कृपा बिभाती ; ससि-समाज मिलि मनहुँ सुराती ।
सपनेहु, साँचेहु, मोहिं पर, जो हर-गौरि-पसाउ
तौ फुर होउ, जो कहौं, सब भाषा-भनित प्रभाउ ।।"

आज हम देख भी रहे हैं कि हरएक सम्प्रदाय और हरएक पन्थ में रामायण की अबाध गति है । इसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि गोस्वामीजी ने किसी समाज की पोषकता नहीं की । वह सदा उदार और निःस्पृह रहे । उन्होंने धैर्य ही से काम लिया; क्षणिक उत्तेजना में आकर कुछ-का-कुछ नहीं कर डाला । गोस्वामीजी के सम-सामयिक तथा पूर्वकालीन कितने ही भक्त-कवि समय का विचार विना किये ही देश की दशा सुधारने में लग गये थे । साम्प्रदायिक भेद-भावों को जड़ से उखाड़ फेंकने का उनका प्रयत्न किसी दृष्टि से प्रशंसनीय भले ही हो, हिन्दुओं और मुसलमानों के दिली घावों पर उन्होंने एकता की पट्टी भले ही बाँधी हो, दोनों को हृदय से भले ही लगाया हो, और इस प्रकार एक नवीन समाज की सृष्टि भले ही की हो, किन्तु उनके धर्म-ग्रन्थों की रचना रस-हीन होने अथवा उन भावों का समय द्वारा तिरस्कार किये जाने के कारण, वह सफलता उन्हें प्राप्त नहीं हुई, जो, धैर्य के कारण, गोस्वामीजी को कुछ और आगे चलकर प्राप्त होगी । 'कुछ और आगे चलकर' हमने इसलिए लिखा कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद केवल रामायण ही को महत्त्व दिलाने के लिए दिया जायगा । अथवा रामायण जिस

मौन कर्म-वीर की अपूर्व कृति है, उसकी सत्ता को संसार में सुदृढ़ बनाने तथा महान् धैर्य के साथ मौन कर्म की महत्ता को प्रकट करने के लिए हिन्दी को उक्त पद दिया जायगा। परमात्मा ने गोस्वामीजी से जिस कार्य का सम्पादन कराया, जिसका चुपचाप उनके द्वारा प्रचार किया, और यों आज कितने दिनों से जिसका क्षेत्र तैयार किया, उसका योग्य पुरस्कार भी वह देंगे; और, तभी देंगे, जब सम्पूर्ण भारत सरल और सरस भाषा में वर्णित रामायण की राज-नीति, समाज-नीति, धर्म-नीति और ऊँचे वेदान्त-तत्त्व को देखकर, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से, तदनुसार ही अपना सुधार और संशोधन आदि करने पर तत्पर होगा।

रामायण की रसमयी रचना ने जनता को मुग्ध तो कर दिया, किन्तु शिक्षा के अभाव के कारण, स्मृति-सुखद और श्रुति-मधुर कुछ पदावली को छोड़कर, रामायण के गूढ़ अध्यात्म-भाव जनता की समझ में नहीं आये यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है, जब शिक्षित जनों की की हुई टीकाओं पर ध्यान जाता है। हम यह नहीं कहते कि टीकाएँ किसी काम की नहीं। नहीं, अपरिपक्व विचारवाले साधारण जनों के लिए वे अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई हैं। किन्तु जो योग्यता रामायण-जैसी आध्यात्मिक पुस्तक की टीका में होनी चाहिए, वह तो आज तक हमें किसी भी टीका में देखने को नहीं मिली। शृंखला के साथ पद-बन्ध, अनुप्रास, अलंकार आदि श्रेष्ठ काव्यगुण तो गोस्वामीजी ने उसमें दिखाये ही हैं; और उसकी यह सरल, स्वाभाविक और सुन्दर गति उसकी लोकप्रियता का प्रधान कारण भी है। किन्तु, फिर भी, काव्य-कला से कहीं बढ़कर उसके वे भाव हैं, जिनका जीवन के साथ, निम्नतम आदर्श से आरम्भ कर सर्वोच्च सीमा तक, घनिष्ठ सम्बन्ध है। रामायण में गोस्वामीजी ने कोरी कविता ही नहीं लिखी। न शब्द-जाल बुनने का व्यर्थ प्रयास ही उठाया है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की केवल जीवनी लिखकर श्रम को सार्थक करना भी गोस्वामीजी का उद्देश्य नहीं था। उन्होंने उसमें अपनी चिरकाल की निष्कपट तपस्या के जो दृश्य दिखाये हैं, उनके हमें गौतम, कपिल, जैमिनि, पतंजलि, व्यास और कणाद के दुर्बोध दर्शनों में भी कहीं मुश्किल से दर्शन मिलते हैं।

रामायण की जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं, उन सब में हिन्दी के भक्त तथा विख्यात विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास बी. ए. की लिखी और काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित टीका श्रेष्ठ मानी जाती है। उसी का हम एक उदाहरण देते हैं। हमें दृढ़ विश्वास है कि इस थोड़े-से साहित्य-विरोध के कारण हम किसी के विराग-भाजन न होंगे। रामायण के बालकाण्ड में 45वें दोहे के बाद—

"सुनि, अवलोकि सुचित चख माहीं;
भक्ति मोरि मति स्वामि सराही।
कहत नसाइ, होइ हिय नीकी;
रीझत राम जानि जन-जी की।"

चौपाई की तीसरी और चौथी लाइन का अर्थ टीकाकार ने यह लिखा है—"कहने में जी को चाहे बुरी लगे या अच्छी, परन्तु रामचन्द्रजी तो हृदय की भक्ति जानकर रीझते हैं।" तीसरी लाइन का जो अर्थ किया गया है कि 'कहने में जी को चाहे

बुरी लगे या अच्छी' सो यह तो उलहना-सा दिया गया है। वास्तव में, हमें तो, अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार, इस चौपाई का ठीक-ठीक अर्थ कुछ और ही जँच रहा है। गोस्वामीजी ने पहले अपने दैन्य या जीवोचित व्यवहार का वर्णन किया, फिर अपने स्वामी सीता-नाथ की अपार करुणा की स्तुति की। तदनन्तर स्वामी द्वारा प्रशंसित होने का उल्लेख भी उद्धृत दूसरी लाइन में किया। कल्पना कीजिए, भक्त यदि अपने इष्टदेव के मुख से अपनी तारीफ सुने, तो उसके हृदय में आनन्द का वेग कितना प्रबल हो जायगा। किन्तु इष्ट वाक्यों का यह आनन्द, और की तो बात ही क्या, खुद गुरु के पास भी व्यक्त न करने का उपदेश शास्त्रों में दिया गया है। कारण, भक्त की भाव-धारणा-शक्ति इससे क्षीण हो जाती है। यहाँ तक कि पतन का भी भय रहता है। इसीलिए गोस्वामीजी समझदारों को केवल संकेत ही से समझाते हैं कि "(हिय) हृदय की (नीकी) अच्छी ही बात क्यों न (होइ) हो, (कहत) कहने से (नसाइ) भाव नष्ट हो जाता है।" इतना कहकर अपने स्वामि-संवाद का मर्म छिपाते हुए, केवल उदारतावश लोक-कल्याण के लिए, आप कहते हैं—"रीझत राम जानि जन-जी की।"—(अर्थ—तो क्या हुआ, यदि तुम हृदय से उन्हें चाहोगे, तो वह, अन्तर्यामी होने के कारण, तुम्हारे प्यार पर अवश्य रीझेंगे।) अस्तु, कह डालने से हृदय का भाव हलका हो जाने का रामायण ही से एक और उदाहरण लीजिए। जानकीजी को हनुमानजी श्री रामचन्द्र की उक्तियाँ सुनाते हैं—

"कहेहू ते कुछ दुख घटि होई;
काहि कहौं, यह जान न कोई।"

अब शायद इस बात में सन्देह की जगह नहीं रह गयी। सम्भव ही नहीं, अवश्यमेव कहना चाहिए कि गोसाईंजी ने भाव-गोपन के लिए ही यह प्रकाश डाला है कि 'कहत नसाइ, होइ हिय नीकी।'

एक उदाहरण और लीजिए। बालकाण्ड में 38वें दोहे के बाद चौथी चौपाई है—

"अस प्रभु हृदय अछत, अबिकारी;
जीव चराचर दीन, दुखारी।
नाम-निरूपन नाम-जतन तें;
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।"

टीका में पहले दोनों चरणों के अर्थ ने जितनी जगह घेरी है, उसका एक-तिहाई हिस्सा ही पिछले दोनों पदों के अर्थ को—उनके कठिनतर होने पर भी—बड़े भाग्य से मिला जान पड़ता है। व्याख्या स्पष्ट तो है, किन्तु कुछ खटकती है। तीसरी और चौथी पंक्तियों का अर्थ टीकाकार ने लिखा है—"नाम का निरूपण (सच्चा रूप) नाम के यत्न करने (जपने) पर वैसे ही प्रकट होता है, जैसे रत्न से उसका मूल्य मालूम हो जाता है।" हमारा सविनय निवेदन यह है कि गोसाईंजी की चौपाई में तो 'प्रगटत' इस क्रिया का कर्ता 'सोउ' साफ नजर आ रहा है, परन्तु टीकाकार की टीका में कर्तृ-रूप से 'नाम का निरूपण' प्रकट होता है, और 'सोउ' सशरीर गायब। शायद पदच्छेद-अन्वय करते समय 'सोउ' की कोई आवश्यकता ही नहीं हुई। तो क्या तुकबन्दी पूरी करने के लिए गोसाईंजी 'सोउ' से बेगार ले

रहे हैं? किन्तु ऐसे उदार और सहृदय कवि शब्द बेचारे को अकारण कष्ट देंगे, यह विश्वास की बात नहीं। हमारी मलिन मति तो यह कहती है कि 'सोउ' यहाँ अपना खास अर्थ रखता है। अन्तिम दोनों लाइनों का वह नहीं यह अर्थ है—"नाम-निरूपण और नाम-यत्न से वह भी (सोउ) प्रकट होता है, जैसे रत्न से मूल्य; अर्थात् पहले नाम का निरूपण या नियोग अथवा धारण करो, फिर उसका यत्न (उसकी देख-भाल) करो (कहीं ऐसा न हो कि भूलकर किसी दूसरी ही भावना में लीन हो रहो), तो वह ब्रह्म भी उस नाम से प्रकट हो जायगा; जैसे रत्न से मूल्य प्रकट होता है।" टीकाकार 'नाम निरूपन' के 'निरूपन' शब्द में नाम ही का स्वरूप देखते हैं। किन्तु यह सर्वथा भ्रमात्मक है। कारण, यहाँ तो गोसाईंजी नाम के प्रभाव से किसी रूपवाले को नहीं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म को, जो अरूप है, आकर्षित कर रहे हैं। यह उन्होंने पहले ही लिखा है—

"उभय अगम जुग सुगम नाम तें;
कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें।
ब्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी;
सत्-चेतन-घन आनँद-रासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी;
जीव चराचर दीन, दुखारी।"

इसके बाद ही आप लिखते हैं—

"नाम-निरूपन नाम-जतन तें;
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।

इस चौपाई से नाम की महत्ता सिद्ध करने के बाद ही के दोहे में आप फिर लिखते हैं—

"निर्गुण तें यहि भाँति बड़, नाम-प्रभाउ अपार;
कहउँ नाम बड़ राम तें, निज बिचार अनुसार।"

अब शायद इसमें सन्देह न रह गया होगा कि 'सोउ' निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सर्वनाम के रूप से व्यवहृत हुआ है, और सार्थक है।

गोसाईंजी ने साधना से प्राप्त किये गये अनुभवों को अपनी कविता में कूट-कूटकर भर दिया है। शब्द थोड़े, भाव गहन। स्वभावतः समझ में जल्दी नहीं आते। और, उनके समझने में कोरी विद्वत्ता से भी काम नहीं चलता। कुछ साधन भी चाहिए। पूर्वोक्त चौपाइयों में गौसाईंजी ने साधना का सार रख दिया है; किन्तु इस ढंग से कि विद्वज्जन शब्द के सहारे अर्थ समझें, और सिद्ध-साधक जन विचार-शैली की सत्यता की परीक्षा करके। जिन चौपाइयों में गोसाईंजी ने ब्रह्म का दर्शन नाम के अधीन बतलाया है, उनके इने-गिने शब्दों में, तर्क से अलग रहते हुए भी, आपने बड़ी योग्यता से तर्क और मीमांसा-शास्त्र का निचोड़ रख दिया है। संक्षेप में उसे लिख देना असंगत न होगा—

"ब्रह्म या परमात्मा, वैदिक साहित्य और दर्शन-शास्त्रों का मुख्य आधार है। जिसने ब्रह्म, परमात्मा, प्रकृति या ईश्वर, कुछ भी सिद्ध किया है, अर्थात् जिसके विषय का आधार अस्ति है, वह आस्तिक कहा जाता है। और, जिसकी विचार-

परम्परा का आधार नास्ति है, जिसने खण्डन-पक्ष ग्रहण किया है, वह नास्तिक है। किन्तु, कोई आस्तिक हो या नास्तिक, मित्र-भाव से करे चाहे शत्रु-भाव से ग्रहण उसी एक ही सत्ता का करता है। जो 'अवाङ्-मनसोऽगोचरम्' है, उसे वाक्यों द्वारा सिद्ध करने से न लाभ है और न खण्डन करने से हानि। वह वस्तु तो साधना से ही प्राप्त होती है, वाक्यों से नहीं। इसीलिए गोसाईंजी दीर्घ शब्द-जाल की सृष्टि नहीं करते, थोड़े में ही सार-तत्त्व कह जाते हैं। और, इससे साधकों को उनकी महोच्च साधना का पता मिल जाता है। मनस्तत्त्व के पूरे पण्डित गोसाईंजी मन को विक्षिप्त अवस्था से खींचकर, बहुवस्तुओं से उठाकर, नाम में—सद्‌गुणों से पूर्ण केवल एक ही वस्तु में—लगाने का उपदेश देते हैं। राजयोग की यह एकमात्र महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसका भी सम्बन्ध गोसाईंजी के 'नाम-निरूपन' और 'नाम-जतन' से हो जाता है। मन नाम-रूपी विषय का अवलम्ब करके जब उसमें तन्मय हो जायगा, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीनों एक हो जायँगे, तब 'एको ब्रह्म' स्वभावतः प्रकाशित होगा।

शुष्क दर्शनों की नीरसता के कारण प्रेम-पिपासु हृदय उस ओर नहीं जाता। वह तो सरस शब्दावली की खोज में रहता है। इसीलिए गोस्वामीजी इसका लोभ दिखाकर विचित्र ढंग से ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्व कह जाते हैं, फिर कोई समझे चाहे न समझे। हाँ, मनुष्य-स्वभाव के मर्मज्ञ गोसाईंजी गृहीजनों को अद्वैत-रस के स्वाद से वंचित रखते हैं। वह गृहस्थों के लिए "अवगुन-मूल, शूल-प्रद, प्रमदा सब दुख-खानि।" नहीं कहते। उनके लिए तो है—"कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि-सुनि।" गोसाईंजी जानते थे कि जिनमें अभी वासना विद्यमान है, जो भोग के लिए घर सँवारने में लगे हैं, उन्हें त्याग का मन्त्र बताना मानो ऊसर में बीज बोना है। गोसाईंजी यह भी जानते थे कि जिनका जीवन द्वैत-वाद-मय है, उन्हें आदर्श भी द्वैतवाद ही का देना चाहिए। इसीलिए नर-रूप भगवान् रामचन्द्र को उनके आदर्श रूप से उपस्थित किया। परन्तु योगियों के आदर्श हैं वह राम, जिन्हें महर्षि वालमीकि कहते हैं—

"राम, स्वरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धिवर;
अबिगत, अकथ, अपार नेति-नेति जिहि निगम कह।"

यहाँ भगवान् रामचन्द्र मनुष्य के आकार में नहीं रह जाते। यहाँ महर्षि की दृष्टि राम को देखकर उनके अस्थि-मज्जा-विशिष्ट नश्वर शरीर पर नहीं अटक जाती। वह श्रीराम को सच्चिदानन्द-स्वरूप देखती है। गोसाईंजी यही सच्चिदानन्द-रूप गृहस्थों को भी दिखाना चाहते हैं; परन्तु उनकी वृत्ति के अनुसार पहले-पहल उनकी दृष्टि अस्थि-चर्म पर ही लाते हैं, और साथ ही कहते हैं—

"जिनहिं राम तुम प्रान-पियारे,
तिनके उर शुभ सदन तुम्हारे।"

अर्थात् इन्हीं नराकार भगवान् को प्राणों की तरह प्यार करने से वह हृदय में विराजमान होते हैं। इन शब्दों से गोसाईंजी गृहस्थों की प्रीति एकमुखी और अन्यान्य बन्धन ढीले कर रहे हैं, और उनकी प्रीति का अवलम्ब रामचन्द्र के स्थूल शरीर को बताते हैं। गोसाईंजी इसी तरह क्रमशः उन्हें त्याग के रास्ते से ले

चलते हुए अन्त को उसी जगह स्थापित करते हैं, जहाँ उन्नति का चरम आदर्श—सच्चिदानन्द ब्रह्म—प्रतिष्ठित है। ईश्वर को जान लेना ईश्वर ही हो जाना है।

"सो जानै, जिहि देहु जनाई;
जानत तुमहि, तुमहि ह्वै जाई।"

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 18 अगस्त, 1923। असंकलित]

हिन्दी और बंगला की कविता

किसी भावविशेष का प्रभाव पड़ते ही कवि का हृदय नाचने लगता है। भावुक हृदय की स्पन्दनशीलता प्रति ताल पर जो शब्द निकालती है वही कविता के अंग हैं,—उन्हीं से कविता का स्वरूप बनता है। जिसमें भावुकता यथेष्ट मात्रा में होती है और जिसके शब्द-भाण्डार में भाव व्यक्त करने के लिए शब्दों की कमी नहीं वही कवि हो सकता है। यदि भाव का उच्छ्वास निकल गया किन्तु जबरदस्ती उसे कविता का स्वरूप देने के लिए कोष में शब्दों की ढूँढ़-तलाश की गयी और जोड़-गाँठकर पिङ्गल के नियमानुसार छन्द के चारों चरण पूरे कर दिये गये तो वह कविता कवित्व के पद से गिर जाती है। अतएव भाषा पर जिन कवियों का अधिकार है उन्हीं की कृति को कविता का आसन मिलता है। अन्यथा उच्छ्वास बालकों के हृदय में ही अधिक उत्पन्न होता है।

जो छन्दःशास्त्र के ज्ञाता हैं और कवि हैं वे किसी भाव के आते ही अपने हृदय को नियमित कर लेते हैं। तब उनका कम्पन छन्द के अनुसार ही होता रहता है। फिर तो वाग्धारा स्वभावतः कविता बनती चली जाती है।

यह कम्पन सभी प्रान्तों या सभी देशों यानी भिन्न भाषा-भाषियों के हृदय में एक-सा नहीं होता। इसका कारण उस देश की प्राकृतिक परिस्थिति का प्रभाव ही जान पड़ता है। कदाचित इसीलिए एक भाषाभाषियों के उच्चारण में भी विचित्रता की छाप लगी रहती है। हिन्दी और बंगला का तो एक-दूसरे से कोसों का अन्तर है यद्यपि वे एक-दूसरे की पड़ोसिन समझी जाती हैं। बङ्गाली कवि के हृदय में भाव का आरोप होने से उसका हृदय जिस प्रकार नाचता है उस प्रकार हिन्दी के कवि का हृदय नहीं नाचता, न हिन्दी कवि के हृदय की तरह बङ्गाली कवि का हृदय नाचता है। यही कारण है कि कोई किसी की कविता के अन्तस्तल तक नहीं पैठ सकता। शब्दों से अर्थ निकाल लेना दूसरी बात है और कविता का मर्म समझना दूसरी बात। अभिप्राय यह कि पढ़नेवाले का हृदय कवि के हृदय के साथ मिल जाना चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब दोनों में भावभिन्नता न हो। कविवर रवीन्द्रनाथ की इस कविता से 'लिखिया लइल विश्व निखिल

दुबिधार परिवर्त्ते' वंगभाषा में कितनी जान आ गयी है, यह बङ्गाली ही समझ सकते हैं, और बाबू मैथिलीशरण गुप्त की इस कविता में—

संचित किये रक्खे हुए
शुक वृन्द के चक्खे हुए
कुछ बेर जो थे दीन शबरी के दिये
खाकर जिन्होंने प्रीति से
शुभमुक्ति दी भवभीति से
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये,

कितना भावसौष्ठव है, यह खड़ी बोली के प्रेमी ही समझ सकते हैं।

बंगला में गणात्मक छन्द नहीं है, न हो सकते हैं। किसी बङ्गाली ने संस्कृत छन्दों का अनुकरण किया है सही, पर उसका विशेष आदर नहीं हुआ। यद्यपि बंगला के सभी छन्द मात्रिक हैं फिर भी हिन्दी के मात्रिक छन्दों से उनमें कुछ विशेषता है। बंगला में क्रियापद पर जोर नहीं दिया जाता। यही अन्तर सारे अन्तरों की जड़ है। उसके कारण ही बंगालियों को हिन्दी छन्द खटकता है। हिन्दी में क्रिया पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रायः कविता के प्रत्येक चरण में क्रिया लगी रहती है। इधर हिन्दीवाले बंगला की कविता में आशानुरूप क्रिया न मिलने पर घबड़ाते हैं, दूसरे, ढंग के साथ न पढ़ सकने के कारण काव्य का आनन्द भी नहीं पाते। यही हाल हिन्दी पढ़ते समय बंगालियों का है। कुछ भी हो कवित्व का चमत्कार दोनों भाषाओं में पर्याप्त है।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर भाद्रपद, संवत् 1980 (वि.) (अगस्त-सितम्बर, 1923)। असंकलित]

कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त

"मग्न बने रहते हैं मोद में विनोद में
क्रीड़ा करते हैं कल कल्पना की गोद में,
सारदा के मन्दिर में सुमन चढ़ाते हैं
प्रेम का ही पुण्यपाठ सबको पढ़ाते हैं।"

—मैथिलीशरण

आकाश की शोभा चन्द्र से, पृथिवी की शोभा तरु-लताओं से और साहित्य की शोभा कवि से होती है। जिस तरह वसन्त की कुसुम-सुरभि से मुग्ध होकर वर्ष हँस पड़ता है,—शारदीय ज्योत्स्ना की गोद में निशादेवी मुस्कराती है, उसी तरह सुकवि को प्राप्त कर साहित्य भी श्रीसम्पन्न हो जाता है। जो शोभा प्रकृति के

हाथों से सजाये उपवन की होती है वह किसी कृत्रिम फुलवाड़ी या बगीचे की नहीं होती। साहित्य भी, स्वभावसिद्ध कवि के आविर्भाव से जिस तरह विकसित हो जाता है, उस तरह ठोंके-पीटे कवियों की गढ़ी हुई कविताओं से नहीं होता। सुगन्ध पुष्प की तरह कवि भी प्रकृति का एक अद्‌भुत चमत्कार है। कमल की तरह वह भी अपने समय पर आता और न-जाने-कैसे मादकतामय शब्दों में भरकर अपने समय के सुहावने गीत एक अनूठी रागिनी में गाकर चला जाता है। वह संसार को देखकर भी नहीं देखता,—निन्दा-स्तुति से न रुष्ट होता है न तुष्ट,—पार्थिव वैर और मैत्री से उसका कोई सम्बन्ध नहीं; वह चिरपरिचित होते हुए भी एक सुदूर और अजाने लक्ष्य पर अपनी दृष्टि जमाये हुए केवल गाता है और चला जाता है।

हिन्दी में जब से खड़ी बोली की कविता का प्रचार हुआ तब से आज तक उसमें स्वाभाविक कवि का अभाव ही था। जो पौधा लगाया गया था उसे कुसुमित करने के लिए अब तक के कवियों को सींचने का श्रेय जरूर दिया जा सकता है, परन्तु वे उस पौधे के माली ही हैं, कुसुम नहीं। किसी पौधे में फूल एकाएक नहीं लग जाते, वे समय होने पर ही आते हैं। खड़ी बोली की जिस कविता का प्रचार किया गया था, जिसके प्रचारकों और कवियों को कितनी ही गालियाँ खानी पड़ी थीं, उसका स्वाभाविक कवि अब इतने दिनों बाद आया है, और हिन्दी का वह गौरव-कुसुम श्री सुमित्रानन्दन पन्त है।

यह कुसुम अभी पूर्ण विकसित नहीं हुआ, हाँ पंखड़ियाँ खोलने लगा है। इसके परागों में सुरभि की अभी इतनी मादकता नहीं कि रास्ते का हरएक पथिक सुगन्ध से खिचकर बाग में आ जाय। अभी दो ही चार भौंरे उसके अर्द्ध विकास की रागिनी गाने लगे हैं।

पन्तजी की प्रथम कविता 'उच्छ्वास' में कवि-हृदय का यथेष्ट परिचय और कवि-प्रतिभा का यथेष्ट चमत्कार है। यह कविता देवी के मन्दिर में खड़ी बोली की उत्कृष्ट कविता का प्रथम संगीत है भावमय और चित्तोन्मादकर। कवि कहता है—

"सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।"

मन के साथ सरलपन की कैसी सुन्दर उपमा है! निरालापन को आभूषण बताने में कितना कमाल है! कितनी दूर की सूझ है!

"सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका-गान
विकच-बचपन को, मन को खींच,
उचित बन जाता था उपमान।"

बालिका के गान को 'अधूरा' और 'लचका' विशेषणों से शोभित करके कवि गान के मर्म तक पहुँच गया है। और उस गान को रखता भी है कैसी सुन्दर जगह

—"सुरीले ढीले अधरों बीच"—कैसी अनुपम कल्पना है !

"सरल-शैशव की सुखद-सुधि सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी",

बालिका की उपमा 'सरल-शैशव की सुखद-सुधि' से बढ़कर और क्या होगी ? यहाँ कविजनोचित स्वाभाविक क्रान्ति भी है। व्याकरण 'मेरी मनोरम मित्र' लिखने में बाधा देता है, पर कविहृदय 'बालिका' के बाद 'मेरा मनोरम मित्र' लिखना अस्वीकार करता है। 'मेरी' में कितनी मधुरता आ गयी है, यह सहृदय कवि ही समझ सकते हैं।

"कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?
हैं सभी तो और दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है !
निरपराधों के लिए भी तो अहा !
हो गया संसार कारागार है ! !"

यह कविहृदय की स्वाभाविक उक्ति है। परन्तु इसमें कितनी सहानुभूति और कितनी समवेदना है ! अन्तिम दो चरणों में संसार की सम्पूर्ण मनुष्यजाति के करुणा क्रन्दन पर 14 वर्ष के बालक कवि के हृदय में सहानुभूति का अथाह सागर उमड़ रहा है।

पन्तजी की उम्र इस समय बाईस साल की है। आपका जन्म अलमोड़ा प्रान्त में, 1902 ई. में, हुआ था। आपके पिता का नाम पण्डित गंगादत्त पन्त है। हमारे नवीन कवि कालेज में पढ़ते थे, परन्तु कालेज के पाठाभ्यास से शान्ति नहीं मिलती थी, अतएव 1920 में कालेज छोड़ दिया। तब से, अलग, कविता की उपासना में ही आप लीन रहते हैं। आपकी 'आँसू', 'वीणा', 'नीरव तारे' आदि कितनी ही कविताएँ अभी अप्रकाशित हैं। एक बार आप मोमबत्ती जलाकर अपनी कविता की कापी में कुछ लिख रहे थे, एकाएक किसी मित्र के बुलाने पर आप उनसे मिलने चले गये। आपके आने में कुछ देर हो गयी। इधर मोमबत्ती जल गयी, उससे चारपाई जली, बिस्तरा जला और जल गयी हिन्दी की वह असाधारण सम्पत्ति आपकी कविताओं की कापी।

पन्तजी में कविजनोचित सभी गुण हैं। आप हारमोनियम, क्लैरिओनेट आदि बाजे भी बजाते हैं और गाते भी हैं बड़ा ही सुन्दर। जिस समय आप सस्वर कविता पढ़ने लगते हैं, उस समय आपकी सरस शब्दावली और कमनीय कण्ठ श्रोताओं के चित्त पर कविता की मूर्ति अंकित कर देते हैं।

आपकी कवित्व-कला दिन-पर-दिन उन्नति कर रही है। गत फाल्गुन की सरस्वती में प्रकाशित आपकी 'मौन निमन्त्रण' कविता पढ़ लेने पर किसी को आपकी पूर्ण कवित्व-शक्ति पर जरा भी सन्देह नहीं रह जाता। हम उसके दो पद्य उद्धृत करते हैं—

"देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने सौरभ के मिस मौन
सँदेसा मुझे भेजता कौन ?
तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;
न जाने खद्योतों से कौन
मुझे तब पथ दिखलाता मौन !"

खड़ी बोली में प्रथम सफल कविता आप ही कर सके हैं। आपसे हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। प्रार्थना है, हमारे इस अधखिले फूल [पर] परमात्मा की शुभ दृष्टि रहे। इसका परागमय जीवन उनके विराटरूप की ही सेवा के लिए है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 मई, 1924। असंकलित]

कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

यह छोटा-सा लेख इस उद्देश्य से नहीं लिखा जा रहा कि तराजू के एक पलड़े पर बिहारी और दूसरे पर रवीन्द्रनाथ को बैठाकर दोनों कवियों की कवि-प्रतिभा तौली जाय। बिहारी महाकवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु रवीन्द्रनाथ केवल भारत के नहीं, संसार के महाकवि हैं। बिहारी के काव्य-विवेक में उतनी नवीनता नहीं जितनी रवीन्द्रनाथ की कविता में है। बिहारी ने किसी नये छन्द का आविष्कार नहीं किया, कोई ऐसा अनूठा भाव नहीं दिखलाया जिसे अपनाने के लिए संसार-भर के मनुष्यों को लालच हो। रवीन्द्रनाथ में ऐसे एक नहीं, अनेक छन्द हैं—अनेक भाव हैं। बिहारी के काव्य-क्षेत्र से रवीन्द्रनाथ का काव्य-क्षेत्र बहुत प्रशस्त है—बहुत विस्तृत है। बिहारी की प्रतिभा हिन्दी ही के हाव-भावों को मुग्ध करती है, रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा संसार-भर के भाव-सौन्दर्य को चमत्कृत करती है। दोनों में बड़ा अन्तर है। सम्भव है, यदि बिहारी रवीन्द्रनाथ के समय के कवि होते तो उनके काव्यों में भी विश्व-भाव के संगीत सुन पड़ते। परन्तु जो नहीं हुआ और नहीं मिलता, उसके लिए न सम्भावना बतलाने की आवश्यकता है, न उसकी प्राप्ति के लिए समर्थन करने की जरूरत है। बिहारी के आने से हिन्दी में किसी नवीन युग

का आविर्भाव नहीं हुआ, परन्तु रवीन्द्रनाथ युग-प्रवर्त्तक हैं। अस्तु, अब दोनों के श्रृंगार-चित्रण के चमत्कार देखिए। पाठकों के मनोविनोद के लिए कुछ पद्य हम उद्धृत करते हैं। इससे पहिले हम इतना और कह देना चाहते हैं कि हिन्दी की प्राचीन प्रथा के अनुसार बिहारी ने किसी एकभाव को एक ही दोहे में समाप्त कर दिया है, परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों का तार पद्य की कुछ लड़ियों के समाप्त न होने तक बँधा रहता है। यों तो पढ़ने में कितने ही भावों का समावेश जान पड़ता है, परन्तु उनमें भी एक पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है। दूसरी बात यह है कि बिहारी नायिकाभेद बतलाते हैं, परन्तु रवीन्द्रनाथ स्त्रियों के स्वभाव का चित्रण करते हैं। बिहारी के भावों से विकार पैदा हो सकता है परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों में वह बात नहीं, उनके भावों से केवल अनुराग ही बढ़ता है।

अच्छा, लज्जा पर बिहारी और रवीन्द्रनाथ दोनों की कुछ उक्तियाँ देखिए—

लखि दौरत पिय-कर-कटक, वास छुड़ावन काज।
वरुणी-बन दृग-गढ़नि में, रही गुढ़ा करि लाज॥

टीकाकार पं. पद्मसिहजी लिखते हैं—'रति के समय, बिहारी के नायक ने नायिका के अंग से वस्त्र उतारने में हाथ बढ़ाया है। लज्जा ने देखा कि अव खैर नहीं; यह स्थान भी छिना। सो वह बेचारी आँखों के किले में, जिसमें बरौनी का बन छाया हुआ है, आ छिपी है।'

हम इसका ध्वन्यात्मक अर्थ स्वयं न लिखकर टीकाकार के अर्थ का ही अंश उद्धृत किये देते हैं :

'नायिका के सारे शरीर-देश पर लज्जारानी का राज्य था। सो उस पर गनीम (नायक) ने वाह्य रति-संगर में अपना अधिकार कर लिया। वहाँ से लज्जा की अमलदारी उठ गयी। केवल उसका निवास 'वर-मण्डप' में साड़ी की छोलदारी में रह गया था। बेचारी वस्त्र के नीचे जैसे-तैसे आकर छिपी पड़ी थी, उसने देखा कि अब उसे छीनने को भी कर-कटक-दस्त राजी का लश्कर बढ़ा रहा है, अब यहाँ भी रक्षा नहीं, सो वह वस्त्ररूपी वासस्थान को छोड़कर आँख के सुदृढ़ गढ़ में जाकर छिप गयी। कुल-बाला की आँख, लज्जा का प्रधान स्थिति-स्थान है, वहाँ से उसे हटाना ज़रा टेढ़ी खीर है।'

कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ की लज्जा दूसरे ही ढंग से व्यक्त होती है। इसलिए लज्जा-विषयक एक ही ढंग का उदाहरण हम नहीं दे सकते। रवीन्द्रनाथ की नायिका कुरूपा है। रूप न होने पर भी वह अपने प्रियतम को गुप्त भाव से प्यार करती है। उसी की उक्ति है :

जार नवीन सुकुमार कपोलतल
कि शोभा पाय प्रेम लाजेगो।
जाहार ढलढल नयन शतदल
तारेइ आँखी जल साजेगो।
ताई लुकाये थाकी सदा पाछे से देख,
भालोबासिले मरी सरमे।

रूधिया मनोद्वार प्रेमेर कारागार
रचेछि आपनार भरमे ।

कुरूपा नायिका आक्षेप कर रही है। प्रियतम से मिलने की उसे कोई आशा नहीं। परन्तु वह प्रेम नहीं छोड़ सकती। कहती है—'जिसके कपोल-तल नवीन और सुकुमार हैं, प्रेम की लज्जा से उसकी कितनी न शोभा होती होगी। जिसके नयन शतदल डबडबाये हुए ही बने रहते हैं, आँसू बस उसे ही सजते हैं। वह मुझे कहीं देख न ले, इस भय से मैं सदा छिपी रहती हूँ। प्यार करने को (क्या कहूँ) लज्जा से ही मरी रहती हूँ। मन का द्वार बन्द करके, मैंने अपने मर्म के ही भीतर प्रेम का कारागार रचा है।'

बिहारी जो कुछ कह जाते हैं उसमें कहने को कुछ बाकी नहीं रखते। परन्तु रवीन्द्रनाथ जहाँ अपनी अक्षमता बतलाते हैं वहाँ पढ़नेवाले भी समझते हैं कि यह भाव का समुद्र शब्दों के बाँध से नहीं बँध सकता। बिहारी के दोहे के समाप्त होने के साथ ही उनका भाव भी समाप्त हो जाता है, पाठकों के लिए कुछ सोचने की बात नहीं रह जाती, कोई भाव कुछ देर के लिए अपना प्रभाव नहीं छोड़ जाता। परन्तु रवीन्द्रनाथ का संगीत समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक कानों में उसका स्वर बजता रहता है। बिहारी की नायिका आँखों के किले में छिप गयी। तो फिर क्या हुआ, बस एक सुन्दर चित्र आँखों के सामने आया और अलग हो गया। परन्तु रवीन्द्रनाथ की नायिका हृदय में कारागार रचती है और वहीं अपने प्रियतम को कैद कर रखती है। यह ध्वनि आप गूँजती है, इसकी झनकार कवि की अँगुलियों से नहीं होती। एक बात और, 'तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति-रंग। अन-बूड़े बूड़े तिरे जे बूड़ें सब अंग।' यह गुण बिहारी में नहीं, यह रवीन्द्रनाथ में पाया जाता है। बिहारी तटस्थ रहते हैं, रवीन्द्रनाथ डूब जाते हैं। बिहारी को सदा अपने कवि होने का ज्ञान रहता है— बिहारी खुद नायिका नहीं बन जाते परन्तु रवीन्द्रनाथ स्वयं नायिका बन जाते हैं, इसीलिए कविता और खिल पड़ती है। बिहारी चित्रण-कुशलता दिखाने की फिक्र में रहते हैं परन्तु रवीन्द्रनाथ अपने विषय में मिल जाते हैं, इसीलिए जब आगे अथाह भाव उमड़ पड़ता है तब तल्लीन कवि भाव ही देखता रह जाता है, और जो कुछ थोड़ा-सा लिख जाता है बस उतने ही से पाठक भाव-महोदधि का उच्छ्वास समझ जाते हैं।

दीप उजेरेहू पतिहिं हरत वसन रति काज।
रही लपटि छवि की छटनि नैंको छुटी न लाज॥

—बिहारी

'दीप के प्रकाश में, वस्त्र हर लेने पर भी, लज्जा न छूट सकी। निरावरण-काय-कान्ति की छटा ऐसी छा गयी कि उसने अनावृत अंग को ढाँप लिया। कान्ति की छटा ही दीखती है, उसकी चकाचौंध में शरीर नजर नहीं आता।'

—पद्मसिंह शर्मा

कुछ बिहारी की कल्पना है, उस पर पद्मसिंहजी भी कल्पना लड़ाते हैं। बहुत जगह चमत्कार पैदा करने में बिहारी से जो कुछ कोर-कसर रह जाती है उसे पद्मसिंहजी पूरा कर देते हैं। खैर, अब रवीन्द्रनाथ की कुछ उक्तियाँ देखिए:

भेबे देखो आनियाछो मोरे कोन खाने।
शत-शत आँखी भरा कौतुक कठिन धरा
चेये रबे अनावृत कलंकेर पाने।

नायिका अपने नायक से कहती है—'तुम मुझे कहाँ ले आये हो। ज़रा सोचते तो सही। यह कौतुक-कठोर संसार की करोड़ों आँखें मेरे अनावृत कलंक की ओर हेरती रहेंगी।'

भालोबासा ताओ यदि फिरे नेबे शेषे,
केन लज्जा केड़े निले, एकाकिना छेड़े दिले,
विशाल भवेर माझे विवसना-वेशे।

'एकमात्र प्यार रह गया था, वह भी अन्त में यदि वापस लेना था तो तुमने मेरी लज्जा क्यों छीनी ? इस विशाल संसार में मुझे अकेली और विवस्त्रा करके छोड़ दिया।'

भाँगिया देखिले छि छि नारीर हृदय,
लाजे भये थर थर भालोबासा सकातर
तार लुकाबार ठाँइ काडिले निदय।
नितान्त व्यथारे व्यथी भलोवासा दिये
सजतने चिरकाल रचित दिबे अन्तराल
नग्न करे छिनु प्राण सेई आशा निये।
मुख फिरातेछो सखा आज कि बोलिया।
भूल करे एसे छिले ? भूले भालोबेसे छिले ?
भूल भेंगे गेछेताइ जेतेछो चलिया ?

—रवीन्द्रनाथ

'छिः, नारी-हृदय को तुमने देखा तो उसे तोड़कर देखा। निर्दय, जो लज्जा और भय से काँप रही थी, प्यार के लिए ही जिसकी करुणा उमड़ चली थी, उसके छिपने की जगह भी तुमने छीन ली। मैंने सोचा था तुम सहृदय हो, अपने प्रेम और यत्न से मेरे लिए चिरकाल तक रहने का एक अन्तराल (गुप्त जगह) रच दोगे। इसी आशा से मैंने (तुम्हारे सामने) अपने प्राणों को नग्न कर दिया था। प्रिय ! अब इस तरह मुँह फेर रहे हो ? क्या तुम आये थे तो कोई भूल की थी ? प्यार किया, वह भी भूल ही थी ? अब अपनी भूल समझ गये, इसलिए चले जा रहे हो ?'

छुटै न लाज न लालचो प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥ —बिहारी

'नायिका पीहर में है, वहीं नायक देव पधारे हैं, नायिका मिलना चाहती है, पर नहीं मिल सकती। उसकी आँखों में प्रिय से मिलने का लालच और पीहर की लाज दोनों बराबर भरे हैं। न वह लालच ही छूटता है न यह लाज ही छूटती है और न इस दशा में व्याकुलता ही कम होती है।' —पद्मसिंह शर्मा

भवे प्रेमेर आँखी प्रेम काडिते चाहे, मोहन रूप ताई धरिछे।
आमी जे आपनाय फुटाते पारी नाइ, परान केंदे ताइ मरिछे॥

—रवीन्द्रनाथ

'संसार में प्रेम की आँखें प्रेम छीन लेना चाहती हैं। इसीलिए वे मोहनरूप धारण कर रही हैं। परन्तु हाय! मैं तो अपने को खिला नहीं सकती। मेरा जी यही सोच-सोचकर रो रहा है।'

रवीन्द्रनाथ की नायिका अपने ही प्रियतम की आँखें नहीं देखती, वह संसार-भर की आँखों को प्रेम की कसौटी में कस रही है। वह सभी आँखों में प्रेम छीन लेने की चाह देखती है। इस चाह से संसार की आँखों में सुकुमार सौन्दर्य की कैसी झलक आ जाती है। प्यार करनेवालों का स्वरूप किस तरह विकसित हो जाता है, इसे भी वह ध्यानपूर्वक देख रही है। परन्तु अपने भाव-सौन्दर्य का उसे ज्ञान नहीं है। वह अपने को कुरूपा समझती है। इसका कारण वह यह बतलाती है कि मैं अपने को खिला नहीं सकी। यहाँ रवीन्द्रनाथ दर्शन की युक्ति से भी नायिका के वाक्य की पुष्टि करते रहे हैं। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है उसका चित्र उतना ही सुन्दर होता है। सौन्दर्य की ही कल्पना को लोग ललितकला का मुख्य आधार कहते हैं। यही बात मनुष्य के स्वरूप के लिए भी संघटित होती है। गत जन्म में जीव में सौन्दर्य की जैसी कल्पना थी, इस जन्म में उसे वैसा ही रूप मिला है। असभ्य जातियों में ललितकला का अभाव है इसीलिए वे कुरूप होते हैं। रवीन्द्रनाथ की नायिका सौन्दर्य-कल्पना की कमजोरियों के लिए ही आक्षेप करती हुई कहती है, 'मैं अपने को खिला नहीं सकी'। थोड़े ही शब्दों में भाव कितने गम्भीर और ललित हैं। दूसरी खूबी रवीन्द्रनाथ में यह है कि उनकी नायिका को संसार के सब देशों के मनुष्य अपनी नायिका समझेंगे। कितनी ही जगह बंग-बालाओं का चित्रण करने के कारण रवीन्द्रनाथ की कविता में प्रान्तीयता आ गयी है। परन्तु कहीं-न-कहीं, वहाँ भी कवि की वीणा से विश्वभाव के संगीत निकल आते हैं।

पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाय॥

—बिहारी

'नायिका के पास कुछ सखियाँ बैठी इधर-उधर की बातें कर रही थीं। नायक ने वहाँ पहुँचकर नायिका से चुपके से एक गुप्त प्रस्ताव कर दिया, जिसका भाव समझकर चतुर सखियाँ बहाने बना-बनाकर वहाँ से उठ खड़ी हुईं, मकान खाली कर गयीं।'

—पद्मसिंह शर्मा

ऐसी उक्तियों में विकार की मात्रा आवश्यकता से अधिक है। पतिदेव थोड़ी देर के लिए भी धैर्य नहीं रख सके। दूसरों की स्त्रियों के बीच में कूद पड़े और अपनी (urgent) प्रार्थना सुना दी। यही एक बात देख पड़ती है कि अनंग की तरंग में पतिदेव और पत्नीदेवी के साथ-साथ (कै कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाय) सखियाँ भी बह जाती हैं।

इस तरह का विकार रवीन्द्रनाथ की कविता में नहीं आने पाता :

तव अवगुण्ठन खानी आमी केड़े रेखेछिनु टानी।
आमी केड़े रेखेछिनु वक्षे तोमार कमल-कोमल-पाणी।

भावे निमीलित तव नयन युगल मुखे नाहीं छिलो वाणी।
आमी शिथिल करिया पाश, खुले दियेछिनु केशराश।
तव आनमित मुखखानी सुखे थुयेछिनु बुके आनी।
तुमी सकल सोहाग सयेछिले सखि, हासी मुकुलित मुखे।।

'मैंने तुम्हारा घूँघट खोल डाला था। कमल के सदृश तुम्हारा कोमल हाथ तुमसे छीनकर अपने हृदय में रख लिया था। भावावेश में तुम्हारी अधखिली आँखों की कैसी शोभा थी। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला था। फिर बन्धन शिथिल करके, मैंने तुम्हारी केशराशि खोली थी। तुम्हारे नतमस्तक को अपने हृदय में रख लिया था। सखि ! ये सुहाग सहते हुए भी तुम्हारा मुख हास्य-मुकुलित (हँसी से खिला हुआ) था।' देखिए प्रेम का चित्र खिंच जाता है। कहीं विकार का नाम तक नहीं।

सकुच सुरत आरम्भ ही, बिछुरी लाज लजाय।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई, ढीठ ढिठाई आय।।

—बिहारी

'सुरत के आरम्भ में ही नायिका का संकोच मानो लज्जा से लजाकर विदा हो गया। लज्जा भी लज्जित होकर चलती बनी। और ढीठ जो ढिठाई है, सो आकर अच्छी तरह प्रसन्न होकर, सरककर समीप आ गयी। लज्जा के दूर होते ही ढिठाई पास सरक आयी।'

—पद्मसिंह शर्मा

दुटी रिक्त हस्त सुधू आलिंगने भरी
कण्ठे जडाइया दाव, मृणाल परशे
रोमांच अंकुरि उठे मर्मान्त हरषे,—
कम्पित चंचल वक्ष, चक्षु छल-छल
मुग्ध तनु भरि जाय, अन्तर केवल
अंगेर सीमान्त प्रान्ते उद्‌भासिया उठे
एखनी इन्द्रिय बन्ध बुझी टूटे-टूटे।
चुम्बन माँगिबो जबे ईषत् हासिया—अयि प्रिया।
बाँकायो न ग्रीवा खानी, फिरायो ना मुख,
उज्ज्वल रक्तिम वर्ण सुधापूर्ण सुख
रेखो ओष्ठाधर-पुटे, भक्त-भृंग तरे
सम्पूर्ण चुम्बन एक हासी—स्तरे-स्तरे
सरस सुन्दर…।

—रवीन्द्रनाथ

'मुझे अपनी बाँहों में भर लो। तुम्हारे निरावरण बाहुओं के छू जाने पर, मुझे इतना हर्ष होगा कि मेरे रोमांचों में सजीवता आ जायगी, वे अंकुरित हो उठेंगे। तुम्हारा कम्पित हृदय, छलछलायी आँखें और अनुरागमुग्ध शरीर ! अंगों के सीमान्त प्रदेश में एकमात्र तुम्हारा अन्तर उद्‌भासित होता रहे, जिसे देखकर इन्द्रियों के बन्धन शिथिल पड़ जायें; यही अनुभव हो कि अब इन्द्रियों के बन्धन

टूटते ही हैं। प्रिये, जब ज़रा मुसकराकर मैं चुम्बन माँगूँगा, तब अपनी ग्रीवा न मरोड़ना, मुँह न फेरना, अरुणोज्ज्वल ओष्ठाधरों में वही सुख जिसमें सुधा परिपूर्ण है, रख छोड़ना और अपने भक्तभृंग के लिए रखना हास्य की सरस और सुन्दर हिलोरों से भरा एक सम्पूर्ण चुम्बन।'

पाठक, देखी आपने कल्पना की उड़ान और चित्र-चित्रण।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 मई, 1924। **चाबुक** में संकलित]

कवि और कविता

He murmurs near the running brooks a music sweeter than their own.
—Wordsworth.

आदिकाल से लेकर आज तक कवि की कितनी ही परिभाषाएँ हो चुकी हैं और कविता-कुमारी को महाकवियों की वर्णना में भिन्न-भिन्न कितने ही स्वरूप मिल चुके हैं। कवि की परिभाषा एक दूसरे ढंग से, महाकवि बिहारीलालजी यों करते हैं—

'तन्त्री-नाद, कवित्त-रस, सरस-राग, रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अङ्ग॥'

यहाँ कविवर बिहारी पार उन्हीं को पहुँचाते हैं जो कवित्व-रस का तल-स्पर्श कर चुके हैं—जो कविता-मर्मज्ञ हैं—कवि हैं— तन्त्री नाद का कवित्व रस सरस राग रति रंग में जिनका सर्वांग निमज्जित हो चुका है। इस कवित्व-रस-सरिता में गोते लगाने के साथ ही जिन्हें चिरकाल के लिए डूब जाने और इस तरह अपने अस्तित्व के ही खो जाने का भय है, जो तटस्थ रहना चाहते हैं, कविवर बिहारीलाल उन्हें पार नहीं ले जाते, वे अर्धनिमज्जितों को डूबा हुआ ही सिद्ध करते हैं। कवि सम्राट् गो. तुलसीदास, कवि उसे कहते हैं जिसे सच्चे अर्थ और अक्षरों का बल है—'कविहि अर्थ आखर बल साँचा।' कवि के लिए कविवर मैथिलीशरण कहते हैं—

'मग्न बने रहते हैं मोद में विनोद में
क्रीड़ा करते हैं कल कल्पना की गोद में
शारदा के मन्दिर में सुमन चढ़ाते हैं,
प्रेम का ही पुण्य पाठ सबको पढ़ाते हैं।'

महाकवि शेली उस कवि की रचना को श्रेष्ठ बतलाते हैं, जिसके कवित्व में दुःख के एक-एक दल प्रस्फुट हो जायँ। वे कहते हैं—

'Our Sweetest Songs are those that tell of saddest

thoughts.'—

कवि शेली सहृदय कवियों की कृति में करुणा की क्षीण ध्वनि सुनना चाहते हैं। कवि के व्यथित उद्‌गारों को अपना मधुर संगीत मान इस महाकवि ने बहुत कुछ भारतीय ढंग की परिभाषा कर दी है। आदि और अद्वितीय कवि महर्षि वाल्मीकि ने सती शिरोमणि सीता के चरित्र-चित्रण में इसी सिद्धान्त का पोषण किया है। दुःख की दीन ध्वनि में ही उन्होंने संसार को संगीत का अविनश्वर प्रभाव दिखाया है। उनकी कारुण्यामृत वर्षिणी सीता आज भी संसार को अपने करुणा आवर्त में क्षुब्ध, चंचल अतएव सजीव कर देती है। 'जिन पाया तिन रोय' इस कवि-कथन में भी करुणा का प्रभाव प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रियतम को रोकर प्राप्त करने में ही आनन्द है। कविता इसी में है। कविवर शेली की तरह भारतीय कवि भी अपने शब्दों की हिलोर में विश्व-वेदना के तार झंकृत कर देना चाहते हैं। उनका भी यही आदर्श है···सुख की अपेक्षा दुःख में अधिक सौन्दर्य है। कविवर सनेही कृषक क्रन्दन, शैव्या का विलाप, दीनों की आह, आँसू आदि दुःख की कविता में ही अपने कवित्व का विकास अधिक कर सके हैं। वे कहते हैं—

अश्रु जो आये कपोलों पर ढलक,
मोतियों की है भरी उनमें झलक;
बुन्द ही में सिन्धु है सौन्दर्य का,
पर पलक भर में गया वह तो छलक !

एक बूँद में ही कवि का कविता-सिन्धु उमड़ रहा है। यहाँ कवि के हृदय में बिन्दु छलककर सौन्दर्य-सिन्धु के लिए इन्दु का काम कर रहा है। कविवर सुमित्रानन्दन कहते हैं—

'वेदना में ही तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण हुलास।'

महाकवि रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि, जिसकी कविता संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रसिद्ध हो चुकी है—वह भी अपने हृदय में दुःख को स्थान देती है। उद्धव के ज्ञान का उत्तर गोपियों ने आँसुओं ही से दिया था। आंसुओं की धारा में उनकी ज्ञान-गरिमा—उनके विरक्तिमूलक धर्म का अहंकार चिरकाल के लिए प्लावित हो गया था। यहाँ हमें मस्तिष्क और हृदय—ज्ञान और प्रेम, विज्ञान और कविता में श्रेष्ठ कौन है इसका पूरा पता मिल जाता है। इसी प्रसंग में द्विज बलदेव कवि कहते हैं—

मति अति आपकी अबल अबला सी लगै,
सागर-सनेह कहौ कैसे पार पावैगी ?
खोलिये न जीह अरु लीजिए न नाम इत,
'बलदेव' ब्रजराज जू की सुधि आवैगी।।
सुनतहि प्रलय-पयोधि माहिं एक ऐसी,
कहर करन हारी लहर सिधावैगी।।
राधे-दृग-सलिल-प्रवाह माहिं आज ऊधो,
रावरे समेत ज्ञान गाथा बहि जावैगी।।'

दुःख की कसौटी में कविता का भाव पूर्ण विकसित हो गया है। गोस्वामीजी की अमर लेखनी ने इस विषय पर तो और भी गजब कर दिया है। श्रीरामचन्द्र-जी कहते हैं—

कहहूते कछु दुख घटि होई।
काहि कहौं यह जान न कोई।।
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एक मन मोरा।।
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं।
जानु प्रीति रस इतनेहि माँहीं।।

यह आँसुओं का श्रृंगार है। यहाँ गोस्वामीजी श्रीरामचन्द्रजी के मुख से दुःख का वर्णन नहीं कराते, किन्तु एक विचित्र युक्ति से उसका वहीं अन्त कर देते हैं। वह युक्ति के नाम से तो नीरस है, परन्तु अर्थ बड़ा ही मधुर, इतना मधुर कि प्रिया के लिए उससे अधिक सुखद—अधिक अभीप्सित और कुछ भी न होगा। इन चौपाइयों में गोस्वामीजी दो युक्तियों से काम ले रहे हैं। पहले तो वे श्रीरामचन्द्र-जी से कहलाते हैं—'प्रिये, कह देने से दुःख का भार हलका हो जाता है परन्तु मैं किससे कहूँ ?— कोई समझनेवाला भी तो हो। समझनेवाले के अस्तित्व तक को लोप करके दुःख के साथ श्रृंगार और प्रेम को गोस्वामीजी कितना ऊँचा उठा देते हैं, यह देखते ही बनता है। फिर सीता के हाथों वे श्रीरामचन्द्रजी का मन भी सौंप देते हैं और यह एक अनुकूल युक्ति की योजना करके ! अस्तु कविवर शेली की तरह भारतीय कवियों ने भी करुणा की मलिन दीप्ति में कविता-कामिनी के विरह-विधुर सौन्दर्य को कला की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। इसके अति-रिक्त, भारत में करुणा एक अलग रस ही है।

रवीन्द्रनाथ अपनी मानससुन्दरी कविता-कामिनी का आवाहन एक दूसरे ही ढंग से करते हैं। यह ढंग जितना ही नवीन है, उतना ही सुन्दर है। हाँ, कविकुल-चूड़ामणि कालिदास के लिए यह ढंग नवीन नहीं। वे, बहुत पहले ही, अपने रंग-मंच की अलोकसामान्य सुन्दरी शकुन्तला की वर्णना में—उसके चरित्र-चित्रण में इस कला पर कारीगरी करके, पूर्ण सफलता प्राप्त कर चुके हैं। यह कला निराभरण सौन्दर्य की है। रवीन्द्रनाथ अपनी कविता को इन शब्दों में आमन्त्रित करते हैं—

आज किछू काज नाई सब छेड़े दिये।
छन्द-बन्ध-ग्रन्थ-गीत, ऐसो तुमी प्रिये।।
आजन्म साधनधन सुन्दरी आमार।
कविता — कल्पना - लता, —

रवीन्द्रनाथ कविता से छन्द, बन्ध, गीत सबकुछ छोड़कर आने के लिए प्रार्थना करते हैं। वे अपनी साधना की सम्पत्ति कविता-कामिनी को न छन्द के रूप में देखना चाहते हैं, न उसका किसी बन्धन में जकड़कर आना ही उन्हें पसन्द है, न वे उसके हाथ में कोई ग्रन्थ देखना चाहते हैं, न उससे संगीत सुनने की ही उन्हें अभिलाषा है। वे उसे बुलाते हैं, परन्तु किसी काम से नहीं बुलाते।

रवीन्द्रनाथ के इस बिना कार्य के आवाहन में भी एक कविता है, और उनकी आजन्म साधनाधन कविता-सुन्दरी के निराभरण सौन्दर्य में तो कविता का पूर्ण विकाश हो गया है।

अन्यान्य कितने ही कवियों ने अपनी रुचि के अनुकूल कवि की परिभाषाएँ और कविता का चित्र-चित्रण किया है। हिन्दी संस्कृत के अनुसार कवि का एक खास अर्थ करती है; कभी-कभी कवि का धातुगत अर्थ भी काम में लाया जाता है। कविता की परिभाषा, रसात्मक वाक्यं काव्यम् कहकर समाप्त कर दी जाती है। सूत्र रूप में कवि और कविता का यह परिचय बहुत अच्छा है। परन्तु इसके विश्लेषण की बड़ी आवश्यकता है। अमुक विद्वान ने अमुक विषय पर यह कहा है, अतएव यह मान्य है ऐसी प्रथा का विद्वमण्डली में भी प्रचार है। यह कुछ अंशों में अच्छा है परन्तु कुछ अंशों में बुरा भी है। इस प्रकार के उदाहरणों का आधार अन्धविश्वास न होकर एक अनुकूल और सबल युक्ति होनी चाहिए।

प्रमाणस्वरूप कवि शब्द को ही लीजिए। व्याकरणाचार्य कवि का धातुगत अर्थ निकालकर उसे नाचनेवाला नट अथवा नर्तक बतलाते हैं। और पिंगलाचार्य की एक दूसरी ही राय देखने को मिलती है, वे उसी शब्द का अर्थ अपने शस्त्रास्त्र से छिन्न-भिन्न करके, अपने ही अनुकूल उसे छन्दों की लड़ियों पर चलनेवाला बतलाते हैं। इस तरह कवि की स्वतन्त्र सत्ता को छुपाकर कोई उस पर व्याकरण का बोझ लाद देता है और कोई छन्दों का गुलाम बना डालता है। कवि शब्द को लेकर साहित्यिक महाशय अपनी खिचड़ी अलग पकाते हैं। वे उसी शब्द का एक तीसरा ही अर्थ करते हैं।

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।' यहाँ कवि के परिचय में मनीषी, परिभू और स्वयंभू ये तीन शब्द आये हैं। हम देखते हैं, परिभू और स्वयंभू के स्वरूप जिस तरह अक्षरों में एक-दूसरे से नहीं मिलते उसी तरह ये अपना एक अलग अर्थ भी रखते हैं। कवि में मनीषी, परिभू और स्वयंभू इन तीनों भावों का कुछ साम्य भले ही हो, कवि क्यों मनीषी होने लगा? कवि एक स्वतन्त्र शब्द है अतएव इसका अर्थ भी स्वतन्त्र है। मनीषी एक पृथक् शब्द है, उसका भी अर्थ पृथक् है। अपरञ्च 'मनीषी', 'परिभू' और 'स्वयंभू' ये कवि के प्रतिशब्द भी नहीं। फिर क्यों इस 'कवि' के लिंग, वचन और कारक के साथ 'मनीषी', 'परिभू' और 'स्वयंभू' की समता देखकर, कवि के साथ उसके अर्थ का भी साम्य मान लें? दूसरे व्याकरणाचार्य के अनुसार, कवि का नाचनेवाला अर्थ न 'मनीषी' में है, न 'परिभू' में, न 'स्वयंभू' में। तो फिर कैसे 'कवि' मनीषी, परिभू और स्वयंभू बन सकता है? यहाँ कवि को मनीषी बतलाने में हम भले ही न विरोध करें परन्तु यदि आपके पड़ोस में कोई व्याकरणाचार्य महाशय रहते हैं तो हम अवश्य कहेंगे। आप अगर 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' रटकर ही शान्त रह जायँगे उसकी अनुकूल व्याख्या न करेंगे तो यह वेदवाक्य आपके लिए इन्फ्लुन्जा से भी ज्यादा खतरनाक हो जायेगा, क्योंकि व्याकरणाचार्य महाशय आपको ऐसे ही न छोड़ देंगे वे महाभाष्य से लेकर क्षुद्र घण्टिका तक के सूत्र और साधनिका रटते हुए आपके नाकों दम कर देंगे। वे कहेंगे—कवेर्नैतन्माननीयं प्रमाणम्। धात्वर्थोऽस्ति कश्चिदन्यः। उस

समय आप—साहित्यिक किस उपाय से उन्हें समझाकर शान्त करेंगे ? यही दशा पिंगलाचार्य भी कर सकते हैं।

यहाँ किसी शास्त्र का विरोध करना अन्याय होगा। हमें एक ऐसी युक्ति देनी चाहिए जो स्वतन्त्रता और मौलिकता भी सिद्ध करती रहे। 'कवि' का अर्थ नाचनेवाला ठीक है। यह नर्तन ताल-ताल पर पैरों का उठना और गिरना नहीं, किन्तु भावावेश में हृदय का नर्तन है। भावावेश में हृदय के नर्तन के साथ ही, शब्द भी निकलते रहते हैं। यदि शब्दों का अस्तित्व लुप्त कर दिया जाय तो भाव का भी लोप हो जाता है, क्योंकि भाव और शब्द परस्पर सम्बद्ध हैं। हृदय का नर्तन शब्दों की गति से ही होता है, अन्यथा वह जड़ और निष्प्राण सिद्ध होगा। इस तरह व्याकरणाचार्य के अनुसार, कवि का अर्थ नाचनेवाला हम प्रमाणित कर देते हैं। पिंगलाचार्य के अनुसार शब्दों की लड़ियों पर चलनेवाला कवि है, यह भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि, भावात्मक शब्द हृदय के स्पन्दन या नर्तन के साथ ही, जब तक परिमित वृत्त में घूमते रहते हैं तब वह वृत्त या शब्दावर्त छन्द कहलाता है—फिर वह वृत्त चाहे शार्दूलविक्रीड़ित हो या इन्द्रवज्रा, शिखरिणी हो या वीर। यहाँ, पिंगलाचार्य भी 'कवि' की उदार परिभाषा में आ जाते हैं— उनसे भी कोई विरोध नहीं रह जाता। हम पिंगलाचार्य के सम्बन्ध में एक बात और कहेंगे।

आजकल कुछ नये कवि पैदा हो गये हैं। उनकी रचनाओं में पिंगल के नियम का पालन नहीं होता, अथवा यह कहना चाहिए कि वे जानबूझकर अपनी मौलिकता के अभिमान से प्राचीन नियमों का अनुसरण नहीं करते। उनकी इस स्वतन्त्र गति को बाधा पहुँचाने के उद्देश्य से कितने ही कवि कितने ही लेखक कितने ही समालोचक और कितने ही पिंगलाचार्य गद्य और पद्य दोनों ही में उनकी समालोचना करते हुए, अपने शिष्टाचार और अपनी मनुष्यता की हद कर देते हैं। किसी-किसी पत्र ने तो उनकी मा-बहन तक की खबर ली है. उनके प्रति हिन्दी संसार के इस व्यवहार से सिद्ध है कि उनकी रचनाएँ उसे पसन्द नहीं, उनका तिरस्कार करना ही उसका उद्देश्य है। ठीक है। परन्तु किसी विषय की मीमांसा अधिकसंख्यक मनुष्यों की राय पर छोड़ देना विवेचक का काम नहीं। अधिकसंख्यक मनुष्यों की राय सम्भव है निराधार हो—रीति-रवाज़ रूढ़ि या अब तक ऐसा होता आया है अतएव ऐसा ही होना चाहिए, यही उसका एकमात्र कारण हो। हिन्दी-संसार ने उन कविताओं की आलोचना करते हुए प्रथम आक्षेप उनके छन्द पर किया है। उसे उन कवियों के छन्द पिंगलपोथी में नहीं मिले। उन कवियों में किसी का छन्द विषममात्रिक है। कोई-कोई उसे स्वच्छन्द छन्द कहते हैं, कोई-कोई छन्द सममात्रिक होने पर भी पिंगल के वर्णित छन्दों की संख्या में नहीं आते। दोष का कारण मुख्य इतना ही है। अच्छा पिंगलाचार्य और हिन्दी के विरोधी संसार से हमारा विनयपूर्वक यह प्रश्न है—क्या आप प्रमाण दे सकते हैं कि आपका परमसिद्ध घनाक्षरी छन्द 2000 वर्ष पहले भी भारत में प्रसिद्ध था। चार वेद, छः शास्त्र और अठारह पुराणों की सीमा में क्या कहीं भी आप उसका उल्लेख दिखा सकते हैं ? सवैया, दोहा आदि जितने

अधिकांश वर्णवृत्त और मात्रिक छन्द जो आपके साहित्य में इस समय प्रचलित हैं, इनके लिए भी हमारा यही प्रश्न है। सारा संस्कृत छन्दशास्त्र आप देख जाइए, यदि उसमें कहीं आपको अपने प्रमाण की पुष्टि में कुछ न मिले, यदि आप असफल हों तो आपको जिस तरह यह मान लेने में हानि न होगी कि संस्कृत युग के पश्चात् चन्द कवि के हो जाने पर जब हिन्दी का युग आया तब तत्कालीन भाषा-प्रवाह की सुविधा के विचार से हिन्दी के कवियों ने इन नवीन छन्दों की सृष्टि की थी, उसी तरह अपनी ही विचारधारा के अनुसार यदि आप यह भी मान लें कि वर्तमान युग के नये कवि वर्तमान शैली की सुविधा के विचार से नवीन-नवीन छन्दों (सम और विषम) की सृष्टि कर रहे हैं तो इससे आपकी क्या हानि होती है ? क्या आप सृष्टि का क्रम रोकना चाहते हैं ? या छन्दों के पुराने आवर्त में ही कवियों को पेरकर उनसे कवित्व रूपी तेल निकालना चाहते हैं।

इस सम्बन्ध में हम अभी कुछ और कहना चाहते हैं। पहले हम कह आये हैं, छन्द शब्दों का आवर्त है। इसे साफ करके यों कहना चाहिए कि छन्द स्वर का तार है वह शब्दों की माला है, अर्थात्मक वाक्यों की एक परिमित लड़ी है। चौताल में कोई चाहे भैरवी गाये या गौरी, विहाग गाये या तिलककामोद, मुलतान गाये या कान्हरा, सबमें वही—धाधा धिन्ता कत्तिक धिन्ता किटतक् गदगिन्—बजता है। संगीत की उतनी ही स्थिति में बजानेवाला अपने वाक्य को दून भी कर देता है और दून में भी वाक्य की स्वरस्थिति उतनी ही रहती है जितनी 'ठा' में। अक्षरों से इसका तात्पर्य यों कहा जाता है—चार दीर्घ वर्णों की उच्चारणस्थिति जितनी होगी उतनी ही आठ ह्रस्व वर्णों की। इससे हमें यह सूचित होता है कि संगीत के ताल में जिस तरह शब्दों की एक परिमित लड़ी होती है, छन्द में भी उसी तरह स्वर का एक परिमित बहाव होता है। उस परिमित बहाव में यदि छन्द मात्रिक है तो हरएक लड़ी की मात्राएँ बराबर होंगी और यदि वह गणात्मक है तो हरएक पंक्ति में गणों की समान संख्या रहेगी, और यदि वह वर्णवृत्त है तो प्रत्येक तार के अक्षर बराबर होंगे। बस यही छन्दःशास्त्र का मूलमन्त्र है फिर चाहे कोई लड़ियों के करोड़ों भेद बना डाले, किसी लड़ी में यगण, मगण और नगण के संयोग से मदन-दहन छन्द की सृष्टि करे और चाहे किसी में सोलह मात्राएँ रखकर उसका नाम उलूकमोहन रक्खे; यह कोई वैज्ञानिक बात नहीं।

ये सब छन्द नियमों में बँधे हुए हैं, अतएव इन नियमों में बँधकर जो कविता की जायेगी वह मुक्त काव्य नहीं हो सकेगी। जिस तरह मुक्त पुरुष संसार के किसी नियम के वशीभूत नहीं रहते, किन्तु उन नियमों की सीमा पार कर सदा मुक्ति के आनन्द में विहार करते रहते हैं उसी तरह मुक्त कवि भी अपनी कविता को पिंगल के बन्धन में नहीं रखना चाहते। भारती के सूक्ष्म भाण्डार के अधिकारी वे अमर कवि उसे सम्पूर्ण नियमों से मुक्त कर देते हैं। उनकी कविता परिमित नहीं—अमित है। वह पराधीन नहीं स्वाधीन है। वह एक संकीर्ण सीमा में विहार करनेवाली नहीं अनन्त और असीम ब्रह्माण्ड उसका क्रीड़ा-स्थल है।

मुक्त काव्य के सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य एक बात और है। वह यह कि किस तरह मुक्त महापुरुष, नियमों और बन्धनों से स्वतन्त्र रहने पर भी,

दुराचारी या अत्याचारी नहीं कहला सकते किन्तु वे पुरुष की यथार्थ सत्ता का बोध कराते हैं, उसी तरह कवि के मुक्त काव्य में नियमों और बन्धनों का अनुशासन न रहने पर भी वह काव्य का यथार्थ रूप है, किन्तु उससे उच्छृंखलता, दुराचार या किसी अन्य दोष की उद्भावना नहीं हो सकती। यह बात मुक्ति से भी प्रमाणित की जा सकती है। पहले हम कह आये हैं कि भावावेश में कवि जब छन्दोबद्ध कविता करता है, तब वह अपने हृदय—नर्तन, स्फूर्ति, शब्द-विकाश या कविता को किसी छन्द में परिमित कर लेता है। इस तरह उसकी कविता एक परिधि में चक्कर लगाया करती है। परन्तु जो कवि मुक्त काव्य करने की अभिलाषा रखते हैं वे भाव के आने पर अपने शब्दों को किसी निर्दिष्ट छन्द में न बाँधकर उन्हें अनर्गल रूप से—ज्यों-ज्यों वे निकलते आते हैं उसी रूप में—लेखबद्ध कर लेते हैं—वही मुक्तकाव्य कहलाता है। इसके तार टुकड़ों में बँटे हुए नहीं होते। भावों की भिन्नता रहने पर भी वह शुरू से अखीर तक एक बहुत सुहावना साम्य चित्रित कर देता है। यदि वह यथार्थ ही हृदय का उद्गार है तो उसमें दोष तो रही नहीं सकता है। इस ढंग की कविता अर्थात् मुक्त काव्य इस समय संसार की प्रतिष्ठित सभी भाषाओं में प्रचलित हो गया है। इसका अभाव हिन्दी में ही है। छन्दोबद्ध काव्य में कृत्रिमता की कलई चाहे कुछ देर से खुले, परन्तु मुक्त काव्य में तो वह तत्काल पकड़ में आ जाती है। दुःख के साथ कहना पड़ता है, हिन्दी में कविता का मुक्त स्वरूप देखने के लिए अभी हमें बहुत दिनों तक अपेक्षा करनी होगी।

हम संक्षेप में पिंगल सम्बन्धी अपने विचार प्रकट कर चुके। 'कवि' के विषय में हमें अभी कुछ और निवेदन करना है। यदि कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू परमात्मा के परिचय में आये हुए, एक-दूसरे से सम्बन्ध न रखनेवाले शब्द हैं तो फिर तर्क की जगह नहीं रह जाती, परन्तु यदि यह मनीषी, परिभू और स्वयंभू 'कवि' के परिचायक हैं तो परिभाषा लिखनेवाले ने जिस तरह 'कवि' को मनीषी बतलाया है, उसी तरह हम गणितज्ञ, विज्ञानवेत्ता, भूगर्भशास्त्री, वैद्य, साहित्यिक, समालोचक, राजनीतिज्ञ, किंबहुना जिस किसी विषय के विद्वान् को मनीषी कह सकते हैं, और उसके परिचायक शब्द के रूप में 'मनीषी' शब्द का व्यवहार कदापि दोषदुष्ट नहीं कहा जा सकता है। 'कवि' के परिचायक जो तीन शब्द—मनीषी, परिभू और स्वयंभू—आये हैं—इस तरह के प्रयोगों को अंग्रेजी में Same Case (समान कारक) कहते हैं—उनमें स्वयंभू सबसे जोरदार है। हम इसी स्वयंभू शब्द पर विचार करेंगे।

इस 'स्वयंभू' शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है। अंग्रेजी की कहावत 'Poet is born not made' इस स्वयंभू शब्द की मानो व्याख्या ही है। पश्चिम भी कवि को स्वयंभू मानता है। यहाँ इस 'स्वयंभू' शब्द की अवतारणा हमने एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए की है। इस उद्देश्य का आधार दर्शन है। दर्शन-शास्त्र के अनुसार 'कवि' को स्वयंभू कहना जितना अर्थसंगत है उतना ही अर्थ-विरुद्ध; 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' यह दर्शन-वाक्य पश्चिम में प्रचलित नहीं अतएव वे यदि कवि के लिए Poet is born not made कहें तो उनकी दर्शन विषय की अज्ञता के कारण उनका यह कथन बालक-वाक्य की तरह

मान लिया जा सकता है। वे पूर्व जन्मार्जित संस्कारों को भी समझना, अतएव मानना नहीं जानते। रही भारत की बात सो यहाँ 'कवि' को 'स्वयंभू' कहिए, तो दार्शनिक विद्वान् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को पुष्ट युक्ति के सहारे स्वयंभू प्रमाणित कर देंगे। जो मनुष्य पूर्वार्जित संस्कारों को लेकर अधिक प्रयास के बिना ही प्रतिभाशाली कवि हो जाता है, उसे बहिर्दृष्टि से देखकर कोई उसके परिचय में स्वयंभू शब्द भले ही लगा दे, परन्तु दार्शनिक विद्वान् उन्हें पूर्वार्जित संस्कारों से ही प्रतिभाशाली कवि हुआ सिद्ध करेंगे। यह भी कहेंगे कि दृढ़ मनःशक्ति को प्राप्त कर—सच्ची लगन लगाकर—कविजनोचित संस्कारों को प्रबल करके इस जन्म में ही मनुष्य प्रतिभाशाली कवि हो सकता है। इस जन्म में जिस कवि को थोड़े प्रयास में ही अच्छी सफलता मिल जाती है, समझना चाहिए उसने पूर्वजन्म में कविताविषयक संस्कारों को प्राप्त कर लिया था। दर्शनशास्त्र कहते हैं, प्रत्येक मनुष्य के केन्द्र में ब्रह्म अवस्थित है जिसका अस्तित्व ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुएँ और मनःशास्त्र के सभी विषयों में है। यही कारण है कि मनुष्य जिस विषय की कामना करता है—जिसके लिए सच्ची लगन लगाता है, उस विषय की कामना हृदयस्थित ब्रह्म तक पहुँचकर, प्रबल संस्कारों की सहायता से, बीज से समुद्गत वृक्ष की तरह विशालकाय होकर, उसी ब्रह्म से कार्य अतः पर-सिद्धि को लेकर उपस्थित होती है। कविता सम्बन्धी संस्कारों के लिए भी यही बात है। कोई कवि हो या न हो, यदि वह चाहे तो कभी महाकवि अवश्य हो सकता है। कारण उस ब्रह्म से उसकी वासना की पूर्ति अवश्य होगी। इसीलिए ब्रह्म को मनस्काम कल्पतरु कहते हैं। स्वयंभू ब्रह्मा के सिवा और कोई नहीं। शास्त्रकारों या विद्वानों ने जहाँ 'कवि' की परिभाषा में "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" लिखा है, वहाँ समझना चाहिए, कवि वे किसी मनुष्यविशेष को नहीं मानते, किन्तु मनुष्य के अन्तस्तल में अवस्थित ब्रह्म को ही इन शब्दों द्वारा निर्वाचित करते हैं। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, जहाँ विभूति, प्रतिभा और ऐश्वर्य का विकाश हो उसे मेरा ही विकाश समझो। प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक विषय के सारतत्त्व तक पहुँचकर उसकी व्याख्या करना भारत का ही काम है, और यदि उसकी जाँच-पड़ताल—ढूँढ़-तलाश में कोई कसर रह गयी होती तो पतन के इस भयानक युग में भारत और भारतीयता का अस्तित्व भी लुप्त हो गया होता। अस्तु, कहना पड़ता है, कवि की परिभाषा में भारतीय मस्तिष्क ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता का पूर्ण परिचय दिया है। सच है—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।" पहले किसी जगह हमने 'मनीषी' को साधारण (Common) शब्द बताया है, परिभूव्यापक। 'स्वयंभू' का यथार्थतत्त्व जब तक न कहा जाय तब तक उन्हें उसी दशा में रखना हमें उचित जान पड़ा था। यदि कवि को केवल 'स्वयंभू' कहकर परिभाषाकार शान्त रह जाते तो अर्थ में एक महाअनर्थ की सृष्टि हो सकती थी, कवि की महत्ता कंकड़-पत्थर और पेड़-पौधों से बढ़कर न समझी जाती; कारण, कंकड़-पत्थर और पेड़-पौधे भी स्वयंभू हैं। वे भी कवि की तरह अपनी ही प्रकृति से उगते और फूल-पत्ते लेते हैं, अन्तर यही है कि कवि की तरह मनीषी नहीं। उनमें चेतनता का बहुत ही थोड़ा आभास है। वे अपनी ही कृति को विकसित करते हैं, दूसरों की सुदर्शन कृति

का न उन्हें बोध है, न वे उसका वर्णन कर सकते हैं। मनीषी और व्यापक परिभू कवि की इसी विशेषता को प्रकट करते हैं। परिभू का प्रयोग व्याप्ति अर्थ के अतिरिक्त वाक्य सौष्ठव के लिए भी किया गया है।

हम अब वर्तमान कवियों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहते हैं। यह निर्विवाद है कि कवि पर देश, काल और समाज का प्रभाव पड़ता है। कवि ही पर क्यों सम्पूर्ण मनुष्यजाति पर यह प्रभाव पड़ता है। जिन कार्य-कारणों के घात-संघातों से मानवीय मस्तिष्क के विचार बदलते हैं, चाल-चलन, वेश-भूषा में उलट-फेर होते रहते हैं, स्मृतियाँ और व्यवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, वही कार्य और कारण भाषा और साहित्य के रूपान्तरित होने के कार्य और कारण कहे जाते हैं। हम देखते हैं मनुष्य तो क्या, भगवान बुद्ध जो मनुष्यत्व और देवत्व की पदवी को पार कर अमर ब्रह्मपद पर आरूढ़ हो गये थे वे भी देश, काल और समाज का विचार नहीं छोड़ सके। उसका साहित्य उस समय की प्रचलित भाषा पाली में निर्मित हुआ था। बहुत पुरानी बात जाने दीजिए। मुसलमानी जमाने की बात लीजिए। तत्कालीन हिन्दू समाज पर मुसलमान वेश, मुसलमान भाषा, मुसलमान रीति-रवाज़ किंबहुना, मुसलमानों के प्रत्येक विषय का प्रभाव पड़ा है। उस समय के हमारे हिन्दी साहित्य में आधे से अधिक शब्द और प्रायः सभी मुहावरे मुसलमानों की दी हुई भीख है अथवा यह कहिए कि मुसलमान कवियों से मुसलमान साहित्य से स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए हमारे विद्वानों और कवियों ने उनके शब्दों और मुहावरों को अपने साहित्य में स्थान दिया है, अथवा मुसलमान आधिपत्य के कारण, उनकी भाषा, उनके शब्द आप-ही-आप हमारे समाज में आकर हमारी सम्पत्ति बन गये हैं, "खलल खलक ही," "गजब गुजरात गरीबन की धार पर" ऐसी कविताओं में आपके कितने शब्द हैं? 'Either sword or koran' का वेग तो किसी तरह हिन्दू रोक भी सकते थे, परन्तु भाषा का उद्दाम वेग नहीं रोक सके। रोकते कैसे? भाषा प्राणों की वस्तु जो है। वह निर्जीव हिन्दू जाति के प्राणों के साथ स्पन्दित, प्रतिध्वनित और प्रतिमुहूर्त स्फुरित होकर उसकी अपनी वस्तु बन गयी थी। एक तो उसे समय का बल मिला था, दूसरे वह स्वमदगर्विता थी। हिन्दुओं ने उसे अपनाया।

एक भूषण को छोड़ और जितने कवियों ने उसे अपनाया, उन्होंने उसका प्रवाह पतन की ओर ही बहाने की चेष्टा की। अतएव व्रजभाषा पर हम फिर कभी निवेदन करेंगे। अभी हमारे इस कथन का इतना ही तात्पर्य है कि कोई समाज समय का प्रवाह नहीं रोक सकता है। आजकल भारत में जागृति का युग है। जाति में भी और साहित्य में भी। भारत के अपर प्रान्तों की भाषाएँ और उनके साहित्य इस समय बहुत ही उन्नत हैं। बंगाल की भाषा और उसका साहित्य संसार में प्रसिद्ध हो रहा है। भारत का सबसे बड़ा विज्ञानवेत्ता, सबसे बड़ा दार्शनिक, सबसे बड़ा पुरातत्त्वज्ञ, सबसे बड़ा कवि, सबसे बड़ा रसायनज्ञ, सबसे बड़ा साहित्यिक, सबसे बड़ा चित्रकार, सबसे बड़ा राजनीतिज्ञ, सबसे बड़ा चिकित्सक, सबसे बड़ा वक्ता, सबसे बड़ा नट आपको बंगाल में ही मिलेगा। एक बहुत बड़े विद्वान का कथन है, What Bengal thinks today, India thinks tomorrow, अर्थात् बंगाल

आज जिस विषय पर विचार करता है, सम्पूर्ण भारत कल उस पर विचार करेगा। यद्यपि हमारे शास्त्रों का यह कथन है —

"श्रद्धानो शुभां विद्यामाददीता वरादपि।"

तथापि हम आपको बंगाल के पैरों पड़कर शिक्षार्जन करने की सलाह नहीं देते। इस उद्धरण से हमारा उद्देश्य केवल यही है कि आप सोचें, वह कौन-सा कारण है जिसके कार्यरूप में बंगाल आज इतना उन्नत हो रहा है। आप देखेंगे, उसकी इस उन्नति का कारण बस यही है कि उसने आपसे बहुत पहले ही वर्तमान युग को पहचाना था और आपसे बहुत पहले ही अपने को तदनुकूल तैयार कर लिया है।

रवीन्द्रनाथ यदि समय का प्रवाह न देखते तो उन्हें शायद ही इतनी प्रसिद्धि मिलती। व्रजभाषा के युग में हमने फ़ारसी-साहित्य को अपने ढंग पर अपने साँचे में ढाल लिया था और इस तरह अरब से लेकर अफगानिस्तान तक की भूमि को अपने हृदय में मिला लिया था। अब हमें पूर्व और पश्चिम को एक करना है और इस तरह समस्त भूमण्डल को हृदय से लगाना है। इस बार हमें और भी वृहत् कार्य करना होगा। यही समय की सूचना है।

समय की इस सूचना को देखते हुए हमें कहना पड़ता है, कवि और कविता की परिभाषा में अब कुछ परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन क्या और कैसा है इस पर हम अगले अंक में विचार करेंगे।

['कवि', मासिक, कानपुर, पौष, संवत् 1981 (वि.) (दिसम्बर, 1924—जनवरी, 1925)। असंकलित]

साहित्य की समतल भूमि

जब कोई ऐकदेशिक दृष्टि से किसी गम्भीर प्रश्न पर रायजनी करता है तब हृदय को बड़ी कड़ी चोट पहुँचती है। अधिकारी विद्वानों को इतना तो अवश्य ही मालूम होगा कि ऐकदेशीयता स्वरूपतः संकीर्णता है। उससे कुछ ही लोग सन्तोष कर सकेंगे। अतः जब किसी अधिकारी विद्वान की राय आदर्शतः समष्टिगत लोगों के फ़ायदे के लिए होगी, तभी वह पुरअसर हो सकेगी, अन्यथा जिस सीमा के अन्दर वह गूँज रही है, जिस सीमा के अन्दर वह बन्द है, उसी की हद तक के रहनेवालों के लिए वह बड़े काम की हो सकती है। उसके बाहर के रहनेवालों तक न तो उसकी आवाज ही पहुँचती है और न उसकी ओर उनका ध्यान ही जाता है।

सीमा के अन्दर घिरकर बन्द रहना जिस तरह मनुष्यों की प्रकृति है उसी तरह सीमा के संकीर्ण बन्धनों को पार कर जाना भी मनुष्यों की ही प्रकृति है, पहली ऐकदेशिक है, दूसरी व्यापक। इस बीसवीं सदी में, सभ्यता के विस्तार के साथ मनुष्यों की ज्ञान-लिप्सा भी सीमा-बन्धनों को उत्तरोत्तर पार करती जा रही

है। साथ ही प्रत्येक भाषा के ऊंचे अंग के साहित्य का दूसरी भाषा से मिलान करके भाषा-संसार में समता-मैत्री की चेष्टा भी की जा रही है। विद्वानों की यह धारणा है कि इस तरह सुविस्तृत संसार सम्पूर्ण क्षुद्रताओं को लिये हुए भी विभिन्न भाषा-भाषियों के लिए वृहत् मित्र-मण्डल हो जायेगा। बड़े-बड़े लोग उसकी क्षुद्रताओं की ओर ध्यान न देंगे—वे जानते हैं कि उन क्षुद्रताओं के भीतर से गुजरकर ही लोगों को असीमता तक पहुँचना है। और चूँकि सदा ही छोटों पर बड़ों का प्रभाव रहा है, इसलिए संसार के प्रबुद्ध मित्र-मण्डल का दबाव वे अवश्य मानेंगे और संसार के वर्तमान अधिकांश संकीर्ण भावों का लोप हो जायगा, कम-से-कम उनका आतंक न जम सकेगा। अभी उस दिन बम्बई के किसी प्रेस रिपोर्टर के पूछने पर कविवर रवीन्द्रनाथ ने हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े का कारण दोनों का अज्ञान बतलाया था। उन्हें आशा है कि शिक्षा-विस्तार दोनों में मैत्री ला सकेगा।

इस लेख में हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि साहित्य की समतल भूमि कैसी है और रीति-रवाज़ों में हिन्दुओं से सम्पूर्णत: पृथक् मुसलमान जाति भी साहित्य और ज्ञान की भूमि में हिन्दुओं के समान ही है।

ज्ञान का शिखर वेदान्त है। विश्वमैत्री इसकी शिक्षा है। पूर्णता इसके प्राण हैं और हिन्दुओं की शाखाएँ इनके अंग-प्रत्यंग। प्राचीनता का विचार रखकर हमें कहना पड़ता है कि आर्य ऋषियों द्वारा आविष्कृत होने के पश्चात संसार को वेदान्त का प्रकाश मिला है। सम्भव है कि उनके द्वारा इसका प्रचार भी हुआ हो। देशी जादूगरों की तरह मन्त्र के छिपाने की आदत अवश्य ही ज्ञानियों में नहीं रहा करती।

उर्दू साहित्य में विश्व-साहित्य की समतल भूमि प्रत्यक्ष कीजिए। नज़ीर लिखते हैं—

कुछ ज़ुल्म नहीं कुछ ज़ोर नहीं
कुछ दाद नहीं फ़रियाद नहीं।
कुछ कैद नहीं कुछ बन्द नहीं
कुछ जब्र नहीं आज़ाद नहीं।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं
वीरान नहीं आबाद नहीं।
हैं जितनी बातें दुनियाँ की
सब भूल गये कुछ याद नहीं।
हर आन हँसी हर आन ख़ुशी
हर वक़्त - अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।

यह आनन्ददायिनी अवस्था है। भावभूमि का पथिक, कवि नज़ीर, इस समय ज्ञानभूमि में है। उसकी ऐकदेशिकता नष्ट हो गयी है। बाधाओं के बाँध काटकर कल्पना की राह से बहती हुई भाषा-स्रोतस्विनी आनन्द-सिन्धु से मिल रही है—ज्ञान की असीमता के साथ। इस समय नज़ीर मुसलमान नहीं हैं, इस समय वे

मनुष्य भी नहीं हैं, इस समय वे किसी व्याख्या के द्वारा सीमा के अन्दर नहीं आ सकते। उनकी कविता खुद उनकी व्याख्या कर रही है। भारतीय साहित्य में इस भाव की बड़ी प्रबलता है। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

नहिं राग न रोष न मान मदा। तिनके सम वैभव वा विपदा।

दोनों के भाव में फर्क नहीं। अन्तरंग ध्वनि बिलकुल मिल रही है। साहित्य की इस समतल भूमि पर नज़ीर और तुलसीदास पारस्परिक भेद-भाव नहीं रख रहे। यदि भेद होगा तो वे इस भूमि से गिर जायेंगे। विश्व साहित्य के लिए यही समतल भूमि कही जा सकती है।

ज्ञान की सर्वोच्च दृष्टि से नज़ीर क्या देखते हैं, देखिए—

दुनियाँ में बादशा है सो है वह भी आदमी
और मुफ्लिसो गदा है सो है वह भी आदमी।
ज़रदार बेनबा है सो है वह भी आदमी
नेमत जो खा रहा है सो है वह भी आदमी।
टुकड़े जो माँगता है सो है वह भी आदमी।

याँ आदमी ही कहर से लड़ते हैं घूर-घूर।
और आदमी ही देख उन्हें भागते हैं दूर।
चाकर गुलाम आदमी औ' आदमी मजूर।
याँ तक कि आदमी ही उठाते हैं जाजरूर।

यहाँ नज़ीर आदमी के अन्दर एक ही सत्ता देखते हैं जो स्वरूपत: एक है किन्तु अनेक प्रकार के कार्य करती है; जो एक जगह हँसती है और दूसरी जगह रोती है, एक जगह शाहंशाह है, दूसरी जगह फकीर। यह दृष्टिपात करने, भेद का सच्चा कारण प्रत्यक्ष कर लेनेवाले में कभी भेद का क्रियात्मक प्रभाव रह नहीं सकता। कबीर भेद पर आक्षेप करते हैं—

हिन्दुन की हिन्दुवाई देखी तुर्कन की तुर्काई।
कहें कबीर सुनो हो साधौ कौन राह ह्वै जाई।

नज़ीर उसकी (हर चीज के इत्र की) पहचान कराते हैं—

तनहा न उसे अपने दिले-तंग में पहचान।
हर बाग़ में हर दश्त में हर संग में पहचान॥
बेरंग में बारंग में नैरंग में पहचान।
मंजिल में मुकामात में फरसंग में पहचान॥
नित रूम में औ हिन्द में औ जंग में पहचान।
हर राह में हर साथ में हर संग में पहचान॥
हर अज्म इरादे में हर आहंग में पहचान।
हर धूम में हर सुलह में हर जंग में पहचान॥
हर आन में हर बात में हर ढंग में पहचान।
आशिक है तो दिलबर को हर रंग में पहचान॥

नज़ीर के हृदय की आँख खुल गयी है। वे शाख-शाख और पत्ती-पत्ती में

आत्मा की विभूति देखकर मुग्ध हो रहे हैं और लोगों को दिखाने के लिए वैसे ही व्याकुल। जो जंग लगा हुआ, दृष्टि का बाधक हो रहा था, वह छूट गया है। भगवान (रामचन्द्र) के विश्वरूप पर कही गयी गो. तुलसीदास की इस ढंग की उक्ति और साफ है—खूब निबाहा है—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकन्ध शाखा पञ्चविंश अनेक पर्ण सुमन घने।।
फल युगल-विधि कटु-मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे।
पल्लवित फूलित नवल नित संसार विटप नमामहे।।

विजय और पराजय में, हर जगह, यथार्थ अस्तित्व के रूप से नज़ीर अद्वैत सत्ता को प्रत्यक्ष करते हैं और तुलसीदास कटु मधुर फलों को देनेवाली (माया) लता के आश्रय, संसार-विटप को एक ही अव्यक्त सत्ता का स्वरूप कहकर नमस्कार करते हैं। यहाँ नज़ीर और तुलसीदास साहित्य की समान भूमि पर हैं। दोनों के भाव एक हैं, इसलिए मन भी एक-सा है। भेद इनमें नहीं रहा। अभेद की सूझ इन्हें हो गयी है।

महाकवि ग़ालिब कहते हैं—

न था कुछ तो खुदा था कुछ न होता तो ख़ुदा होता।
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।

ग़ालिब युक्ति लड़ा रहे हैं और दो ही लाइन में कुल वेदान्त छाँटकर रख देते हैं। देखिए कैसी मजबूत युक्ति है। इस संसार का अस्तित्व ग़ालिब कहते हैं कि मैं हूँ, चूँकि मैं ही उसे देख रहा हूँ। मुझी में वह है। मैं अगर न होता तो यह संसार भी न होता। व्यष्टि और समष्टि का 'मैं' संसार को प्रत्यक्ष करता है, और चूँकि व्यष्टि और समष्टि का 'मैं' स्वरूपतः ब्रह्म है, यथार्थ सत्ता है, इसलिए ब्रह्म ही न्यायतः अपने को अनेक रूपों में प्रत्यक्ष कर रहा है। यह वेदान्त का निचोड़ है। स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है, 'एका आमी होइ बहु देखिते आपन रूप।' यह 'मैं' जब निर्विकार है तब खुदा है और जब सविकार है तब संसार में है—स्वप्नों से लिपटा हुआ। ग़ालिब चुटकियाँ लेते हैं। कहते हैं, एक खुदा ही था जब कुछ न था—जब 'मैं' निर्विकार था—ज़ाहिर करने के लिए उसके ('मैं' के) पास उसी के सिवा और कुछ न था। लेकिन बुरा हो इस 'होने' का—'भव' का—संसार का—मैं की स्वप्निल प्रगति का—उसके बहुत-सी वस्तुओं के अपनाव का, जिसने मुझे डुबा दिया है—मेरा महत्त्व छीन लिया है—मुझे छोटा कर दिया है। फिर वे कहते हैं, लेकिन भई, साथ ही इतना यह भी तो समझो कि अगर मैं न होता तो क्या यह संसार, इसकी अनेक वस्तुएँ, यह चहल-पहल रहती?—सब खो जाता 'मैं' के न रहने पर। गालिब की यह भूमि सार्वजनिक है। संसार के उन्नत और परिमार्जित विचारवाले मनुष्य उनके साथ सहमत हैं। यहाँ हिन्दू-मुसलमान और ईसाई का घेरा नहीं। सब साहित्यों के लिए इसे सम्मेलन-भूमि कह सकते हैं।

इंशा फरमाते हैं—

रखते हैं कहीं पाँव तो पड़ता है कहीं और।
साक़ी तू ज़रा हाथ तो ले थाम हमारा।

इस शेर का प्रत्यक्ष रूप न देखिए, आनन्द इसके परोक्ष रूप में है। भारत के ऋषि कह रहे हैं कि हर वक्त सच्चिदानन्द की धारा जीवों के अन्दर बह रही है; वे बहिर्मुख हैं—बहुत से विकारों से लिपटे हुए हैं, इसलिए उसे देखते नहीं, वह आनन्द उन्हें नहीं मिलता, लेकिन जब वे उसका आनन्द पा लेते हैं तब वे देखते हैं, समुद्र में गिरती हुई नदी की तरह आनन्द के साथ उनका चिरकालिक संयोग है। परमहंस देव के अमृतोपम उपदेशों में है, वे कहते थे कि सच्चिदानन्द-सागर से थोड़ा-सा ही जल पीकर शिव बेहोश हो गये हैं। उस आनन्द का नशा अज्ञानजन्य नहीं, वह ज्ञानजन्य है। लेकिन, चूँकि उस समय शरीर की याद नहीं रहती, इसलिए थोड़े आनन्द से पैरों का डिगना और अधिकता से शरीर का निश्चल हो जाना आश्चर्य की बात नहीं। इस सम्बन्ध की एक बात और। पिता जिस तरह पुत्र को अच्छी-अच्छी चीजें खिलाता है और उसकी सहायता के लिए, वह हँसता हुआ मस्ती में लड़खड़ाकर कहीं गिर न जाय इसलिए, उसका हाथ भी कभी-कभी पकड़ लेता है, उसी तरह ईश्वर भी अपने भक्तों को ज्ञानामृत पिलाते और उन्हें सँभाले रहते हैं। इंशा ने दो ही पंक्तियों में बड़ी खूबी से इस उच्च भाव को प्रकाशित कर दिया है। उन्हें वह आनन्द कविता द्वारा ही मिल रहा है। वे मस्त हैं। लेकिन अभी बेहोश नहीं हुए, कुछ ज्ञान अभी है, इसलिए पहले ही से साकी को अपनी हालत बतलाये देते हैं। साकी भी पास ही है। ईश्वर से नजदीक और कोई नहीं, भारत के कुल तत्त्ववेत्ताओं ने यही कहा है। इंशा भी, पिलानेवाले और सबसे नजदीक रहनेवाले साकी को हाथ थाम लेने के लिए आगाह कर रहे हैं। शेर की दूसरी पंक्ति का 'तो' शेर के पढ़नेवालों का हृदय खोल देता है और इंशा के हृदय से निकलकर आनन्द की धारा पाठकों के हृदय में आ जाती है। वाक्यन्यास और ध्वनि के विचार से 'तो' इंशा को सरलता की मूर्ति बना रहा है।

मीर कहते हैं—

> था मुल्क जिनके ज़ेर नगीं साफ़ मिट गये
> तुम इस ख़याल में हो कि नामो-निशाँ रहे।

अपने नाम के लिए मरनेवालों को मीर खासी नसीहत दे रहे हैं। भारत का साहित्य तो इसके लिए प्रसिद्ध ही है। भारत के उच्च साहित्य के निर्माता अपनी कृति बेनाम ही अपने उत्तराधिकारियों को दे गये हैं, वे ज्ञान तो दे गये हैं, पर नाम नहीं दे गये। स्वामी विवेकानन्दजी से विलायत की किसी अँगरेज महिला ने कहा था, तुम्हारे प्राचीन ग्रन्थों के रचयिताओं के नाम तक तुम्हें नहीं मालूम, यह कितने दुःख की बात है। स्वामीजी ने इसका उत्तर भारतीय ढंग का, हृदय तक धँस जाने-वाला, शेर के भावों का, बड़ा ही समीचीन दिया था। संसार की नश्वरता पर कुछ न कहनेवाला, शायद ही कोई भारतीय कवि होगा। लेकिन नामो-निशाँ के मिटाने का मतलब मीर का कुछ और ही है। मीर इस तरह अलख, अरूप, निरंजन की ओर इशारा कर रहे हैं। नामो-निशाँ को छुड़ाकर वे अरूप का अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं। और भी देखिए—

> व' क्या चीज़ है आह! जिसके लिए।
> हर एक चीज़ से दिल उठाकर चले॥

दिखायी दिये यूँ कि बेख़ुद किया।
हमें आप से भी जुदा कर चले ।।

परस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत ! तुझे ।
नज़र में सभों की ख़ुदा कर चले ।।

वेदान्त के चुने हुए भाव हैं । हरएक चीज से उठकर मीर का दिल खुदा पर लगता है। उन्हें नश्वर और अनिश्वर की सूझ हो गयी है। अन्तिम शेर में तो कमाल कर दिया है। पूजा और अद्वैतवाद ! हर जगह ईश्वर का अस्तित्व मौजूद है, मीर साहब इस सिद्धान्त पर कहते हैं कि मूर्ति की उन्होंने ऐसी पूजा की कि उस मूर्ति को भी उन्होंने सबकी दृष्टि में खुदा (अनाम और अरूप) कर दिया। भारतीय मूर्ति-पूजन सच्चे तत्त्व के साथ आ गया है। मीर की तरह सैकड़ों भारतीय साधक नाम और रूप की परिधि को पार कर अपनी इष्ट-मूर्ति से मिल गये हैं। मीर इसी अवस्था को दृश्यकाव्य की तरह लोगों को प्रत्यक्ष करा रहे हैं। वे खुद तो अरूप होकर चले ही, किन्तु लोगों की दृष्टि में अपनी मूर्ति को भी उन्होंने अरूप कर दिया है—मूर्ति में इतना ऊँचा—सर्वोच्च भाव भर दिया है। मीर अब मूर्ति को मूर्ति नहीं रखते। उनकी परायणता उसे खुदा कर देती है—चलते समय उनकी नजर में भी और रहनेवाले लोगों की नजर में भी।

लेख बढ़ रहा है अतः अब हम इसे समाप्त करते हैं। साहित्य के भीतर से देखिए कि साहित्य की भूमि में हिन्दू और मुसलमान बराबर हैं। दूसरे किसी साहित्य का विचार नहीं किया गया, केवल उर्दू के साथ, संक्षेप में, भारतीय भावों की परीक्षा की गयी है। साहित्य के भीतर से मैत्री की स्थापना प्रशंसनीय है। यदि विचार किया जाय तो साधारण भाव भी सब साहित्य के एक ही होंगे जबकि सब साहित्य के निर्माता मनुष्य ही हैं और एक ही प्रकृति उनके अन्दर काम कर रही है।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर श्रावण, संवत् 1983 (वि.) (जुलाई-अगस्त, 1926)। **चयन** में संकलित]

विज्ञान और गोस्वामी तुलसीदास

जब किसी लब्धकीर्ति महापुरुष के सम्बन्ध में कुछ लिखने या बोलने का विचार पैदा होता है, तब हृदय की वृत्ति, जो सदैव यथार्थ सत्ता की ढूँढ़-तलाश चाहती है स्वभावतः उसको उस भाव की ओर झुका देती है जिसके आधार पर खड़े रहने के कारण ही उसकी आत्मा का विकास हुआ था। उसी तरह श्रीमद्गोस्वामी तुलसी-

दासजी के सम्बन्ध में जब कुछ जानने के लिए जिज्ञासा एकाएक उत्सुकतापूर्वक मन की शान्त परिस्थिति को चंचल कर देती है, उसके सच्चे चित्र को देखने के लिए विकल हो जाती है, तब वृत्ति उसे अपने साथ लेकर श्रीमद्‌गोस्वामीजी की जिन परिस्थितियों पर वर्तमान समय की विद्वन्मण्डली के द्वारा बहुत कुछ प्रकाश पड़ चुका है, उन्हें पार करके बेचारे जिज्ञासु को कुछ समय के लिए उस स्थान में ले जाती है जहाँ से ललित शब्दों और मनोहर भावों की रेखा बहुत पीछे रह जाती है —अगणित जीवों के सुख और दुःख, यौवन और जरा, जन्म और मरण, आशा और शून्यता, शब्द और ध्वनि, भावी और भाव, जीव और संसार सबकुछ पीछे पड़ा रहता है। रहता है बस एक आनन्द बाधारहित—ओत-प्रोत—अनादि और निरवकाश। वहाँ पहुँचकर जिज्ञासु को वहाँ तक पहुँचानेवाली फिर न वह वृत्ति ही रह जाती है और न वह जिज्ञासा। आनन्द के उस अछोर पारावार में मन की प्रथम अवस्था के वे कितने ही बिम्ब घुलकर स्वयं भी आनन्द ही बन जाते हैं। वहाँ श्रीमद्‌गोस्वामीजी का न तो स्थूल शरीर कल्पना के नेत्रों से दिखायी पड़ता है, न उनकी वह रसमयी रचना रहती है, न कविता की उभयकूल पाविनी वह छटा, न वह मनोहर भाषा, न वे लोकोत्तरानन्ददायी भाव, न वे आकर्षक छन्द, कुछ नहीं रहता, एक उसी निर्वाद्य निस्सीम आनन्द महासागर में विलीन हो जाते हैं—वहाँ दर्शक, गोस्वामीजी की वृत्ति और महानुभाव गोस्वामीजी ये सब एकाकार हो जाते हैं, सीमा का घट फूट जाता है और आनन्द-ही-आनन्द निस्सीम को पूर्ण करता हुआ, देख पड़ता है। जब इस अनिर्वच्य अवस्था से हम फिर नीचे उतरते हैं, उस अगाध सागर-से गम्भीर उदर से क्रमशः निकलने लगते हैं, तब फिर वही अगणित हिलोरें, अगणित आवर्त और अगणित बुदबुदों का कम्पन दिखलायी देने लगता है। फिर तो धीरे-धीरे कविता, भाव, भाषा, और छन्द की वही वाटिका आँखों के सामने फिरने लगती है, जिसके लिए गोस्वामीजी ने लिखा है—

राम सीय यश सलिल सुधा सम। उपमा वीचि बिलास मनोरम।।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मणि सीप सुहाई।।
छन्द सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा।।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुवासा।।
सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान विराग विचार मराला।।
धुनि अवरेव कवित गुण जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती।।

पुलक वाटिका बाग वन, सुख सुविहंग विहारु।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु।।

गोस्वामीजी ने जिस युक्ति के अनुसार, 'रघुपति महिमा अगुण अगाधा, बरनब सोइ वर वारि अगाधा।' इस चौपाई द्वारा बड़ी ही खूबी के साथ निर्गुण ब्रह्म से उतरते हुए वीचि, कमल, मकरन्द और मिलिन्दों के रूपक में उस लोकोत्तरानन्द-दायिनी कविता का सुवर्ण संसार अंकित कर दिखाया है, उसी के अनुलोम और विलोम का दर्शन करते हुए, जब हम उस निर्बोध ग्रानन्दमय स्वामीजी के महाकारण में विलीन स्वरूप में ज़रा देर ठहरकर नीचे उतरते हैं, तभी उनकी मधुरभाषिणी

कविता को—उनके द्वारा चित्रित उन्हीं के इस मनोबिम्ब को समझ सकते हैं। अन्यथा, हमारा पहले का समझना जब तक हमने उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं देखा—जिस मन की छाया रामायण है, उसे नहीं पहचाना, तब तक, हमारा वह दर्शन, वह परिचय उनके सम्बन्ध में बिलकुल अधूरा है।

अस्तु, जब हम उनके उस स्वरूप का परिचय प्राप्त कर लेते हैं, तब हम उन्हें साहित्य-कला के ही पारंगत विद्वान कहकर नहीं रह जाते, बल्कि इतना ही कहकर हम उनका अपमान करते हैं, तब हम उन्हें विज्ञान की चरम सीमा में पहुँचा हुआ अखण्डवृत्ति महापुरुष कहते हैं।

यहाँ आप लोग प्रश्न कर सकते हैं, कि भाई, गोस्वामीजी से और विज्ञान से क्या सम्बन्ध? आपका यह प्रश्न बहुत अंशों में निराधार नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्रश्न करने से पहले इतना और सोच लेना चाहिए था कि गोस्वामीजी के जीवन की गति किस ओर थी? किसके लिए उन्होंने सर्वस्व तक का त्याग स्वीकार किया था? हममें से बहुतेरे मित्र कहेंगे श्रीरामचन्द्रजी के दर्शनों के लिए उन्होंने संसार छोड़ा और भगवान ने उनकी यह अभिलाषा पूरी की। इसमें विज्ञान कहाँ से आकर घुस गया बाबा? मैं अपने इन मित्रों से इससे अधिक तब तक कोई प्रश्न न करूँगा, जब तक वे भगवान श्रीरामचन्द्रजी के विश्लेषणात्मक स्वरूप के देखने की इच्छा प्रकट न करेंगे। यदि वे भगवान श्रीरामचन्द्रजी को पूर्ण ब्रह्म मानते हैं तो उन्हें यह युक्ति माननी पड़ेगी कि पूर्णता कभी अवकाश विशिष्ट या घेरे के अन्दर रहनेवाले शरीर से नहीं सूचित होती और न ब्रह्मत्व ही इसके द्वारा प्रकट होता है; वह तो तभी प्रमाणित होगा जब भगवान श्रीरामचन्द्रजी की लीला के दूसरी ओर, शरीर और मन के उस पार भी दृष्टि डाली जायेगी।

यदि आप लीला का दूसरा पार भी देखना चाहते हैं, यदि आप शरीर-मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार के इस लीला-संसार का दूसरा छोर देखना चाहते हैं तो मैं कहूँगा, आइए मित्र, अब आप यह समझने के अधिकारी हुए हैं कि गोस्वामीजी ने भगवान श्रीरामचन्द्र जी के सिर्फ स्थूल का ही दर्शन नहीं किया था किन्तु उन्होंने उनके महाकारण स्वरूप को देखा था; और इस प्रकार दर्शन के उपाय को हम विज्ञान कहते हैं और दर्शक को विज्ञानी।

पश्चिमी युक्तियों के द्वारा कहा जाय तो बात आजकल बहुत शीघ्र समझ में आ जाती है क्योंकि विचारधारा भी बहुत कुछ वैसी ही हो चली है, अच्छा, आप मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश तो मानते ही होंगे? पश्चिम भी इन्हें मानता है और ये पाँच हमारे यहाँ भूत और पश्चिम में एलीमेण्ट्स (Elements) कहलाते हैं। पश्चिम का कोई भी विज्ञानविद् इन एलीमेण्ट्स को छोड़कर कोई विश्लेषण नहीं कर सकता और न वहाँ के विज्ञानवेत्ताओं का विश्लेषण इन एलीमेण्टों का सहारा छोड़कर हो सकता है। पश्चिम के विज्ञान ने ताडित और वाष्पीय जितने आविष्कार किये हैं, वे उन्हीं के अन्तर्गत हैं। उनके श्रेष्ठ आविष्कार में यह प्रश्न है कि परमाणु की जो गति पायी जाती है उसको चलानेवाला कौन है? वह कहाँ से आती है? प्रश्न से साबित होता है कि पश्चिम का विज्ञान अभी अधूरा है और है ही, जबकि वह अभी मैटर को (जड़ को) छोड़कर शक्ति के सम्बन्ध में,

उस जड़ को चलानेवाली गति के सम्बन्ध में प्रश्न कर रहा है। गोस्वामी तुलसीदास प्रश्न की इन सब अवस्थाओं को पार कर चुके थे। उन्हीं की चौपाई—'भव-भव विभव पराभवकारिणि, विश्व विमोहिनि स्ववश विहारिणि'—यहाँ शक्ति मानते हैं विश्व को चलानेवाली शक्ति को और उससे भी बढ़कर पूर्ण अवस्था में ब्रह्म में लीन होकर पूर्णत्व की प्राप्ति करते हैं, जहाँ न संसार है, न मैं, और न तुम, है बस सच्चिदानन्द ब्रह्म।

['समन्वय,' मासिक, कलकत्ता, सौर भाद्रपद, संवत, 1984 (वि.) (अगस्त-सितम्बर, 1927)। संग्रह में संकलित]

पन्तजी और पल्लव

गत वर्ष, वसन्त के पुष्प-पत्र के अन्तिम ऐश्वर्य-काल में, मित्रवर हिन्दी के कोमल किशोर कवि श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' को मनोहर विकसित देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। हिन्दी के झंखाड़ में 'पल्लव' का फूटकर निकलना स्वाभाविक हर्ष का कारण है भी।

उस समय जब 'पल्लव' प्रेस की गैलियों की सघन प्रलम्ब डालियों के भीतर Projection of nature का Problem solve कर रहा था, पन्तजी के पत्र से प्रेस के कृष्णाकृति विशाल-वपु 'कलौ भीम-भयंकराः' भूतों के निष्करुण-पीड़न, विश्लेषण-पेषण, धर्षण-घर्षण आदि से किये गये अनर्गल अत्याचारों की कल्पना मैंने कर ली थी, तथा शीघ्र ही 'पल्लव' को यान्त्रिक यन्त्रणा से मुक्ति देने के लिए मन-ही-मन प्रार्थना भी परमात्मा से यथेष्ट की थी। परन्तु कुछ महीनों के बाद 'पल्लव' के सम्बन्ध में विचार करते हुए परमात्मा की निर्दयता से मुझे विचलित हो जाना पड़ा। उनके प्रति जो क्षण-मात्र का विश्वास मैंने किया था, वह क्षण-मात्र में उठ भी गया; कारण, तब तक प्रसूत 'पल्लव' पन्तजी द्वारा प्रेरित होकर मुझे प्राप्त न हुआ था। जिस समय परमात्मा से मेरा असहयोग चल रहा था, मेरे एक मित्र ने आकर कहा, "पण्डितजी, 'पल्लव' तो प्रकाशित हो गया, कल मैं एक प्रति खरीदकर आपको दूँगा।" अवश्य उस समय पन्तजी की मित्रता की बानगी, 'पल्लव' की एक प्रति उनसे न मिलने के कारण, उन्हें मैं 'यन्न व्येति तदव्ययम्' ही कर रहा था। दूसरे दिन मित्र ने 'पल्लव' की एक प्रति खरीदकर मुझे दी। आलस्यमयी भावनाओं का जाल समेटकर केन्द्रीकृत स्थिर बुद्धि से मैं उसे पढ़ने लगा। उसके 'विज्ञापन' तथा 'प्रवेश'-भाग में पन्तजी की सार्वभौमिकता के गज़ से कविता-कामिनी का शयन-जीर्ण प्राचीन कन्था नपा हुआ तथा उनकी 'प्रतिभा के बछड़े' के हुत्थे से कवि-समुदाय को पलायन-पन्था पर श्वासावरुद्ध भागता हुआ देखकर बड़ा आनन्द

आया, जैसे क्षण-मात्र में किसी ने 'पुंगव' को 'पोंगा' कर दिया। दूसरे, कवि को ही टीकाकार के आसन पर देखकर मुझे विश्वास हो गया कि आजकल की दवाओं के विज्ञापक वस्तु-प्रसिद्धि के कौशल ज्ञान से बिलकुल ही कोरे हैं। एक बार साद्यन्त पढ़कर मैं अपने पूर्व भावों पर विचार करने लगा। जब एक दिन 'पल्लव' के लिए निश्छल सहृदयता का स्रोत हृदय के उभय कूलों को प्लावित कर बहा था, उस समय अवश्य 'पल्लव' के पल्लव में मृत अतीत के साहित्य-महारथियों को डुबाने की पन्तजी की चेष्टा पर कभी मुझे विचार करने का अवसर नहीं मिला, न मैं इस तरह का विचार कर सकता था। इस तरह की चेष्टा यदि सत्य की दृष्टि से निष्पाप सिद्ध होती, तो विशेष कुछ लिखने या कहने का अवसर न मिलता, उनके पुष्ट प्रमाण उस सत्य की रक्षा करते। केवल पद-समता के कारण मण्डूक की तरह साँस फुलाकर हस्तिकाय कहलाने की चेष्टा पन्तजी को न करनी थी। मण्डूक की तरह पन्तजी पद-लघुता और पद-गुरुता के ज्ञान से विवर्जित नहीं। 'पल्लव' की छाया में जो मुझे भी ताप से शीतल करने की पन्तजी ने सहृदयता दिखलायी है, और अपने इस उपकार का कहीं उल्लेख भी अपने प्रेरित पत्र में नहीं आने दिया, उस समय मुझे मालूम न था कि इसके लिए कभी छापे के अक्षरों में धन्यवाद देने की मुझे आवश्यकता पड़ेगी। 'पल्लव' के 'प्रवेश'-भाग में कविता, व्रजभाषा, खड़ी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वच्छन्द छन्द, बंगला की कविता, 'निराला' के छन्द, शब्दों के रूप-राग, स्वर आदि जिन अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिन्दी के दरिद्र भण्डार में लाने की पन्तजी ने चेष्टा की है, उनकी अलग-अलग समालोचना करने के पहले मैं एक वह विषय उठा रहा हूँ, जिसकी कहीं चर्चा भी 'प्रवेश' के 54 पृष्ठों में उन्होंने नहीं की।

इस विषय का उन्हीं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपनी कविता की कारीगरी की व्याख्या तो उन्होंने येन-केन प्रकारेण अच्छी ही की है, परन्तु इस कारीगरी का साँचा उन्हें कहाँ मिला, किस तरह वह अपने लिए इतने अच्छे कवि हो गये, कविता पर वह राजनीति-क्षेत्र के वर्तमान नेताओं की तरह कोई जन्मसिद्ध अधिकार रखते हैं या नहीं, इस तरह के आवश्यक विषयों को उन्होंने प्रच्छन्न ही छोड़ रखा है। पहले इन अव्यक्त विषयों पर ही मैं प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। पन्तजी की कविता-कामिनी के लाड़ले भाव-त्रिशंकु को साहित्य के नभोमण्डल में गतिरहित निराधार ही छोड़ रखना अनुचित-सा प्रतीत हो रहा है।

महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिए अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिए उसे 'तत्सत्' कहा। वह आजकल की विश्वभावना, विश्व-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं कराना चाहता, इस तरह उसमें जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान् है—'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना; कर बिनु कर्म करै विधि नाना'—आदि-आदि से कर्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्रकारों ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंचभूतों के जड़पिण्ड का आश्रय लिये हुए हैं, और मृत्यु होने पर कारण-

शरीर में तन्मय रहते हैं—इन्हें लिंग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्ववर्जित न होने के कारण इन्हें भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर जड़ कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रियाशील होते हैं। कुछ हो, ये सब यन्त्र ही हैं, कर्ता वही है, और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझकर ही उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है; जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड़ शरीरवाले कवि की आत्मा दिखायी पड़ती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक पन्तजी में कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन में सोचने की शक्ति थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की, धीरे-धीरे, शक्ति के विकास के साथ-ही-साथ जिस जाति और वंश में वह पैदा हुए—उनके संस्कारों को लिये हुए, वह बढ़ने लगे, पढ़ने लगे, अपने व्यक्तित्व पर जोर देकर बड़े होने लगे। उन्हें अपनी रुचि का अनुभव हुआ, इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित-प्रवाह उनके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओं से विश्लिष्ट कर बहने लगा। एक दिन उन्हें मालूम हुआ उनकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ इस रुचि को पकड़िए, यह जहाँ से आयी है, वह ब्रह्म है, जहाँ अब उसकी शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य में कवि होंगे, वह केन्द्र भी ब्रह्म ही है, जीवात्मा का संयोग लिये हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वीकार किया है। यह रुचि या इच्छा क्यों पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नहीं बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन हैं, और है भी यही यथार्थ उत्तर, क्योंकि जब एक के सिवा दूसरा है ही नहीं, तब उस एक की रुचि का कारण कौन बतलाये, इसलिए ही कहा है—नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने के लिए जाकर गल गया, खबर देने के लिए न लौटा।

अस्तु। इस तरह पन्तजी की आत्मा में कवि होने की—सृष्टि की रुचि का कारण नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु रुचि हुई अवश्य उस ब्रह्मरूपी पन्तजी की अनादि सत्ता में और कविता की कारीगरी, अक्षरों, शब्दों और भावों के चित्रों को ब्रह्म की शक्ति, माया धारण करने लगी, प्रकृति में अनेक प्रकार की छायाएँ पड़ने लगीं। स्मृतियाँ यही हैं अनेक वस्तुओं की, अनेक भावों की। जड़ की ही स्मृति होती है। इन स्मृतियों को जिस तरह पहले प्रकृति धारण करती है, उसी तरह फिर निकालती भी है। बच्चे को 'क' सिखाइए, जब लिखकर 'क' के चित्र की धारणा वह कर लेगा, प्रकृति में 'क' की छाया पड़ जायेगी, स्मृति दुरुस्त हो जायेगी, तभी वह आपसे-आप 'क' लिख सकेगा।

पन्तजी के 'पल्लव' में इतनी ही कमी है। उन्होंने अपनी शिक्षा पर पर्दा डाला है। किस तरह, कहाँ-कहाँ से, छाया-चित्रों को उनकी प्रकृति ने ग्रहण किया है, उन्होंने नहीं लिखा। यह शायद इसलिए कि इससे महत्ता घट जायेगी, लोग समादर कम करेंगे। दूसरों की आँखों में धूल झोंककर दूसरों को दबाकर बड़े होने की आदत पश्चिम की ही शिक्षा से मिलती है, यहाँ तो पहले ही बाबाआदम की बात सुझाकर शिष्य को सत्य ब्रह्म का यन्त्र बना देते हैं, उसके अहंकार की क्षुद्र सीमा को तोड़कर उसमें पूर्णत्व भर देते हैं, उसे यन्त्र बनाकर कर्ता और शिष्य बनाकर गुरु कर देते हैं, जड़त्व लेकर चेतना और ममत्व लेकर प्रेम देते हैं। वह अन्ध यूरोप

की तरह नहीं होता, लक्ष्यभ्रष्ट ग्रह की तरह उसकी गति अनियन्त्रित नहीं होती।

यद्यपि अपनी शिक्षा का हाल पन्तजी ने नहीं लिखा, छिपा रखा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके—

1. "गन्ध-मुग्ध हो अन्ध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार"

(पन्तजी)

"तोमार मदिर गन्ध अन्ध वायु बहे चारि भिते"

(रवीन्द्रनाथ)

2. "... ... ...अतल के
बतलातीं जो भेद अपार"

(पन्तजी)

"अतल रहस्य येन चाय बलिबारे"

(रवीन्द्रनाथ)

3. "नीरव-घोष-भरे शंखों में"

(पन्तजी)

"नीरव सुरेर शंख बाजे"

(रवीन्द्रनाथ)

4. "मेरे आँसू गूँथ"

(पन्तजी)

"गेंथेछि अश्रुमालिका"

(रवीन्द्रनाथ)

5. "शस्यशून्य वसुधा का अंचल"

(पन्तजी)

"शस्यशीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल"
"शस्यशीर्षराशि धरार अंचलतल भरि"

(रवीन्द्रनाथ)

6. विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल"

(पन्तजी)

"... ... ...विकसित विश्व वासनार
अरविन्द... ... ..."

(रवीन्द्रनाथ)

7. "आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन।"

(पन्तजी)

"तरंगित महासिन्धु मन्त्रशान्त भुजंगेर मत
पड़ेछिल पदप्रान्ते उच्छ्वसित फणा लक्षशत
करि अवनत"

(रवीन्द्रनाथ)

8. "गाओ, गाओ, विहग-बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल-गान"

(पन्तजी)

Then sing ye birds, sing, sing a joyous song.

(Wordsworth)

उदाहरण के लिए इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। कहीं-कहीं जो थोड़ा-सा रूपान्तर पन्तजी ने किया है, वह केवल अपने छन्द की सुविधा के लिए। पन्तजी चौर्य-कला में निपुण हैं। वह कभी एक पंक्ति से अधिक का लोभ नहीं करते। एक पंक्ति किसी एक कविता से ली, दूसरी किसी दूसरी कविता से, तीसरी में कुछ अपना हिस्सा मिलाया, चौथी में तुक मिलाने के लिए वैसा ही कुछ गढ़कर बैठा दिया। इस तरह की सफाई के पकड़ने में समालोचकों को बड़ी दिक्कत होती है। उधर कवि को अपनी मौलिकता की विज्ञापनबाजी करने में कोई भय भी नहीं रहता। रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' कविता के चार उदाहरण मैंने उद्धृत किये हैं, जो नम्बर 1, 5, 6, और 7 में आये हैं। उनमें पहला और पाँचवाँ उदाहरण पन्तजी की 'अनंग' कविता में है और छठा, सातवाँ उदाहरण उनकी 'परिवर्तन' कविता में!

दूसरे के भाव लेकर प्रायः सब कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। परन्तु वहाँ हरएक कवि ने दूसरे के भाव पर विजय प्राप्त करने की, उससे बढ़कर अपना कोई विशेष चमत्कार दिखलाने की, चेष्टा की है। पन्तजी में यह बात बहुत कम है। कहीं-कहीं तो दूसरे के भावों को बदलकर, उसमें कुछ अपना हिस्सा मिलाकर, चमत्कार दिखलाने में इन्हें अच्छी सफलता हुई है, परन्तु अधिकांश स्थलों में सुन्दर-से-सुन्दर भावों को इन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल इसलिए कि यह भावों के सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौन्दर्य पर।

एक उदाहरण लीजिए—

"आपन रूपेर राशे
आपनि, लुकाए हासे"

(रवीन्द्रनाथ)

"रूप का राशि-राशि वह रास
दृगों की यमुना श्याम"

(पन्तजी)

पन्तजी की प्रथम पंक्ति रवीन्द्रनाथ की ही पंक्ति से ली गयी जान पड़ती है, परन्तु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौन्दर्य की छाया भी नहीं छू सके। रवीन्द्रनाथ की दोनों पंक्तियाँ परस्पर-सम्बद्ध हैं, पन्तजी की दोनों पंक्तियाँ एक-दूसरे से अलग। यह दोष पन्तजी की तमाम कविताओं में है, और यह केवल इसलिए कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भाण्डार के लूटनेवाले डाकू नहीं। छकने के लिए एक चुल्लू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज्म न कर सकने का खौफ करते हैं, रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों का भाव—"अपने रूप की राशि में आप छिपकर हँसती

हैं"—इन पंक्तियों में सुन्दरी नायिका का कितना सरस भाव है ! अर्थ से आदिरस का निष्कलुष परम सुन्दरचित्र आँखों के सामने आता है। उधर पन्तजी की "रूप का राशि-राशि वह रास" पंक्ति कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ कृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें ? उनकी पंक्ति में तो इतनी गुंजाइश ही नहीं है। और, थोड़ी देर के लिए यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी ली जाये, तो दूसरी का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है—"दृगों की यमुना श्याम", इसमें दुःख है, जो 'रूप के रास' से बैर करने लगता है। यदि दृगों को ही यमुना मान लें, तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती, क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रूप-राशि देखी जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप-राशि न देखी गयी थी। शब्दों के सार्थक संगठन से जो भाव तैयार होता है, उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोषरहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

"नवोढ़ा बाल लहर, अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिग रुककर, सरकती है सत्वर।"

(पन्तजी)

'पल्लव' के 'प्रवेश' में हम लोगों के समझने के लिए पन्तजी ने अपनी इन पंक्तियों की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पन्तजी का नहीं, यह भी रवीन्द्रनाथ ही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पन्तजी ने वैसे ही हत्या की है—

"श्यामल आमार दुइटि कूल,
माझे माझे ताहे फुटिबे फूल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जावे।"

(रवीन्द्रनाथ)

कितने सुन्दर भाव की हत्या की गयी है ! पन्तजी ने लिया है इन्हीं इतनी पंक्तियों का भाव, परन्तु रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य की अप्सरा कुछ और नवीन नृत्य दिखलाती है, अभी पूर्वोक्त पद्य अधूरा है। वह अन्तिम अंश इस प्रकार है—

"शरम-विकला कुसुम-रमणी
फिराबे आनन शिहरि अमनि,
आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे;
भेसे गिए शेषे काँदिबे हाय,
किनारा कोथाय पाबे !"

(रवीन्द्रनाथ)

पन्तजी की पंक्तियों का अर्थ बिलकुल साफ है, यहाँ तक कि पद्य की लड़ियों को बराबर कर लीजिए, गद्य बन जायेगा, कहीं परिवर्तन करने की जरूरत न होगी। पन्तजी की नवोढ़ा बाल लहर के अचानक उपकूलों के ढिग रुककर सरकने

में कोई विशेष भाव-सौन्दर्य मुझे नहीं मिला, परन्तु जहाँ से यह भाव लिया गया है, रवीन्द्रनाथ की उन पंक्तियों में अवश्य सौन्दर्य की उभय-कूल-प्लाविनी सरिता बह रही है। रवीन्द्रनाथ की प्रथम चार पंक्तियों का अर्थ है—

"मेरे दोनों श्यामल कूलों में जगह-जगह पुष्प विकसित होंगे, और क्रीड़ा के छल से लहरियाँ पास आ अचानक चूमकर भग जायेंगी।"

एक तो पन्तजी के छन्द के छोटे-से घेरे में ये कुल भाव आ ही नहीं सके, दूसरे, मौलिक प्रतिभा के प्रदर्शन और छन्द की रक्षा के लिए कुछ शब्दों को विवश होकर उन्होंने बदल दिया है, जैसे रवीन्द्रनाथ की लहर फूल को अचानक चूमकर भागती है, और पन्तजी की लहर अचानक प्रसूनों के ढिग रुककर सत्वर सरकती है। अवश्य ही रवीन्द्रनाथ के 'पलाए जावे' का शब्द-चित्र पन्तजी ने 'सत्वर सरकती' से प्रकट किया है, 'सत्वर' शब्द के बढ़ने पर भी पन्तजी की लहर 'पलाए जावे' का लघु चंचल सौन्दर्य नहीं पा सकी। 'सरकती' के 'सर' अंश से लहर के चलने का आभास मिलता है, परन्तु अन्तिम 'कती' अंश उसके कुछ बढ़ने के पश्चात् उसे पकड़कर रोक लेता है, जिससे additional (संयुक्त) 'सत्वर' भी उसे उसके स्थान से हिला नहीं सकता, बल्कि खुद ही कुछ बढ़ता चला जाता है। यहाँ के शब्द-चित्र में हास्य-रस की अवतारणा हुई है, जैसे 'सरकती' से लहर कुछ चलकर रुक गयी हो, और 'सत्वर' उसे घसीटने की चेष्टा कर (हाथ-सम्बन्ध) छूट जाने के कारण, खुद ही कुछ दूर पर रपटता हुआ ढेर हो गया हो। दूसरे, 'सरकने' का मुहावरा भी बहुत दूर तक चलने का नहीं; कुछ हटना, फिर स्थिति जोंक की चाल की तरह है। रवीन्द्रनाथ अपनी लहर के आने का कारण बतलाते हैं 'खेला-छले', और इससे सरल-सौन्दर्य शिशु के हास्य की तरह प्रदीप्त हो उठता है। पन्तजी ने अपनी लहर के आने का कोई कारण नहीं बतलाया, शायद छन्द के छोटे-से कमरे में इतने शब्दों को जगह नहीं मिल सकी। रवीन्द्रनाथ के छन्द में जो सुखद प्रवाह मिलता है, पढ़ने में जिस तरह के आराम की अनुभूति होती है, वे बातें पन्तजी के छन्द में नहीं। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में कर्कशता नहीं, पन्तजी के शब्द छन्द की जीर्ण शाखा के सूखे हुए पत्ते हो रहे हैं।

दूसरे, सम्पूर्ण भाव को न अपनाने के कारण, सौन्दर्य के सिन्धु को ही पन्तजी ने छोड़ दिया है। वास्तव में लोकोत्तरानन्द रवीन्द्रनाथ की पूर्वोक्त पंक्तियों के बाद मिलता है। पीछे इन पंक्तियों का भी उद्धरण दिया जा चुका है।

प्रकृति की एक साधारण-सी बात पर कवि की कल्पना में कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है। "नदी की लहर तट की पुष्पित डाल के पुष्प को स्पर्श कर बहती चली जाती है।" इस पर कवि लहर की सजीवता, उसके आने का कारण क्रीड़ाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव में लहर की प्रकृतिसिद्ध पलायन-चंचलता दिखलाकर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और, इसके पश्चात्, फूल की तरुणी कामिनी का हाल लिखकर आदिरस को वेदान्त के लोकोत्तरानन्द में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है—"लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर कली खुलकर नदी में गिर जाती है।" पहले

कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गयी। वहाँ वह पुष्प पुरुष-पुष्प था। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका के चूमकर भग जाने के पश्चात दूसरी कली को, जो चूमी न गयी थी, कवि फूल की तरुणी कामिनी कल्पना कर उसकी लज्जा, कम्पन, स्खलन और बहकर असीम में मिलने के अंकन-सौन्दर्य से कविता में स्वर्गीय विभूति भर देता है—

"शरम-विकला कुसुम-रमणी"

"शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है," इसलिए कि अभिसारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

"फिराबे आनन शिहरि अमनि"

'शिहरि'=काँपकर (यह कम्पन प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डाली के साथ फूल के काँप उठने से लिया गया है) तत्काल वह मुँह फेर लेगी। (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायक से उदासीनता आदि मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है। उधर डाल के हिलने, हवा के लगने से, कली का एक ओर से दूसरी ओर झुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना-सा प्रवाह बह रहा है।)—

"आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जावे।"

"अन्त में वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायेगी।" (डाल के हिलने से कली का वृन्त से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प की तरुणी भार्या आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर नदी के ऊपर, वक्ष में, गिर जायेगी।)—

"भेसे गिए शेषे काँदिबे हाय,
किनारा कोथाय पावे!"

"हाय! वह बहती हुई रोयेगी, क्या कहीं उसे किनारा प्राप्त होगा?"

'हाय' और 'कोथाय' के बीच, उत्थान और पतन के स्वर-हिलोर में बहती हुई उस कुसुम-कामिनी को जैसे वास्तव में कहीं किनारा न मिल रहा हो। कामिनी को अकूल में बहाकर कवि अकूलता के साथ-साथ सीमारहित आनन्द में पाठकों को भी मग्न कर देता है।

यहाँ एक बात और। रवीन्द्रनाथ की इन अन्तिम पंक्तियों के 'शिहरि' शब्द पर ध्यान रखकर पन्तजी की भी उद्धृत उन चार पंक्तियों के बाद का अंश देखिए—

"अकेली-आकुलता-सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!"

रवीन्द्रनाथ की कविता में भाव की लड़ी टूटती नहीं, उनकी कुसुम-कामिनी के सिहरने का कारण आगे बतलाया जा चुका है, परन्तु यहाँ पन्तजी का ही कृश-गात सिहर उठता है! रवीन्द्रनाथ की कुसुम-कामिनी असहाय, निस्सीम में बह जाती

है, और पन्तजी के पैर ठहर जाते हैं ! पता नहीं, नवोढ़ा बाल लहर के रुककर सरकने से पन्तजी को इतना कष्ट क्यों होता है ! शायद यहाँ भी पाठकों को अपनी तरफ से कुछ नयी कल्पना करनी पड़े, जैसे लहर का सरकना देखकर कवि को अपनी प्रेयसी की याद आयी, मिलना असम्भव जान पड़ा, विरह-कृश शरीर सिहर उठा, पैर रुक गये । सौन्दर्य के नन्दन वसन्त में निर्गन्ध पुष्प ही पन्तजी के हाथ लगे । इस विषय पर बहुत ज्यादा लिखना प्रसंग से अकारण अलग हो जाना है। पन्तजी का एक उदाहरण और—

"सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार"

(पन्तजी)

"जखन सघन गगन गरजे"

(डी. एल्. राय)

'तमसाकार' और 'भीम' ये ही दो शब्द पन्तजी की पंक्तियों में अधिक हैं, कारण स्पष्ट है, छन्द की पूर्ति। तारीफ तो यह कि यहाँ, इस भाव में गुरु और शिष्य दोनों ही प्राकृतिक सत्य से अलग हो रहे हैं, दोनों ही के 'आकाश' गरजते हैं, मेघ गौण हो गया है । परन्तु सत्य-चित्र देखिए—मेघ ही गरजते हैं—

"घन घमण्ड गरजत नभ घोरा"

(तुलसीदास)

"गुरु-गुरु मेघ गुमरि-गुमरि गरजे गगने-गगने"

(रवीन्द्रनाथ)

पन्तजी की—

"अपने ही अश्रु-जल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है ।"
"जैसे इसकी क्रीड़ाप्रियता अपने ही परदों में गत बजा रही हो ।"
"स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं ।"
"अपनी ही कम्पन में लीन ।"
"अपनी ही छवि से विस्मित हो जगती के अपलकलोचन ।"
"चारु नभचरी-सी वय-हीन अपनी ही मृदु-छवि में लीन ।" आदि ।

इस तरह की 'अपनी ही' पर जोर देकर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर इतराने-वाली पंक्तियाँ भी मौलिकता की दीप-मालिका में उधार के तेल की रोशनी से प्रदीप्त हो रही हैं—'अपने ही' या 'अपनी ही' के प्रवर्तक भी रवीन्द्रनाथ ही हैं, जिन्होंने इसे अँगरेजी का प्रकाशन-ढंग देखकर ग्रहण किया जान पड़ता है । रवीन्द्र-नाथ के उदाहरण—

'आपनाते आपनि विजन,"
"आपन जगते आपनि आछिस एकटि रोगेर मत,"
"आँधार लाइया हताश होइया आपने आपनि मिशे,"
"मलिन आपन पाने,"
"आपनार स्नेहे कातर वचन कहिस आपन काने," आदि-आदि ।

पन्तजी की कविता में पंखों की फड़क प्रायः सुनायी पड़ती है । जैसे—

"अपने छाया के पंखों में,"
"फड़का अपार पारद के पर,"
"पंख फड़काना नहीं थे जानते," आदि।

अँगरेजी-साहित्य से इस भाव की भी आमदनी हुई है। बंगाल के कवि इसे अनेक तरह से प्रकट कर चुके हैं—

"आयरे बसन्त, ओ तोर किरण माखा पाखा तुले"

(डी. एल्. राय)

"आँधार रजनी आसिबे एखनि मेलिया पाखा"
"अति धीरे-धीरे उठिबे आकाशे लघु पाखा मेलि"
"थर-थर करि काँपिबे पाखा"

(रवीन्द्रनाथ)

जगह ज्यादा घिर जाने के भय से अँगरेज कवियों के उद्धरण मैं न दे सका। और, यहाँ उद्धरण के लिए मेरे पास साधन भी कम हैं। देहात है, आवश्यक पुस्तकें यहाँ नहीं मिलतीं, स्मरण और कुछ ही पुस्तकों की सहायता से मित्रों के आग्रह की पूर्ति कर रहा हूँ। पंख का भाव लेकर पंखप्रधान वाक्य में कुछ परिवर्तन कर देने पर भी कवि कल्पना का मौलिक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता, और इस दृष्टि से प्रायः सब कवियों को उधार लेना पड़ा है, इसका विस्तृत विवेचन इस समालोचना के अन्तिम अंश में करूँगा। उदाहरणार्थ शेली का "Sungirt city, Thou hast been Ocean's child." पेश करता हूँ। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कविता में, जिसका उद्धरण मैं पुस्तक के अभाव से न दे सका, पृथ्वी को समुद्र की कन्या कल्पना कर बहुत-कुछ लिखा है। उनकी कविता में समुद्र-माता बाँह फैलाकर आती, अपनी कन्या पृथ्वी को चूमती तथा अनेक प्रकार से आदर करती है। 'माता-पुत्री' के एक मूल भाव की प्राप्ति के पश्चात् तदनुकूल अनेक भावों की कल्पना कर लेना आसान है। इस तरह की कल्पना को मैं मौलिक नहीं मानता। जिस कल्पना का मेरुदण्ड मौलिक नहीं, समालोचना की दृष्टि से वह 'घड़ा' देखकर हण्डा गढ़ने की तरह मौलिक है।

कार्यवशात् मुझे कलकत्ता आना पड़ा। रास्ते में गाड़ी काशी के स्टेशन पर पहुँची, साहित्यिक मित्रों की याद आयी। साहित्य की मही वीर-विहीन हो रही है, या कोई महावीर इस समय भी प्रहरण-कौशल-प्रदर्शन कर रहे हैं, कुछ मालूम न था; कौतूहल बढ़ा, मैं गाड़ी से उतर पड़ा। पहले के एक पत्र से सूचना मिल चुकी थी कि खड़ी बोली की प्रथम कविता की स्वर्ण-लंका को छायावाद के मलिनत्व के स्पर्श से बचाने के लिए 'सरस्वती' के सुकवि-किंकर महाशय ने छायावाद के कवियों की लांगूलों में आग लगा दी है। कहते हैं, वे कवि उनके सुदृढ़ गढ़ के कँगूरे ढहाते थे, अपने कर्ण-पटु शब्दों से उन्हें हैरान करते थे, और सबसे बड़ा पाप, सोते समय उनकी नासिका के छिद्र में लांगूल करके उन्हें जगा देते थे। अवश्य प्रकाश देखकर प्रसन्न होने से पहले अपने सुख और निद्रा के लिए मोहवशात् क्रोधान्ध हो जाना स्वाभाविक ही है—कुछ दिनों बाद मालूम हुआ, लांगूलों की प्रज्ज्वलित वह्नि की शिखाएँ उत्तरोत्तर परिसर प्राप्त करती जा रही हैं। सोचा

—यदि इस लंका में पवन-प्रिय पुच्छ-पावक को रावण, कुम्भकर्ण, अतिकाय, महोदर और वज्रदंष्ट्रा आदि के गृहों के सिवा विभीषण की भीषण खाल में छिपे किसी कोमल कल्पना-प्रिय सहृदय सज्जन का 'राम-नाम अंकित गृह' नहीं मिला, तो अवश्य यह अनर्थ ही हुआ; क्योंकि इस तरह तो कविता-साहित्य के लंकाकाण्ड की जड़ ही नहीं जमा पाती, न भविष्य में हिन्दी-साहित्य की रामायण के लिखे जाने की आशा ही सुदृढ़ होती है। निश्चय हुआ कि वर्तमान कविता की सीता के लिए अभी लांगूलों में अग्नि-संयोग से श्रीगणेश ही हुआ समझा जाना चाहिए। यद्यपि इस समय भी लंका, पुलस्त्य-कुल, विभीषण और अशोक-वाटिका आदि वहाँ के सम्पूर्ण दृश्य और प्राणी लांगूलों के अनल से निःसृत धूम की छाया में छायावाद की कविता की तरह अस्पष्ट-रूप नजर आ रहे हैं। आश्चर्य है, न अब तक किसी 'कविराय' ने स्याही के समुद्र में लांगूल-अनल की ज्वाला प्रशमित की, न उनके विरोधियों ने ही 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि' की कलकण्ठ-ध्वनि धीमी की।

मैं सोचता हुआ बाबू शिवपूजनसहायजी के डेरे पर पहुँचा। वहाँ वर्तमान कविता-साहित्य की बहुत-सी बातें मालूम हुईं। वहीं 30 जुलाई 1927 के 'मतवाला' में किसी 'युगल' महाशय द्वारा की गयी छायावाद के कवियों की प्रशंसा में पन्तजी का यह पद्य उद्धृत पाया। अवश्य 'पल्लव' के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। शायद यह पन्तजी की इधर की रचना है—

"प्रिये, प्राणों की प्राण!
अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकम्पित-मृदु-उर, पुलकित गात;
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृक्-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता में सी छिपी अजान;
लाज की छुईमुई-सी म्लान!
प्रिये, प्राणों की प्राण!"

इसे पढ़ते ही मुझे रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' की ये पंक्तियाँ याद आ गयीं—

द्विधाय जड़ितपदे कम्प्रवक्षे नम्रनेत्रपाते
स्मितहास्ये नहे चलऽ सलज्जित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्द्धराते।"

द्विधाय = सशंकित (ज्योत्स्ना-सी चुपचाप), जड़ितपदे = जड़ित पद, कम्प्रवक्षे = विकम्पित मृदु उर, नम्रनेत्रपाते = नमित-पलक-दृक्-पात, स्मितहास्ये = मधुरता में सी छिपी अजान, नहे चलऽ वासरशय्याते = पास जब आ न सकोगी प्राण, सलज्जित = लाज की छुईमुई-सी म्लान।

कहीं कुछ बढ़ा दिया गया है, कहीं रवीन्द्रनाथ ही के शब्द रख दिये गये हैं। रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' के सम्बन्ध में बड़े-से-बड़े समालोचकों ने लिखा है, 'उर्वशी' संसार के कविता-साहित्य में सौन्दर्य की एक सर्वोत्तम सृष्टि है। 'उर्वशी' की

पंक्तियाँ पन्तजी के अनेक पद्यों में आयी हैं, यह दिखलाया जा चुका है। इस तरह के अपहरण का फल भी कहा जा चुका है कि इससे भाव की लड़ी टूट जाती है, कविता का प्रकाशन-क्रम नष्ट हो जाता है।

"मा मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रु-कणों का यह उपहार;
... ...
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार।"

(पन्तजी)

"तोमार सोनार थालाय साजाबो आज
दुखेर अश्रु-धार
जननी गो, गाँथबो तोमार
गलार मुक्ताहार
... ...
तोमार बुके शोभा पाबे आमार
दुखेर अलंकार।"

(रवीन्द्रनाथ)

'जननी' की जगह पन्तजी ने 'मा' सम्बोधन किया है। 'गलार मुक्ताहार' की जगह 'मंजुल हृदय-हार' आया है। 'दुखेर अश्रु-धार' की जगह 'जीवन की हार' आयी है। 'तोमार बुके शोभा पाबे आमार दुखेर अलंकार' की जगह 'तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल श्रम-जलमय मुक्तालंकार' हो गया है।

रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' की इस कविता के साथ यदि पन्तजी की उद्धृत कविता की समालोचना करूँगा, तो अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि होगी। अतएव जहाँ-जहाँ पन्तजी ने परिवर्तन किया है, उस-उस स्थल के परिवर्तन के कारण सौन्दर्य, सफलता, निष्फलता आदि छोड़ दिये गये। मेरे विचार से पन्तजी के कुल 'विनय' पद्य से और रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के 10वें गान से सम्पूर्ण समता है। वह परिवर्तन परिवर्तन नहीं। यदि हिन्दी-संसार में युक्ति को कुछ भी मूल्य दिया जाता है, तो मैं कहूँगा, समालोचना होने पर युक्ति आदरणीय होगी।

"पन्तजी की कविता में सोने का बड़ा खर्च है।"—एक दूसरे कवि ने कहा था, जब मैं पन्तजी के सम्बन्ध में उनसे वार्तालाप कर रहा था। उनके उदाहरण—

"मेरा सोने का गान,"

"वह सुवर्ण-संसार," आदि-आदि।

यह भी पन्तजी की अपनी चीज नहीं। बंगाल के कवि—

"आजि ए सोनार साँझे,"

"सोनार वरणी रानी गो,"

"आमार सोनार धाने गियाछे भरि,"

आदि-आदि से अपनी कविता-सुन्दरी को आवश्यकता से बहुत अधिक स्वर्णाभरण

पहना चुके हैं। और, उनके साहित्य में सोने की आमदनी हुई है विलायत के कवियों की मौलिक कृतियों की खानों से; जैसे—

"In the golden lightning
Of the sunken sun."

पन्तजी ने हाथ बढ़ाकर बुलाने के सौन्दर्य की कल्पना में—

"बढ़ाकर लघु लहरों से हाथ,"
"बढ़ाकर लहरों से कर कौन,"

आदि-आदि अनेक पंक्तियाँ लिखी हैं—यह भी उनकी अपनी कल्पना नहीं। रवीन्द्रनाथ नदी की कल्पना में 'आकुलि विकुलि 'शत बाहु तुलि,' अन्यत्र 'मेघेरे डाकिछे गिरि हस्त बाड़ाए' आदि बहुत-कुछ लिख चुके हैं। पन्तजी ने 'वहीं से लिया' जान पड़ता है।

यही हाल पन्तजी के 'सजल' शब्द का है। बंगला में शायद ही किसी कवि से 'सजल' छूटा हो।

पन्तजी के "सजल जलधर से बन जलधार" में 'सजल' शब्द 'जलधर' के विशेषण के स्थान में अर्थ की द्युति से रहित हो रहा है। जलधर तो सजल है ही, फिर सजल जलधर क्या? जान पड़ता है, पन्तजी ने 'जलधर' के शब्दार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया, 'जलधर' को निष्प्रभ काले मेघ का एक टुकड़ा समझकर, उस पर 'सजल'-ता की वार्निश कर दी है। पन्तजी के 'प्रवेश' में शब्दों के रूप पर जो व्याख्या हुई है, उसके अर्थ से और पन्तजी के इस तरह के प्रयोग से साम्य भी है। इसके सम्बन्ध में मुझे जो कुछ लिखना है, आगे चलकर इस पर विचार करते समय लिखूँगा।

'राशि-राशि' और उनके 'शत-शत' शब्दों से जो उच्चारण-सुख हमें मिलता है, इसका कारण हिन्दी के कण्ठ-तालु-दन्तोष्ठों द्वारा बंगला अक्षरों के यथार्थ ऊच्चारण की अक्षमता है। ये दोनों प्रयोग बंगला के अपने, भाषा के प्रचलित मुहावरे हैं। हिन्दी में न कोई 'राशि-राशि' कहता है, न 'शत-शत'।

"चले आसे राशि-राशि ज्योत्स्नार मृदु हासि" तथा "ए आदर राशि-राशि" आदि से बंगला में 'राशि-राशि' की अगणित राशियाँ हैं और 'शत-शत' की सहस्र-सहस्र। हिन्दी में सबसे पहला 'शत-शत' का प्रयोग शायद मैथिलीशरणजी ने किया है, परन्तु उन्होंने उसके पीछे एक 'संख्यक' जोड़कर उसे हिन्दी की रजिस्टर्ड सम्पत्ति कर लिया। उनके 'पलाशीर युद्ध' के अनुवाद में है—

"शत-शत संख्यक कोहिनूर की प्रभा पाटकर—
दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।"

अवश्य 'संख्यक' के न रहने पर 'शत-शत' में कामिनी-सुलभ कोमल सौन्दर्य अधिक आ जाता है।

"हेरऽ गगनेर नील शतदल खानि"

(रवीन्द्रनाथ)

"नभ के नील कमल में"

(पन्तजी)

"I laugh when I pass by thunder."

(Shelley)

"कड़क-कड़क कर हँसते हम जब थर्रा उठता है संसार"

(पन्तजी)

"ये आये वीर बादर बहादर मदन के"

(भूषण)

"मदन-राज के वीर बहादर"

(पन्तजी)

अब इस तरह की पंक्तियों के उद्धरण और न दूँगा। यदि आवश्यकता होगी, तो इस सम्बन्ध में फिर कभी लिखूँगा। यह विचार इस समय स्थगित करता हूँ। मेरा मतलब पन्तजी पर अकारण आक्रमण करना नहीं। जिस विषय पर 'पल्लव' के 'प्रवेश' में उन्होंने एक पंक्ति नहीं लिखी—उधर दूसरों की समालोचना में अत्युक्ति-से-अत्युक्ति कर डाली है, उस विषय का साहित्य में अनुल्लिखित रह जाना मुझे बुरा जान पड़ा, मैंने उसका उल्लेख किया।

अब मैं उन विषयों पर क्रमशः लिखने की चेष्टा करूँगा, जिन पर पन्तजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में विचार किया है। पहले कवित्त छन्द को ही लेता हूँ। पन्तजी लिखते हैं, "कवित्त छन्द मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है।...हिन्दी के...स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालनपूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है; छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छन्दोबद्ध शब्द एक-दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं; हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त छन्द के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है," इस लड़ी को भी सोलह मात्रा के छन्द में रख दीजिए—

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकन्त
बनन में बगर्‌यो (विपुल) बसन्त।

"अब दोनों को पढ़िए और देखिए, उन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छन्दों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है। कवित्त में परकीय और मात्रिक छन्द में स्वकीय हिन्दी का अपना उच्चारण मिलता है।"

कवित्त छन्द के सम्बन्ध में पन्तजी का जान पड़ना आर्यों के आदिम आवास पर की गयी आर्यों ही के सृष्टि-तत्त्व के प्रतिकूल अँगरेजों की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं की तरह बुद्धि का वयन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई संग्राह्य

सार पदार्थ नहीं रखता। हिन्दी के प्रचलित छन्दों में जिस छन्द को एक विशाल भू-भाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाये रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग-वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छन्द की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनन्द अनुभव करते हैं, जिसके समकक्ष कोई दूसरा छन्द उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छन्द को— उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पन्तजी स्वयं समझें। पन्तजी की रुचि तमाम हिन्दी-संसार की रुचि नहीं हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नहीं, उसके सम्बन्ध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्हीं की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मैं समझता हूँ जो वस्तु अपनी नहीं होती, उस पर किसी की ममता भी नहीं होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त छन्द की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिन्दी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रहा हो, परन्तु समय के प्रवाह ने हिन्दी के अन्यान्य प्रचलित छन्दों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरंग में हिन्दी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत-कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी। पन्तजी ने जो कवित्त छन्द को हिन्दी के उच्चारण-संगीत के अनुकूल, अस्वाभाविक गति से चलनेवाला बतलाया, इसका कारण पन्तजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद वह लगा नहीं सके। उनकी कविता में (female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने का कारण—उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष-भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं। अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में होंगे। पन्तजी ने कवित्त की लड़ी को 16 मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में हो गया है। वह कभी पुरुष-भेद में जा नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नहीं हो सकता, परन्तु कवित्त में यह बात नहीं। इस छन्द में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छन्द में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पन्तजी ने तो इसे नपुंसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल में इस छन्द के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, आनन्द कितना बढ़ता है, देखें—

चौताला

जिस "कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है" कवित्त छन्द के सम्बन्ध में पन्तजी कहते हैं, 'राग कुण्ठित हो जाता, सब गुरु और ह्रस्व स्वर आपस में टकराने लगते हैं'—केवल एक मात्रा-काल मिलने के कारण उसी छन्द के लघु और गुरु-स्वरों को इस चौताल के अवतरण में देखिए, कोई दीर्घ ऐसा नहीं, जिसने दो मात्राएँ न ली हों, कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ दोनों स्वर प्लुत कर देने पड़े हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वभावमें female graces की प्रधानता के कारण पन्तजी कवित्त छन्द की मौलिकता, उसका सौन्दर्य, मन को उच्च परिस्थिति में ले जानेवाली उसकी शक्ति, उसकी स्वर-विचित्रता आदि समझ नहीं सके।

यही कवित्त छन्द, जिसे आप 48 मात्राओं में चौताल के वर्गीकृत चार चरणों में अलग-अलग देखते हैं, जब ठुमरी के सुकोमल स्वरूप में आता है, उस समय न यह उदात्त भाव रहता है, न यह पुरुष पुरातन तक ले जानेवाला उसका पौरुष। उस समय के परिवर्तित स्वरूप में इस समय के लक्षण बिलकुल नहीं मिलते, उदाहरण—

तीन ताल

(16 मात्रा)

इस जगह तीन ताल की साधारण रागिनी में कवित्त छन्द का प्रत्येक अक्षर, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा पा रहा है, केवल अन्तिम अक्षर को दो मात्राएँ दी गयी हैं, यह 16 + 16 मात्राओं से दोनों लड़ियों को बराबर कर लेने के अभिप्राय से। कवित्त के (16 + 15) से संगीत के समय की रक्षा नहीं होती,

इसलिए 15 मात्राओंवाले चरण के अन्तिम गुरु अक्षर को दो मात्राएँ दी गयी हैं। कवित्त का यह स्त्री-रूप है। यह झप तथा शूल में भी दस मात्राएँ लेकर चल सकता है। इसका विश्लेषण यदि कल्पना की दृष्टि से न कर, प्रत्यक्ष जगत् में प्रचलित इसके स्वर-वैचित्र्य की जाँच करने के पश्चात् पन्तजी इसके सम्बन्ध में कुछ लिखते, तो उन्हें इस तरह के भ्रम में न पड़ना पड़ता।

अब मुक्त-काव्य के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहता हूँ। पन्तजी लिखते हैं, "सन् 1921 में, जब 'उच्छ्वास' मेरी कृश लेखनी से यक्ष के कनक-वलय की तरह निकल पड़ा था, तब 'निगम' जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उस 'बीसवीं सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, 'इसकी भाषा रँगीली, छन्द स्वच्छन्द हैं।' पर उस वामन ने, जो लोकप्रियता के रात-दिन घटने-बढ़नेवाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द छन्द' ही की छटा दिखलायी पड़ती है।"

पन्तजी की इन पंक्तियों से उनके स्वच्छन्द छन्द के प्रवर्तन की लिप्सा बहुत अच्छी तरह प्रकट हो गयी है। उनके हृदय का दुःख भी लोगों के रचे हुए स्वच्छन्द छन्द के विकृत रूप पर (जिसे वे ही यथार्थ रूप से संगठित कर सकने का पुष्ट विचार रखते हैं) प्रकट हो गया है, और बिना किसी प्रकार के संकोच के अपने सिद्धान्त पर प्रगाढ़ विश्वास रखते हुए [वे] स्वच्छन्द हृदय से घोषित कर रहे हैं कि दूसरों के स्वच्छन्द छन्द की हरियाली पर उन्हीं के 'उच्छ्वास' के प्रपात का पानी पड़ा है, अथवा स्वच्छन्द छन्द की अनुर्वर भूमि उन्हीं की डाली हुई खाद से उपजाऊ हो सकी है—उधर 'उच्छ्वास' के प्रथम मेघ से उस पर पानी भी उन्होंने ही बरसाया; और चूँकि 'निगम' जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उनके 'उच्छ्वास' की लड़ियों को स्वच्छन्द छन्द स्वीकार कर लिया है, इसलिए वह स्वच्छन्द छन्द के सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि पन्तजी की भूमिका से हिन्दी में स्वच्छन्द छन्द विनोद बाबू का कॉमा (,) हो रहा है। इस 'कॉमा' का इतिहास—

किसी स्टेट में (घटना सत्य होने के कारण स्टेट का नाम नहीं लिया गया) विनोद बाबू, एक बंगाली सज्जन, नौकर थे। हेड क्लर्क थे। सब ऑफिसरों को विश्वास था, विनोद बाबू अच्छी अँगरेजी लिखते हैं। खत-किताबत का काम उन्हीं के सिपुर्द था। एक रोज राजा साहब एकाएक कचहरी में दाखिल हो गये। सब ऑफिसरों ने उठकर उनका यथोचित सम्मान किया। राजा साहब बैठ गये, और लोग भी बैठे। मैनेजर साहब विनोद बाबू की लिखी एक चिट्ठी गौर से देख रहे थे। राजा साहब न रहते, तो अवश्य वह उस पर अपने हस्ताक्षर कर देते; परन्तु राजा साहब को अपने कार्य की दक्षता दिखलाने के विचार से उन्होंने विनोद बाबू से कहा, "यहाँ एक कॉमा लगाना चाहिए।" बहुत दिनों से राजा साहब स्टेट की देख-रेख कर रहे थे। परन्तु यह श्रुति-मधुर नाम पहले कभी उन्होंने न सुना था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि स्टेट की रक्षा के लिए यह जरूर शतघ्नी से बढ़कर कोई महास्त्र होगा। उन्होंने मैनेजर की तनख्वाह बढ़ा दी। दूसरे दिन मैनेजर

के आने से पहले ही वह कचहरी पहुँचे। तब तक विनोद बाबू दो-तीन चिट्ठियाँ लिख चुके थे। मैनेजर की कुर्सी पर राजा साहब को देखकर उन्हीं के सामने हस्ताक्षरों के लिए चिट्ठियाँ रख दीं। उसी तरह गौर से राजा साहब भी चिट्ठियों को देखते रहे (राजा साहब को अँगरेजी-वर्णमाला का ज्ञान था)। विनोद बाबू से कहा, "देख लो, कहीं कॉमा की गलती न हो गयी हो।" विनोद बाबू ने उस रोज तो शान्तिपूर्वक सब काम किया, परन्तु दूसरे दिन कॉमा के महत्त्व से घबराकर उन्होंने इस्तीफा दाखिल कर दिया।

इसी तरह हिन्दी में स्वच्छन्द छन्द के कॉमा का प्रचलन करना यदि पन्तजी का अभिप्राय है, तो, मैं कहूँगा, आश्चर्य नहीं, यदि उससे कितने ही विनोद बाबू मजबूर होकर इस्तीफा दाखिल करें।

पन्तजी की कविताओं में स्वच्छन्द छन्द की एक लड़ी भी नहीं, परन्तु वह कहते हैं, " 'पल्लव' में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।" यदि गीति-काव्य और स्वच्छन्द छन्द का भेद, दोनों की विशेषताएँ पन्तजी को मालूम होतीं, तो वह ऐसा नहीं लिखते। 'स्वच्छन्द छन्द' और 'मुक्त-काव्य' के 'स्वच्छन्द' और 'मुक्त' विशेषणों के अलंकारों से यदि उन्हें अपनी शोभा बढ़ाने का लोभ हुआ हो, तो यह और बात है; क्योंकि हिन्दी के वर्तमान शब्द-प्रमाद-ग्रस्त अनेक कवि स्वयं ही अपने नामों के पहले 'कविवर' और 'कवि-सम्राट्' लिखने तथा छापने के लिए सम्पादकों से अनुरोध करने की उच्च आकांक्षा से पीड़ित रहा करते हैं। परन्तु यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाये, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

"दिव्य स्वर या आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार !"

जिनकी संख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं में बहुत थोड़ी है —विषम-मात्रिक होने पर भी गीति-काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छन्द छन्द की निराधार नन्दन-भूमि पर पैर नहीं रख सकतीं। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों में छन्द की मात्राओं से पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छन्द भी संगीत-प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़कर एक दूसरे छन्द के घेरे में, जो इसके लिए अप्रधान है, नहीं जा सकता। दूसरे, स्वच्छन्द छन्द में 'तार' और 'गार' के अनुप्रासों की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नहीं। यदि कारीगरी की गयी, मात्राएँ गिनी गयीं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रखा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्व में स्वच्छन्दता का सरल सौन्दर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है। पन्तजी ने जो लिखा है कि स्वच्छन्द छन्द ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्द में art of music नहीं मिल सकता, वहाँ है art of reading; वह स्वर-प्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौन्दर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त छन्द से हुई है, जिसे

पन्तजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आया। मेरे—

"देख यह कपोत-कण्ठ—
बाहु-बल्ली—कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द-मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का;
देवों-योगियों की तो बात ही निराली है।"

इस छन्द को, जिसे मैं हिन्दी का मुक्त-काव्य समझता हूँ, पन्तजी ने रवीन्द्रनाथ की—

"हे सम्राट कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत"

आदि पंक्तियों के उद्धरण से बंगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छन्द बंगला के अनुसार चलता है। उनकी यह रवीन्द्रनाथ के छन्द से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का संस्कारजन्य फल हो; परन्तु वास्तव में इस छन्द की स्वच्छन्दता उनकी समझ में नहीं आयी। यदि वह कवित्त छन्द को कुछ महत्त्व देते, तो शायद समझ भी लेते।

'देख यह कपोत-कण्ठ' के 'ह' को निकाल दीजिए। अब देखिए, कवित्त छन्द के एक चरण का टुकड़ा बनता है या नहीं। इसी तरह 'बाहु-बल्ली कर-सरोज' के 'र' को निकालकर देखिए। लिखे हुए सम्पूर्ण चरणों की धारा कवित्त छन्द की है, नियमों की रक्षा नहीं की गयी, न स्वच्छन्द छन्द में की जा सकती है। कहीं-कहीं बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किये ही मेरे मुक्त-काव्य में कवित्त छन्द के बद्ध लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मैं जान-बूझकर नहीं रखा करता। पन्तजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—'उन्नत उरोज पीन'—इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछें कि कहीं-कहीं तो कवित्त छन्द का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों? —यह तो छन्द की कमजोरी है, ऐसा न होना चाहिए, तो उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उनके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है। दुःख है, वे जरा देर के लिए भी नहीं सोचते कि सम्भव है, हमीं किसी विशेष कारणवश इसके साथ मिल न सकते हों—इसे पढ़ न सकते हों। वे तुरन्त अपना अज्ञान बेचारे कवि के ललाट पर मढ़ा हुआ

देखने लगते हैं। व्यक्तित्व के विचार से अपने व्यक्तित्व का मूल्य कोई भले ही न घटाये, परन्तु कवि बेचारे को भी अपनी समझ की तुला पर उतने ही वजन का रखे, निवेदन यह है। अन्यथा बुद्धि की इकतरफ़ा डिग्री देने का उन पर दोष लगता है। मेरे 'अमित्र' जी जो पहले-पहल लोगों से मैत्री नहीं कर सके, इसका मुख्य कारण यही है. उनके हृदय में सहृदयता काफी थी, वेश-वैचित्र्य के होने पर भी, इंगितैर्गत्या, वह अपने ही जान पड़ते थे। पूर्वकथित कारण के अनुसार, उन्हें देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि-महोदयों ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फिज़ूलखर्च में नहीं जाने दी। गत वर्ष कलकत्ते में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त से मुलाकात हुई, और इस अमित्र छन्द के सम्बन्ध में उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हें जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यों के हृदय की बातें एक हो गयी हों—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गये हों। गुप्तजी ने कहा, "मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त-काव्य हिन्दी में कवित्त छन्द के आधार पर ही सफल हो सकता है।" गुप्तजी द्वारा किया गया 'वीरांगना' काव्य का अनुवाद जिन दिनों 'सरस्वती' में निकल रहा था, उन दिनों इस अमित्र छन्द की सृष्टि मैं कर चुका था—मैं कर क्यों चुका था, भाव के आवेश में 'जुही की कली' उन दिनों मेरी कापी में खिल चुकी थी। गुप्तजी के छन्द में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण, उस अनुवाद में बहाव कम था—वह बहाव जैसे नियम के कारण आये हुए कुछ अक्षरों को—उनके बाँध को तोड़कर स्वच्छन्द गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज हो रही थी।

जिस समय आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक थे, 'जुही की कली' सरस्वती में छापने के लिए मैंने उनकी सेवा में भेजी थी। उन्होंने उसे वापस करते हुए पत्र में लिखा, "आपके भाव अच्छे हैं, पर छन्द अच्छा नहीं, इस छन्द को बदल सकें, तो बदल दीजिए।"

मेरे पास ज्यों-की-त्यों वह तीन-चार साल तक पड़ी रही। फिर संगीतात्मक विषम-मात्रिक गीति-काव्य में मैंने अपनी 'अधिवास' नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान सम्पादक श्री पदुमलाल पुन्नालालजी बख्शी बी. ए. महोदय के पास भेजी। पन्तजी ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इसकी भी आलोचना की है, और इसमें संगीत के रहने के कारण इसे हिन्दी की अपनी वस्तु बतलाया है (कारण, गीति-काव्य उनके छन्दों के प्रवाह से मिलता-जुलता है!)। अस्तु, बख्शीजी ने उस कविता पर यह नोट लिखा, "इसके भाव समझ में नहीं आये, इसलिए सधन्यवाद वापस करता हूँ।" यह उस साल की बात है, जिस साल पहले-पहल बख्शीजी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए थे।

हिन्दी-संसार समझ सकता है कि सम्पादकों की इतनी बारीक समझ बेचारे नये लेखक और कवि पर क्या काम करती है। दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय' वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का सम्पादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर

कलकत्ता गया। हिन्दी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम मित्र हुए बाबू महादेव प्रसादजी सेठ ('मतवाला' के सुयोग्य सम्पादक) और बाबू शिवपूजनसहायजी (हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक)। श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलायी पड़ा, वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए। बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' में मेरी 'जुही की कली' को जगह दी, और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया। इसके पश्चात् वही 'अधिवास', जिसे बख्शीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजनसहायजी ने 'माधुरी' के सम्पादकों के पास भेज दिया, और 'माधुरी' के उस समय के सम्पादक श्री दुलारेलालजी भार्गव और श्री रूपनारायणजी पाण्डेय ने उसे 'माधुरी' के मुख-पृष्ठ पर निकाला। यह बात 'माधुरी' के प्रथम वर्ष की है। कलकत्ते में पाण्डेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। इसीलिए वह कविता उनके पास भेजी गयी थी। भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशंसक थे, यह मुझे मालूम हुआ, जब वे कलकत्ता गये। और भी मेरी कई कविताएँ 'माधुरी' में अग्र-पश्चात् निकलीं, परन्तु मुझे हिन्दी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है सहृदय साहित्यिक, श्री बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों में छिपे हुए हीरे, श्री महादेव प्रसादजी सेठ को और उनके पत्र 'मतवाला' को। मुझे मेरे 'मास्टर साहब' हिन्दी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने भी किसी से कम प्रोत्साहन नहीं दिया।

मेरे विरोध में जो बड़े-बड़े लोग खड़े हुए थे, मैं उनकी चर्चा से अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि न करूँगा। इतिहास की दृष्टि से जो कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ 'माधुरी' के पाठकों के सामने उतना ही अंश निवेदन के रूप में रखूँगा।

चिरकाल से बंगाल में रहने के कारण हिन्दी और बंगला की नाट्यशालाओं में अभिनय देखते रहने के मुझे विशेष अवसर मिले। कलकत्ता इन दोनों भाषाओं के रंगमंचों से प्रसिद्ध है। हिन्दी के रंगमंचों में अलफ्रेड और कोरिन्थियन के नाटकों को देखकर मुझे बड़ा दु:ख होता था। उनके नटों के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी। उस समय मैं 16-17 (वर्ष) से अधिक का न था। कल्पना की सुदूर भूमि में हिन्दी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए, जिस छन्द की सृष्टि हुई, वह यही है और पीछे से विचार करके भी देखा, तो इसे स्वाभाववश निश्छल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया। वेदों और उपनिषदों में इसकी पुष्टि के प्रमाण भी अनेक मिले और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढ़ा, उसी के हृदय में 'कुछ है' के रूप से इसने घर कर लिया। पं. जगन्नाथ प्रसादजी चतुर्वेदी, पं. अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं. सकलनारायणजी शर्मा, पं. चन्द्रशेखरजी शास्त्री, इसके उदाहरण हैं। पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज ने भी इसे मेरे मुख से सुना है और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का ही विश्वास दिलाया।

यह सब बाहर की बातें हुईं। मेरी आत्मा में तो इसकी सफलता पर इतना दृढ़ विश्वास है, जो किसी तरह भी नहीं दूर हो सकता। एक दिन वह भी था, जब हिन्दी-संसार एक तरफ और मैं अपने 'अमित्र' महाशय के साथ एक तरफ

था। अब तो उस तरह की शैली में बहुत-कुछ दूसरों को भी सफलता मिल गयी है।

अस्तु। वेदों और उपनिषदों में इस तरह के अनेक छन्द हैं। छन्दःशास्त्र का निर्माण भाषा के तैयार हो जाने के पश्चात् हुआ करता है, जैसे बच्चे के पैदा हो जाने के बाद उसका नामकरण। स्वर की बराबर लड़ियों में भी शब्द निकलते हैं और विषम लड़ियों में भी। जैसे आलाप में ताल नहीं होता, राग या रागिनी का चित्र-मात्र देखने और समझने के लिए सामने आता है, उसी तरह मुक्त-काव्य में स्वर का संयम नहीं देख पड़ता—स्वर की लड़ी बराबर नहीं मिलती, कविता की केवल मूर्ति सामने आती है। राग या रागिनी जब सीमा के अन्दर, बजानेवाले की सुविधा के लिए, बाँध दी जाती है, तब ताल में उससे बँधे रूप का लावण्य रहता है—जैसे एक ही विहंग की वन में स्वाधीन वृत्तियाँ और पींजड़े में ससीम चेष्टाएँ।

वैदिक छन्द, अतिछन्द और विच्छन्द को बहुभेदों में बाँटकर भी कोई उनके सब छन्दों के नामकरण नहीं कर सका। अन्त में अनन्त भेद (!) मान लिये गये। ठीक ही है, जब सृष्टि में भी 'अगणित' दिखलायी पड़ा, तब गिनने की धृष्टता समझ में आ गयी।

इसी तरह मेरे मुक्त-काव्य में गिनने की धृष्टता नहीं की जा सकती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवित्त छन्द हिन्दी का चूँकि जातीय छन्द है, इसलिए जातीय मुक्त-छन्द की सृष्टि भी कवित्त छन्द की गति के अनुकूल हुई है।

ब्रजभाषा के सम्बन्ध में पन्तजी लिखते हैं, "हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गये, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गयी; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गयी। हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गयी; ··· विश्व-जननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है।··· मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्तमांसहीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गयी हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गये हों, जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो, भाषा के प्राण चिरकाल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हों··· और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य, वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी – 'कहत,' 'लहत,' 'हरहु,' 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गयी हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो, पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।"

खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर पन्तजी ने अपनी कविता की भाषा में जो आलोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर जोर दिया है, इसलिए उनके विचारों से अपना एक पृथक् विचार रखने पर भी मैं उन्हें विशेष कुछ कहने का

अधिकारी नहीं रह जाता। सत्य-विवेचन की दृष्टि से ही मैं यहाँ ब्रजभाषा के सम्बन्ध में विचार करूँगा।

पन्तजी की तरह मेरा भी खड़ी बोली से प्रेम-सम्बन्ध घनिष्ठ है। परन्तु जब भाषा-विज्ञान का प्रश्न सामने आता है, उस समय कुछ काल के लिए विवश होकर प्रेम-सम्बन्ध से अलग, न्यायानुकूल विचार करना पड़ता है। संस्कृत का 'धर्म' जब पाली में 'धम्म' बन गया, उस समय 'धर्म' की अपेक्षा 'धम्म' में ही लोगों को अधिक आनन्द मिलता था। इधर 'धर्म' से 'धरम' का भी यही हाल रहा। स्वेच्छानुवर्ती कवियों ने किसी भी काल में नियमों की परवा नहीं की। वे अपनी आतमा के अनुशासन के अनुसार ही चलते गये। कुछ लोगों का कहना है कि समाज ज्यों-ज्यों मूर्ख होता गया, अपभ्रष्ट शब्दों की संख्या भी त्यों-त्यों दिन दूनी और रात चौगुनी की कहावत के अनुसार बढ़ती गयी, क्रमशः भाषा भी एक रूप से दूसरे रूप में बदलती चली गयी। मैं यहाँ इस मीमांसा से प्राणों की सहृदयता की मीमांसा अधिक पसन्द करता हूँ। मेरे विचार से अचिरता की गोद में प्रचलित शब्दों की भी समाधि होती है—कुछ ही काल तक किसी प्रचलित शब्द को मनुष्य-समाज के अधर धारण करते हैं। फिर उसके परिवर्तित रूप से ही उनका स्नेह अधिक हो जाता है अथवा उस शब्द का अपर-रूप-धारण प्रेम के कारण ही हुआ करता है।

कारीगरी के विचार से ब्रजभाषा-काल में शब्दों की जो छान-बीन हुई है, जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, भाषा-विज्ञान उन्हें बहुत ही ऊँचे आसन पर स्थापित करता है। सहृदयता उनकी व्याख्या में अपने हृदय का रस निःशेष कर देती है। खड़ी बोली की विभक्तियाँ —को, के लिए, से, का, के आदि—ब्रजभाषा की हिं, कों, सों, कँहँ आदि से समता की स्पर्द्धा नहीं कर सकतीं। खड़ी बोली में एक ही विभक्ति मधुर है—'में', परन्तु वह भी ब्रजभाषा की 'मँहँ' की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है। ब्रजभाषा में ँ की मणि से जैसा सौन्दर्य का उज्ज्वल गौरव है वैसा खड़ी बोली में नहीं मिल सकता। पश्चिमी भाषाओं में फ्रेंच की विजय और स्पर्द्धा इसीलिए है। संस्कृत में भी इसके चढ़ाव से श्री भरी हुई है। उधर ब्रजभाषा ने अपनी क्रियाओं के रूपों में भी यथेष्ट श्रुति-कोमलता ला दिखलायी है। 'लाभ करते' की तुलना में 'लहत,' 'मुड़ते' की तुलना में 'मुरत,' 'पाते' की, अपेक्षा 'पावत' विशेष श्रुति-मधुर हैं। सारांश यह कि ब्रजभाषा एक समय जीवित भाषा रह चुकी है और यों तो अब भी वह जीवित ही है, परन्तु खड़ी बोली इस समय भी हिन्दी-भाषा का मातृ-गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। पन्तजी यदि खड़ी बोली में ही विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो इससे बढ़कर गर्व की बात और क्या हो सकेगी? परन्तु जहाँ वह रहते हैं, अल्मोड़े के उन देहातवासियों के साथ, अवश्य ही, उन्हें, वहाँ की ही प्रचलित भाषा में बातचीत करनी पड़ती होगी, और, यदि अपनी उस जातीय भाषा से, खड़ी बोली के प्रति विशेष प्रेम के कारण, वार्तालाप करते समय, वह कुछ भी विराग दिखलाते होंगे, तो निःसन्देह युक्ति के अनुसार, वहाँ के अधिवासियों के साथ अपने प्राणों की सोलहो आने सहृदयता से मिल भी न सके होंगे। भविष्य में, दो-चार पीढ़ियों के बाद, शिक्षित समुदाय की एक

भाषा अलग हो जाये, यह बात और है। और, जो लोग मेरठ-सरौंडिंग की भाषा के साथ हिन्दी में प्रचलित वर्तमान भाषा-साहित्य को एक कर देने के प्रयत्न में रहते हैं, उनसे तो अकेले (हिन्दी) कविता-कौमुदीकार ही अच्छे, जिन्होंने हिन्दी की प्रथम सृष्टि से अब तक का क्रम किसी तरह नहीं बिगड़ने दिया। व्रजभाषा-वालों से शब्दों और क्रियाओं के परिवर्तित रूप तो पन्तजी को जाड़े की कुक्कुर-कुण्डलीवत् सिकुड़े हुए दिखलायी पड़ते हैं, और स्वयं जो खड़ी बोली की चिर-प्रचलित 'भौंह' शब्द को 'भोंह' कर देते हैं, कहते हैं, वह सुन्दर बन जाता है।

बात यह कि आज किसी प्रान्तीय भाषा के साथ अपने हृदय की पूर्णता और उज्ज्वल उत्कर्ष पर विश्वास रखकर वार्तालाप करने की शक्ति, हिन्दी के प्रचलित दो रूपों में, यदि किसी में है, तो व्रजभाषा में। व्रजभाषा का प्रभाव बंगाल के प्रथम वैष्णव कवियों पर भी पड़ा और इधर सुदूर गुजरात तक फैला। उद्धरणों से लेख की कलेवर-वृद्धि का भय है। इसलिए व्रजभाषा का भाषा-वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन, समय मिला, तो कभी फिर करूँगा।

अब आजकल के प्रचलित विश्ववाद पर विचार होना चाहिए। पन्तजी लिखते हैं, "अधिकांश भक्त कवियों का सम्पूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गयी; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गये; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गये, तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गयी। ···कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडुगन केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह भरना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना—बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीर-भरी गगरी ढरका देती है! ···उसका (व्रजभाषा) वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य,···सबकुछ समा सके।"

जिनके संस्कार बहुत-कुछ अँगरेजी-कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें व्रजभाषा की कविता पसन्द नहीं आती, यह बहुत ठीक है। परन्तु यह भी बहुत ठीक है कि पन्तजी ने व्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशों में सत्य है।

आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की ऊँची भूमि पर विचरण कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देता है। इसके पश्चात् गौरांगों की उज्ज्वल अँगरेजी, गौरांगों का गुरुत्व और कृष्णांगों पर

गौरांगों का भाष्य और उस भाष्य पर कृष्णांग बालकों का विश्वास।

'भारत-भारती' के एक पद्य में है, अच्छा लिखा है दो ही लाइन में कि "जिस समय से भारत के पतन का अन्धकार घनतर होता गया, दूसरे देशों विशेष रूप से पश्चिम की उन्नति का क्रम उसी समय से दिखलायी पड़ता है।" इसलिए भारत की उन्नति के समय का अनुमान करना कठिन है। अपने समय का श्रेष्ठ अँगरेज विद्वान् मैक्समूलर, प्राचीन भारत के कल्पना-लोक में विचरण करते रहने के कारण, नवीन भारत के विकृत रूप को देखने का साहस नहीं कर सका। बार-बार उसने अपनी भारत-दर्शन की लालसा रोकी।

ऐसे भारत की कविता में भी एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिए व्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और व्रजभाषा के शृंगारी कवियों को दुनाली बन्दूक के सामने रखकर भी ज़रा सुन लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुकदेव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव की जीवनी किसी भारतीय से अविदित न होगी। इन दोनों महापुरुषों का स्मरण कर भागवत भी देखिए। देखिए, एक ओर कवि के गहन वैदान्तिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेंगे। उधर 'गीत-गोविन्द' के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नहीं है। उनके भी—

"गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"
"अयि प्रिये, मुंच मयि मानमनिदानम्"—

आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरण-चपल-गति लोचन नेल"
"चरण-चपलता लोचन नेल"

का लोभ पन्तजी संवरण नहीं कर सके, और अपने गद्य में भी "पदों की चंचलता दृष्टि में आ गयी" द्वारा भावानुसरण की चेष्टा की। वह विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वह अपने किसी भी समानधर्मा से घटकर न होंगे—

"दिन-दिन पयोधर भँ गेल पीन;
बाढ़ल नितम्ब माझ भेल खीन।"
"थरथरि काँपल लहु लहु भास;
लाजे न बचन करए परकास;"
"नीबिबन्धन हरि काहे कर दूर;
एहो पै तोहार मनोरथ पूर"

आदि-आदि अश्लील-से-अश्लील वर्णन उन्होंने किये हैं। यही हाल बंगला के प्रथम और सर्वमान्य कवि चण्डिदास का रहा, जिन्हें देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर-रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वह अश्लील नहीं हो सके। इधर व्रजभाषा में भी

यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो जिक्र ही नहीं किया गया।

भारतवर्ष और यूरोप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनों की भावनाओं के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवीन्द्रनाथ की युक्ति के अनुसार यूरोप की कविता के सितार में, बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की झनकार ज्यादा रहती है। परन्तु भारतवर्ष में विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक देख पड़ता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवास नहीं करते। यहाँ-वहाँ के उपमान-उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है। यहाँ की उपमा जितना चुभती है, वहाँ की उपमा उतना घाव नहीं कर सकती। यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता। यहाँ दैवी-शक्ति है और वहाँ आसुरी; इसलिए यहाँ की कविता में एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता में प्रगल्भता। यदि तुलसी-कृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज के सामने रख दिया जाये, तो शायद ही श्रीगोस्वामीजी की कविता में उसे कोई कला (art) दिखलायी पड़े। बल्कि मैं तो गोस्वामीजी को महासौभाग्यवान् समझूँ, यदि उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शान्त रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं। एशिया के कवियों में उमर-खैयाम की यूरोप में अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नहीं, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कबाब, नायिका और निर्जन हैं। ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं, रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि में श्रृंगार का परिपाक नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों, इन्हीं आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है। न ब्रजभाषा-काल में अँगरेजी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष में हुआ, न राधे के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियों को जरूरत मालूम पड़ी। यह मैं मानता हूँ कि मानवीय सृष्टि में उस समय अश्लील की हद कुछ अधिक हो गयी थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परन्तु मियाँ की दौड़ मसजिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियों पर वृन्दावन, गोकुल, मथुरा और नन्दगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लांछन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे। ब्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिए जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अन्दर समग्र भारतवर्ष में अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। प्रचलित रीतियों और अपने जातीय-मेरुमूल धर्म-भावों से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधारस्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट में चौदहो भुवन—यह एक पृथ्वी या केवल यूरोप नहीं—चौदहो भुवन समाये हुए हैं। सर जगदीशचन्द्र को जिस दिन एक घोंघे में एक वीक्षण-यन्त्र द्वारा आश्चर्यकर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलायी पड़ी थीं, उस दिन भारत के

महर्षियों के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, "जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव की पूजा करूँ।" कृष्ण की गोपियों के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानन्दजी उसके सम्बन्ध में कहते हैं, "वह इतने उच्च भावों की है कि जब तक चरित्र में कोई शुकदेव न होगा, तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता।" कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता में सर्व-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियों के हृदय में स्वभावतः पुष्प-चन्दन से अर्चित हुआ और वृन्दावन का क़तरा ब्रजभाषा के कवियों को दरिया नजर आया। वासनावाले कवियों ने श्रीकृष्ण की वर्णना में ही अपने हृदय का जहर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगों ने राजों-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रों पर भी कविताएँ लिखीं।

एक दिन मैं अपने मित्र श्री शिवशेखर द्विवेदी को, जब वह हिन्दी की मध्यमा-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, सूर की पदावली का एक पद पढ़ा रहा था। इस समय मेरे पास वह पुस्तक नहीं, न वह पद मुझे याद है। अन्तिम लड़ी उस पद की शायद यों है—"समझ्यो सूर सकट पगु पेलत।" इस पद के पढ़ाते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति मुझे उसमें दिखलायी पड़ी। उस पद में कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्माण्ड डोल रहा है—दिग्दन्ती अपने दाँतों से दृढ़तापूर्वक धरा-भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केन्द्र के चेतन-स्वरूप से तमाम संसार, सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिए उसके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गयी है ताकि प्रलय न हो जाये। इसलिए श्रीकृष्ण की मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा-शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कम्पन-गुण से कहीं-कहीं खण्ड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु, भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतनवाद है, जिसमें अगणित सौर-संसार अपने सृष्टि-नियमों के चक्र से त्रिवर्तित होते जा रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिए 'सकट पगु पेलत'—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे हैं। हरएक केन्द्र में वह चेतनस्वरूप, वह आत्मा, वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केन्द्र को ग्रहण किया। तुलसी ने श्रीरामचन्द्र के केन्द्र को और कबीर ने निर्गुण आत्मा को—बिना केन्द्र के केन्द्र को। भारत के सिद्धान्त से यथार्थ विश्वकवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार-स्तम्भ। तुलसी भी "उदर माँझ सुनु अण्डज राया; देख्यों बहु ब्रह्माण्ड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते हैं, और यह भ्रम नहीं—वह जोर देकर कहते हैं—"यह सब मैं निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्व-कवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नहीं झोंकते—वह ब्रह्माण्डमय चेतन का अंजन उनकी आँखों में लगाते

हैं। रवीन्द्रनाथ का विश्ववाद यूरोप के सिद्धान्त के अनुकूल है, और उनके ब्राह्म-समाजी होने के कारण, उनका विश्ववाद उपनिषदों से भी सम्बन्ध रखता है। रवीन्द्रनाथ का 'विश्व'-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से कदर्थ की सृष्टि नहीं करता। परन्तु पन्तजी "विश्व-कामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान्" से, 'विश्व' शब्द-मात्र से लोगों की नजर बाँधने की लालसा रखनेवाले जान पड़ते हैं, और अर्थ की तरफ से वही—"अन्धनैव नीयमाना यथान्धा।" पन्तजी की 'विश्व-कामिनी' यदि 'विश्व ही कामिनी = कर्मधारय' है, तो कोई सार्थकता नहीं दिखलाती, और यदि 'विश्व की कामिनी = छठा तत्पुरुष' है, तो भी कोई अर्थ नहीं देती; विश्व में जितनी कामिनियाँ हैं, सब किसी-न-किसी देश की, किसी-न-किसी समाज ही की हैं, इस तरह सब एकदेशीया हुई, व्यापक विश्व की कामिनी किस तरह की होगी, यह पन्तजी ही बतलायें।

वर्तमान विश्ववाद व्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों में चेतनवाद या वेदान्तवेद्य अनन्तवाद के रूप में मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष के पिछले दिनों में लोगों की बुद्धि संकुचित हो गयी थी, और पन्तजी के शब्दों में यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि व्रजभाषा में कुछ कवियों को छोड़कर प्राय: अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अन्दर ही तेली के बैल की तरह अन्ध चक्कर काटते चले गये हैं, वे वास्तव में गलती करते हैं। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लड़ते-लड़ते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता में मृदु-स्पन्दित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक पहली विशालता चौके के अन्दर आ गयी थी। परन्तु दार्शनिक लोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्रकृतिवाले मनुष्यों का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हरएक मनुष्य, हरएक प्रकृति, हरएक जाति, हरएक देश दबाव से संकोच-रूप धारण करता है। व्रजभाषा-काल में इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य में भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी संकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए—शेर जब शिकार पर टूटता है, तब पहले, उसकी तमाम वृत्तियाँ—तमाम शरीर सिकुड़ जाता है, और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छलाँग भरने की शक्ति आती है। व्रजभाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिए बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलाँग भी भरायी उससे बहुत लम्बी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारत ने दिखाया हो—"Either sword or Quran" वाले धर्म के सामने हर्ष-विषादरहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेटें चढ़ायीं—एक-दो नहीं—अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गयीं—उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता व्रजभाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों में नहीं—चारणों के मुखों में प्रतिध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छलाँग से पार कर गये, और अपने भविष्य-

वंशजों के पैरों में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गये—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी को तोड़ने के लिए हो रहे हैं— धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नादों के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गयी, उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रखा गया, एक पद्य के अन्दर—एक छोटी-सी सीमा में भावों की विशालता ला दी जाये। मथुरा-व्रज-गोकुल और द्वारका की छोटी-सी सीमा में पन्तजी अकारण भटकते हैं—यह तो कवियों की, भावों के दिव्य आधार कृष्ण पर की गयी, प्रीति है—आप भाव ग्रहण कीजिए, 'श्याम' के नाम से न घबराए— बड़ा-सा दृश्य चाहते हैं आप?—लीजिए—

"सावन-बहार झूलै घन की घुमण्ड पर,
घन की घुमण्ड पौन चंचला के दोले पै;
चंचला हूँ झूलै घन सेवक अकास पर,
झूलत अकास लाज-हौसले के टोले पै।"

लाज और हौसले के टोले में आकाश झूलता है—लाज और हौसले के आनन्द के कम्पन से तमाम प्रकृति—तमाम आकाश के परमाणु आनन्द से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौन्दर्य की दिव्य मूर्ति—देखिए आकाश-जैसे बड़े को लज्जा-जैसी छोटी-सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे में।

नारियों या नायिकाओं के भेद, रसों के भेद, अलंकारों— भूषणों के भेद, छन्दों के भेद, ध्वनियों की परख, कविता-साहित्य का विश्लेषण जहाँ तक हो सकता है—आर्य-भाषाओं के किये हुए उन उपायों के अनुसार, व्रजभाषा के काव्य-साहित्य ने सब भेदों पर लिखा, और खूब लिखा। क्या कविता-साहित्य का इतना सुन्दर विश्लेषण संसार की किसी आर्येतर भाषा ने किया? पन्तजी, क्या आप शराब, कबाब और बगल में बीवीवाले कवियों को अश्लील न कहेंगे? यदि कहते हैं, तो यूरोप का एक प्रसिद्ध कवि निकालिए, जो इन दुर्गुणों से बचा हो, और श्रृंगार की कविता में बाजी मार ले गया हो। व्रजभाषावालों ने तो फिर भी कृष्ण-जैसे श्रृंगार-रस के महापुरुष की आड़ में—उस मदन को मूर्च्छित कर देने-वाले कामजित् आदर्श की शरण में अपनी वासनाओं को चरितार्थ किया—यह क्या यूरोप की कविता के बालडांस से भी गया-बहा हो गया?

यूरोप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मैं उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णनाशक्ति स्वीकार करता हूँ, परन्तु यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचन द्वारा। जिस दिन हिन्दोस्तान में अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आयेगी—वह स्वाधीन होगा—उस दिन तक यूरोप के इन भावों की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। दुःख है, उस समय मुझे और पन्तजी को आलोचना की ये बातें याद न रहेंगी। व्रजभाषा के पक्ष की अनेक बातें, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, लेख-वृद्धि के भय से छोड़ दिये गये। मैं यहाँ केवल इतना ही कहूँगा कि व्रजभाषा के कवियों ने सौन्दर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौन्दर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने

सुख के दिन इतनी आवारगी में बिताये हों और वह जाति जाग्रत होने के बदले काल के गर्भ में चिरकाल के लिए विलीन न हो गयी हो।

शब्दों के चित्र पर अब कुछ लिखना आवश्यक है। पन्तजी लिखते हैं, " 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्ष:स्थल की कोमल-कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठकर गिरना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, 'हिल्लोल-कल्लोल' से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँगरेजी का 'wing' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; व्रजभाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत-स्फुरन् प्रकट होता है। अँगरेजी के 'air' में एक प्रकार की transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखायी पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है; 'प्रभंजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कणों और पत्रों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है, जैसे हवा रुक गयी हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"

पन्तजी की इस छानबीन का ही फल है कि उनके तपे हुए हृदय के श्वेतकमल पर कविता की ज्योतिर्मयी मूर्ति खड़ी हुई। उनकी दृष्टि की तृष्णा आकर इस व्याख्या से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो रही है। रूप का अन्वेषण करती हुई उसने अरण्य, पर्वत, खोह और कन्दराएँ कुछ भी नहीं छोड़ा। शब्दों के रूपों को उनकी दृष्टि की करुण प्रार्थना मे आना ही पड़ा। उनके स्वर के प्राणायाम ने आकर्षण-मन्त्र सिद्ध कर दिखाया। उनकी दृष्टि ने शब्दों के रूपों का अमृत पिया।

परन्तु यहाँ भी भारतीय शब्दों की भारतीय व्याख्या उनके इस अन्वेषण से प्रतिकूल चल रही है। बंगला के रवीन्द्रनाथ और अँगरेजी के शेली पन्तजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। परन्तु भारतवर्ष के आचार्य और कवि नाराज होंगे। इसी विषय पर यहाँ के आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। पन्तजी की व्याख्या से जाहिर है, उनका झुकाव अँगरेजी शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा है, जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेजी दवाओं के अनुकूल करना।

भारतवर्ष के शब्दों के चित्र पहले से तैयार किये हुए हैं। धातु-रूप से उनके

चित्र निकाले जा चुके हैं। जैसा पन्तजी कहते हैं, touch में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती, वहाँ एक विशेष बात है, जिसकी ओर, अपने संस्कारों के वश, पन्तजी ध्यान नहीं दे सके। 'touch' के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 't' से जीभ मूर्द्धा स्पर्श करती है, फिर 'अच्' (ouch) से स्वर-वायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह 'touch' से स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुन्दर और मधुर है। यों तो यहाँवाले 'स्पर्श' का ही अपभ्रष्ट रूप 'touch' (टच् या टश्) हुआ है, कहेंगे। 'स्पर्श' की 'स्पृश' धातु की क्रिया देखिए—'स' दन्तों को स्पर्श कर, 'प' द्वारा ओष्ठों को—शरीर के सबसे अन्तिम उच्चारण-स्थल तक पहुँचकर—स्पर्श करता है, फिर 'ऋ' द्वारा स्वर-शक्ति अन्तर्मुखी होती है, जैसे उस समय स्पर्श का संवाद देने के लिए, 'श' से तालु स्पर्श करती हुई 'स्पर्श' की कोमलता का अनुभव करा जाती है—तालु से उच्चारित होनेवाले अक्षर कोमल हैं। पन्तजी जो यह लिखते हैं कि 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच होता है, उसका चित्र है, यह विचार वह बहिर्दृष्टि से कर रहे हैं—उनका यह स्पर्श बाहर से होता है, जो भारतीय शब्दों की विचारणा-प्रणाली की अनुकूलता नहीं करता। 'touch' के समर्थन से उनके विचार बाह्य हो जाते हैं—'touch' से बाहर की वस्तु के छूने की क्रिया होती है। चूँकि भारतीय समस्त विचार अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखने-वाले अन्तरात्मा को ही रूप, रस, गन्ध और शब्द-स्पर्श से सुखी करनेवाले होते हैं, इसलिए 'स्पर्श' होंठों से बाहर नहीं जा सका, जैसे सब क्रिया अपने ही भीतर हुई, और उसका फल भी अपने ही भीतर मिल गया। पन्तजी का 'touch' का विचार भी बाह्य है और 'स्पर्श' का भी। अन्त में जो वह कहते हैं, 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, यह सिर्फ खयाल है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का एक उदाहरण पन्तजी ने भी दिया है—

"घन घमण्ड गरजत नभ घोरा।"

इन शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपना विशेष अर्थ न रखता हो। इन तमाम शब्दों के एक साथ उच्चारण से बादलों की गर्जना जैसे हो रही हो—ग, घ, ड, भ का कोई-न-कोई प्रत्येक शब्द में आया है। फिर—

"प्रिय-विहीन डरपत जिय मोरा।"

प्रिया के वियोग से क्षीण प्रियतम का भय, 'डरपत' क्रिया के चित्रफल से प्रकट किया गया। एक ओर मेघों में प्रकृति का उत्कट उत्पात, दूसरी ओर विरह-कृश पति के हृदय में भय, घबराहट। एक ओर विराट्, दूसरी ओर स्वराट्। एक ओर उत्पात, दूसरी ओर उसकी क्रिया। एक ओर कठोर, दूसरी ओर करुण, कितना सुन्दर निबाह है!

इस प्रसंग में मैं और अधिक उद्धरण न दूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ, यहाँ के शब्दों से यहीं के प्रचलित अर्थ के अनुकूल, काम लेना ठीक है। पन्तजी अपनी कल्पना में पड़कर कितना बड़ा अनर्थ करते हैं, देखें—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत दल-बल-युत घुस वातुल-चोर।"

अपनी इन पंक्तियों के सम्बन्ध में पन्तजी लिखते हैं, "इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है।"

पहला एतराज यह कि दल-बल-युत आदि शब्दों की आवृत्ति यदि घुसने के लिए मार्ग बनाती है, तो सफ़रमैना की पलटन की तरह वह अर्थ की लड़ाई में काम भी न देती होगी। तुलसीदासजी की उद्धृत चौपाइयों में देखा गया—शब्द गरजते और काँपते हैं, और अपने अर्थ के फाटक की रक्षा भी करते हैं।

दूसरा यह कि चोर यदि वातुल है, वातग्रस्त है, पागल है, तो उड़ा ले जाने की बुद्धि से रहित है, क्योंकि विकृत-मस्तिष्क है।

तीसरा यह कि मेघ को उड़ाने का कार्य वायु ही करता है, बिना किसी सहायक के अकेला। यदि उसके इस उड़ाने के कार्य में और-और सहायक आते हैं, जिससे 'दल-बल-युत' के अर्थ की पुष्टि होती है, तो पन्तजी बतलायें, उसके ये सहायक और कौन-कौन से हैं!

चौथा यह कि यदि 'वात-चोर' के कर्मधारय का रूप 'वातुल-चोर' बना है—'वात' शब्द विशेषण के रूप में 'वातुल' कर दिया गया है, तो यह भारतवर्ष के किस प्रदेश के व्याकरण के अनुसार सिद्ध होगा, जिससे हमें विश्वास हो जाय, 'वातुल-चोर' द्वारा वात या वायु के चोर होने का अर्थ सिद्ध होता है!

अब यहाँ से मैं पन्तजी के 'प्रवेश' की आलोचना समाप्त करता हूँ, यद्यपि उनके लिखे हुए अभी बहुत-से विषय ऐसे रहे जा रहे हैं, जिन पर कुछ-न-कुछ लिखना आवश्यक था।

अब मैं पन्तजी की कविताओं के निबाह पर कुछ लिखना चाहता हूँ। 'पल्लव' पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव' शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्रीगणेश इस तरह होता है—

"अरे, ये पल्लव-बाल!
सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल.
नहीं छूटी तरु - डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर - प्रवाल।"

पहले इन दोनों पंक्तियों को देखिए—

'अभी तो हैं ये नवल - प्रवाल',
'हिलाते अधर - प्रवाल!'

'प्रवाल' शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवों को ही उन्होंने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों में प्रवाल जड़ दिये! अर्थ यह हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालों को हिला रहे हैं!—इस तरह अपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नहीं हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर-प्रवाल' का भाव-चित्र बड़ा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढ़ता हूँ, मुझे 'पंजाब थिएट्रिकल्स' के उस 'जोकर' की याद आती है, जो बड़े-बड़े अक्षरों के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर,

कॉर्नेट और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शकों को देख-देखकर मुँह बनाता, और अपने पौडर-चर्चित चेहरे के मुक्ताकार तबक को अपनी विचित्र मुख-भंगियों द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है, जिसका भूलना मेरे लिए असम्भव हो रहा है।

पन्तजी सोचें, उन्हीं के सामने यदि कोई खड़ा होकर अधर-प्रवाल हिलाये, तो हँसेंगे या नहीं। इससे हास्य के सिवा कोई सौन्दर्य तो नहीं मिल सकता।

यों दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोषकर हो गया है, परन्तु यदि पहला प्रवाल छोड़ दिया जाये, तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नहीं कि भाव-चित्र का अच्छा निबाह कर सके।

यह सारा दोष 'हिलाते' का है। 'हिलाते' का प्रयोग ऐसे स्थलों में अच्छा नहीं होता। दो वाक्य देखिए—

"वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं"
"उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं"

दूसरे वाक्य में सौन्दर्य पहले वाक्य से कितना बढ़ गया है। पन्तजी की इधर की कविता में एक जगह मैंने देखा—

"झलका हास कुसुम-अधरों में
हिल मोती का-सा दाना।"

यहाँ हास फूलों के अधरों पर मोती के दाने की तरह आप ही हिलता है, हिलाया नहीं जाता, अतएव सुन्दर है।

"बजा दीर्घ-साँसों की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार;
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर,
रोवों में पुलकित-प्रतिहार;
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल-चितवन के बन्दनवार;
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक - दृग - द्वार।"

इस पद्य में 'बजा', 'सजा', 'तान' आदि क्रियाएँ वैसी ही हैं। कलशाकार सटे कुचों को सजाना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है, और स्त्रियों के लिए कुचों का शृंगार करना प्रचलित भी है, इस दृष्टि से बुरा नहीं हुआ, परन्तु दीर्घ साँसों की भेरी बजाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यह अवश्य 'ऊँटखाने का मुंशी' 'मुंशीखाने का ऊँट' नहीं हुआ, यह जरूर है कि पन्तजी नारी-सौन्दर्य के दिव्य भाव पर सफल नहीं हो सके। उनकी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं, जिनमें दिव्य भाव की जगह बहुत साधारण भाव मिलते हैं—

"खैंच ऐंचीला - भ्रू - सुरचाप,
शैल की सुधि यों बारम्बार;
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार।

जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र,
पलक पल-पल चपला के मार;
भग्न-उर पर भूधर-सा हाय!
सुमुखि! धर देता है साकार!"

यहाँ जब शैल की सुधि हरियाली का सुदुकूल हिलाती, झरनों का झलमल-हार झुलाती है, उस समय स्वर्गीय सौन्दर्य वेश्या के सौन्दर्य में परणित होता—बहुत हल्का हो जाता है, जैसे कोई वेश्या दूसरे को मुग्ध करने के लिए वेश-न्यास कर रही हो। यहाँ यदि हार आप झूलता, दुकूल आप हिलता, तो सौन्दर्य दिव्य कहलाता। जलद-पट से मुखचन्द्र दिखलाना झरोखे से किसी चंचला नायिका का झाँकना हो गया है—अच्छा होता, यदि उसी तरह जलद-पट से मुखचन्द्र आप दिखलायी पड़ता।

सौन्दर्य जिस ढंग का यहाँ चित्रित हुआ है, उसके प्रवाह में फर्क नहीं, कविता की दृष्टि से वह प्रथम श्रेणी की कविता हुई है, यह प्रत्येक समालोचक स्वीकार करेगा। आर्ट के विवेचन से तो पन्तजी ने कमाल कर दिया है। 'खेंच' और 'ऐंच,' 'हिला' और 'हरियाली', 'झुला' और 'झरनों का झलमल' 'पलक' और 'पल-पल', अनुप्रासों की सार्थकता के साथ, अर्थ को उतना ही मधुर कर देते हैं।

अन्तिम दो लाइनें अच्छी नहीं, कम-से-कम 'साकार' को तो जरूर निकाल देना चाहिए। साकार यहाँ निरर्थक है, वल्कि अर्थ में एक कदर्थ लाता है।

'उच्छ्वास' में जहाँ आया है—

"गिरिवर के उर से उठ-उठकर,
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर;
हैं झाँक रहे नीरव-नभ पर,
अनिमेष, अटल कुछ चिन्तापर!"

यहाँ निर्वाह अच्छा नहीं हुआ, पहाड़ के हृदय से उठकर पेड़ आसमान पर झाँकते हैं, ठीक नहीं; वाक्य ही असंगत है। आसमान की ओर झाँकते हैं, यह भी ठीक नहीं; झाँकने के लिए पहले तो एक झरोखे का चित्र चाहिए, जिसका इन पंक्तियों में अभाव है। फिर झाँकनेवाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर झाँका नहीं जाता; पेड़ नीचे हैं, आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या झाँकेंगे? अपरंच, झाँकना चंचलता का द्योतक है, झाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिन्तापर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता करना है। यदि कोई कहे, 'नभ पर' यानी 'नभ की गोद में रहकर', तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक नहीं बैठती। अतएव ये पंक्तियाँ असफल हैं। इसके बाद पन्तजी लिखते हैं—

"उड़ गया, अचानक, लो, भूधर;
फड़का अपार पारद के पर!
रव-शेष रह गये हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

धस गये धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
यों जलद - यान में विचर-विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

पन्तजी शायद इन्हीं पंक्तियों के सम्बन्ध में लिखते हैं, "इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वतों का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि-आदि 'अद्भुत-रस का मिश्रण' पहाड़ के लोगों के लिए अद्भुत-रस नहीं ।"

इन पंक्तियों में अद्भुत-रस का परिपाक बराबर भूमि पर रहनेवालों के लिए अच्छा हुआ है; पर रस ऐकदेशिक नहीं होता ।

पहले एक जगह मैंने लिखा है, मौलिकता का विवेचन आगे चलकर करूँगा। यहाँ थोड़ी देर के लिए पन्तजी की कविताओं की आलोचना स्थगित करता हूँ। पन्तजी ने दूसरी-दूसरी जगहों से जो अच्छे-अच्छे भाव लिये हैं, यह कहा जा चुका है कि इस तरह के भावापहरण के अपराध में, बड़े-से-बड़े प्राय: सभी कवि दोषी हैं। जब कोई आलोचक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है, तब उसे उस कारण के मूल में एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं । वह देखता है, जिन भावों को ग्रहण करने के लिए वह कवि पर दोषारोप कर रहा था, वे भाव कवि की हृदयभूमि में बीज-रूप आप ही जम गये थे । उत्तमोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रसग्राही कवि-हृदय में ही हुआ करती है । जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं। चोरी का अपराध लगाना जितना सीधा है, चोरी करना उतना सीधा नहीं । इस सत्य को कोई जब चाहे, आजमा सकता है । उदाहरणस्वरूप हिन्दी के किसी प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रसिद्ध कवि की कुछ पंक्तियाँ हजम कर जाने के लिए दे दीजिए । मैं कहता हूँ, उन्हें सफलता हर्गिज न होगी । वे किसी तरह उन पंक्तियों को क़ै भले ही कर डालें, पर अपनी तरफ से वे एक भी स्वस्थ पंक्ति न लिख सकेंगे । यहीं कवि-हृदय की मौलिकता का आभास मिलता है। 'चीरा तो एक क़तरए-खूँ न निकला' को चरितार्थ करनेवाले आजकल के छायावादी अन्धकार में बेलगाम घोड़ा छोड़कर गोल तक पहुँचने के इच्छुक पाँचवें सवार कवियों की श्रेणी से अलग, पन्तजी साहित्य के एक अलंकृत उज्ज्वल आसन पर स्थित हैं । उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता । उनकी आत्मा और साहित्य की आत्मा एक हो गयी है । शब्दों को जिस सहृदय-दृष्टि से उन्होंने देखा है, अपनी रुचि के अनुसार उनमें जो परिवर्तन किये हैं, वही उनकी मौलिकता है । जब मैं पढ़ता हूँ—

"जननि श्याम की वंशी से ही
कर दे, मेरे सरस वचन,
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन ।

जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्र-मुग्ध नत-फन,
रोम-रोम के छिद्रों से मा
फूटे तेरा राग गहन ।"

तब इन पंक्तियों में एक साफ आईने की तरह मुझे पन्तजी का हृदय दिखलायी पड़ता है। कहने का ढंग भी कितना मार्जित, कितना अच्छा ! बिना कानवाले सर्प-साहित्यिक को नवीन युग का कवि मुग्ध करना चाहता है, इसलिए कहता है; "मेरे शब्दों को, मा, तू वंशी की सुरीली तान की तरह मधुर कर, जो बिना कान-वाले साँप को सहसा मन्त्र-मुग्ध और अवनतफन कर दें।" अपने लिए भी कहा है, "वे मुझे वंशी की तरह जितना ही छेड़ें, मैं और मधुर बोलूँ।" निस्सन्देह, हृदय के एसेंस के बिना, केवल हाथ की सफाई दिखलानेवाला कवि इतने सुन्दर ढंग से नहीं कह सकता, और यही पन्तजी की मौलिकता है। एक ही अर्थ को अनेक वाक्यों में, तरह-तरह के शब्दों में प्रकट करने की जो शक्ति कवि के लिए आवश्यक है, वह भी पन्तजी में है । वह कुशाग्र-बुद्धि और नाजुक-अन्दाज कवि हैं। उनकी इस पंक्ति से—

"उर के दिव्य नयन, दो कान"—

जान पड़ता है, हृदय की पहचान उन्हें हो गयी है। उन्हें साहित्यिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहनी चाहिए । यदि कोई इससे इनकार करेंगे, तो इस तरह वे साहित्य-महारथी स्वयं ही अपनी प्रतिष्ठा घटायेंगे। पन्तजी की सहृदयता उन्हें उनका अधिकार दिलायेगी । पन्तजी के मण्डन में मैं बातों-ही-बातों में बहुत बहस कर चुका हूँ, जिसे मेरे मित्र, जिनसे मुकाबला आन पड़ा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्राय: अधिकांश लोगों ने 'प्रभात' को स्त्रीलिंग मानने के सम्बन्ध में प्रश्न किया। मैं सबसे यही कहता गया कि भइ, उसके पीछे एक 'श्री' अपनी तरफ से जोड़ लो, अगर तुम्हें यह खटकता है। कविता खुद स्त्रीलिंग है। उसकी स्त्री-सुकुमारता में आकर्षण विशेष रहता है। पाठक प्रायः खिंच जाते हैं । भाव को रूप देते वक्त कवि जिस रूप से प्रभावित रहता है, प्रायः वही रूप वह भावों को देता है। कोम-लता लाने के लिए स्त्री-रूप की कल्पना से बढ़कर और कौन-सी कल्पना होगी ? भावों के अलावा पन्तजी ने अपने को भी स्त्री-रूप में कल्पित कर लिया है । यह भी उनकी मौलिकता ही है । हिन्दी के निष्ठुर शब्दों को इसीलिए वे इतना सरस कर सके हैं । इसके अतिरिक्त उनकी मौलिकता के साथ नवीन युग की प्रतिभा भी सम्मिलित है ।

भाषा की प्रथम अवस्था के कारण इतने कोमल होकर भी 'पल्लव' में कहीं-कहीं जो परिवर्तन पन्तजी ने किये हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि अब तक शब्दों के कोमल रूपों पर उनकी दृष्टि स्थिर नहीं बैठ सकी, क्योंकि अपने ही गढ़े हुए स्वरूप को, दुबारा 'पल्लव' में छपने के समय, उन्होंने बिगाड़ दिया है । एक उदाहरण पेश करता हूँ।'सरस्वती' में छपने के समय उनकी 'स्वप्न' कविता में एक जगह था—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में
यह किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्र-धनुषी-बादल-सा
बदल रहा है रूप अपार?"

'पल्लव' में छपा है—

"नयनों के लघु-नील-व्योम में
अलि किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्र-धनुषी-बादल-सा
बदल रहा निज रूप अपार?"

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में" जितना अच्छा है, "नयनों के लघु-नील-व्योम में" उतना अच्छा नहीं, यद्यपि दोनों के अर्थ में फर्क कोई नहीं। 'सरस्वती' मेरे पास नहीं है, बाद का जो परिवर्तन है, वह पहले ही-सा रखा गया है या परिवर्तन के रूप में, मैं ठीक तौर से न कह सकूँगा। 'है' के प्रति जैसी उदासीनता 'पल्लव' के प्रवेश में पन्तजी ने प्रकट की है, जान पड़ता है, उसे निकालने के लिए 'पल्लव' में छपने के समय उन्होंने उस जगह 'निज' बैठा दिया है। 'यह' की जगह 'अलि' शब्द आया है। इनसे विशेष कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बहुत बारीक विचार करने पर प्रथम पद्य में सरसता ज्यादा मिलती है, क्योंकि उसमें एक स्वाभाविक विकास है। इस तरह के और भी बहुत-से परिवर्तन पन्तजी ने किये हैं, जो प्रायः बिगड़ ही गये हैं। उनके 'आँसू' में पहले यह था—

"वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,"

फिर 'पल्लव' में छपा—

'वर्ण-वर्ण है उर का कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,"

पहले 'कम्पन' और 'दंशन' स्त्रीलिंग में थे, फिर पुंलिंग में हो गये। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पन्तजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वह अपनी स्त्री-सुकुमारता भूल गये हों। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि अभी वह एक निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँचे। अथवा अभी उन्हें कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है। मौलिकता के प्रश्न पर बारीक छान-बीन होने पर, निश्चय है, ब्रह्म ही हर सृष्टि के मूल में दृष्टिगोचर होगा, तथापि विकास के विचार से, पन्तजी का विकास हिन्दी-साहित्य में बड़ा ही मधुर और बड़ा ही उज्ज्वल हुआ है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार,
चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!"

ब्रह्मवाद की एक उत्कृष्ट कविता मेरी नजर से गुजर जाती है, और मैं इसके कवि को उसी क्षण हृदय का सबकुछ दे डालता हूँ। 'पल्लव' में छपी हुई पन्तजी की प्रायः सभी कविताओं में जीवन है, परन्तु उनमें 'परिवर्तन' मुझे ज्यादा पसन्द है। मेरे विचार से 'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कृति से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।

ये बातें मैं तब कहता हूँ, जब पन्तजी की ही तरफ से उनकी आलोचना करता हूँ। जब मैं अपने विचार भी उनकी कृति में लड़ाता हूँ, तब उसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में मुझे कुछ-न-कुछ अनार्यता मिल जाती है। इसका असर मुझ पर नहीं पड़ता। जहाँ तक अच्छी चीज मिलती है, वहाँ तक 'गुण-दोषमय' विश्व के दोषों से बचना ही श्रेयस्कर है। एक बार पन्तजी ने मुझे लिखा था, "आप केवल मेरी तारीफ किया करते हैं, मेरे दोषों से मुझे परिचय नहीं कराते।" उस समय कुछ साधारण दोषों का उल्लेख कर मैंने उन्हें लिखा था, "आपकी कविता से मुझे आनन्द मिलता है, अतएव आनन्द को छोड़ निरानन्द के विषय को चुनना प्रकृति के खिलाफ हो जाता है—प्रकृति कभी आनन्द छोड़ना नहीं चाहती।" जिन लोगों को पन्तजी की कविता पसन्द नहीं आयी, जो लोग कई साल तक 'निराला' को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे हैं, उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होंने किया। अस्तु, यहाँ मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि किस तरह हरएक कृति में विकार रहता है —चाहे वह कालिदास की हो या श्रीहर्ष की, रवीन्द्रनाथ की हो या ईट्स की अथवा पन्तजी की हो या 'निरालाजी' की, अवश्य कबीर की या तुलसी की नहीं, —वाल्मीकि की या व्यास की नहीं, जिन्होंने आत्म-दर्शन के पश्चात् शुद्ध और प्रबुद्ध होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की आज्ञा मानकर रचनाएँ की हैं। मानवीय सुन्दर कृति में विकार-प्रदर्शन का उदाहरण रवीन्द्रनाथ और कालिदास से न देकर पन्तजी को ही उद्धृत करना उचित है। उसी परिवर्तन' में एक जगह है—

"सकल रोओं से हाथ पसार,
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार।"

ज़रा साहित्यिक निगाह से देखिए, 'लोभ' के स्थान 'लूटने' की क्रिया कितनी असंगत है ! 'लोभ' बेचारे में लूटने की शक्ति कहाँ ?—वह तो हड़पता है, जटता है, ठगता है, धोखा देता है, ऐंठता है, पर लूटता नहीं, और अगर लूटता है, तो वह 'लोभ' भी नहीं, 'लोभ' की ललचीली निगाह में लूटने का विप्लव, वह शक्ति कहाँ ? फिर 'हाथ पसार' कर लूटा नहीं जाता, भीख जरूर माँगी जाती है। यदि कोई कहे, 'लूटने' का अर्थ 'जटना' या 'ऐंठना' भी होता है, व्यंग्य में, जैसे लुट गये या ठगे गये, तो उनसे यह एतराज़ है कि इस तरह तमाम कविता का बीसवीं सदी-वाला जोश गायब हो जाता है—तमाम कविता जैसे बिना मेरुमूल के शिथिल हो गयी हो। व्यंग्यार्थ के लेने से फिर भी वह व्यंग्य-चित्र की ही तरह दिखने लगती है। इस तरह की व्यंजना हिन्दोस्तानी दिमाग के बेचारे वृद्ध साहित्यिक क्यों समझने लगे ? उनके सनातन-धर्मी गले की मँजी हुई परिचित रागिनी में ये लड़ियाँ आती ही नहीं—बेचारे करें क्या ?

यह कहा जा चुका है, यदि पन्तजी की मौलिकता एक शब्द में कही जाये, तो वह मधुरता है। हिन्दी में मौलिकता का बहुत बड़ा रूप उनके अन्दर से नहीं प्रकट हुआ, कारण, छानबीन में मौलिकता का बहुत बड़ा हिस्सा—प्रायः सर्वांश—दूसरों के ही हक में चला जाता है, परन्तु फिर जो कुछ भी उनके लिए रह जाता है, निहायत सुन्दर, बिलकुल उन्हीं का है। पहले मेरा विचार था कि 'पल्लव' के 'प्रवेश' के चुने हुए कुल विषयों पर लिखूँगा। इस तरह करीब-करीब 30 विषय मैंने चुने थे। परन्तु प्रायः आठ ही विषयों में लेख ने इतना बड़ा आकार ग्रहण कर लिया है। अब कुछ विषयों पर लिखकर अकारण श्रम करने से जी ऊब रहा है। इस आलोचना में जहाँ-जहाँ मुझे पन्तजी का विरोध करना पड़ा है, उस-उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिए मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ, एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलायी है। आलोचना लिखने से पहले मेरे बिलकुल दूसरे विचार थे। दोष-दर्शन के लिए कभी किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कृति के सामने आते ही गुण और दोष भी सामने आ जाते हैं। पहले एक बार और पन्तजी के सम्बन्ध में मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषों के रूप मेरे सामने आ चुके थे, परन्तु मैंने उनका उल्लेख नहीं किया। पं. बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' को अवश्य स्मरण होगा, जब भावों की भिड़न्त' में 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरियाँ दिखलायी थीं, उसके बाद जब 'नवीन' जी से मेरी मुलाकात हुई, पन्तजी के सम्बन्ध में मैंने उनसे क्या कहा था। यह साहित्य है, यहाँ कमजोरियों का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी हास्यास्पद है। अतएव, बहुत-सी बातों को मुझे दबा रखना पड़ा। यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पन्तजी मेरी भी सलाह ले लेते, जबकि वह मेरे मित्र थे, और इस सलाह से उनके व्यक्तित्व को किसी तरह नीचा देखना पड़ता, यह तो मैं अब तक भी सोचकर नहीं समझ सका। व्यावहारिक संसार में यद्यपि 1000 में 999 इस तरह के दृष्टान्त मिलते हैं कि लोग और सब तरह की कमजोरियाँ स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, परन्तु बुद्धि की स्पर्द्धा में कोई भी अपने को घटकर नहीं समझता, चाहे वह महामूर्ख ही क्यों न हो, तथापि, पन्तजी-जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी। उन्हें कमजोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ, यद्यपि यह अपराध कवियों के लिए साधारण अपराध है। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ इसलिए सहन नहीं कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेकसूर 'निराला' को मारा, और अपने सम्बन्ध में सबकुछ पी गये। यह सब मुझे निहायत असंयत अन्याय के रूप में दिखलायी पड़ा। मैं अपनी कविताओं के सम्बन्ध में काफी इजहार दे चुका हूँ। इधर पन्तजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी आलोचना करना चाहते हैं। अच्छा हो, यदि इस कार्य का भार पन्तजी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें। तीरों को तूण में रखकर अकारण बोझ लिये हुए फिरने से तूण को खाली कर देना अच्छा होगा। इस विचार से मैं अपने सम्बन्ध में चुप रहना उचित समझता हूँ।

'परिवर्तन' को छोड़कर पन्तजी की अन्यान्य कविताएँ जो 'पल्लव' में आयी हैं, जितनी मधुर हैं, उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है, बाल-रचनाएँ हैं : पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गयी है। हिन्दी की मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी ज़रूरत है। विश्व-साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड़ सकता है, जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत-से-उन्नत विचार कला के मार्ग से चलकर दे सके।

"सुमन - हास में तुहिन - अश्रु में
मौन-मुकुल, अलि - गुंजन में,
इन्द्र - धनुष में, जलद - पंख में
अस्फुट बुद्बुद क्रन्दन में,
खद्योतों के मलिन - दीप में
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में,
एक भावना, एक रागिनी
एक प्रकाश मिला मन में।"

इन पंक्तियों में जिस एक ही भावना, रागिनी तथा प्रकाश को कवि अनेक स्थलों की मधुरता में व्यंजित करना चाहता है, वह प्रकाश उन स्थलों के सौन्दर्य के बोझ से जैसे दबा जा रहा हो। जिस एक प्रकाश को कवि अन्य वस्तुओं तथा विषयों पर व्यंजित कर देना चाहता है, लड़ियों में उस प्रकाश की अपेक्षा सजावट में शक्ति ज्यादा आ गयी है, पाठक सजावट में इतना झुक जाता है कि फिर प्रकाश देखने के लिए वह उठ नहीं सकता। साफ जान पड़ता है कि कवि स्वयं जितना 'अस्फुट-बुद्बुद-क्रन्दन' में लीन है, उतना 'प्रकाश' में नहीं, इसीलिए पाठक भी उधर ही झुकते हैं। यहाँ प्रधानता उस 'एक प्रकाश' की है, खद्योतों के मलिन 'दीप' की नहीं—अतएव व्यंजना उसी की जबरदस्त चाहिए थी।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया;
बाले! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।"

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटकर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति करायी गयी है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गयी है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे, तो 'द्रुमों की मृदु छाया' में क्या करने गये? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या होगा?—'बाला' को छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है—उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड़कर

कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावत: मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसन्द होगी ? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं। कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती। कला ही कवि की प्रेयसी और अभीष्ट देवी है। उसे कवि जिस दृष्टि से देखेगा, साहित्य में वही छाप पड़ेगी। उससे छेड़-छाड़ तभी तक अच्छी लगती है, जब तक उसका भी उस छेड़-छाड़ से मनोविनोद होता है। यदि उससे जबरदस्ती की गयी, तो साहित्य में उस बलात्कार की ही छाप पड़ेगी। उस जगह साफ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में एक अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।

परन्तु जहाँ पन्तजी लिखते हैं—

"कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार;
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।"

वहाँ कला का विकास हद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातों पर एतराज था, यहाँ वही बातें विकसित स्वरूप धारण करती हैं। उड़ते पत्तों को देखकर सुकुमार या प्रियतम की याद निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अत्यन्त सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गये हों। फिर लहरों के छोटे-छोटे हाथों के इशारे जब वही प्रियतम अपनी नवोढ़ा प्रेयसी को उस पार बुलाते हैं, तब उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम में विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरों को देखकर प्रिय का ही हाथ बढ़ाकर बुलाने का इशारा समझना बड़ा ही मधुर हुआ है—फिर बुलाना भी उस पार! यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव निर्दोष और सहृदय-संवेद्य है।

"दिवस का इनमें रजत - प्रसार,
उषा का स्वर्ण - सुहाग;
निशा का तुहिन - अश्रु - शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग;
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार
तरुणतम सुन्दरता की आग।"

'पल्लव' के प्रति कवि की ये उक्तियाँ कला के प्राणों से मिलकर एक हो गयी हैं। परन्तु दिवस, उषा, निशा और साँझ का क्रम ठीक न रहने से कारीगरी का आभास मिलता है, जो स्वाभाविक वर्णन का बाधक हो जाता है। कला भी कारीगरी ही है, परन्तु स्वाभाविक। यहाँ असीम के सम्बन्ध की कोई बात नहीं। केवल कला ही अपना सौन्दर्य प्रदर्शन करती है।

पन्तजी 'है' को कविता से निकाल देने के लिए कहते हैं। कहते हैं, इसे माया-मृग समझकर कविता की सीता के पास न आने देना चाहिए। परन्तु सब जगह

यह बात नहीं। करुणा के स्थल पर 'है' ही एक हृदय तक धँसकर उसे कमजोर करता और करुणा को उभाड़ता है, जैसे—

"कहाँ है उत्कण्ठा का पार!!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार!
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार!
टूट जा यहीं, यह हृदय-हार!!!
× ×
कौन जान सका किसी के हृदय को?
सच नहीं होता सदा अनुमान है!
कौन भेद सका, अगम आकाश को?
कौन समझ सका उदधि का गान है?
है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है!
निरपराधों के लिए भी तो अहा,
हो गया संसार कारागार है!"

पन्तजी की एक कविता 'विश्ववेणु'-शीर्षक है, उसी में एक जगह है—

"हर सुदूर से अस्फुट-तान,
आकुल कर पथिकों के कान,
विश्ववेणु की-सी झंकार,
हम जग के सुख-दुखमय गान
पहुँचातीं अनन्त के द्वार।"

जिस कविता का शीर्षक 'विश्ववेणु' है, वहाँ पाठक पहले ही से यह अनुमान कर लेता है कि कवि अब विश्ववेणु ही पर कुछ लिखेगा। फिर जब कविता में 'हम' का प्रयोग आता है, तब 'हम' को कवि के विश्ववेणु का ही सर्वनाम निश्चय किया जाता है। 'विश्ववेणु' का खुलासा अर्थ है संसार की मधुरता, जो उसके ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त है। उद्धृत पद्य में, "विश्ववेणु की-सी झंकार (हैं हम)" यानी हम (विश्ववेणु) विश्ववेणु की-सी झंकार हैं—इस तरह का दोष आ जाता है। शीर्षक विश्ववेणु देकर उपमा में फिर विश्ववेणु को लाना ठीक नहीं हुआ।

माधुर्य में पन्तजी की 'अनंग', 'स्वप्न', 'वीचि-विलास', 'छाया' और 'मौन-निमन्त्रण' आदि कविताएँ हैं, जो अच्छी हैं। कहीं-कहीं इनमें भी चमत्कार हद दर्जे को पहुँच गया है।

"गाओ, गाओ, विहग - बालिके!
तरुवर से मृदु - मंगल - गान,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान;
हाँ सखि, आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्द्धान!"

× ×

"देख वसुधा का यौवन - भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
बिधुर-उर के - से मृदु - उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न-जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन!
क्षुब्ध - जल - शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार;
बुलबुलों का व्याकुल - संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न - जाने, मुझे बुलाता मौन!"

× ×

"अलि! क्या कहती है प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश
पर, मेरे तम - पूर्ण - हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत - प्रकाश।"

इन पंक्तियों में सौन्दर्य के सहस्र दल को अपनी प्रतिभा के सूर्य से पन्तजी ने पूर्ण प्रस्फुट कर दिया है। मैंने सुना है, लोगों की दृष्टि से पन्तजी गिर गये हैं। मैं जानता हूँ, यह उठने-गिरने का इन्द्रजाल क्षणिक है। जो लोग केवल गिराने में दूसरों की सहायता के लिए उत्सुक रहते हैं, वे इस युग के मनुष्य नहीं। दुःख है, हिन्दी-साहित्य में ऐसे रत्न के भी जौहरी नहीं। पत्रों के सम्पादकों और वृद्ध साहित्यिकों की हास्यक्रूर वक्र दृष्टि से ईश्वर साहित्य की रक्षा करे। ये लोग तीन पुश्त तक दाँव चुकाने की हिंसा धारण कर सकते हैं।

'परिवर्तन' के बाद मेरी दृष्टि में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का स्थान है। 'पल्लव' में यद्यपि यह नहीं, फिर भी पन्तजी की 'प्रथम रश्मि' भी मुझे बहुत पसन्द आयी। उसमें अकारण विशेषणों का लदाव नहीं और प्रकाशन बड़ा ही जबरदस्त है।

"कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज,
हाय! क्या गंगा-जल की धार!!
हृदय! रो, अपने दुख का भार!
हृदय! रो, उनको है अधिकार
हृदय! रो, यह जड़-स्वेच्छाचार,
शिशिर का-सा समीर-संचार!!

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान!"

इन पंक्तियों में कितनी स्वाभाविकता है! जान पड़ता है, ये हृदय के शब्द हैं। इसीलिए इतने सहज और इतनी तीक्ष्ण चोट करनेवाले हैं। 'वाणी में, त्रिवेणी की लहरों का गान' वर्तमान हिन्दी के हृदय का गान है। 'संग में पावन गंगा-स्नान' से जान पड़ता है, दो ज्योतिर्मयी मूर्तियों—दो किरणों का मिलाप हो रहा है। 'जड़-स्वेच्छाचार' के उदाहरण में 'शिशिर का-सा समीर-संचार' भी लाजवाब है।

'बादल' कविता में है—

"जलाशयों में कमल-दलों-सा
हमें खिलाता जब दिनकर;
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर।
लघु लहरों के चल-पलनों में
हमें झुलाता जब सागर।
वही चील्ह-सा झपट, बाँह गह
हमको ले जाता ऊपर।

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग-सीप के पंख पसार;
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।
अनिल-विलोड़ित गगन-सिन्धु में
प्रलय-बाढ़-से चारो ओर;
उमड़-उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर।
बुद्‌बुद-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम;
हम विशाल-जम्बाल-जाल-से
बहते हैं अमूल अविराम।

व्योम-विपिन में जब बसन्त-सा
खिलता नव-पल्लवित प्रभात;
बहते हम सब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात।

उदयाचल से बाल - हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात;
फैल स्वर्ण - पंखों से हम भी
करते द्रुत मारुत से बात ।"

इन पंक्तियों में पन्तजी की सौन्दर्य-पर्यवेक्षण-कला की यथेष्ट सूक्ष्मता प्रकट हुई है। पन्तजी में सबसे जबरदस्त कौशल जो है, वह शेली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओं से सँवारकर मधुर-से-मधुर और कोमल-से-कोमल कर देना। भावना की प्रबल जागृति तो नहीं, परन्तु सौन्दर्य के मनोहर रूप जगह-जगह, पंक्ति-पंक्ति में मिलते हैं। रूपक और अलंकार बाँधना उनके बायें हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही हो।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, के सितम्बर और दिसम्बर, 1927 तथा अप्रैल, मई और जुलाई, 1928 के अंकों में पाँच किस्तों में प्रकाशित। **प्रबन्ध-पद्म** में संकलित]

हिन्दी कविता-साहित्य की प्रगति

अज्ञात अनादि काल से लेकर आज तक समय के परिवर्तन के साथ-ही-साथ हमारे भाषा साहित्य का भी परिवर्तन होता गया है। जैसे साहित्य भी सृष्टि की नश्वरता के नियमों में बँधा हो—'नवीन गृहणाति' के अनुकूल चल रहा हो। जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कारण युग-धर्म के रूप से, साहित्य में इस प्रकार के परिवर्तन करते आये हैं, इस लेख में, उन पर विचार न किया जायेगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सुयोग्य सभापतियों द्वारा इस विषय पर बहुत कुछ विचार हो चुका है। कम-से-कम सन्तोष करने के लिए, कुछ अपभ्रष्ट शब्दों की सूची तो तैयार हो ही चुकी है। समय के प्रवाह में जिन अनेक शब्दों को पड़ना पड़ा, लोक-रुचि से घिसा हुआ एक परिवर्तित स्वरूप धारण करना पड़ा, प्रसंगवश हम उन्हें ही ग्रहण करते हैं, और कहना चाहते हैं कि इतने परिवर्तन के होने पर भी उनकी आत्मा में विकार नहीं हो पाया—उन अपभ्रष्ट शब्दों में अधिकांश शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ में किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई। इस तरह हम देखते हैं, वैदिक साहित्य की जो निर्मल आत्मा थी, अनादि काल से आते हुए परिवर्तनों के प्रतिघातों से जाग्रत, सुप्त और मूर्च्छित, हमारे भाषा-साहित्य के वर्तमान क्रम हिन्दी में भी वही आत्मा मौजूद है। हम यहाँ उन शब्दों पर भी विचार नहीं करना चाहते, जिनकी आमदनी दूसरे भाषा-साहित्यों से हुई है। किन्तु यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूक्ष्म विचार करनेवाले वैदिक पण्डितों के प्रमाण से दूसरे भाषा-साहित्य की सृष्टि और पुष्टि वैदिक

शब्द-राशि के विकृत रूपों से ही हुई है। किस तरह इधर आर्य भाषा में अनार्य भाव आये; इतिहास, विज्ञान, 'हाँ-न' वाली सृष्टि की विरोधी युक्तियाँ आदि इसके प्रमाण हैं। हम इस उलझन में भी नहीं पड़ना चाहते। हम केवल देखेंगे कि भारतीयता क्या है—जो आज जातीयता के रूप में, एक विचित्र शिरश्चरण-विहीन छाया की तरह दृष्टिगोचर हो रही है—और हमारा वर्तमान कविता-साहित्य हमारी भारतीयता या वर्तमान जातीयता की ओर कहाँ तक अग्रसर है।

भारतीयता या जातीयता के प्रश्न पर विचार करने के समय जब ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड में विभाजित भारतवर्ष की अनुभूतियों और आचरणों की ओर हम देखते हैं तो हमें विश्वास हो जाता है—विश्वास ही नहीं, हमें सन्तोषप्रद प्रमाण भी मिल जाते हैं—कि हमारी ज्ञानभूमि की व्याख्या है 'पूर्णता', यदि एक शब्द में कही जाय, और हमारे तमाम आचरणों का सम्बन्ध उसी पूर्णता के साथ रक्खा गया है। 'समाज' की सम्यक् गतिशील रहनेवाली 'अज्' धातु इसका प्रमाण है। यह गति पूर्णता की ही ओर गयी है। हम यह नहीं कहते कि आदिम सृष्टि-काल में अनार्यता थी ही नहीं, जड़ था ही नहीं; अनार्यता थी, असत् का आश्रय जरूर था, परन्तु बहुत कम था। यह असत् उतना ही था, जितना छाया का अंश पेड़ के नीचे, और सत् उतना, जितना प्रकाश का अंश उसके ऊपर। बल्कि कहना चाहिए, सत् को सिद्ध करने के लिए ही हमारे जातीय शरीर में थोड़ा-सा असत् का अंश आया था। आज तक जितने आचरण बदले, कर्मकाण्ड में जो भेदातिभेद होते गये, वे ज्ञानकाण्ड की पुष्टि के लिए, ज्ञानभूमि पर स्थापित होने के लिए ही हुए।

उदाहरणार्थ व्रजभाषा-साहित्य को लीजिए। कबीर उसके वेदान्त साहित्य के रचयिता, तुलसी उसके ज्ञान मिश्रित भक्ति-साहित्य के प्रणेता, सूर उसके अलौकिक प्रेम के प्रदर्शक और अन्यान्य भक्त-कवि उसके दिव्य भावों को पुष्ट करनेवाले, समाज के शिरोमणि, जाति के यथार्थ नेता होंगे। भूषण आदि व्रजभाषा के ओज द्वारा उसकी शिथिल शिराओं में जातीयता का प्रवाह संचालित करनेवाले होंगे। मतिराम, बिहारी, पद्माकर, देव आदि उसके गृह-शरीर की वासनाओं को रूप देनेवाले, गृहस्थों के मनोविनोद की सृष्टि करनेवाले होंगे। इस तरह व्रजभाषा की मूर्ति हमारे सामने आ जाती है—जातीय प्रगति का उज्ज्वल चित्र हमारे सामने आ जाता है। हम समझ लेते हैं, वेदान्त की सर्वव्यापक चेतन भूमि में विचरण करना ही हमारी मुक्ति है, साहित्य में—

सूर परकास तहँ रैन कहँ पाइये
रैन परकास नहिं सूर भासै
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहँ पाइये
होय जहाँ ज्ञान अज्ञान नासै।

—कबीर

जानिय तबहिं जीव जग जागा;
जब सब विषय-विलास विरागा।
होय विवेक मोह भ्रम भागा;
तब दृढ़-चरण-कमल अनुरागा। —तुलसी

यही भाव हमारी जातीय मुक्ति के सूत्र, हमें लोकोत्तरानन्द देनेवाले, हमारी जाति की आत्मा, हमारी बुद्धि में सर्वोत्तम संस्कृत, हमें मनुष्य से देवता और देवता से ब्रह्म कर देनेवाले हैं।

भारतवर्ष की किसी भी प्रान्तीय भाषा को लीजिए, उसके सम्पूर्ण शरीर का ऐसा ही संगठन होगा। उसमें दिव्य भाव और मानव भावों की ही अधिकता होगी। आसुर भाव बहुत कम होंगे। और, उस भाषा का परिवर्तन भी आसुर भावों के बाद ही हुआ होगा, जैसे उस भाषा-शरीर को नष्ट करने के लिए ही आसुर भावों या इतर प्रवृत्तियों का दौर-दौरा साहित्य में हुआ हो।

जब हम अपने साहित्य के सुधार की चेष्टा करते हुए अपनी बनी-बनायी आँखों को रोग-ग्रस्त सोचते हैं, उन पर एक दूसरे देश के सुधार का चश्मा रख लेते हैं, उस समय हम भूलते हैं। वर्तमान शासन के 'प्रभाव' का दोष भी हमारी शिक्षा के साथ सम्मिलित होकर हमें अपनी ओर खींचता है; हमें अपनी शक्ति से वशीभूत कर लेता है। हमारी आत्मा, हमारे अज्ञात भाव से, हमारी नहीं रहती, उनकी हो जाती है; हम साहित्यिक पराधीनता स्वीकार कर लेते हैं।

भारतीय या जातीय, इन भावों को सामने रखकर हम देखेंगे, हमारी जातीय मुक्ति की ओर हमारा वर्तमान कविता-साहित्य कहाँ तक अग्रसर है।

चाहे जिन कारणों से हो, 'भगवान व्यास तुमको प्रणाम' की गहन श्रद्धा से कविता में खड़ी बोली की गिटकरियाँ और तान-मूर्च्छनाएँ भरी जाने लगीं। उधर व्रजभाषा के भक्तों ने सम्बद्ध होकर रण-घोषणा की। किसके चीत्कार में लालित्य मिलता है, इसकी जाँच चलने लगी। उस समय खड़ी बोली की कविता में प्राण न थे। वह दास्य-वृत्तिवाली ही थी। किसी-न-किसी महापुरुष के पैरों पड़ती रही। अपनी प्रार्थना से लोगों को अपनी ओर बढ़ाती रही। कुछ कवि अपने पूर्व संस्कारों को जाग्रत कर खड़ी बोली की शिला पर अपने पुराने जंग लगे महास्त्रों को घिसकर शानदार करने की चेष्टा में रहे। कुछ ने सीताराम और कृष्ण भगवान की पुरानी तान छेड़ी। साहित्य के उस काल की पूजा वैसी ही रही, जिसके सम्बन्ध में कहा है—"···अनख आलस हू, राम जपत मंगल दिसि दसहू।" महर्षि दयानन्द की वैदिक प्रतिष्ठा के कायल, अपनी जाग्रत प्रतिभा के ज्वर से जर्जर, निन्दोक्तियों द्वारा समाज को प्रबुद्ध करनेवाले कवि भी हुए, और सबसे अधिक खड़ी बोली को मधुर करने का श्रेय रहा राष्ट्र के उष्ट्र-मार्क कवियों को, जिनकी प्रतिभा के प्रखर प्रवाह से शब्दों के गले में 'त्राहिमाम' करने की शक्ति भी न रही।

खड़ी बोली के प्रथम कवियों में आर्य भावना पर सफलता पण्डित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय को हुई। इनकी 'आर्यबाला' शायद इनकी इधर की 50 वर्ष के अन्दर की रचना है, पर है अत्यन्त सुन्दर—

> कमला-लौं सब काल लोक-लालन-पालन-रत;
> गिरि-नन्दिनी-समान पूत - पति-प्रेम-भार-नत।
> गौरव गरिमामयी ज्ञानशालिनी गिरा-सम;
> काम-कामिनी-तुल्य मृदुलतावती मनोरम।

वह है पति-मन-मधुप के लिए लतिका कुसुमित;
वह है सुन्दर सरिस सरोजिनि सम्मति के हित।
वह है मन-मोहन-मुरलिका-मधुर-मुखी, मृदु-नादिनी;
पुरजन - परिजन - परिवारजन -गोप - समूह-प्रसादिनी।
पा जिनका विज्ञान बनी अति पावन अवनी;
उन ऋषि-गौतम-कपिल-व्यास की है वह जननी।

नर है पीवर, धीर, वीर, संयत श्रमकारी;
है मृदुतन, उपराममयी, तरलित-उर नारी।
नर जीवन है विपुल कार्यमय प्रान्तर न्यारा;
नाना - सेवा - निलय नारिता है सरि - धारा।
मस्तिष्क मान-साहस-सदन वीर्यवान है पुरुष-दल;
है सहृदयता-ममतावती पयोमयी महिला-सकल।

उपाध्यायजी उस काल के एक ऐसे रत्न हैं, जिन्हें दिव्य भावना की उपासना का श्रेय दिया जा सकता है। इनके चौपदों की सजीवता और भाषा के ऐश्वर्य से हिन्दी को मौलिक बहुत कुछ मिला।

शंकरजी की वेदान्त की कुछ कविताएँ मैंने देखी हैं। अन्य भावों की भी अनेक कविताएँ मैंने देखी हैं। इनकी तरह वर्णवृत्तों और मात्रिक छन्दों का कुशल कवि हिन्दी में हुआ ही नहीं। मुझे इनकी वर्णन-शक्ति से छन्दोधिकार जबरदस्त जान पड़ता है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध समालोचक ने इनके सम्बन्ध में कभी लिखा था कि इनके उग्र शब्द जैसे अपनी उग्रता सहन न कर सकते हों। 'ढकेलू ढंग ढाँपने को' इस तरह शब्दों के गढ़ने की ओर इनकी रुचि तो मिलती है, परन्तु सफलता के विचार से हमें कहना पड़ता है, इनके शब्द-संगठन में कवि के हृदय की रस-प्रियता का परिचय नहीं मिलता। इनके शब्द इन्हीं के साहित्य तक परिमित रहे। प्रतिभा में रस-ग्राहिता कम रहने के कारण लोगों पर केवल प्रतिभा का प्रभाव ही पड़ा। वे इनके शब्दों के रूपों को अपना कर लेने का साहस नहीं कर सके।

खड़ी बोली का साँचा दुरुस्त हुआ बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त की कविताओं से। गुप्तजी की कविताओं में खड़ी बोली के मार्जन के साथ-ही-साथ सती भावना की एक निर्मल ज्योति भी मिलती है। कवि की भावुकता हृदय को बहुत कुछ शान्त करने की शक्ति लेकर प्रकट हुई—

चुन ले चला हमारा साथी सुमन कहाँ तू?—
माली कठोर माली!
है छोड़ता यहाँ पर केवल कराल कंटक,
वह रीति है निराली!

किसको सजायगा रे हमको उजाड़कर यों,
यह तो हमें बता तू;
झंखाड़ छोड़ता है इस वन्य झाड़ पर क्यों,
हत देख यह लता तू!

मृदु, मन्द-मन्द गति से शीतल समीर आकर
दल-द्वार खटखटाता;
पर सन्न हो विरति से जाता उसे न पाकर
निर्गन्ध लटपटाता।

वह फूल, जो मधुर फल समयानुकूल लाता,
तू सोच देख मन में;
भगवान के लिए क्या वह भोग में न आता,
बलि हो स्वयं भुवन में।

गुप्तजी की इन पंक्तियों में सहृदयता का स्रोत उमड़ रहा है। कोई पंक्ति-ऐसी नहीं, जिससे भावुकता न टपकती हो, और जिसे पढ़कर पाठक सुखानुभव न करें।

गुप्तजी के साथ अनेक कवि हैं। परन्तु उन सबमें गुप्तजी की ही कविताओं में आकर्षण की शक्ति विशेष रूप से दीख पड़ती है; एक सनेहीजी को छोड़कर। सहृदयता की मात्रा गुप्तजी की कविताओं से सनेहीजी की कविताओं में अधिक मिलती है। गुप्तजी संस्कृत के शुद्ध प्रयोगों के पक्ष में रहते हैं, स्नेहीजी खिचड़ी शैली के पक्ष में; इतना ही अन्तर इनमें मिलता है। सनेहीजी की कविताएँ खिचड़ी शैली में होने के कारण स्वाभाविकता से विशेष सम्बन्ध रखकर चलती हैं। गुप्तजी की कविताएँ भाषा की एक नीति के आधार पर लिखी गयी-सी जान पड़ती हैं, परन्तु सनेहीजी की कृतियाँ नीति से रहित अथवा खिचड़ी शैली ही उनकी भाषा की नीति-भूमि रही, यह कहना पड़ता है। हिन्दी के, अपने समय के, ये दोनों ही कवि महान हैं। इनसे हिन्दी को बहुत कुछ मिला। सनेहीजी—

उदासी घोर निसि में छा रही थी;
पवन भी काँपती थर्रा रही थी।
विकल थी जाह्नवी की वारि धारा;
पटककर सिर गिराती थी कगारा।
घटा घनघोर नभ में घिर रही थी;
बिलखती चंचला भी फिर रही थी।
न थे वे बूंद, आँसू गिर रहे थे;
कलेजे बादलों के चिर रहे थे।
कहीं धक-धक चिताएँ जल रही थीं;
धुआँ मुँह से उगल बेकल रही थीं;
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था;
निठुरता काल की दिखला रहा था,
खड़ी शैव्या वहीं पर रो रही थी;
फटी दो-टूक छाती हो रही थी।

प्रकृति में दुख का कितना सुन्दर चित्र है। बादलों से आँसुओं का झरना, रात्रि की स्याही में उदासी, पवन की भीरुता, कम्पन, जाह्नवी की जलधारा में विकलता।

जगत यह दु:ख सुखमय है अगर यह हम समझते हैं,
समझिए तो कि इनका भेद ही हम कम समझते हैं।
समझवाले इसे बस, एक मन का भ्रम समझते हैं;
बुरा क्या वे समझते हैं, बहुत उत्तम समझते हैं।

वही सलिला सरस जिसमें हमारी सैर होती है;
महा निर्भय-हृदय बनके भरी नौका डुबोती है।
मनस्वी वीर अपने चित्त पर अधिकार रखते हैं;
न दुख की भीति रखते हैं, न सुख का प्यार रखते हैं।
स्ववश निज इन्द्रियाँ ही क्या, सकल संसार रखते हैं;
इसी से दीन का उपकार, निज-उद्धार रखते हैं।

सनेहीजी की रचनाओं में पाठक देखें, किस खूबी से रसों और भावों का स्फुरण हुआ है।

पण्डित रामचरित उपाध्याय की भी कोई-कोई रचना सजीव हो गयी है। इधर कुछ दिनों से राजनीति और साहित्य के मिश्रण पर लिखते रहने के कारण अब यह कवियों की पंक्ति से उठकर उपदेशकों के स्वर में स्वर मिला रहे हैं। कवि की सहृदयता पर डिपुटी उपटसिंह का प्रभाव पड़ा है। इनकी—

लड़ नहीं सकता मुझसे कभी,
तनिक भी नृप-बालक स्वप्न में;
कब, कहाँ, कह तो, किसने लखा,
कपि, लवा-रण वारण से भला ?

इस तरह की ललित रचनाएँ बहुत थोड़ी हैं। परन्तु हिन्दी के कविता-साहित्य में इन्होंने भी अपना एक सरल निराला ढंग रखा और उसकी श्रीवृद्धि की।

पं. रामनरेशजी त्रिपाठी, पं. रूपनारायणजी पाण्डेय, श्रीयुत् गोपालशरण सिंह, पं. लोचनप्रसादजी पाण्डेय आदि कवियों की कोई-कोई रचनाएँ उच्चकोटि की, हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति, नारिकेल के फल की तरह अन्त:सलिल-सिक्त और मधुर हुई हैं। विस्तार-भय से उनके उदाहरण नहीं दिये जा सके। यहाँ तक हिन्दी के कवियों का यह जो प्रवाह रहा, इसमें दिव्य भावों के दीपक तो अनेक छोड़े गये, परन्तु वे जलते हुए जाति के जीवन-समुद्र तक नहीं जा सके। घृत का अभाव था। कवियों की आत्माएँ प्रभात के शिशिर-स्नात फूलों की तरह प्रसन्न होकर खिल नहीं सकीं—भाषा की नवीन तन्त्रियों में झंकृत कोई जागृति की प्रभाती नहीं सुनायी पड़ी। अभाव की वेदना से पीड़ित करुणा की क्षीण रागिनी उठकर सन्ध्या के अन्ध वातावरण में विलीन होती रही। कुछ लोगों ने अपने गौरव के गीत भी गाये; परन्तु उस समय के प्राकृतिक अभाव को वे दबा नहीं सके, उनके स्वर से ऐश्वर्य की उज्ज्वल किरणों ने स्वर नहीं मिलाया। लोगों की दिव्य भावनाओं को उनकी कविताओं से एक प्रकार से प्रोत्साहन-मात्र मिला। उस ऐश्वर्य की ध्वनि में 'क्या खाया?' प्रश्न के 'चने की रोटियाँ और बैंगन का खुश्क कबाब'-जैसे उत्तर की तरह स्पर्द्धा और कर्कशता ही रही, प्राणों की प्रसन्न पूर्णता नहीं। पं. रामनरेशजी

त्रिपाठी ने खड़ी बोली की कविता का जो दूसरा युग स्वीकार किया है, यह वही है। इसमें सहृदयता कम और शक्ति का विकास अधिक मिलता है। गरियार बैल से हल चलवाने की चेष्टा की तरह ही खड़ी बोली के शब्दों से कविता की जमीन पर संसरण का गुरु कार्य करवाया गया है।

शब्दों के अपभ्रष्ट रूपों में भी जिस तरह उनकी आत्मा की प्रथम ज्योति मिलती है, जिस तरह वैदिक संस्कृत से अवतीर्ण, भारतवर्ष की दूसरी भाषाएँ वैदिक और संस्कृत की मुक्ति की तरह, अपने कर्मकाण्ड द्वारा अपनी ज्ञान राशि का प्रकाश विकीर्ण करती हुई, अबाध मुक्ति की ओर अग्रसर होती गयी हैं, और तब तक अभीप्सित विराम के आसन पर रहीं, जब तक उनके साहित्य-शरीर को जीर्णता ने ग्रस्त नहीं कर लिया, उसी तरह खड़ी बोली की प्रगति भी उसी मुक्ति की ओर होती जा रही है। यह मुक्ति इसे दिव्य भावना के बल से प्राप्त होगी। भारतवर्ष की जलवायु इसी के अनुकूल है। जड़ परमाणुओं के आघात-प्रतिघातों से, कविता में जड़त्व के प्रचार से, न भाषा की मुक्ति होगी, न उससे सम्बद्ध इस जाति की ही मुक्ति हो सकती है। यदि देश का अर्थ मिट्टी है, यदि विश्व के माने मिट्टी का एक वृहत पिण्ड है, यदि देश के उद्धार से मिट्टी के उद्धार का अर्थ सिद्ध होता है, यदि विश्व-मैत्री का सिद्धान्त जड़ शरीर से प्रेम करने की शिक्षा है और यदि आजकल के कवि इन्हीं भावनाओं की पुष्टि करेंगे, तो निस्सन्देह इससे भाषा के साथ भाषा के बोलनेवालों की मुक्ति असम्भव होगी। इस जाति के प्राण जड़ से नहीं, चेतन से मिले हुए हैं। यहाँ का कोई सुधार यूरोप की तरह प्रतिघात के बल से नहीं हुआ। कहा जा चुका है—यहाँ का कर्मकाण्ड दिव्य भावों से सम्बन्ध रखने-वाला, चेतन की ओर ले चलनेवाला रहा है और इस समय भी है, चाहे कोई कविता लिखने का कर्म करे या सम्पादन का, या कुछ और! राजनीति की दृष्टि से हमारा यह पतन हमीं से हुआ। हमारे इतर कर्मों के कारण, हमारी दिव्य भावना के अभाव से, हमारे जड़ाश्रय दुर्गुणों के प्रभाव से। हमीं ने कमजोर होकर अपने शासन के लिए दूसरों को आमन्त्रित किया, और तब तक दूसरे हमारे शासक रहेंगे, जब तक हम अपनी जातीय प्रतिष्ठा, जातीय मुक्ति, दिव्य भावना के अनेकानेक महास्त्रों से प्राप्त न कर सकेंगे।

जिस तरह बाह्य भूमि में इस प्रकार के शासक और शासित रहते हैं, उसी तरह साहित्य की भूमि में भी रहते हैं। कारण, साहित्य किसी जाति का ही साहित्य हुआ करता है और यदि वह किसी दुर्बल जाति का हुआ तो दूसरी सबल जाति का उस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो जाता है। हमारी पराधीन हिन्दी पर पराधीनता के ही कारण फ़ारसी का प्रभाव पड़ा, अंग्रेजी का पड़ रहा है, और आश्चर्य है, उनकी प्रान्तीय सहेलियाँ बंगला-मराठी आदि भी उस पर रोब गाँठ रही हैं। ब्रजभाषा हिन्दी के समय फ़ारसी को छोड़कर दूसरी किसी भी प्रान्तीय भाषा को उस पर प्रभाव छोड़ने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ; बल्कि बंगला-जैसी प्रान्तीय भाषाओं पर उसी का प्रभाव पड़ता है। दूसरी भाषाओं से रत्नों को अवश्य ग्रहण करना चाहिए; परन्तु प्रभावित होकर नहीं—प्रीत होकर।

हिन्दी के उस युग की सृष्टि में, कहा जा चुका है, सहृदयता की मात्रा बहुत

अधिक न थी। 'भाषा की प्रथम अवस्था में जितना हुआ, बहुत हुआ' के विचार से सन्तोष करने के लिए यह बहुत है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1928। **चयन** में संकलित]

सौन्दर्य-दर्शन और कवि-कौशल

कला की कोई ऐसी एकदेशीय परिभाषा नहीं की जा सकती; परन्तु कोई कला ऐसी भी नहीं, जो संसार की तमाम आँखों को एक ही-सी लगे। जब कला परिभाषा की जंजीर से जकड़ दी जाती है, तब वह हमेशा किसी खास विचार या किसी खास मजहब की हो जाती है। इस संकीर्णता से अलग करने के लिए ही उसे सत्य, शिव और सुन्दर के आवरण से ढँकने की कोशिश की गयी है। विश्व के लोग उसी कविता का आदर करेंगे, जो भावना में विश्व-भर की कही जा सकेगी। उसके बाहरी उपकरण तो एकदेशीय होंगे ही। देश की जनता में जहाँ अनेक प्रकार की संकीर्णताओं का शासन है, वहाँ एकदेशीय भावना का ही आदर रहता है।

यदि कविता सजीव है तो वह कैसी भी हो, पठित समाज के लिए आदरणीय अवश्य है। हिन्दी पर जब से अंग्रेजी सभ्यता का प्रभाव पड़ा, तब से इस छानबीन में एक विचित्र तरीका इख्तियार किया गया है। अब तक कवित्व-कला के जितने समालोचक हिन्दी में रहे, सब प्रायः पुराने ढंग के। आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, साहित्याचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा और माधुरी-सम्पादक पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचक हैं। इधर काव्य-कला पर पश्चिमी ढंग से, पर विशेष सन्तोषकर विचार (यह मैं पश्चिमी ढंग से कह रहा हूँ) जोशी बन्धु भी प्रगट करने जा रहे हैं। मैं इन पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों तरीकों के बीच में रहना पसन्द करता हूँ। दोनों की खूबियों की परीक्षा बिना किये, ऐसा होता है, जैसे समालोचना या काव्य के सौन्दर्य-प्रकाशन को लकवा मार गया हो, एक अंग परिपुष्ट होता है तो दूसरा कमजोर हो जाता है।

अस्तु, हिन्दी के द्विवेदी-युग के कवियों में सौन्दर्य-प्रकाशन की शक्ति कहाँ तक विकसित हुई थी, इसका एक साधारण विचार 'सुधा' में मैं प्रकट कर चुका हूँ। हिन्दी की वह प्राथमिक अवस्था थी। कविता के वसन्त के आवाहन-मन्त्र ही उसमें विशेष रूप से सुनायी पड़ते थे। अब हिन्दी-साहित्य के उस युग के पतझड़ में नवीन पल्लवों की हरियाली दिखायी देने लगी है।

जिस समय द्विवेदी-काल का साहित्य-सरोज अन्तःपूत सलिला 'सरस्वती' के वक्षस्थल पर प्रभात की किरणों को पूर्व-मार्ग की ओर अर्द्धनिमीलित ध्यान-नयनों

से निरीक्षण कर रहा था, मुझे आश्चर्य है, निस्संग, निस्सहाय, हिन्दी के इस नवीन युग के तपस्वी कवि का उस समय काशी में प्रभाती द्वारा स्वागत-गीतियों का रचनाक्रम आरम्भ हो चुका था। यदि कुछ और कवि अपने समय के स्वागत के लिए बढ़ न आये होते, तो, आश्चर्य नहीं, 'प्रसाद' को कविता के प्रासाद में उचित आसन मिलने में अभी कुछ और देर लगती। देखिए, प्रसादजी की उसी समय की एक मनोहर रचना—

> "विस्तृत तरु - शाखाओं के ही बीच में
> छोटी-सी सरिता थी, जल भी स्वच्छ था;
> कलकल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी;
> व्याकुल को आश्वास वचन-सी कर रही।
> ठहरा फिर वह दल उसके ही पुलिन में
> प्रखर ग्रीष्म का ताप मिटाता था, वही
> छोटा-सा शुचि स्रोत, हटाता क्रोध को
> जैसे छोटा मधुर शब्द, हो एक ही।
> अभी देर भी हुई नहीं उस भूमि में
> उन दर्पोद्धत यवनों के उस वृन्द को,
> कानन घोषित हुआ अश्व-पद-शब्द से
> लू-समान कुछ राजपूत भी आ गये।"

जब तक मैंने 'प्रसाद'जी का पूरा संग्रह नहीं देखा था, मैं कल्पना भी नहीं कर सका था कि दस-बारह वर्ष पहले भी हिन्दी के हृदय-पट पर इतनी मार्जित, इतनी कोमल रेखाएँ खींची जा चुकी हैं। एक बात और—मैं समझता था—लड़ी के बीच में वाक्य को विराम देने का कायदा शायद मुझे ही मालूम है, दूसरों को अभी यह ज्ञान नहीं हुआ; परन्तु मेरे क्षुद्र अहंकार को 'प्रसाद'जी की इन पंक्तियों ने आसानी से नष्ट कर दिया। वाह, कैसी संस्कृत से मिली, बिलकुल खिली हुई हिन्दी है। इस श्रेणी में इनके सिवा और दूसरा नहीं। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि जिस समय खड़ी बोली के लिए विशेष साधन उपलब्ध न थे, उस समय 'प्रसाद'जी ने कैसे इतने मार्जित और मनोहर शब्दों के आभूषणों से अपनी कविता को अलंकृत कर दिया! उद्धृत पंक्तियों में जाह्नवी की ग्रीष्मकालीन निर्मल वारि-धारा की तरह प्रसाद गुण से पूर्ण, चंचलता-रहित, सौन्दर्य धीरे-धीरे प्रवाहित हो रहा है। न कोई दर्प है, न कोई दुर्बलता! वड्‌र्सवर्थ की तरह कवि अपनी रचना से किसी दूसरे को मुग्ध करना नहीं चाहता। जो दृश्य आँखों के सामने रहता है, धीर लेखनी से धीर चित्रण करता चला जा रहा है। लड़ियों में इन्द्रजाल नहीं, जैसे पच्चीस वर्ष का अचंचल युवा अपनी शक्ति के विश्वास में स्थिर हो।

इधर 'प्रसाद'जी का एक पद्य 'माधुरी' में मैंने देखा। पूरा पद्य मुझे याद नहीं है। कुछ आकर्षक पंक्तियाँ मुझे याद हैं, वे ये हैं:

> "आह! वेदना मिली विदाई!
>
> चढ़कर मेरे जीवन-रथ में
> प्रलय चल रहा अपने पथ में

मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी - होड़ लगाई।
आह ! वेदना मिली बिदाई।"

इसकी प्रथम पंक्ति में कितना निर्मल सत्य है। भग्न हृदय की कवि-प्रतिभा से मिली हुई कितनी सजीव भाषा है ! प्रिय को अपने प्रिय से बिदाई में वेदना मिली जो बड़ी ही करुण तथा सहृदय-द्राविणी होती है। फिर एक दार्शनिक सत्य का दर्शन कीजिए। जीवन के रथ पर बैठा हुआ प्रलय अपने रथ पर अबाधगति ने चला जा रहा है। द्रष्टा या कवि कहता है, मैंने अपने दुर्बल पदों के बल का भरोसा रखकर उसके साथ बाजी बदी ! —उसे पराजित करने का प्रयत्न—यह कितना हास्यास्पद है ! अभी कुछ दिन हुए, कहीं मैंने पढ़ा था, किसी योरोपीय विद्वान ने लिखा है, मनुष्य की शक्ति के अन्तरतम प्रदेश में एक विराट शक्ति वर्तमान है। वास्तव में वही अपना कार्य करती है। मनुष्य के क्षुद्र अहंकार से कोई कार्य नहीं होता। 'प्रसाद'जी की इन पंक्तियों में यही सत्य किस खूबी से विकास प्राप्त कर रहा है !

'प्रसाद' और 'पन्त' मेरे लिए दोनों ज्योतिर्नयन, हिन्दी के प्रियदर्शन कवि हैं। एक ओर प्रसाद की संस्कृत की योजना हिन्दी के 'धवल वेशमनि, रत्नदीप-माला-मयूख-पटलैर्दलितान्धकार', दूसरी ओर पन्त में अंग्रेजी का विद्युत-प्रवाह, शीर्ण-कंकाल-शब्द-राशि पर जीवन का अजस्र-अमृत-निर्झर ! देखिए—

"पलक-यवनिका के भीतर छिप
हृदय मंच पर छा छविमय,
सजनि, अलस के मायावी शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय ?"—
"मीलित नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय लोक ?
अपने ही सुख, दुख, इच्छाएँ,
अपनी ही छवि का आलोक !"

पलकों की यवनिका के भीतर छिपे हुए, हृदय-मंच पर, मायावी शिशुओं का अभिनय, गद्य में गतिक्रम के रहित हो जाने से, सौन्दर्य से च्युत, स्वर्ग से स्खलित त्रिशंकु की तरह, नेपथ्य में ही टँगा रह जाता है। पन्तजी के छन्दों के तालों में मायावी शिशुओं का अभिनय कितना अभिनन्दनीय है ! दूसरे पद्य में जान पड़ता है, निराभरण सुन्दरी आप ही अपने नृत्य की मधुर मुखरता में मुग्ध हो रही है, अपने अन्तःसौन्दर्य के वासन्ती प्रभात में अकेली विहार कर रही है, सर्वस्व की प्राप्ति से उज्ज्वल उसके कथन जैसे किसी दूसरे की शोभा की ओर दृक्पात भी नहीं करते। रूपगर्विता का कैसा सम्मोहन चित्र है ! प्रत्येक शब्द से अमृत-क्षरण हो रहा है। परन्तु यह जरूर है कि भावना का हार टूट जाता है। जैसे, पारदर्शी सरोदिया किसी महफिल में आज्ञानुसार कभी सारँग और पीलू, कभी भैरवी और कभी गौरी सुना रहा हो ? रागिनी की कोई एक ही दीर्घ झंकार कानों में स्थायी रस का संचार नहीं करती।

दूसरी जगह पन्तजी कहते हैं—

"अब शशि की शीतल छाया में
रुचिर रजत-किरणें सुकुमार
प्रथम खोलतीं नव-कलिका के
अन्त:पुर के कोमल द्वार,
अलि बाला से सुन तब सहसा—
'जग है केवल स्वप्न असार'
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार।"

सौन्दर्य में वैराग्य के प्रदर्शन से, जान पड़ता है, इन पंक्तियों में कण्व के तपोवन की विभूति-मूर्ति आजानु-कुन्तला शकुन्तला का चित्र सामने आ गया है। वैराग्य की वह्नि में तपकर जैसे ज्योति की एक मूर्ति निकली हो। कलि जब अपने सौरभ का भार मारुत को देकर रिक्त दृष्टि से आकाश की ओर देखती है, तब तपस्या की उस मूर्ति के चरणों में सौन्दर्य अपना सर्वस्व समर्पण कर जाता है और उस कलिका के रूप को देखने के लिए लोगों को आमन्त्रित करता है।

"अंग-भंगि में व्योम-मरोर
भौंहों में तारों के झौंर
नचा, नाचती हो भरपूर
तुम किरणों की बना हिंडोर।"

'वीचि-विलास' पर लिखते हुए पन्तजी ने शब्दों की वीचियों—ताल-ताल पर लहरों की जो क्रीड़ा दिखायी है, उसे देखकर हृदय कह उठता है कि अपने काव्य-कौशल के बल से पन्तजी हर तरह की सजीवता की मूर्ति चित्रित कर सकते हैं। वीचियों की अंग-भंगियों में कवि का यह कथन कि जैसे नील आकाश ही मरोर दिया गया हो, नील सलिल की चक्राकार आवर्तित भँवर का कितना सजीव चित्र है! फिर छोटी-छोटी वीचियों पर प्रतिफलित ताराओं की भौंहों के मुक्ताकार तबक से कल्पना करना भी कितना मधुर है! किरणों को हिंडोर की 'ज्योतियाँ' बतला उनमें वीचि की चंचल बालिकाओं को झुलाने से सौन्दर्य कितना आकर्षक हो रहा है! और लीजिए—

"कौन, कौन तुम परिहत-वसना
म्लान-मना भूपतिता-सी,
वात-हता विच्छिन्न-लता-सी
रति-आभा व्रज-वनिता-सी?
नियति-वंचिता, आश्रय-रहिता
जर्जरिता, पद-दलिता-सी,
धूलि-धूसरित, मुक्त-कुन्तला,
किसके चरणों की दासी?

कहो, कौन हो दमयन्ती - सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?''

इन पंक्तियों में छाया को निराश्रया नारी कल्पना कर कवि अनेक दृष्टियों से देख रहा है। प्रत्येक शब्द में जीवन है । सौन्दर्य की सजीव मूर्ति कविता के प्रत्येक चरण को अपने हाथों सँवार रही है ।

नवीन युग की रचना का एक और उदाहरण लीजिए। इसके रचयिता स्वर्गवासी मयंकजी हैं।

कविवर 'मयंक' क्षत्रिय लक्ष्मणसिंहजी 'अन्त' शीर्षक एक ही कविता लिखकर अपने अन्त के साथ हिन्दी के सुनहले अंचल में अपनी अक्षय रेखा अंकित कर गये हैं—पत्नी-प्रेम के पावन हृदय की शक्ति का प्रकाश देखकर मन आश्चर्य में पड़ जाता है—

''हा श्रान्त अन्त ! उद्भ्रान्त अन्त !!
हा ! हा ! कल-कोमल-कान्त-अन्त !!!
गंगा-माँ के वक्षःस्थल पर,
उस दिन शीतल निर्मल जल पर,
देखी थी तव स्वर्गीय छटा;
फिर सघन घनों की घोर घटा ।
गूँजा था कल-झंकार नया,
दीखा था सब संसार नया ।
पुलकी - सी उमड़ पड़ीं आँखें,
भीगीं मन - मधुकर की पाँखें ।।
मानस को उथल - पुथल करके,
गंगाजल को उज्जवल करके,
तू किधर गया ? उड्डीन हुआ !
हा ! किस दिगन्त में लीन हुआ !!''

हिन्दी में आज तक जितनी सुन्दर कविताओं की रचना हुई है, 'मयंक'जी का 'अन्त' उनमें कला, सौन्दर्य-विकास, भाव या भाषा, किसी दृष्टि से भी घट कर नहीं। बल्कि निबाह इतना अच्छा हुआ है कि इस कोटि की बहुत ही कम रचनाएँ मिलती हैं। निबाह देखकर विश्वास हो जाता है कि देवी सरस्वती ने हिन्दी संसार में 'मयंक'जी को अमर कर देने के लिए इस कविता में स्वयं ही लेखनी ग्रहण की थी। 'अन्त' पर रहस्यमयी इससे अच्छी कविता मैंने नहीं देखी—पढ़ी हैं लगभग सौ कविताएँ।

'मयंक'जी की यह कविता 'प्रभा' में प्रकाशित हुई थी। इसके प्रकाशित होने के मास-दो मास के अन्दर ही उनका देहान्त हो गया।

कविता के वर्तमान उपासकों में एक गौरव-पद पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी को भी प्राप्त है । चतुर्वेदीजी की कुछ कृतियाँ मैंने 'प्रभा' में देखी थीं और कुछ

इधर-उधर। सारांश, राजनीति-रणस्थल के वीर को कविता के मनोरम उद्यान में अधिक काल तक रहने का शायद समय नहीं मिला। उनकी रचना में एक द्रवीभूत हृदय का परिचय मिलता है। कला की प्रदर्शिनी में जाने से पहले उनकी कविता सहृदयता की ओर चली जाती है। जहाँ कला की चकाचौंध नहीं, आँसुओं का प्रस्रवण जारी रहता है। उदाहरण—

"पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर यहाँ न आते हैं, जो थे बागीचे आते,
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर, वनचर भी खा जाते हैं,
शाखा-मृग कन्धों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु
जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुजरना,
हम वे ही फलवाले हैं।"

"बाल बिखरे हुए हँस-हँस के ग़ज़ब ढाते हुए
कन्हैया दीख पड़ा हँसता हुआ आते हुए।"

माखनलालजी की इन माखन-सी मुलायम पंक्तियों का लोगों में बड़ा आदर है। अवश्य इन पंक्तियों और उनकी प्रायः सभी पंक्तियों का दूसरा पार्श्व समालोचक की दृष्टि में अन्धकारपूर्ण है, परन्तु मैं उसकी विशेष आलोचना नहीं करना चाहता। उदाहरण के लिए कुछ ही पंक्तियाँ पेश करता हूँ। जो टीले पथरीले हैं, उन्हें रोज तो क्या, कभी भी सींचने की जरूरत नहीं। फिर बागीचे में आनेवाले नागर वहाँ नहीं जाते तो बुद्धिमत्ता ही प्रकट करते हैं। नागरों के लिए टीले पर क्या रखा है? क्यों जायँ?—बात यह है कि सब पंक्तियाँ असम्बद्ध हैं—'झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर वनचर भी खा जाते हैं।' यहाँ, टीले और नागर दोनों गये, वनचर आये, वनचर के बाद 'भी' कहता है कि वनचर तो खाते ही हैं, किन्तु खेचर, निशाचर और न जाने कितने चर खा जाते हैं। अब इन तमाम वाक्यों का सम्बन्ध बतलाइए कि एक दूसरे से क्या है—कला के विचार से कुछ नहीं।

जो इने-गिने कवि हिन्दी के नवीन युग में हैं, श्रीयुत गोविन्दवल्लभजी पन्त की गणना भी उन्हीं में की जायेगी। उनकी पंक्तियों में मुझे वही सुकुमारता मिलती है। इनकी रचना में कहीं-कहीं कमजोरी भी मिलती है, परन्तु ऐसी कमजोरियों से उनकी, किसी की भी कविता बची हुई नहीं होती। जहाँ सौन्दर्य है, चाँदनी की तरह बड़ा ही मधुर, अत्यन्त आकर्षक है। सुनिए,—

"चंचलता! कैसी चंचलता! शासन करती है जग में।
जल में, थल में, अनिल-अनल में, नभ में, मग में, पग-पग में
चंचल पृथ्वी, चंचल दिनकर, चंचल है शशिकर तारा।
चंचल कादम्बिनी—चंचला, चंचल है वारिद - धारा॥

चंचल बिम्बाधर - तट - अंकित विमल हास्य - रेखा चंचल।
चंचल अंचल-आश्रित अविरल अबला का चंचल दृग-जल ॥

इन पद्यों में कमजोरियाँ कई हैं, पर वासन्ती समीर के मन्द-मृदु-शीतल झोंकों की तरह हृदय की ज्वाला को प्रशमित कर देनेवाले शब्द और भाव भी अनेक हैं। जिन उपकरणों के समन्वय से एक कवि-हृदय का संगठन होता है, वे उपकरण गोविन्दवल्लभजी में अवश्य हैं। अभी-अभी 'सुधा' या 'माधुरी' में एक संगीत आपका छपा था, 'चमक तारिके तम में,' इस इतने ही में तारिका की मधुर क्षीण प्रभा दिखलायी पड़ी। सहृदयता में गोविन्दवल्लभ समालोचक की दृष्टि में एक ही हैं।

नवीनजी की सहृदयता एक दूसरे प्रकार की है। वे भी कवि हैं, परन्तु प्रबल भावों की अधिक उत्तेजना से उनके हृदय के तार जैसे टूट गये हों; वे जो कुछ चाहते हैं, वह उन्हें जैसे न मिला हो। अधिक रोने से जैसे गला बैठ जाता है, उस ध्वनि से एक असह्य दबाव पड़ने के सिवा, करुणाश्रित रस का उद्रेक नहीं होता, वैसे ही उनकी पंक्तियों का हाल है। नवीनजी का 'विप्लव गायन' उनकी कविताओं में एक उत्कृष्ट रचना और हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है—

"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल - पुथल मच जाये;
एक हिलोर इधर से आये—
एक हिलोर उधर से आये;
प्राणों के लाले पड़ जायें,
त्राहि - त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का,
धुआँधार जग में छा जायें;
बरसे आग जलद जल जाये
भस्मसात् - भूधर हो जायें;
पाप - पुण्य सब सद्भावों की,
धूल उड़ उठे दायें - बायें;
नभ का वक्षस्थल फट जाये,
टूक-टूक तारे हो जायें;
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाये।"—

निबाह खूब हुआ है। शक्ति का कितना प्रखर प्रवाह है!

पं. मुकुटधरजी एक मार्जित कवि हैं। पर अब जमाना कुछ कदम और आगे बढ़ गया है। इस जमाने के और सनेहीजी के जमाने के सन्धिस्थल के मुकुटधरजी कदाचित श्रेष्ठ कवि होंगे। मुकुटधरजी की अस्वस्थता के कारण, उनसे हिन्दी को जितनी आशाएँ थीं, वे पूरी नहीं हुईं। अब स्वस्थ अवस्था में यदि ये चाहें तो कुछ कर सकते हैं।

मेरे नयनों की चिर आशा,
प्रेमपूर्ण सौन्दर्य - पिपासा,
मत कर नाहक और तमाशा,
आ, मेरी आँखों में भर जा !
मृदुल मनोरम—तरु में झूला,
फूल रंग में अपने भूला,
फूल चुका बस जो कुछ फूला,
अब अपनी डाली से झर जा !"

इन पंक्तियों की सफाई देखने लायक है। अन्तिम बन्ध बड़ा ही सुन्दर और निर्दोष उतरा है।

श्रीयुत् भगवतीचरण वर्मा बी. ए. की भी कोई कृति समालोचक समाज में आदरयोग्य हुई है।

"आशाओं के स्वप्न, क्षणिक जीवन के, विषम विषाद बिदा !
भावों के सुख-स्वप्न, कल्पना के सुन्दर प्रासाद बिदा !
बिदा अहं की छलमल छाया, भ्रान्तिपूर्ण उन्मत्त अशान्ति।
उद्‌गारों के वेग महत्त्वाकांक्षा के उन्माद बिदा !
माया और ममत्व, वासना के मतवाले राग बिदा।
विश्वकुसुम के पागल करनेवाले मधुर पराग बिदा।
बिदा वेदना और हृदय की करुण कथा के उपसंहार;
परिधिरहित परिताप और उस मौन व्यथा की आग बिदा।
लोलुप तृष्णा की उतावली-सी उन्मत्त उमंग बिदा !
यौवन - मद के दीवानेपन की वह तरल तरंग बिदा !
बिदा सुखों के विस्तृत सागर की उच्छृंखल उच्च उठान;
और नाश के भाषण-स्वर की ध्वनि-प्रतिध्वनि के व्यंग बिदा !

वर्माजी में कवित्व-शक्ति है, पर सहृदयता का अभाव है। शब्द जितने जोशीले हैं, उतने सरस नहीं ! इनकी बहुत-सी कविताओं में केवल शब्दों का ही तूफान है, जहाँ अपना पराया भी नहीं सूझता। परन्तु यह कविता सफलता की कुछ सीढ़ियाँ जरूर तै कर चुकी है। स्थानाभाव से पं. लक्ष्मीप्रसाद मिश्र 'श्याम' और जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' का उल्लेख नहीं कर सका। और भी कई कवि छूट गये हैं। इन सब कवियों का विस्तृत विवेचन कभी फिर करूँगा।

ऊपर के अवतरणों से पाठक समझ गये होंगे कि कविता का सौन्दर्य-दर्शन भी कला और कौशल से खाली नहीं होता। साधारण लोगों की दृष्टि में और कवि की अन्तर्दृष्टि में विशेष अन्तर होता है। क्योंकि वह विश्व की प्रत्येक वस्तु को कल्पना की सौन्दर्यमयी दृष्टि से देखता है और नीरस-से-नीरस वस्तु को अपने अद्‌भुत कौशल द्वारा सरस और सुन्दर रूप देकर संसार के सामने रख देता है। उपर्युक्त कवियों की भावनाएँ विश्व की सम्पत्ति हैं। उनका बाह्य सौन्दर्य एक-

देशीय होने पर भी अन्तःसौन्दर्य सार्वदेशीय है। आजकल का संसार ऐसी ही भावनाओं का भक्त है।

['सरोज', मासिक, कलकत्ता, ज्येष्ठ, संवत् 1985 (वि.) (मई-जून, 1928)। असंकलित]

साहित्य की नवीन प्रगति पर

जिस समय रोगी की नाड़ी छूटने लगती है—वैद्यराज रोग को असाध्य बतलाकर रोगी के मरने से पहले ही अपने मकान पहुँच जाना चाहते हैं, उस समय रोगी के मकानवालों को ही नहीं, किन्तु गाँव-भर के लोगों को मालूम हो जाता है कि अब बीमार का बचना कठिन है। यही हाल इस समय खड़ी बोली के प्राचीन ठाट की कविता का हो रहा है। वैद्यराज सुकवि किंकरजी ने तो जवाब दे दिया। उनके और-और साथी भी सहायक का वसूल पूरा कर गये। पहले खड़ी बोली की कविता-कामिनी को छायावाद के रोग से प्रतिदिन दुर्बल होती हुई बतलाया, फिर जब वह एक तरह से चलने-फिरने की शक्ति से भी रहित हो गयी, चारपाई में लग गयी, उसके प्रणयी कविगण साहित्य के उषाकाल में आकाश के नक्षत्रों की तरह नजर आने लगे, तब आचार्यदेव ने एक बार फिर जोर मारा, अपनी अव्यर्थ महौषधि मकरध्वज का सानुपान प्रयोग कर गम्भीर भाव से अपने शिष्य-समुदाय से कहा, "देखो, यह वह दवा है जो अनुपान-विशेष से विविध प्रकार के गुण दिखलाती है। **'अनुपानविशेषेण करोति विविधान गुणान्।'** अब कोई भय नहीं, यह छायावाद का रोग अवश्य नष्ट होगा।" यह कहकर आप ज़रा मुस्कराये। इधर छायावाद कह रहा था, "वैद्यराज, आप गलती कर रहे हैं, मैं मीयादी बुखार की तरह हूँ, अपना वक्त पूरा किये बिना उतरूँगा नहीं, चाहे आप मकरध्वज नहीं, मृत-संजीवनी पिला दें।" ऐसा ही हुआ। अन्त तक "**दैवायत्तं जीवनम्**" की दोहाई देकर वैद्यराज तथा उसके गणों ने अपने-अपने मकानों की राह ली। इधर जनता को विश्वास हो गया कि हिन्दी की कविता को छायावाद का भूत ले गया। ब्रज-भाषा में तीन साल पहले जब 'ही' की समस्या निकली थी, शायद कानपुर के 'कविन्द' में, उस समय 'पलाले'जी की पूर्ति ऐसी अच्छी आयी थी कि दिल फड़क उठा था। आजकल न जाने लोग क्या लिखते हैं, कुछ समझ में खाक आता ही नहीं!

इस सन्दिग्ध परिस्थिति में कुछ दूसरे लोग मैदान में आये हैं। कोई नवीनता नहीं सूझी तो किसी प्रगति में ही उलटे-सीधे बह चले। 'विशाल भारत' के सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी के अध्यापक,

छात्र-संसदि लब्धकीर्ति, पं. रामचन्द्र शुक्ल इस श्रेणी के हैं। 'विशाल भारत' के सम्पादक को अपने पत्र में कोई मौलिकता पैदा करनी ही थी। उन्होंने 'छायावाद' और 'घासलेट' साहित्य की कल्पना निकाली, कैसी मौलिकता है। अब देखें, 'छायावाद' का क्या निष्कर्ष 'विशाल भारत' निकालता है। यदि चतुर्वेदीजी एक लेख महात्माजी से इसी सम्बन्ध में लिखा लें, विशेष रूप से खण्डनात्मक, तो शायद उन्हें इतना हैरान न होना पड़े। इधर उनकी सहायता के लिए धुरी धारण करनेवाले पं. रामचन्द्रजी शुक्ल जैसे कभी साहित्य की लीक न छोड़नेवाले उसके यथार्थ भार के वेत्ता तो हैं ही जिन्होंने पहले ही से 'सुधा' में मस्त साहित्यिकों को अपनी अभय-वाणी सुना दी है—

"देख चुके दम्भ के विकास का विधान यह,
सह चुके गिरा के भी गौरव का अपमान;
लालसा अज्ञात की बताके ढोंग रचते जो
शब्दों का झूठ-मूठ, अब हों वे सावधान।
आवें लोक-लोचन समक्ष, देखें एक बार
अपनी यह कलाहीन कोरी शब्द की उड़ान;
बोलें तो हृदय पर हाथ रख सत्य-सत्य,
इसका वहाँ के किसी भाव से भी है मिलान।
भाषा है, न भाव है, न भूति भाँपने को आँख,
शिक्षा की सुभिक्षा भी न पायी कभी एक कन;
गाँथते हैं गर्वभरी गुरु ज्ञान गूदड़ी वे
चुने हुए चीथड़ों से, किये ब्रह्मलीन मन।
कहीं बंग-भंग-पद चकती चमक रही,
कहीं अँगरेजी अनुवाद का अनाड़ीपन;
ऐसे सिद्ध साइयों की माँग मतवालों में है,
काव्य में न झूठे स्वाँग खींचते कभी हैं मन।"

साहित्य में इस तरह की आवाज, प्रचार आदि यद्यपि इस समय असभ्यता और गँवारपन का परिचय देते हैं, परन्तु हमारे लिए इसके स्वीकार करने के सिवा दूसरा उपाय ही क्या है ! अतएव शुक्लजी गद्य में लिखें, हम उन्हें उत्तर देने के लिए तैयार हैं। अवश्य पद्य में इस तरह की बकवास करना हम नहीं जानते। लोक-लोचन-समक्ष तो हम हैं ही, अब ज़रा आप ही कलेजा मजबूत करके आ जायँ, फैसला हो जायेगा। यों तो पं. मातादीनजी शुक्ल ने 'सुधा' के बादवाले अंक में ही आपको उत्तर दे दिया था, परन्तु उत्तर-प्रत्युत्तर का इस जमाने में कुछ भय तो रहा नहीं, कारण **'सपदि होहु पक्षी चण्डाला'** वाले महर्षि अब नहीं रहे। शुक्लजी ने 'सुधा' को शुक्ल 'दी सेकेण्ड' से घबराकर छोड़ा तो 'हृदय का मधुर भार' अब 'माधुरी' के अंक में उतार रहे हैं। स्वभाव बुनियादी ठहरा, 'कुछ नहीं है तो अदावत ही सही।' इधर 'प्रताप' से आपको एक 'चैलेंज' और मिल गया है। देखें, इन इतने निमन्त्रणों की आप किस तरह रक्षा करते हैं। शायद **'शिक्षा की सुभिक्षा भी न पायी कभी एक कन'** सबको कह दें। अच्छा हो यदि इसके साथ ही अपनी

छिपायी हुई वह जबरदस्त डिगरी भी शुक्लजी जाहिर कर दें। हम लोगों को हलाहलानन्द स्वामी की 'एल् ए फेल, इति आख्यया' परिचय-निर्णायिका तालिका पढ़कर बड़ा आनन्द आता है। 'पाखण्ड प्रतिषेध' शुक्लजी खूब करें, यहाँ आपत्ति को जगह दी ही नहीं गयी, कहना सिर्फ यह है कि उक्त शीर्षक के चौथे पद्य के अन्तिम चरण में जो आया है 'खोलने में मंगली शुभ्र-भावना का रंग', यहाँ कवित्त-छन्द के दायरे से निकलकर यह चरण मेरे स्वच्छन्द-छन्द में आ गया है, जिससे जान पड़ता है कि शुक्लजी के हठी अध्यापक ने तो नहीं, परन्तु उनके अनुकूल कवि ने मेरा शिष्यत्व स्वीकार कर लिया है और इस तरह उनके हठ को अपनी स्वाभाविक कोमलता द्वारा मूर्च्छित कर उनकी अज्ञात दशा में प्रकृति ने ऐसा लिख दिया। यहाँ मैं इस पूरे छन्द का उद्धरण देता हूँ—

"सहन हुआ न उस सत्त्वगर्भ मानस को
खग के भी जीवन की हानि और सुख-भंग;
वेदना से क्षुब्ध ज्यों ही उमड़ पड़ा है वह,
भारती की वीणा झनकारती उठी तरंग।
रोष ने, अमर्ष ने, पराये अपकर्ष ने भी
करके संचार उन करुण स्वरों के संग,
साधन सहायक के रूप में ही काम किया
खोलने में मंगली शुभ्र भावना का रंग।"

देखिए, सोलह-सोलह अक्षरों की गिनती शुरू से ही चल रही है, प्रत्येक पंक्ति 16 अक्षरों की है, पर अन्तिम पंक्ति में केवल 15 अक्षर आते हैं, यह लड़ी मेरे अभिन्न-स्वच्छन्द की-सी हो गयी है। शुक्लजी ध्यान दें, आपकी पंक्ति में कहीं छापे की अशुद्धि नहीं है, पंक्ति साफ बोल रही है। जिस गवैये को ताल का ज्ञान न हो वह गायक गायक नहीं कहलाता, उसी तरह जिस कवि को छन्द का ज्ञान नहीं, वह कवि भी कवि की श्रेणी में नहीं आता। कविता में और सब दोष क्षम्य हैं, पर गति-भंग, यति-भंग अक्षम्य अपराध है। आपका 'मंगली' 'मांगलिक' होता तो आपके दोष कट जाते। पर कटते कैसे? आपकी 'वीणापाणि वाणी-लोकमानस-विहारिणी' ने लोकविरोधियों का साथ तो कभी दिया नहीं, सदा से उनकी बुद्धि को ही भ्रष्ट करती आयी है। उन्होंने साहित्य के उन्हीं कवियों के हृदय और कण्ठ में आसन ग्रहण किया है जो अपने-अपने समय का सन्देश लेकर आये हैं। इस तरह आपके कण्ठ से भी उन्होंने उन्हीं का समर्थन कर दिया।

विलियम ब्लेक के सम्बन्ध में जो आपने लिखा है कि, "वह अपने को ईश्वर का दूत प्रकट करना चाहता था और इसी प्रकार की बातें और चेष्टाएँ करता था, जिस प्रकार यहाँ पहुँचे हुए सिद्ध महात्मा बननेवाले पाखण्डी साधु किया करते हैं—यह घोषित किया करता था कि 'मैं तो इस काया का केवल मुहर्रिर हूँ। लिखनेवाले असली कवि तो अमरलोकवासी फरिश्ते हैं। मैं इसे संसार का सबसे उत्कृष्ट काव्य मानता हूँ।' पर संसार अन्धा नहीं था—होशियार हो चुका था! इसकी रहस्यवाद की रचनाएँ बिलकुल निकम्मी ठहरायी गयीं।" यह दिव्य-साहित्य-ज्ञान देने के लिए आपको धन्यवाद देकर मैं आपसे पूछता हूँ, **'तुलसी अनाथ की परी**

रघुनाथ हाथ सही हैं' के वक्त शायद भारतवर्ष भी घोर अज्ञान-तिमिर में डूबा हुआ था जो इस तरह की बात उसने मान ली, परन्तु अब तो आपने अवतार ग्रहण कर ही लिया है, लोगों को अज्ञानान्धकार से मुक्ति देने की शीघ्र ही कृपा करें और **'हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि के मोंहि'** वाले सूर के इस परलोकवाद प्रलाप तथा मूर्ति के आने-जानेवाली उक्ति पर विश्वास करनेवाले भारतवर्ष के हृदय में शीघ्र ही अपने दिव्य ज्ञान की ज्योति भर दीजिए, नहीं तो आपका अवतार अधूरा ही रह जायगा। **'सुन्दरि को धनि सहचरि मिलि, मो जीवन संग करतहि केलि'** वाले गोविन्द दास, **'सुमिरत सारद आवत धाई'** वाले तुलसीदास, **'अन्तर माधो-बसि अह रह, मुख होते तुम भाषा केड़े लह'** वाले रवीन्द्रनाथ, सूरदास, कबीरदास आदि प्रायः अधिकांश कवियों ने ब्लेक ही की तरह जनता को घोर अन्धकार में डाल रक्खा है। आपने यदि कृपापूर्वक शरीर धारण किया तो **'ज्ञानांजन-शलाकया अज्ञान-तिमिरान्धानां चक्षु रुन्मलीन'** अवश्य कर जायँ। जिस तरह आपने अपनी कोई महान् उपाधि, अपार विद्या छिपा रक्खी है उसी तरह इस अपूर्व ज्ञान ज्योति को भी न छिपा रखिए, लोगों को **'तुभ्यं श्रीगुरवे नमः'** कहने का यह ज़रा-सा अधिकार तो दीजिए।

ब्लेक पाखण्डी था, अपनी रचनाओं को छपाने में विचित्र-विचित्र ढोंग निकाला करता था। उसका प्रत्येक पृष्ठ एक भिन्न रचना के रूप में होता था, आजकल के छायावादियों की क्षुद्र पंक्तियों की तरह उसकी पंक्तियाँ भी टेढ़े-मेढ़े ढंग से सजी रहती थीं, यह सब तो था, पर आप शायद नहीं जानते; जानते होते तो लिखते, नहीं मैं ही भूलता हूँ, यहाँ आपने ब्लेक की उज्ज्वल कवित्व-शक्ति को उसी तरह छिपाने की कोशिश की है जिस तरह आप अपनी महोच्च डिगरी को छिपाया करते हैं। ब्लेक अपने समय का युग-प्रवर्तक था, देखिए अंग्रेजी साहित्य का इतिहास, इसीलिए जितने भी अंग्रेजी कविताओं के संग्रह निकले हैं प्रायः सबों में ब्लेक की कविताएँ आयी हैं। आपके शब्दों में शायद महामूर्ख हो पर आपके हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर रह चुकनेवाले मिस्टर निक्सन जो अब त्याग और तपस्या में लगे हुए हिन्दू-तत्कर्ष पर मनन कर रहे हैं—शायद आपके शब्दों में ब्लेक की तरह ढोंग कर रहे हों—आपकी हिन्दू-यूनिवर्सिटी-मैगजीन में प्रबन्ध लिखते हुए ब्लेक ही की इस कविता से श्रीगणेश करते हैं। उनका दुर्भाग्य कि आपके दिव्य ज्ञान से वे वंचित रह गये—

> "To see a world in a grain of sand
> And heaven in a wild flower
> To hold infinity in the palm of your hand
> And eternity in an hour"
>
> —Blake.

ब्लेक की इस कविता पर विचार कीजिए तो चुने हुए वेदान्त के ऊँचे-से-ऊँचे भाव मिलते हैं। Infinity in the plam of your hand का जो अर्थ है बहुत कुछ तुलसीदास के **'करतलगत आमलक समाना'** का वही अर्थ है। **'विश्ववदर-कर'** भी यही बतलाता है। Heaven in a wild flower मेरे विचार से वर्डस्वर्थ की

सर्वोत्तम पंक्ति—To me the meanest flower that blows, can give thoughts, that do often lie too deep for tears—से बढ़कर है। तुलसीदास के 'कागभुसुण्ड' बालक रामचन्द्र के पेट में समाकर, अगणित उड्गण, रवि, रजनीश, लोकपाल, ब्रह्मा, शिव, विष्णु, शेष आदि-आदि और सहस्र-सहस्र लोकों में, सब जगह, राम अवतार देखते हैं, एक-एक ब्रह्माण्ड में एक-एक सौ वर्ष रहते हैं। फिर भी कहते हैं **'उभय घरी महँ मैं सब देखा'**, कुछ हो, इस अनादि तत्त्व को उभय घड़ी में दिखानेवाले तुलसीदास से ब्लेक की कितनी समता है! —वह भी कहता है—

Eternity in an hour

मुमकिन है, हमारे साहित्य के आधुनिक मर्मज्ञ पं. रामचन्द्रजी शुक्ल ब्लेक की इन पंक्तियों का जैसा उत्तम अर्थ समझते हैं और इनमें जो 'ढोंग' छिपा हुआ है, उसे जिस तरह प्रकट कर सकते हैं, 'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास' लिखनेवाले या ब्लेक को एक श्रेष्ठ कवि बतलानेवाले या उसकी कविताओं के उद्धरण देने-वाले या निक्सन साहब अथवा हम न समझते हों! हमें आशा है, ब्लेक के साथ, छायावादी की आख्या प्राप्त करनेवालों की कविताओं के उद्धरण देकर, हमारे शुक्लजी—'वंग-भंग-पद-चकती' से चमकनेवाली तथा 'अंग्रेजी अनुवाद के अनाड़ी-पन' से अस्त-व्यस्त उन पंक्तियों का ढोंग और 'कलाहीन कोरी शब्दों की उड़ान' साहित्य के पृष्ठों पर रखकर **'कहहिं कर इक'** की सार्थकता दिखलायेंगे और **'जनि जल्पना कर सृजस नासहि'** के स्वयं ही अपवाद न होंगे। खासकर जबकि 'लोक लोचन समक्ष' आने का हमें उन्होंने ही निमन्त्रण दिया है।

'Never seek to tell thy love
Love that never told can be,
For the gentle wind doth move
Silently, invisibly'

—Blake.

यहाँ भी ब्लेक की कविता में वेदान्त के सर्वश्रेष्ठ भाव मिलते हैं। 'लव' या प्रेम ही यथार्थ ईश्वर है जिसे **'अवाङ्मनसोऽगोचरम्'** कहा है। **'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़ै सो पण्डित होय'** से लेकर आज तक भिन्न-भिन्न भाषाओं में जितने भी उल्लेख ईश्वर के सम्बन्ध में आये हैं, प्रेम ही का स्वरूप उनमें पुष्ट किया गया है। आजीवन तपस्वी संसार-विजयी स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं—'We are children of Bliss.' Bliss, ज्ञान, आनन्द, प्रेम, अमृत आदि एक ही अद्वैत सत्ता का बोध कराते हैं। **'अमृतस्य पुत्राः'** का अमृत प्यार से कोई पृथक सत्ता नहीं। जो अमृत है, न मरने-वाला है, वह प्यार है, वही अव्यक्त है। **'प्रेम प्रेम यह मात्र धन'**, स्वामी विवेका-नन्द की इस उक्ति में प्रेम ही की सत्ता मानी गयी है। उनकी इस लम्बी कविता में व्रत, त्याग, श्मशान वास, तपस्या आदि की निःसारता और प्रेम ही की सत्ता कायम की गयी है। **'रामहिं केवल प्रेम पियारा, जानि लेहु जो जानन हारा।'** ब्लेक साहब भी that never told can be से प्रेम को 'अव्यक्त' बतला रहे हैं। इतनी साफ और हृदय में भावों की ज्योति पैदा करनेवाली पंक्तियों के लेखक को जिन

शब्दों में शुक्लजी ने याद किया है, वे शब्द उन्हीं के स्वभाव का परिचय दे रहे हैं। यदि हिन्दुओं के विशद ग्रन्थों को अनार्य भाववाले मनुष्य क्षेपकों द्वारा विकृत कर सकते हैं तो क्या यह सम्भव नहीं कि ब्लेक का कोई विरोधी उसके समय या कुछ काल बाद पैदा हुआ हो और उसके सम्बन्ध में अपनी इतर पंक्तियाँ साहित्य के पृष्ठों में रख गया हो जिस तरह शुक्लजी छायावादियों के सम्बन्ध में अपनी ज्ञान-राशि साहित्य की भेंट कर रहे हैं ?

'In the sleep
Little sorrows sit and weep.'

—Blake.

सुप्त सौन्दर्य पर इससे अच्छी उक्ति और क्या होगी ? कितनी कोमल और सुकुमार पंक्तियाँ हैं, जैसे सात ही वर्ष की एक बालिका कुन्द के फूल की तरह डल-बल, बड़ी-बड़ी आँखों से पथिक को देख रही हो। भाषा, सरल दृष्टि, दूर तक पहुँचनेवाली, साफ आईने की तरह तमाम चित्रों को सच्चे रूप में ग्रहण कर लेने-वाली।

अब के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन से दिया गया पं. पद्म-सिंहजी शर्मा का भाषण भी नवीन कवियों के लिए चिर-स्मरणीय और प्राचीन साहित्य मर्मज्ञों के व्यापक ज्ञान का सुरक्षणीय उदाहरण हुआ है। आप रहस्यवाद के परम प्रेमी हैं उसकी खोज में रहते हैं, कहीं मिल जाता है तो भावावेश की दशा में पहुँच जाते हैं, सिर धुनते हैं और मजे ले-लेकर पढ़ते हैं, जी खोलकर दाद देते हैं, दूसरों को सुनाते हैं; पर रहस्यवाद पर लिखते हैं तो उदाहरण नहीं देते। कारण, यह प्राचीन रहस्यवाद है जो उन्हें पसन्द है; हिन्दी की नवीन रचनाओं में ऐसा रहस्यवाद कम पैसे में पाई से भी बहुत कम सो भी कभी किसी की रचना में उन्हें मिला है और वह भी उस दर्जे का नहीं जैसा उर्दू में तसव्वुफ़ का रंग है। आप हिन्दी में उच्च कोटि के हृदयस्पर्शी रहस्यवाद के इच्छुक हैं, इस कच-कुच-स्पर्शी रहस्यवाद के नहीं। पहेलियों से बेशक पहलू बचाते हैं। और कागज के पत्ते को पारिजात का फूल नहीं कहते। आजकल के नवयुवक कवियों की रचनाएँ बिलकुल निस्सार होती हैं या विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार अपने पिछले समय की कविताओं से अधिक पूर्णता लिये हुए होती हैं, इस पर कई विद्वान अधिकारियों ने हिन्दी के मासिक साहित्य में प्रकाश डाला है, और यद्यपि इनके प्रबन्ध पं. पद्म-सिंहजी के भाषण लिखने के बहुत पहले ही निकल चुके थे फिर भी विद्वान शर्माजी ने इनके प्रबन्धों पर विशेषरूप से विचार करने का श्रम-स्वीकार नहीं किया, यह शायद इसलिए कि ये लोग अंग्रेजी और हिन्दी आदि के विद्वान् हैं और शर्माजी संस्कृत, फारसी, हिन्दी आदि के। विचारों का मतभेद भी ध्यान न देने का एक दूसरा कारण हो सकता है। कुछ हो, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सर्वोच्च आसन से दिया गया भाषण और वह भी इकतरफा—केवल हिन्दी की कविता की ओर झुका हुआ, क्या प्राचीन कविता-प्रेमियों को प्रसन्न करने के लिए ही दिया गया था ? मैं तो जिस तरह हिन्दी की सीमा को विस्तार देने की कल्पनाएँ किया करता हूँ, उसी तरह उसके सम्मेलन के सभापति के विचारों को भी पूर्व-काल की रत्न-

राशियों से दूसरे को चमत्कृत कर देनेवाला, अक्षय अनादि रहस्य में डूबे हुए, महान तथा ऐश्वर्ययुक्त समझता रहा हूँ। अकबर और हाली की जिन उक्तियों से आज-कल की कविता पर शिक्षा का प्राणहीन शव आपने रक्खा है, आप अवश्य नहीं जानते, उन उक्तियों की तुलना में आजकल के कवियों की उक्तियाँ बहुत आगे चली गयी हैं, उस शिक्षा से उन्हें लाभ तो हुआ ही नहीं बल्कि आप ही के वर्तमान साहित्य के ज्ञान की ढकी हुई मर्यादा प्रकाश में आयी है। आपको पैसे में पाई से भी कम रहस्यवाद मिला तो इससे न मुझे लोभ है न ईर्ष्या; बल्कि दुःख है कि उस एक पाई की पूँजी आपने अपने भाषण में किसी तरह भी नहीं जाहिर की, ज़रा हम लोग भी देख लेते कि आपने पाई को ही पाई समझा है या किसी 'गिनी' को 1927-29 की टकसाल से निकली हुई नयी पाई समझ बैठे हैं। नये कवियों को इस तरह शिक्षा तो आपने खूब ही दी पर उनकी एक पाई—रहस्यवाद—वाली कविता की एक पंक्ति भी नहीं रक्खी। ऊपर से और एक बोझ रख दिया—

मगर एक इल्तमास इन नौजवानों से मैं करता हूँ।
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गों का अदब सीखें॥ —अकबर

जिन पंक्तियों के बाद, वर्त्तमान रहस्यवाद या छायावाद को इसी तरह समझते हुए, आपने अकबर का यह उद्धरण दिया है उस जगह आपकी समझ को देखते हुए यदि गोस्वामी तुलसीदासजी का यह पद—

"पिता तज्यो प्रह्लाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।
गुरु बलि तज्यो नाह ब्रज-बनितन भइ जग मंगलकारी॥"

रख दिया जाय तो कैसा वसूल हो, ज़रा हृदय पर हाथ रखकर बतलाइए। क्या तुलसीदासजी का यह जवाब उन्हीं बुजुर्गों के लिए नहीं था जो नाकाबिल समझे गये थे? और हाली की उक्तियों को हर जगह जो आपने हलाल किया है, क्या आप जानते हैं—प्राचीनता के रंग-रूप से ये नौजवान कहाँ तक परिचय रखते हैं?

शर्माजी जैसे संस्कृत-साहित्य के पारदर्शी विद्वान्, सरल, मधुरभाषी, प्रसन्न-मुख, स्नेहशील, सहृदय, यथार्थ काव्य मर्मज्ञ के प्रति मेरी यथेष्ट श्रद्धा है! देखकर जी चाहता है, उनकी सेवा करूँ, उन्हें प्रसन्न करूँ। उनकी तरह बिना किसी कारण के स्नेह करनेवाले आचार्य हिन्दी में दो ही चार मुश्किल से होंगे। उनके प्रति प्रतिकूल लिखकर मैं दुःखी हुआ हूँ। मुझे विश्वास है जल्दी में शर्माजी ने कुछ कल्पनाओं के आधार पर ही अनर्गल लिख डाला है। यदि उन्हें वर्तमान कविता की कुछ अच्छी पंक्तियाँ मिलतीं तो प्राचीनता के प्रेमी अपने समसामयिक मित्रों को प्रसन्न रखने पर भी हिन्दी की नवीन प्रगति पर वे ऐसा हरगिज न लिखते। 'पल्लव' और 'वीणा' के प्रति उन्होंने जो कटाक्ष किया है वह शायद 'पल्लव' की केवल भूमिका पढ़कर और ब्रजवाणी के प्रति विशेष प्रेम रखने के कारण। 'पल्लव' की इस तरह की पंक्तियाँ शायद उन्होंने नहीं देखीं—

"काल का अकरुण भृकुटि-विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु-पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास!"

"एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल-प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर !
भूमि चूम जाते अग्र-ध्वज सौध, श्रृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य भूति के मेघाडम्बर !
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षि-पोतों-से उडगन !
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध-भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन !"

"जननि, श्याम की वंशी-से ही कर दे मेरे सरस वचन,
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें बोलूँ अधिक मधुर मोहन;
जो अकर्ण अहि को भी सहसा कर दे मन्त्र मुग्ध नत-फन
रोम-रोम के छिद्रों से वह फूटे तेरा राग गहन।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

एक उद्धरण प्रसादजी की चार पंक्तियों का देता हूँ—

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी-होड़ लगाई ॥"

किसी वाद-विवाद को जगह न देकर शर्माजी देखें ये पंक्तियाँ किस लक्ष्य पर पहुँचकर ठहरती हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-मित्रों से निमन्त्रण पाने पर वहाँ रहस्यवाद के सम्बन्ध में मैंने अपने साधारण भाषण में जो कुछ कहा था, यहाँ उसका मर्म लिख दूँ तो शायद अनुचित न होगा। 'रहस्य' तब तक रहस्य है जब तक अच्छी तरह समझ में न आये। 'रहस्य' जो कबीर ने लिखा है, साधारण जनों के लिए जो अध्यात्म तत्व नहीं समझते, रहस्य है, पर कबीर की दृष्टि में वह रहस्य न था; साधारण सत्य था। इन्द्रजाल उन्हीं के लिए इन्द्रजाल है जो इन्द्रजाल नहीं जानते, जाननेवाले के लिए साधारण-सत्य है। देहातियों—अपढ़ मूर्खों ही की समझ में—**"अस्सी मन का लकड़ा उस पर बैठा मकड़ा; रत्ती-रत्ती खाय तो कितने दिन में खाय"**, जैसा सवाल 'रहस्य' पैदा करनेवाला, कभी न सुलझनेवाला है, पर जब सोम दर्जे का विद्यार्थी-बालक इसे लगाकर बता देता है तब उसके वयो-ज्येष्ठ सधऊ काका 'चल चल, कल का जोगी, चला पुजाने' कहकर अपनी उम्र की बड़ाई से लड़के की अक्ल को बेदखल करते हुए चले जाते हैं, तब भी उन्हें विश्वास नहीं होता कि लड़के का उत्तर ठीक है। वे तो उस सवाल को महाकूट समझे हुए हैं। इसी तरह आजकल के सधऊ काका कम-उम्रवाले लड़कों के रहस्य-वाद से प्रसन्न तो हो ही नहीं सकते, कारण उस तरह उनकी सत्ता ही मिटी जाती है, किन्तु अपना अन्ध अविश्वास जो उन्हीं के अज्ञान से पैदा हुआ है, ऊपरी आवरण की तरह छोड़ जाते हैं, जिससे हिन्दी के साधारण विद्यार्थियों को विशेषतः

हानि ही पहुँचती है—

"नैया-बिच नदिया डूबी जाय'—

यहाँ कुछ चतुर साहित्यिक 'बिच' का सम्बन्ध 'नैया' से छुड़ाकर 'नदिया' से कर देते हैं—"नैया, बिच-नदिया डूबी जाय।" इस तरह अब वह सत्य की अलंकारोक्ति नहीं रह गयी, साधारण सत्य हो गया जिसे साधारण लोग अक्सर देखते हैं, यानी नाव में नदी का डूबना साधारण जन असत्य मानते हैं क्योंकि ऐसा कभी उन्होंने देखा नहीं, न सुना ही है; पर नदी में नाव का डूबना सब लोग समझते हैं; इसके बाद फिर चतुर साहित्यिक चाहे जैसी टीका करें। परन्तु यह प्रोफेसर श्रेणी के लोगों की बात हुई जिनकी जीविका है किसी तरह लड़कों को सन्तोषप्रद उत्तर दे देना। सत्य यहाँ और है। उससे नाव में ही नदी डूबती है। और इस असंगत उक्ति में आध्यात्मिक संगति दिखलायी जाती है। यहाँ नाव है शरीर और नदी है—'The stream of knowledge, truth and Bliss' ज्ञान, सत्य, प्रेम या ईश, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'The Song of Sanyasin' में कहा है। उस ज्ञान-रूपी नदी का प्रवाह जीव-शरीर-रूपी नाव में हमेशा हर वक्त रहा है। कबीर की इस उक्ति का यही अर्थ है। **'ततः क्षेत्रिकवत्'** से खेत में नालियों द्वारा पानी भरने की उक्ति से, इसी सत्य की पुष्टि भगवान पतंजलि ने अपने राजयोग में की है। भगवान श्रीरामकृष्ण अपनी साधारण भाषा में कहते हैं—"सबके भीतर एक ही रुई है, सब तकियों के आवरण और-और हैं।" (यानी सब नावों में एक ही नदी डूबती है, पर नावें विभिन्न आकार-प्रकार की हैं।) देखिए कबीर की यह उक्ति अब रहस्य नहीं रह गयी। अब यह एक साधारण सत्य है, जिस तरह नदी में नाव का डूबना एक साधारण सत्य था, साधारण लोगों की दृष्टि में। यहाँ रहस्यवाद को केवल एक साधारण सत्य कहकर मैं केवल यह बतलाना चाहता हूँ कि कविता की जो अनेकानेक परिभाषाएँ हुई हैं, अनेक नामरूप जो दिये गये हैं, वे विभागात्मक ही हैं। उनसे कविता के व्यापक स्वरूप का निर्णय नहीं होता। जैसे रहस्यवाद का रहस्य समझ लेने पर फिर वह रहस्य नहीं रह जाता, सत्य के रूप में वहाँ एक अच्छी कविता ही रहती है।

मेरी दृष्टि में रहस्यवाद एक अच्छी कविता, मनुष्य-मन की उत्तम कृति के सिवा कुछ नहीं। जिस तरह लक्ष्मी का वाहन उल्लू बनाकर प्राचीन चित्रकारों ने धनवानों की खिल्ली उड़ायी—यानी लक्ष्मी या ऐश्वर्य जिसके पास हो वह उल्लू की ही तरह अक्लमन्द है कि उसे प्रकाश नहीं सूझता, वह अँधेरे में देखता है। (जिसके पास धन हो वह 'आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा'—कहावत चरितार्थ करनेवाला उल्लू होता है।) और उन चित्रकारों के चित्र का प्रभाव भी (इस छायावादी या रहस्यवादी चित्र का प्रभाव) ऐसा पड़ा कि आजकल भी भारतवर्ष के तमाम धनी महाशय लक्ष्मी की मूर्ति तैयार कराते हैं तो अपने प्रतिनिधि उल्लू को भी वाहन के रूप में उस मूर्ति के नीचे बैठा देते हैं। यह नहीं समझते कि ये हमारे प्रतिनिधि हैं और इस पूजन में हमारी ही बदनामी होती है; वे यथार्थतः उल्लू को लक्ष्मी का वाहन ही समझ बैठे हैं। उसी तरह वाणी के वाहन राजहंसों का हाल है। जो नीर-क्षीर विवेक रखते हैं, जिनकी आत्म-दृष्टि

विकसित हो चुकी है वे तो इस रहस्यवादी चित्र की तरह साहित्य की तमाम शाखाओं का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। पर जिनके लिए **'भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य'** कहा गया है, वे बेचारे उन्हीं लक्ष्मी के वाहनों की तरह अपनी बुनियादी चाल पर चलते जाते हैं और चित्र, काव्य तथा साहित्य के ऊपरी अंगों का निरीक्षण प्रकाश में न कर अन्धकार में अपने मनमाने ढंग से करते हैं। इनके लिए किसी वाद को विवाद के रूप में खड़ा कर देना (कारण 'वाद' ही 'विवाद' हुआ है और अब तक 'विवाद' ही आगे चलकर 'वाद') निहायत आसान बात है। और यदि हमारे बुजुर्ग सरस्वती के वाहन, राजहंसगण क्षीर-नीर विवेक छोड़कर 'चन्दन-भारवाही' बनकर वही 'गुरुता' हमारे ऊपर रखना चाहते हैं तो अवश्य ऐसे बुजुर्गों का अदब करने से हम अपने को भरसक बचायेंगे। क्योंकि चन्दन भले ही हो, हम भारवाही होने से बहुत घबराते हैं।

रहस्यवाद और छायावाद पर अभी हमें और लिखना है। इधर कैफियत में ही लेख बढ़ गया। अतएव फिर—

['साहित्य-समालोचक', द्वैमासिक, लखनऊ, ज्येष्ठ-आषाढ़, संवत् 1985 (वि.) (मई-जून और जून-जुलाई, 1928)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

विद्यापति और चण्डिदास
(तुलनात्मक आलोचना)

बंगाल के आदि-कवि, कविकुल-चूड़ामणि श्रीचण्डिदास के जीवन-वृत्तान्त पर 'सुधा' में हम, संक्षेप में, लिख चुके हैं। यहाँ इस तुलनात्मक समालोचना से पहले मिथिला-कोकिल, महाकवि विद्यापति की भी कुछ जीवन-घटनाओं का हम उसी तरह उल्लेख कर देना चाहते हैं।

विद्यापति मिथिला-निवासी थे। वैष्णव-महाजन-पदावली के संग्रहकार ने लिखा है—यह महाराज शिवसिंह के सभा-पण्डित थे। इन्होंने अपनी पदावली की रचना मिथिला की प्रचलित अपनी मातृभाषा में ही की है। इनकी लिपि भी मिथिला की प्रचलित लिपि थी। पद-रचना में इन्होंने मिथिला के उच्चारण की अनुकूलता की है। हिन्दी के पाठक इनकी पदावली कहीं-कहीं साफ नहीं पढ़ सकते। कारण, उसका उच्चारण हिन्दी के उच्चारण से पृथक्, कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ के भेद से रहित-सा है। उनके पढ़ते समय छन्दोभंग हो जाता है, वे स्वर-लड़ी बराबर नहीं रख सकते। यदि किसी को किसी मिथिला-निवासी के मुख से विद्यापति की पदावली सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, तो उसे मालूम हुआ होगा कि मैथिल-उच्चारण के सुखद प्रवाह में पदावली के अर्थरत्न किस तरह धुलकर उज्ज्वल हो

उठते हैं।

विद्यापति की लिखी हुई पुस्तकों से पता चलता है कि उन्हें पाँच उपाधियाँ प्राप्त थीं—(1) कविशेखर, (2) दशावधान, (3) कविकण्ठहार, (4) पंचानन, (5) अभिनव जयदेव। हम लिख चुके हैं कि विद्यापति दरबारी कवि थे। प्रतिदिन यथासमय उन्हें दरबार में हाजिर होना पड़ता था। दरबार की कार्य-समाप्ति के पश्चात् घर में लौटकर उस समय की प्रचलित गुरुकुल-प्रथा के अनुसार वह अध्यापक का कार्य करते थे। विद्यापति संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। अनेक देशों के छात्र उनके पास अध्ययन के लिए आते थे। छात्रों को भोजन-वस्त्र देकर हृदय की सम्पूर्ण प्रीति से वह उन्हें पढ़ाया करते थे। उन्होंने कभी किसी छात्र से धन नहीं लिया। उनकी सभी शास्त्रों में गति थी। उनके विद्यार्थी भी भिन्न-भिन्न विषयों के अध्ययन की इच्छा से उनके पास आते थे। प्रत्येक विद्यार्थी उन्हें अपने विषय का पारदर्शी विद्वान् मानता था। उसके हृदय में उसके विषय के इनके ज्ञान की ऐसी ही छाप पड़ जाती थी।

विद्यापति कवि-प्रतिभा में कालिदास, श्रीहर्ष, शेली और शेक्सपियर से किसी तरह भी घट कर न थे। महाकवि की कृतियों में जो गुण होने चाहिए वे सब इनकी सरस पदावली में मौजूद हैं। इनकी कवि-प्रतिभा का एक प्रमाण यहाँ दिया जाता है। यही यथेष्ट होगा। जब दिल्ली के बादशाह, महाराज शिवसिंह को कैद कर अपनी राजधानी ले गये, और उन्हें चिरकाल के लिए कारावरुद्ध कर रखने का विचार किया, तो उस समय अपने स्वामी की दयनीय दशा से क्षुब्ध होकर महाकवि विद्यापति भी दिल्ली पहुँचे, और मादक रचनाओं से सम्राट् को मुग्ध कर अपने महाराज की मुक्ति करा ली। यह कितनी बड़ी शक्ति का परिचय है, कितनी महान् प्रतिभा का प्रकाश है। दूसरे जबरदस्त व्यक्तित्ववाले को अपनी स्वर्गीय शक्ति से मुग्ध करके उसके व्यक्तित्व को छीन लेना, उससे अपना अभिप्राय पूरा करा लेना कोई साधारण-सी बात नहीं।

विद्यापति के सम्बन्ध में कुछ लोग तो कहते हैं कि वह वैष्णव थे, और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं, वह शैव थे। विद्यापति के पूर्वपुरुषों के जो नाम—धीरेश्वर, वीरेश्वर, चण्डेश्वर आदि—मिलते हैं, उनको देखते अनुमान होता है कि वंश-परम्परा से वह शैव ही थे। परन्तु उन्हें दूसरे देवों और देवियों से द्वेष भी न था। पदावली में तो उन्होंने राधा-कृष्ण की ही विशेषरूप से उपासना की है। भगवान् श्रीरामचन्द्र के भी वह बड़े भक्त थे। उन्होंने मिथिला में कई शिव-मन्दिरों की प्रतिष्ठा की। उनकी कुलदेवी विश्वेश्वरी थीं। इनके मन्दिर की भी उन्होंने उचित रीति से प्रतिष्ठा की। वह बिसपी-गाँव के रहनेवाले थे। कहते हैं, इस गाँव के उत्तर तरफ भेड़वा-नामक स्थान में स्थापित बाणेश्वरलिंग की वह प्रतिदिन पूजा करने जाया करते थे। अन्त में उनका देहावसान वाजिदपुर में हुआ और इस जगह भी एक शिव-मन्दिर की स्थापना करायी गयी।

कहते हैं, विद्यापति की भगवान् भूतनाथ पर अचल भक्ति थी। ये पूजा करते समय तन्मय हो जाया करते थे। उस समय उन्हें अपने शरीर का बिलकुल ही ज्ञान न रहता था। इस अपूर्व तन्मयता के कारण ही वह इतने बड़े

और सफल कवि हो सके। उपासना द्वारा जो सूक्ष्म बुद्धि, स्थिरता और विषय-प्रवेश की शक्ति इन्होंने अर्जित की, वह इनकी कविता के भीतर से खूब प्रकट हुई। बुद्धि जब परिपक्व हो जाती है, उस समय इसे चाहे जिस तरफ झुकाइए, यह अलौकिक शक्ति अद्‌भुत फल-प्रसव करती है। कर्मयोग से सिद्धि की प्राप्ति का यही रहस्य है; यही योगियों की साधना कहलाती है।

लोकोक्ति है कि साक्षात् महादेव इनके भृत्य के रूप से इनकी सेवा किया करते थे। इनके एक नौकर था। उसे उगना कहते थे। कहते हैं, यह उगना भगवान् भूतनाथ थे। विद्यापति को यह खबर न थी कि नौकर के रूप में साक्षात् इष्टदेव उनके घर में विराजमान हो रहे हैं। एक बार विद्यापति को किसी दूसरे गाँव जाना पड़ा। इन्होंने अपने नौकर उगना को साथ ले लिया। रास्ते में इन्हें प्यास लगी, गला सूखने लगा। इन्होंने उगना से पानी ले आने के लिए कहा। उगना के सिर पर जटाएँ थीं। विद्यापति की नजर बचाकर जटाओं से उसने पानी निचोड़ा और पात्र भरकर विद्यापति को पीने के लिए दिया। जल पीने पर विद्यापति को बड़ा ही सन्तोष हुआ। उन्होंने उगना से कहा, "उगना, यह तो गंगाजल है। यहाँ तो कहीं गंगा का नामोनिशान भी नहीं। यह पानी तुझे कहाँ मिल गया?—चल, मुझे वह जगह दिखा, जहाँ तुझे यह पानी मिला है।" उगना बड़े संकट में पड़ा। स्वामी के प्रश्न का उसने कुछ भी उत्तर न दिया, चुपचाप खड़ा रहा। उधर विद्यापति भी छोड़नेवाले मनुष्य न थे, बार-बार पूछने लगे। उगना ने बचने का कोई उपाय न देखकर कहा, "मैं साक्षात् महादेव हूँ। तुम्हारी भक्ति से सन्तुष्ट होकर मैंने तुम्हारी सेवा स्वीकार की है। अब एक बात याद रखना। जब तक तुम दूसरे से मेरा हाल न कहोगे, मैं तुम्हारे यहाँ इसी तरह रहूँगा। बात जाहिर हुई कि मैंने तुम्हारा घर छोड़ा।" विद्यापति ने उगना की आज्ञा स्वीकार कर ली। उगना उसी तरह विद्यापति के यहाँ रहता रहा। उगना के प्रति विद्यापति की गुप्त श्रद्धा बढ़ चली। वह देवादिदेव का संग पाकर सदा प्रसन्न रहने लगे।

विद्यापति की पत्नी कुछ उग्र स्वभाव की थीं। एक दिन उन्होंने उगना से कोई चीज ले आने के लिए कहा। उगना आदेश-पालन के लिए चला गया। परन्तु उसे लौटने में कुछ देर हो गयी। तब तक विद्यापति की सहधर्मिणी के क्रोध का पारा कई डिगरी चढ़ गया। उन्होंने एक छड़ी लेकर उगना की मरम्मत करना शुरू कर दिया। दूर से यह देखकर विद्यापति दौड़े। उगना के प्रति प्रेम के कारण उन्हें पूर्वकृत प्रतिज्ञा याद न रही। उन्होंने पत्नी को तिरस्कार करते हुए उच्च स्वर से कहा, "अरे, यह क्या करती हो? किसे मारती हो? साक्षात् शिव के अंग पर प्रहार न करो। उगना मनुष्य नहीं है, यह छद्मवेशी साक्षात् महादेव हैं।" बस, विद्यापति की जबान से ये शब्द निकले नहीं कि उगना अन्तर्द्धान हो गया। विद्यापति को बहुत काल तक उगना के न रहने का शोक रहा। अन्त में शिव के प्रसाद से उन्हें मानसिक शान्ति मिली।

वैष्णव महाजन-पदावली के संग्रहकार लिखते हैं—विद्यापति ने किस समय से पदावली की रचना आरम्भ की, यह नहीं बतलाया जा सकता। प्रयत्न करने पर भी उनके रचना-काल का यथार्थ-निर्णय नहीं हो सका। केवल इतना ही कहा

जा सकता है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ राजा शिवसिंह के राज्यकाल में ही हुई हैं। विद्यापति के जन्म और मृत्यु के सन्-संवत् का भी ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं लगा। मिथिला की कुल-पंजिका में प्रत्येक वंश के परम्परा क्रम से नाम मात्र मिलते हैं—उनके जन्म और मृत्यु का सन्-संवत् नहीं मिलता। कहते हैं, विद्यापति ने मैथिलभाषा की सरस रचना अपनी तरुणावस्था में की थी। उम्र के बढ़ने पर उन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की। गंगा पर लिखी गयी कविशेखर की पदावली उनकी वृद्धावस्था की कृति मालूम पड़ती है।

कविशेखर की मधुर पदावलियों को मनोनिवेशपूर्वक पढ़िए, तो सहज ही मालूम हो जाता है कि वह कल्पना की अत्युच्च भूमि पर विचरण करनेवाले महान् से भी महान् थे। उनमें रस-ग्रहण की अद्भुत शक्ति थी। भावुकता के विचार से भी उनका आसन बहुत ऊँचा है। शृंगार में इतनी सूक्ष्मदर्शिता, इतनी सरस वर्णना मैंने बहुत कम देखी है। शैशव और यौवन के सन्धि-स्थल पर लिखते हुए कविशेखर ने कितनी सूक्ष्मदर्शिता दिखलायी है, देखिए—

"शैशव-यौवन दुहुँ मिलि गेल;
श्रवणक पथ दुहुँ लोचन नेल।
वचनक चातुरी लहु-लहु हास;
धरणिम चाँद करत परकास।
मुकुर लेइ अब करत सिंगार;
सखिरे पूछइ कइसे सुरत-विहार।
निरजने उरज हेरइ कत बेरि;
हासत अपन पयोधर हेरि।"

शैशव और यौवन की सन्धि, लोचनों का आकर्ण विस्तार, वाक्य-चातुरी, लघु-लघु हास्य, धरा पर चाँद पर का प्रकाश, मुकुर लेकर शृंगार करना, प्यारी सखी से सुरत-विहार की बात पूछकर स्वाभाविक यौवन-चांचल्य प्रकट करना इत्यादि से यौवनोन्मेष की स्वाभाविक तरलता कविशेखर की कुशल लेखनी ने कितनी सरलता से ढाल दी है। इसी सम्बन्ध में और भी—

"दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन;
वाढ़ल नितँब माझ भेल खीन।"

"खने-खने नयन-कोन अनुसरई;
खने-खने वसन-धूलि तनु भरई।
खने-खने दसन छटाछट हास;
खने-खने अधर-आगे करु वास।
चौंकि चलय खने खने चलु मन्द;
मनमथ-पाठ पहिल अनुबन्ध
हृदयज मुकुलि हेरि थोर थोर;
खने आँचर देइ, खने होय भोर।"

"कबहुँ बाँधय कच, कबहुँ बिथारि;
कबहुँ झाँपय अंग, कबहुँ उघारि ।
धीर नयान अथिर कछु भेल;
उरज-उदय-थल नालिम देल ।
चरण चंचल, चित चंचल भान;
जागल मनसिज मुदित नयान ।"

शैशव और यौवन, दोनों का कविशेखर ने एक साथ ही वर्णन किया है । कभी यौवन की छटा दिखाते हैं, कभी शैशव की चंचलता । 'खने-खने नयन-कोन अनुसरई' यह यौवन की चहल-पहल है, और इसके बाद ही 'खने-खने वसन-धूलि तनु भरई' यह शैशव की क्रीड़ा है । तरुणी के स्वभाव का कितना सुन्दर, हृदयग्राही चित्र खींचा है ! 'चौंकि चलय खने-खने चलु मन्द' यह जो शैशव और यौवन की आँखमिचौनी हो रही है, इसका कारण कवि-कोकिल खुद ही कहते हैं— 'मन्मथ-पाठ पहिल अनुबन्ध', 'कबहुँ बाँधय कच, कबहुँ बिथारि । कबहुँ झाँपय अंग, कबहुँ उघारि' यह तरुणी की स्वभाव-सिद्ध चंचलता है । कितनी सरल भाषा और कितनी सूक्ष्मदर्शिता !

वह वर्णना कविशेखर की सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दे रही थी, वह उनकी सुकुमार अवयव-वर्णना थी । अब ज़रा इसी विषय पर उनकी भावुकता भी देखिए—

"कि अेर नव-यौवन-अभिरामा ।
जत देखल तत कहइ न पारिय,
छओ अनुपम इकठामा ।
हरिण, इंदु, अरविंद, करिनि, हिम,
पिक बूझ-अ अनुमानी;
नयन, वदन, परिमल, गति, तनु-रुचि,
औ अति सुललित बानी ।
कुचयुग उपर चिकुर खुलि पसरल,
ता अरुझायल हारा;
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल,
चाँद बिहन सब तारा ।
लोल कपोल ललित माल कुण्डल,
अधर-बिम्ब अध आई;
भौंह-भमर, नासा-पुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई ।
भनइ विद्यापति से वर नागरि,
आन न पावय कोई;
कंसदलन, नारायण, सुन्दर
तसु रंगिनि पए होई ।"

नवयौवनाभिरामा कामिनी पर कवि की उक्तियाँ कितनी सुकुमार, कितनी

हृदयहारिणी हैं। कवि उस नवयौवनाभिरामा वामा के जिस किसी अंग को देखता है, थक जाता है। कहता है, मैं वर्णन न कर सकूँगा। हद है। कवि की यह उक्ति उस वामा को मानो और भी सुन्दर कर देती है, उसमें और आकर्षण भर देती है। और, अपने न कह सकने का कारण भी कवि बतलाता है। कहता है, वहाँ छहों अनुपम एकत्र विराजमान हैं। मैं अनुपम की उपमान-उपमेय से कैसे वर्णना करूँ? कामिनी को लावण्य देनेवाले ये छहों अनुपम हैं—हरिण, इन्दु, अरविन्द, करिणी, हिम और पिक। हरिण से नयन, इन्दु से मुख, अरविन्द से परिमल (अंग-सुगन्ध), करिणी से गति, हिम से तनु-रुचि और पिक से नवयौवना कामिनी की सुललित वाणी की वर्णना की। कितना साफ निबाह है। गुणी और गुण का क्रम नहीं बिगड़ने पाया। फिर कठिन कुचों पर चिकुर-जाल खुलकर प्रसरित हो गये, और उनमें हृदय का हार उलझ गया। पसरल और अरुझायल शब्द-सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। कुचों पर बालों से हार के उलझने की कितनी सुन्दर चुभती हुई उपमा दी है, जैसे सुमेरु-शिखर पर (बिना चाँदवाली रात को) सब तारे उगे हुए हों। अपर पंक्तियाँ भी सरल और ऐसी ही सरस आयी हैं।

कहते हैं, कविशेखर विद्यापति की कविकुल-चूड़ामणि चण्डिदास से घनिष्ठ मैत्री थी। इन दोनों महाकवियों में परस्पर कविता में पत्र-व्यवहार भी हुआ करता था। ये दोनों एक ही समय के कवि थे। कविशेखर विद्यापति और भावुक-शिरोमणि चण्डिदास में किसका दरजा बड़ा है, इस प्रसंग पर बहुत-सी बातें विचार के लिए सामने आती हैं। अवश्य बड़े-छोटे का निर्णय यदि इस उपर्युक्त विवेचन से हो सकता है, तो पाठक स्वयं कर लें, मेरी दृष्टि में भावुकता और सरसता दोनों में पर्याप्त है। काव्य में जब विद्वत्ता की छानबीन की जायेगी, उस समय कविशेखर विद्यापति की रचना अधिक प्रौढ़ और अधिक प्रांजल ठहरेगी। विद्यापति विचार के सब भुजों में आ सकते हैं, और बड़ी खूबी से परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे। उनकी सौन्दर्य-पर्यवेक्षण की वर्णना जितनी पुष्ट है, भावुकता भी उतनी ही प्रबल है। चण्डिदास में भावुकता की ही मात्रा अधिक मिलती है। कविशेखर विद्यापति कविता के कलावन्त भी हैं। श्रीहर्ष की तरह और कालिदास की तरह भावुक भी, परन्तु चण्डिदास में कविता की कारीगरी उतनी नहीं, जितनी उनकी भावुकता प्रबल है। भावुकता या आवेश में ही कला के अनमोल रत्न उनकी लेखनी से निकले हैं; उन्होंने ज्ञात-भाव से कविता की (उच्चकोटि की) कारीगरी नहीं की। शायद वह इस तरह कर भी न सकते। कारण, उनकी पदावली के पाठ से जान पड़ता है, वह बहुत बड़े विद्वान् न थे। परन्तु विद्यापति की विद्वत्ता के प्रमाण जगह-जगह उनकी पंक्तियों से मिल जाते हैं। बंगाल के प्रचलित कीर्तन के स्वर में चण्डिदास की तमाम पदावली आ जाती है। उनकी कृति संगीतमय है; स्वर ही उसके प्राण हैं। परन्तु विद्यापति में संगीत भी है, और वर्णात्मक पाठ-सुख भी। चण्डिदास में आवेश अधिक है, और विद्यापति में धैर्यपूर्वक सौन्दर्य-निरीक्षण। एक बार मैंने वंगीय साहित्य-परिषद् (पत्रिका) में किसी बंगाली समालोचक का लिखा हुआ लेख पढ़ा था। उन्होंने उस समालोचना में चण्डिदास को विद्यापति से विशेष श्रेय दिया था। सम्भव है, बंगाली होने के कारण चण्डिदास में उन्हें विशेष माधुर्य मिला

हो। उन्होंने विद्यापति की भी कम प्रशंसा नहीं की थी। विद्यापति में कविता के मुख्य दोनों गुण थे। वह सौन्दर्य के द्रष्टा भी जबर्दस्त थे, और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे, और फिर इच्छानुसार उससे मिलकर एक भी हो जाय। चण्डिदास में केवल तन्मयता की ही शक्ति परिस्फुट हो सकी है। इसका निश्चय दोनों कवियों के विषय-निर्वाचन को देखने पर और दृढ़ हो जाता है। कविशेखर विद्यापति की पदावली का आरम्भ होता है 'राधा की वय:सन्धि' के शीर्षक से और कविवर चण्डिदास की पदावली का 'नायिकार पूर्वराग' के शीर्षक से श्रीगणेश होता है। देखिए, विद्यापति के शीर्षक से जाहिर है, कवि शैशव और यौवन के सन्धिकाल का परिदर्शक हो रहा है, और चण्डिदास के शीर्षक से यौवन की भावुकता और आवेश आदि जाहिर हैं। यहाँ पूर्वलिखित दोनों के स्वभाव-वैचित्र्य का हमें अच्छा प्रमाण मिल जाता है। श्रीराधा के पूर्वराग पर कविवर चण्डिदास लिखते हैं—

"यमुना जाइया श्यामेरे देखिया,
घरे आइलो विनोदनी;
बिरले बसिया काँदिया-काँदिया,
धेयाय श्याम-रूप खानि।
निज करोपर राखिया कपोल,
महायोगिनीर पारा;
ओ दुटी नयाने बहिछे सघने,
श्रावण मेघेरि धारा।
हेन काले तथा आइल ललिता,
राइ देखिबार तरे;
से दशा देखिया व्यथित होइया,
तुलिया लइल करे।
निज वास दिया मुछिया पूछए,
मधुर - मधुर वाणी;
आजु केन धनि होयछ एमनि,
कहना कि लागि सुनि।
अजनम सुखे, हासि विधुमुखे,
कभू ना हेरए आन;
अजु केन बोली, काँदिया व्याकुल,
केमन करिछे प्रान।
चाँचर चिकुर, कभू ना सम्बर,
केने होइल अगेयान;
चण्डिदास कहे, बेझेछे हृदये,
श्यामेर पिरीत - बान।"

अर्थ : तरल स्वभाववाली विनोद-प्रिय राधा (जल भरने के लिए) यमुना

गयी थीं। वहाँ से श्याम को देखकर जब से लौटी हैं, एकान्त में ही वह समय काटती हैं। वहीं बैठी हुई वह श्याम को मानस नेत्रों से देखतीं और चुपचाप आँसू बहाया करती हैं। अपने कर-तल पर अपना कपोल रक्खे हुए, जैसे कोई महायोगिनी बैठी हुई ध्यान कर रही हो। नेत्र श्रावण के मेघ की धारा बहा रहे हैं। ऐसे समय उसे देखने के लिए वहाँ उसकी सखी ललिता गयी। उसकी वह दशा देखकर उसे भी इतनी व्यथा हुई कि उसने राधिका को अपनी गोद में उठा लिया। अपने अंचल से उसके आँसू पोंछकर सहृदय वाणी में पूछती है--क्यों सखी, आज तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हो रही है? तुम्हारा तमाम जीवन तो सुख में ही बीता है, यह चाँद-सा मुख सदा हँसता ही रहा है, कभी मैंने कोई दूसरा भाव नहीं देखा। भला आज क्यों रोती हुई इतनी व्याकुल हो रही हो? तुम्हारी यह दशा देखकर मेरे भी प्राण व्याकुल हो रहे हैं। न जाने कौन हृदय को मल रहा है। तुम्हें इतना भी होश नहीं रहा कि तुम अपने वस्त्र तथा बालों को सँभालो। अरे, तुम इतनी अज्ञान हो गयीं। चण्डिदास कहते हैं, हृदय में श्याम की प्रीति का बाण चुभ गया है।

इन पंक्तियों में सरसता का समुद्र लहरा रहा है। भावुक कवि राधिका के पूर्वराग में भावुकता को ही परिस्फुट कर रहा है। वह सौन्दर्य नहीं देख रहा। जिस तरह उसके हृदय में आवेश है, उसी तरह राधिका के भी हृदय में। भाषा अत्यन्त ललित, अत्यन्त मधुर, हृदय को पार कर जानेवाली, सौन्दर्य की एक बहुत ही बारीक रेखा हो रही है। पाठकों के हृदय में ऐसी लघु तूलिका फेरती है कि हृदय आप-ही-आप उस लघुता को अपना सर्वस्व दे डालता है! सौन्दर्य की छटा, जैसे चौथ के चाँद की मीठी चाँदनी, न बहुत उज्ज्वल, न बहुत ऐश्वर्यवाली, किन्तु आकर्षक हद से ज्यादा, जैसे तेरह साल की मुकुलित बालिका—न परिपक्व ज्ञान-वाली, न विचारों की शिशु।

भावुकता की मादक-शक्ति विद्यापति में भी है, और बड़ी ही तीव्र, जैसे नागिन का जहर, क्षण-मात्र में शरीर को जर्जर कर देनेवाला। देखिए, उसी विषय पर, राधा के पूर्वराग पर, विद्यापति लिखते हैं—

"ए सखि की पेखनु अपरूप;
सुनइते मानवी सपन स्वरूप।
कमल युगल पर चाँद की माल;
तापर उपजल तरुण तमाल।
तापर बेड़ल बिजुरि - लता;
कालिन्दी-तीर धीर चलि जता।
शाखा-शिखर सुधाकर पाँति;
ताहे नव पल्लव अरुणक भाँति।
विमल बिम्बफल युगल विकास;
तापर कीर भीर करु वास।
तापर चंचल खंजन जोड़;
तापर साँपिनी बेड़ल मोड़।

ए सखि रंगिनि कहह निदान;
पुन हेरइते काहे हरल गेयान।
भनय विद्यापति इह रस भान;
सुपुरुष मरम तुहूँ भल जान।"

कितनी सुन्दर स्वरूप-वर्णना है! राधा इस अनुपम स्वरूप को देखकर अपनी सखी से कहती है—हे सखि, वह इतना सुन्दर है कि अभी मैं जो कहती हूँ, इसे तू स्वप्न ही समझेगी। इस वर्णन के साथ सूरदास का यह पद—

"देखहु एक अनूपम बाग;
युगल कमल पर गजपति क्रीड़त,
तापर सिंह करत अनुराग।"

बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यहाँ इस पद्य में कविशेखर की भावना भी प्रबल है, और सौन्दर्य-दर्शन की भी प्रधानता है। अवश्य चण्डिदास के पद से पूर्वराग में राधिका की जो दशा होती है, विद्यापति के पद में वह दशा नहीं हुई। 'पुन हेरइते काहे हरल गेयान' से राधिका का ज्ञान हर तो जाता है, परन्तु वह होश में है। वह अपनी दशा का वर्णन आप कर रही है। अभी-ही-अभी उसने कृष्ण के स्वरूप को देखा है, आत्मविस्मृत हो चुकी है; परन्तु अभी वह परिदर्शिका बनी हुई है, अपनी हालत समझती और सखी से उसका बयान करती है। यह कला है। यहाँ कविता कला के आधार पर खड़ी है। परन्तु चण्डिदास की नायिका राधिका पूर्वराग से बेहोश है। वह अपने सम्बन्ध में स्वयं कुछ नहीं कहती। जो कुछ कहती है उसकी सखी ललिता कहती है। इस तरह चण्डिदास ने राधिका के भाव की निर्मलता को खूब निबाहा है। भावना इतनी पवित्र है कि प्रिया प्रियतम को प्यार भी करती है, परन्तु शब्दों की प्रगलभता से अपनी चंचलता नहीं जाहिर होने देती। चंचलता भाव की गुरुता का नाश करनेवाली है, स्वभाव में दोष लानेवाली। चण्डिदास इससे बचे हैं। यह इसलिए कि वह पवित्र भावना के आवेश में कविताएँ लिखते थे, कलावन्त कवि न थे। विद्यापति ने कला प्रदर्शित की है। विद्यापति की भावना के पद—

"जनम अवधि हम रूप निहारनु, नयन न तिरपित भेल;
लाख-लाख युग हिये हिया राखनु तऊ हिया जुड़न न गेल।"

बेजोड़ हैं। ये पंक्तियाँ संसार के श्रृंगार-साहित्य में सर्वोत्तम स्थान अधिकृत करने की शक्ति रखती हैं। चण्डिदास में भावना के भीतर से कहीं-कहीं सौन्दर्य-पर्यवेक्षण आया है, और निबाह उसी तरह बड़ा ही साफ उतरा है। भावना-सिद्ध चण्डिदास में आवेश के कारण अश्लीलता नहीं आने पायी। उनकी पंक्तियाँ बड़ी सहृदय हैं। वे प्यार करती हैं, किन्तु अंग नहीं देखतीं, और जब अंग देखती हैं, तब आवेश में तन्मय होकर निष्पाप दृष्टि से—

"सजनि, कि हेरनु, यमुनार कूले;
ब्रजकुलनन्दन, हरिल आमार मन,
त्रिभंग दाड़ायाँ तरुमूले।

गोकुल-नगर माझे आर कत नारी आछे,
ताहे केन जा पड़िल बाधा,
निरमल कुलखानि, जतने रेखेछि आमि,
बाँशी केन बोले राधा-राधा।
मल्लिका-चम्पक-दामे, चूड़ार चालनी बामे,
ताहे शोभे मयूरेर पाखे;
आशे-पाशे धेये-धेये, सुन्दर सौरभ पेये,
अलि उड़ि पड़े लाखे-लाखे।
से कि रे चूड़ार ठाम, केवल जेमन काम,
नाना छाँदे बाँधे पाक मोड़ा;
शिर बेड़ल वैलान जाले, नव गुंजामणि-माले,
चंचल चाँद उपरे जोड़ा।
पायेर उपरे थुये पा, कदम्बे हेलाये गा,
गले शोभे मालतीर माला;
वटु चण्डिदास कय, ना हइल परिचय,
रसेर नागर बड़ काला।

अर्थ : सखि री, यमुना के तट पर मैंने बड़ा ही सुन्दर रूप देखा। तरु के नीचे त्रिभंग खड़े हुए श्रीब्रजविहारी ने मेरा मन हर लिया। सखि, इस गोकुल गाँव में और भी तो बहुत-सी नारियाँ हैं, उन्हें क्यों न कोई बाधा पड़ी ? अपने कुल को बड़े यत्न से मैंने निर्मल रक्खा था; वंशी 'राधा-राधा' कहकर मुझे ही क्यों छेड़ती है ? और उसका रूप, अहा, कितना सुन्दर है ! मल्लिका और चम्पक की मालाओं से शोभित बायीं तरफ झुकाकर बाँधे हुए उसके जूड़े पर मयूर के पंख भी लगे हुए हैं। और मल्लिका के पुष्पसौरभ से इधर-उधर उड़ते हुए लाखों अलि उस पर टूट पड़ते हैं। और जूड़ा भी कितने सुन्दर ढंग से बाँधा है उसने ! कितने ही पेंच ! वह जैसे साक्षात् कामदेव बन रहा हो। जूड़े के पेंच से गुंजों की मालाएँ भी लपेट दी गयी हैं, जैसे ये सब चंचल चाँद के ऊपर लिपटे हुए हों। एक पैर दूसरे पैर के ऊपर रख, कदम्ब के सहारे झुका हुआ खड़ा है; गले में मालती की माला शोभा दे रही है। चण्डिदास कहते हैं, हे सखि, परिचय न हुआ, यह नागर रस का भरा हुआ सागर है।

यह चण्डिदास की स्वरूप-वर्णना है। यहाँ भी वर्णनशक्ति से भावना-शक्ति प्रबल है। राधिका अपनी सखी से जितनी बातें कहती हैं, तन्मय होकर कहती हैं, द्रष्टा की तरह नहीं। चण्डिदास ने नायक की जो स्थिति दिखलायी है—कदम्ब के सहारे झुककर खड़ा हुआ—यह अत्यन्त ही मनोहारिणी हो गयी है। चण्डिदास का कविवर रवीन्द्रनाथ पर बड़ा ही जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ने चण्डिदास से बहुत कुछ लिया है। भावना-प्रकाशन का इनका ढंग भी उन्होंने अपनाया है, और छन्दों की गति भी ग्रहण की है। यहाँ चण्डिदास ने कृष्ण की जो स्थिति दी है, वही 'विजयिनी' में रवीन्द्रनाथ ने मदन की दी है —

"मदन, वसन्त सखा, व्यग्र कौतूहले;
लुकाए बसिया छिल बकुलेर तले;
पुष्पासने हेलाय हेलिया तरुपरे;
प्रसारिया पदयुग तव तृणस्तरे।"

चण्डिदास के कृष्ण कदम्ब के सहारे खड़े हैं, और रवीन्द्रनाथ का मदन वकुल-मूल से शरीर सँभाले बैठा है। चण्डिदास के 'कदम्ब हेलाये गा' से रवीन्द्रनाथ के 'हेलाय हेलिया तरुपरे' का बहुत बड़ा अन्तर नहीं। अस्तु, कवि-चूड़ामणि चण्डिदास ने राधिका के कृष्ण-दर्शन में चांचल्य नहीं आने दिया, भावना को ही पुष्ट रक्खा है। अन्त के 'रसेर नागर बड़ काला' से कुछ चंचलता अवश्य आ गयी है। विद्यापति कृष्ण के पूर्वराग में राधिका के स्वरूप की वर्णना कितनी हृदयग्राहिणी करते हैं—

"कवरी - भय चामरी गिरि-कन्दरे,
मुख - भये चाँद अकासे;
हरिनि नयन-भये, स्वर-भये कोकिल,
गति भये गज वनवासे।"

"कामिनि करइ सिनान;
हेरइते हृदये हनल पंचबान।
चिकुरे गलय जलधारा;
मुख-शशि-भये जनु रोय अँधियारा।
तितल वसन तनु लागि;
मुनिहुँक मानस मन्मथ जागि।
कुचयुग चारु चकेवा;
निजकुल आनि मिलायल देवा।
तेइँ शंका भुजपासे;
बाँध धयल जनु उड़ब तरासे।"

पहले कबरी के भय से चामरी का गिरि-कन्दरा में प्रवेश, मुख के भय से चाँद का आकाश की शरण लेना, नयनों के भय से हरिणी, स्वर के भय से कोकिला और गति के भय से गज का वनवास स्वीकार करना सौन्दर्य को कितनी उच्च सीमा में ले जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह वर्णना बहुत प्राचीन और भारत के प्रायः सब कवियों की कही हुई है। हम विद्यापति की वर्णना में यहाँ केवल निबाह देखते और उसे सार्थक उतरते हुए पाते हैं। स्नान करते समय के कामिनी के सौन्दर्य का पर्यवेक्षण बड़ा ही सुन्दर हुआ है—"चिकुरे गलय जलधारा; मुखशशि भये जनु रोय अँधियारा" कितना सरस है। बालों से जो जल की बूंदें टपक रही हैं, कविशेखर कहते हैं, ये बालों की बूंदें नहीं, मुखशशि के भय से अंधेरा हो रहा है।

कुचों की भी कितनी साफ और मर्मवेधिनी उक्ति है! कुचरूपी चक्रवाकों को (नायिका के) भुजपाश से बँध जाने की शंका है, इसलिए जैसे वे भीरु हो रहे हैं, मुक्ति के लिए उड़ जाना चाहते हैं। उड़ जाने के भाव से उरोजों के नुकीले

उठान की ओर इशारा है, जो प्रतिदिन उभरते-भरते आ रहे हैं। यह कला है। यह उच्चकोटि की कारीगरी है। भावना की विदग्ध कविता की तरह इसमें भी एक अजीब आकर्षण है। यह बहिरंग है, वहअन्तरंग, इतना ही दोनों में अन्तर है। विद्यापति की विदग्धता यह है—

"सजनी, भल करि पेखन न भेल;
मेघमाला संग, तड़ित-लता जनु,
हृदय शेल दइ गेल।
आध आँचर खसि, आध नयने हँसि,
आधहि नयन-तरंग;
आध-उरज हेरि, आध-आँचर भरि,
तवदधि दगधे अनंग।"

"दशन मुकुता-पाँति, अधर मिलायत,
मृदु-मृदु कहेतहि भाषा;
विद्यापति कह, अन्तरे से दुख रह
हेरि-हेरि न पूरल आशा।"

नायक नायिका की सखी से अपने हृदय का दुःख रो रहा है। देखकर भी अपनी प्रियतमा को वह अच्छी तरह नहीं देख पाया है। वह कहता है, मेघमाला के साथ जैसे बिजली—काले बालों में उसका गोरा मुख—उसकी छड़ी-सी देह ऐसी ही चमकी—मेरे हृदय में वह सेल हन गयी। भला मैं भर नजर उसे देख भी लेता; पर मेरी वह अभिलाषा पूरी न हुई। उसका ज़रा-सा आँचल खुला, वह ज़रा हँसी, आँखों पर एक तरंग आयी, उसने उरोज हेरे और झट उन्हें आँचल से ढक लिया। यह सब पल-भर में हो गया। मेरी दृष्टि ज्यों-की-त्यों प्यासी ही हेरती रही। उसके मुक्ताओं-जैसे दाँत ज़रा खुले, तो मधुरभाषी अधरों ने झट उन पर पर्दा डाल दिया। अच्छा, वह सुन्दरता गयी, तो वाणी से श्रवण-सुख ही जो मिल रहा था, मिलता; पर नहीं, वह भी भाग्य में न था। वह बहुत धीरे-धीरे बोलने लगी। सखि, यह दुःख मेरी अन्तरात्मा ही जानती है। इस तरह मैंने कई बार देखा, पर मेरी आशा की प्यास न मिटी।

यह विद्यापति के नायक की विदग्धता है—सौन्दर्य की प्यास—भावना और वर्णना का मिश्रण। भावना मुख्य और वर्णना गौण।

विद्यापति और चण्डिदास के 'अभिसार' के भी कुछ उदाहरण देखिए—

विद्यापति—

"सुन्दरि चललिह प्रभु-घर लो; चहुँ दिसि सखि-सब कर धर लो।
जाइतहि हार टूटिए गेल; भूषन-वसन मलिन सब भेल।
भनइ विद्यापति गावल लो; दुख सहि-सहि सुख पावल लो।
नव अनुरागिनि राधा; कुछ नहिं मानय बाधा।
एकलि कयल पयान; पथ-विपथहु नहिं मान।
तेजल मनिमय हार; उच कुच मानय भार।

कर - सँग कंकन - मुदरी; पंथहि ते जलसगरी।
मनिमय मंजिर पाँय; दूरहि तजि चलि जाय।
यामिनि घन अँधियार; मन्मथ हेरि उजियार।
विघन - विथारित बाट; प्रेमक आयुध काट।
विद्यापति मति जान; अइस न हेरिय आन।"

चण्डिदास—

"चलन - गमन हंस जेमन;
बिजुलि ते जेन उयल भुवन।
लाख चाँद लाजे मलिन होइल;
ओ चाँद - वदन हेरिया।
सरल भाले सिन्दुर - बिन्दु;
ताहे बेढ़ल कतेक इन्दु।
कुसुम सुसम मुकुता - माल;
नोटन घोटन बाँधिया।
बिम्ब - अधर उपमा जोर;
हिंगुल - मण्डित अति से थोर।
दशन - कुंद जेमन कलिका;
किबा से ताहार पाँतिया।
हासिते अमिया बरिखे भाल;
नासा कर पर बेसर आर।
मुकुता निश्वासे दुलिछे भाल;
देखइ रे कत भालिया।
चंडिदास देखि अथिर चित;
अंगे अंगे अनंग रीत।
रस - भरे धनि सुंदरी राइ;
चलिल मरमे मातिया।"

"नयन तरल, बहे प्रेम वारि,
अथिर कुलेर बाला;
खने - खने उठे, विरह - आगुन,
दुगुन होइल ज्वाला।
मलय - चंदन, मृग - मद जत,
अंगेते आछिल माखा;
हृदय - काँचुली, तितिल सकल,
ताहा नाहीं गेल राखा।

प्रेम ढल - ढल, जेमन बाउल,
वनेर हरिणी पारा;
व्याध - बाण खइया, घायल होइया,
चारि दिके चाहि सारा।''

अभिसार पर चण्डिदास के अन्यान्य पदों में ये उद्धृत दोनों पद मुझे विशेष पसन्द आये। इनके दूसरे पदों में इतनी सरसता नहीं है। विद्यापति के जो दो उद्धरण दिये गये हैं, वे भी उनके अभिसार-प्रकरण के चुने हुए पद हैं; परन्तु ऐसे ही और कहीं-कहीं इनसे भी उत्तम उक्तिवाले पद उनके इस प्रकरण में और भी मिलते हैं। विद्यापति के उद्धृत पदों के छन्द सरल हैं। चण्डिदास का प्रथम छन्द विशेष आकर्षक है, और इस पद में कविवर की वर्णना के भूषणों से कविता कुछ अधिक ऐश्वर्यवाली जान पड़ती है। कविशेखर के पद यहाँ सरल हैं; परन्तु सरलता से उनके काव्य-चमत्कार को कोई बाधा नहीं पहुँची। उनकी उक्तियाँ वैसे ही चमक रही हैं, जैसे प्रभात की रश्मि से पत्रों के शिशिर-कण अपने समस्त रंगों को खोल देते हैं। विद्यापति की पंक्तियों का अर्थ बहुत साफ है। अभिसार के समय राधिका की भावना इतनी पवित्र है कि जड़ भूषणों की ओर ध्यान बिलकुल ही नहीं रहता, बल्कि भूषण भार-से मालूम पड़ते हैं। वह उन्हें निकालकर फेंक देती हैं। कितना सुन्दर कहा है—"तेजल मनिमय हार; उच कुच मानय भार।" उच्च कुच भार मानते हैं, इसलिए मणिमय हार उतार डाला। कुचों में सजीवता ला दी है। भार की असहनीयता उन्हें ही मालूम होती है। फिर "यामिनि घन अँधियार; मन्मथ हेरि उजियार।" अन्धकार रात्रि में भी मन्मथ की किरण से नायिका पथ को आलोकपूर्ण देखती है। "बिवन-बिथारित बाट; प्रेमक आयुध काट।" मार्ग के विघ्न-समूह को प्रेम के आयुध काट देते हैं। कितनी सरल और कितनी चुभती हुई युक्ति है। चण्डिदास के पदों से सौन्दर्य का आकर्षण विद्यापति के पदों में अधिक मिलता है। चण्डिदास ने भी कमाल किया है। उनके प्रथम पद में अभिसारिका शृंगार से भर रही है। जैसी कोमल भावना, वैसे ही कोमल पदक्षेप, जैसे भादों की भरी नदी अपनी पूर्णता के गर्व में, मन्थर गति से, प्रियतम से मिलने जा रही हो। न कोई भय, न कोई लाज। चण्डिदास कहते हैं, हंसगामिनी राधिका को देखकर ऐसा जान पड़ता है, जैसे पृथ्वी पर बिजली उतर आयी हो। उसके मुख-चन्द्र को देखकर लाखों चन्द्र लज्जा से मलिन हो गये। भाल के सिन्दूर-बिन्दु को मानो कितने ही इन्दुओं ने आकर घेर लिया। जब वह हँसती है, अमृत-क्षरण होता है। नासिका की बेसर का मोती साँस के झोंके से हिल रहा है; कितना सुन्दर है! चित्त अस्थिर है—मिलने की आकांक्षा प्रबल है, अंग-अंग में अनंग की रीति देख पड़ती है, रस से भरी 'धनि' सुन्दरी राधा यौवन की नवीन स्फूर्ति से अभिसार को चली। यह सप्रेम अभिसार है। नायिका के हृदय में आनन्द की हिलोरें उठ रही हैं। उसे चाव है। विद्यापति की अभिसारिका में प्रेम की मात्रा बहुत अधिक है। उसे अपने शरीर का ज्ञान नहीं। चण्डिदास के उद्धृत दूसरे पद में प्रेम की विदग्धता का यही भाव आया है। प्रेम-दग्ध नायिका की अस्थिरता का चित्र

खींचा है, और बड़ा साफ। नायिका के तरल नेत्रों से प्रेम के आँसू बह रहे हैं। वह कुल-बाला अस्थिर हो रही है। वह क्षण-क्षण में उठती है, और विरहाग्नि की ज्वाला द्विगुण बढ़ जाती है। मलय-चन्दन और मृग-मद आदि से अंगों में जो कुछ लेप उसने शीतलता के लिए कर रक्खा था, उसके तप्त आँसुओं से कंचुकी के भीगने के साथ उसके हृदय तथा उरोजों पर लगाया हुआ वह लेप बह गया। कंचुकी भीग जाने से उसने उसे उतार डाला। प्रेम के पागल लोल लोचन ऐसे हो रहे हैं, जैसे व्याध के बाण से घायल वन्य हरिणी भीरु दृष्टि से चारों ओर हेरती है। कविशेखर विद्यापति और कविकुल-चूड़ामणि चण्डिदास, दोनों महाकवि हैं। आकर्षण और पाण्डित्य कविशेखर में मुझे अधिक मिला। कुछ लोग कविशेखर को अश्लील कहते हैं। उन नीतिज्ञ महापुरुषों की कविता समझने की शक्ति पर मुझे सन्देह है। चण्डिदास में अश्लीलता अवश्य नहीं आने पायी। इनकी उक्तियाँ एक साधक भक्त की-सी उक्तियाँ हैं। यह साधक थे भी। एक ही समय के, वंग और मिथिला के, ये दोनों महाकवि साहित्य के अमूल्य रत्न हैं, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। कहते हैं, ये कवि महापुरुष थे, और श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव से पूर्व इन्हें इसलिए आना पड़ा कि ये श्रीकृष्ण-राधा के अलौकिक प्रेम पर अपनी-अपनी रस-सिद्ध रचनाएँ रख जायँ। श्रीमहाप्रभु आकर रसास्वादन करेंगे। जिन कवियों के सम्बन्ध में भारतवर्ष के विद्वानों की यह धारणा है, उन पर अश्लीलता का दोष मढ़ने से पहले आजकल के समालोचक अगर कुछ विचार कर लिया करें, तो बुरा न होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1928। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित ('विद्यापति और चण्डिदास' शीर्षक से)]

बंगाल के वैष्णव कवियों की शृंगार-वर्णना

> "जय जय यदुकुल-जगनिधि चन्द्र। व्रजकुल - गोकुल - आनँद-कन्द॥
> जय जय जलधर-श्यामर-अंग। हेलन - कलपतरु - ललित त्रिभंग॥
> सुधा सुधामय मुरलि-विलास। जग - जन - मोहन मधुरिम-हास॥
> अवनि-बिलम्बित-बनि-बनमाल। मधुकर झंकरु ततहि रसाल॥
> तरुण-अरुण रुचि मुख अरविंद। नख-मणि निउछिन दास गोविन्द॥
>
> —गोविन्ददास

भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर रस से उपासना करते हुए भारतवर्ष के भक्तराज वैष्णव कवियों ने शृंगार की जो सुख-शान्ति-शीतल मन्द-मधुर मन्दाकिनी बहायी है, साहित्य के निष्कलुष हृदय का वह अमृत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सदा ही मोहिनी

मूर्ति धारण कर अपने भक्त देवों को पिलाते रहेंगे और नशे के उन्माद में प्रलाप बकनेवाले असुरों के हक में वह साहित्य की वारुणी ही रहेगी। ऐसा ही हुआ है, ऐसा ही हो रहा है और ऐसा ही होगा। आज कितने ही वीरवर-वरेण्य परशुराम के कल्कि-अवतारों के श्रीमुखों से श्रृंगार-रस-नम्र-कविता-कुमारी के आशु बहिष्कार की ज्वालामयी ध्वनि श्रवण कर एकाएक हृदय जिस तरह क्षुब्ध हो उठता है, निःसन्देह, यदि पूर्वाचार्यों की लिखी हुई उक्तियाँ—

"अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।"

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः; साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः।"

न रही होतीं, तो साहित्य के नवीन रसाश्रय सूक्ष्मदर्शी पुरुषों को अन्धनीति के निरंकुश प्रहार सहते ही रहना पड़ता और बहुमत के महासागर में निराधार बहते-ही-बहते उन्हें संसार की लीला भी समाप्त कर देनी पड़ती। जो लोग श्रृंगार-रस के प्रतिकूल-पन्थी हैं और सभा में श्रृंगार-रसाश्रित कविता के पाठमात्र से देवियों के पाक दामन में सियाह धब्बे के लग जाने का ख़याली पुलाव पकाया करते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि कविता-पाठ के शुभ समय, कोमल-ध्वनि के विरोध में, अपने रासभ-रव द्वारा, चिरकाल के प्रतिष्ठित ब्रह्मचर्य की घोषणा करने लगते हैं—धीर, शान्त, उज्ज्वल, नम्र, ब्रह्मचारिणी कुमारियों और एक पति-व्रताचरण-परायणा सुधास्राविणी सज्ञात् लक्ष्मी-सरस्वतियों को, उनके धैर्यस्खलन का विचार कर स्थान ही स्खलित कर देने का महामन्त्र दे डालते हैं, उन महानुभावों को भला क्या मालूम कि वीर-रस का विरोधी श्रृंगार-रस ही प्रतिक्रिया के रूप से अपने शत्रु को सजग किये रहता है। जिस तरह दिन को सिद्ध करने के लिए रात्रि की आवश्यकता है और रात्रि को सिद्ध करने के लिए दिन की, उसी तरह वीर के लिए श्रृंगार की और श्रृंगार के लिए वीर की आवश्यकता है। यदि इनमें से एक न रहा तो दूसरा रह ही नहीं सकता। यही रहस्य और यही सत्य है। वीर्य की आवश्यकता क्यों है? भोग के लिए—चाहे राज्यभोग हो या अन्य भोग। इसी तरह भोग या भुंजन के बिना वीर्य भी नहीं बढ़ सकता। दूसरे, वीररस की कुछ घटनाओं पर विचार कीजिए। रामायण के लंकाकाण्ड के मूल में हैं श्रृंगारमयी श्रीसीतादेवी। श्रीरामचन्द्र की, श्रृंगार की मूर्ति हर गयी—कोमल भावना में वीर-रस की प्रतिक्रिया होने लगी—उन्होंने अपनी श्रृंगार की मूर्ति का उद्धार किया। महाभारत के मूल में इस तरह द्रौपदी विराजमान हैं। न पाण्डवों की श्रृंगार-मूर्ति द्रौपदी का अपमान हुआ होता—न उनकी कोमलता की जगह को चोट पहुँची होती, न कीचक के वध से आरम्भ कर दुःशासन के रुधिर से द्रौपदी के बालों के बँधाने और दुर्योधन की जंघाओं के भग्न करने की प्रतिज्ञा हुई होती। यहाँ भी वीर को उत्तेजना श्रृंगार से ही मिल रही है। फिर देखिए महारानी पद्मिनी का इतिहास। एक श्रृंगार-मूर्ति की प्रतिक्रिया से कितना बड़ा वीर पैदा होता है। महावीर अमरसिंह ने भी यदि दूसरा विवाह न किया होता, अपनी श्रृंगार-मूर्ति की उपासना में छुट्टी से कुछ दिन अधिक न गुजार दिये होते, तो शाही दरबार में अपूर्व वीरत्व के प्रदर्शित करने का उसे शायद ही मौका मिला होता। जो वीर है, वह भोगी अवश्य होगा। दो-एक आदर्श पुरुष महावीर और भीष्म की बातें और हैं, अस्तु। अब इसके प्रतिपादन में व्यर्थ

ही समय का खर्च न कर हम देखेंगे, बंगाल के वैष्णव कवियों ने अपने साहित्य को श्रृंगार की सुकुमार उक्तियों से कितना सरस और कितना हृदयग्राही मधुर कर दिया है।

"ध्वज-वज्रांकुश-पंकजकलितं ब्रज-वनिता-कुच-कुंकुम-ललितम् ।
वन्दे गिरि-वर-धर-पद-कमलं कमला-कमलांचित ध्रुव ममलम् ।।
मंजुल-मणि-नूपुर-रमणीयं अचपल-कुच-रमणी-कमनीयम् ।
अतिलोहितमतिरोहितभाषं मधु-मधुपीकृत-गोविन्ददासम् ।।"

बहुत कुछ इसी भाव का किन्तु अत्यन्त सरल एक दूसरा पद—

"जय जय जग-जन-लोचन-फन्द । राधा-रमण-वृन्दावन-चन्द ।।
अभिनव नील जलद तनु ढल-ढल पिंछ मुकुट शिर साजनि रे ।।
कंचन वसन रतनमय अभरण नूपुर रिणि रिणि बाजनि रे ।।
इन्दीवर युग सुभग विलोचन अंचल कुंकुम कुसुम-शरे ।
अविचल कुल रमणी गण मानस जर जर अन्तर मदन-भरे ।।
बनि बनिमाल अजानु विलम्बित परिमले अलिकुल माति रहु ।
बिम्बाधर पर मोहन मुरली गावत गोबिंददास पहु ।।"

शब्द-लालित्य के दिखलाने के विचार से इन शब्दों पर से कई जगह मैंने विभक्तियों को हटा दिया है ताकि हिन्दी के उच्चारण से भी पद की शब्दावली मिलती जाय। कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन भी कर दिया है, कारण, यह पद मुझे विशेष पसन्द आया। कहीं कोई अर्थ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन वैष्णव-कवियों से कविवर रवीन्द्रनाथ ने इतना ऋण लिया है जिसका ठिकाना नहीं, परन्तु ब्याज में उन्होंने किसी को एक कौड़ी भी नहीं दी; हाँ, एक वैष्णव कविता में अपनी ओर से उनकी तारीफ जरूर कर दी है। क्या इन कवियों ने भी साहित्य के बाजार में कहीं तारीफ का सौदा किया है? कहीं भी नहीं। चुपचाप अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के चरणाम्बुजों में अपने अमूल्य शब्दों का उपहार रखते गये हैं—अहा! उस समय कृष्ण की प्रीति ही उनके लिए स्वर्ग के इन्द्रत्व की प्राप्ति से सहस्र-गुना अधिक मूल्यवान थी। जब मैं इस पद का यह अंश पढ़ता हूँ—

···'नूपुर रिणि रिणि बाजनि रे—'

तब मुझे रवीन्द्रनाथ की इन पंक्तियों की याद आ जाती है—

'से आसे धीरे, जाय लाजे फिरे रिनिक रिनिक रिनि रिनि रिनि मंजु मंजीरे।'

अस्तु, बंगाल के वैष्णव कवियों को ही बंगला-भाषा को मधुर करने का श्रेय प्राप्त है। परन्तु उन पर हिन्दी की ब्रज-भाषा-शैली का बहुत काफी प्रभाव पड़ा था। यह दो कारणों से। एक तो ब्रज-भाषा वहीं की भाषा है जहाँ के उनके इष्ट-देव थे। दूसरे माधुर्य के विचार से ब्रजभाषा ही उस समय की प्रचलित भारतवर्ष की भाषाओं में मुख्य मानी जाती थी। आज भारतवर्ष में हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विनी मुख्य तीन भाषाएँ हैं—बंगला, मराठी और गुजराती। अवश्य तामिल, तैलगू या तिलंगी भाषा का उल्लेख मैंने नहीं किया, न राष्ट्र-भाषा के विचार पर इनका कभी प्रश्न ही आता है।

"निशसि निहारसि फूटल कदम्ब। करतल वदन सघन अवलम्ब ।।
छन तनु मोरसि करि कल भंग। अविरल पुलक मुकुल भरु अंग ।।
ऐ धनि मोहे न करु अरु धन्द। जानल भेटलि साँवर चन्द ।।
भाव की गोपसि गुपत न रहई। मरमक बयन बदन सब कहई ।।
जतन हि बारसि नयनक लोल। गदगद शबद कहसि अध बोल ।।
अन छल अंग, नयन छल पन्थ। सघन गतागति करसि एकन्त ।।"

उच्छ्वासावेश से प्रियतम प्रस्फुट कदम्बों की ओर देख रही है। उसे उसी चिन्तितावस्था में केलि-विलास की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ दंशन कर रही हैं। इसलिए कवि ने उसकी चिन्तनावस्था का चित्र भी अंकित कर दिया है। कहता है—उसका हाथ, उसके रससिक्त भरे हुए कोमल-कपोल के आधार स्वरूप, लगा हुआ है और वह चित्रार्पित की तरह निश्चल बैठी अपने अतीत की याद में डूबी हुई है। उसकी इस दशा पर कवि उसकी एक प्रियतमा सखी से प्रश्न करा रहा है—उसकी इस अवस्था पर उसकी सखी उससे पूछ रही है।—'क्यों सखी! यह कारण क्या है जो तू इतनी अँगड़ाइयाँ ले रही है, बार-बार तेरे अंग पुलकित तथा प्रकम्पित हो रहे हैं?—क्या? मेरा इशारा गलत है?—अच्छा, मुझे ही धोखा देगी? लेकिन मैं समझ गयी, अब तू अपने भावों को न छिपा—तेरी चालबाजियाँ कारगर न होंगी। तू श्याम से मिलकर आयी है—न? है न बात सोलहो आने ठीक?—अरी देख, तू भले ही न कह, तेरे ये सब अंग बतला रहे हैं। भाव भी कभी छिपाये छिपता है? अगर तू श्याम को भेंटकर नहीं आयी—अगर श्याम से तूने रस-केलियाँ नहीं कीं, तो तेरी आँखें ये क्यों लाल हो रही हैं?—उनसे यह धारा भी क्यों बँध रही है जिसे बार-बार तू छिपाने की कोशिश करती है।—तेरा गला भरा हुआ है, तेरे शब्द भी साफ नहीं निकलते, छल से ही तू अपने अंगों को देख लेती है—बताऊँ कारण?—इसलिए कि कहीं कोई निशान तो नहीं बन गया और फिर चकित दृष्टि से मार्ग में किसी को रह-रहकर खोज भी लेती है। क्या इसी तरह एकान्ताभिसार होता रहेगा?'

"ढल-ढल सजल-जलद-तनु सोहन मोहन-चरनन साज,
अरुन-नयन-गति, बिजुरि-चमक जिति, दगधल कुलवति लाज ।।
सजनी, जाइत पेखल कान,
तदबधि जग भरि भरल कुसुम-शर, नयन न हेरिये आन ।।
मो मुख-दरस बिहँसि मुख मोरइ, बिगलित मोहन बंस,
जानिय कौन मनोरथ आकुल किसलय-दल करु दंस ।।
अतय से मोमन जलतहि अनुखन, दोलत चपल परान।
गोबिन्ददास बृथा असु आस री तबहूँ न मिलल कान ।।"

"श्याम की, यौवन-भार से टलमल, जलदाभ, कोमल कान्ति बड़ी ही मधुर है! उनके चरणों की सज्जा भी कितनी आकर्षक है! और उनके अरुणनयन, गति और चमक में, बिजली को भी पराजित कर देनेवाले हैं—सखि! कुलवती कामिनियों की लज्जा को उन नयनों की इस विद्युद्-द्युति ने ही दग्ध कर दिया है। आज ही मैंने राह चलते-चलते श्याम को देखा और जिस मुहूर्त से देखा, तब से किसी दूसरे

दृश्य पर दृष्टि गयी ही नहीं, कुसुम-शर कामदेव ने तमाम संसार को समाच्छन्न कर लिया है। मेरा मुख देख, हँसकर, उसने मुख फेर लिया—तब से, सखि, वंश की मर्यादा भी जाती रही। क्या कहूँ, कुछ समझ में ही नहीं आता कि किस मनोरथ से मेरा हृदय इतना विकल हो रहा है। अब तो मैं जब द्रुम किसलयों को, शान्ति की हरी-हरी में शीतल होने के विचार से देखती हूँ, तो जैसे वे सब मुझे दंशन करने लगते हों। अत: मेरा मन सदा ही चलता रहता है, मेरे प्राण (सन्देह से) सदा ही आलोड़ित रहा करते हैं। क्या मन को आश्वासन देना भी वृथा ही है—वृथा ही तो है—क्योंकि अब भी तो कृष्ण की प्राप्ति मुझे नहीं हुई!"

"जहँ जहँ निकसय तनु-तनु-ज्योति।
तहँ तहँ बिजुरी-चमकमय होति।।
जहँ जहँ अरुन चरन युग परई।।
तहँ तहँ थलहिं कमल दल खुलई।।
देख सखि को धनि सहचरि मेलि।।
मो जीवन सँग करतहिं खेलि।।
जहँ जहँ भंगुर भौंह विलोल।
तहँ तहँ उछलइ जमुन-हिलोल।।
जहँ जहँ तरन विलोचन परई।
तहँ तहँ नील कमल वन भरई।।
जहँ जहँ हेरिय मधुरिम हास।
तहँ तहँ कुन्द कुमुद परकास।।"

विशेष अर्थ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि अर्थ निहायत साफ, तत्काल समझ में आ जाते हैं। यहाँ इन पंक्तियों में सबसे उल्लेखनीय विशेष बात है भावों के निबाह और शब्दों के लालित्य की। समाराधनके ताप से द्रवीभूत भक्तकवियों के हृदय में कितना स्नेह आया था, ये पंक्तियाँ इसका हाल बयान कर रही हैं। कवि का यह कहना कितनी जबरदस्त ग्राहिकाशक्ति रखता है, जिसका वर्णन नहीं—"ऐ सखि! कह तो, वह कौन है जो मेरे जीवन के साथ क्रीड़ा कर रही है?" कवि की अन्तर्दृष्टि मुक्त है। उसने समझ लिया है, जीवन के साथ यथार्थ क्रीड़ा करनेवाली एक शक्ति और ही है।

तत्त्व के समझनेवाले की भाषा कितनी जबरदस्त होती है, एक उदाहरण देखिए—कवि कहता है—

"जब हरि पानि-परस धनि काँपसि झाँपसि झाँपहु अंग।
तब करि घन-घन मनिमय अभरन किहसन लावहु रंग।।
ए धनि अबहुँ न समुझसि काज?"

देखिए, कितना जबरदस्त इशारा है जहाँ कवि कहता है कि क्यों सखि, अब भी तू नहीं समझी कि कार्य कैसे बनता है। कवि के इस इशारे का कारण है कि उसने प्रथम पंक्तियों में जबरदस्त तत्त्व कह डाला है। यह तत्त्व वह प्रेमिका की सखी से कहलाता है। सखी अपनी प्यारी सखी से कहती है, "जब हरि के स्पर्श करने से तू काँपती है—अपने ढँके हुए अंगों को भी ढँकती है, तब क्या तू जानती

है कि तू बार-बार आभरणों की झंकार करके किसके रंग में आती है ?"

यह तत्त्व है भक्त और ईश के मिलने के समय का। इस बात को आगे चलकर कवि और साफ कर देता है—

"जिहि बिन जागे न नींदहु जीवसि
तिहि किय एतो भय, लाज ?—"

"अरी सुन, जिसके विना जागते रहने से तू नींद में भी जी नहीं सकती, उससे तूने इतना भय, इतनी लज्जा की ?"—अर्थात् जीव के सो जाने पर भी ईश जागता रहता है, यदि ईश से जीव का यह सार्वकालिक सम्बन्ध न रहे, तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। अस्तु, यहाँ सखी का यह कहना है कि जो प्रेमस्वरूप होकर तेरे सामने आया था,—जो तेरा सर्वस्व है, सो जाने पर भी जो तेरी रक्षा करता है,—जिससे सम्बन्ध रहने के कारण ही अज्ञान-दशा में भी तू जीती हुई फिर उठती है, उससे बता तेरी कैसी लज्जा और कैसा भय ?

कितना प्रकाश है ! कृष्ण को गोपियाँ किस भाव से देखती थीं, आजकल के आधुनिक महाशयगण ज़रा गौर फर्माएँ। और पुराने कवियों का सर्वव्यापक चेतनवाद कैसा था, ज़रा यह भी एक नजर देख लें। इसीलिए मैंने कहा, यहाँ अस्ल और नकल की तत्काल पहचान होती है। शब्दों के आवरण में कोई अपना अज्ञान छिपा नहीं सकता। शब्द स्वयं प्रकाशवान हैं। एक अर्थ रखते हैं। चोरी खोल देंगे। उनसे बलात्कार किया जायगा, तो बेधड़क कह डालेंगे। यहाँ शब्द ब्रह्म भी एक विज्ञाती है।

"निरमल बदन, कलेवर माधुरी, हेरइते भै गेनु भोर।
अलखिते रंगिनी भौंह भुजंगिनी, मरमहिं दंशल मोर ॥
सजनी, जब धरि पेखनु राइ।
मदन-महोदधि-निगमन मो मन आकुल कूल न पाइ ॥
बंकिम हास विलोकन अंचले मो पर जो दीठि देल।
किये अनुरागिनि, किये विरागिनि, बुझइते संशय भेल।"

"उसकी निर्मल रूप-माधुरी को देखते ही मैं मुग्ध हो गया। अलक्षित ही उस रंगिनी की भौंह-भुजंगिनियों ने मेरे मर्म-स्थल को दंशन किया है। जिस समय मैंने राधा को देखा, उस समय मदन-महोदधि में इस तरह मेरा मन डूबा कि मेरी व्याकुल दृष्टि को किसी तरह भी कूल नहीं दिखलायी पड़ा।" यहाँ अन्तिम चार लाइनें पूर्ववत् एक विशेष विज्ञान की पुष्टि करती हैं। राधिका की बंकिम-हास मिश्रित तिरछे नयनों की दृष्टि से 'अनुरागिनी' है या 'विरागिनी' समझने में कृष्ण को संशय होता है।

विरहपीड़ित कृष्ण की उक्ति—

"रतन-मंजरि धनि लावनि-सागर अधरहिं बाँधुलि रंग।
दशन-किरण बहु दामिनि झलकत बिहँसत अमिय तरंग ॥
सजनी, जातहिं पेख्यों राइ।
मोहिं लखि सुन्दरि मरमहिं चंचल चकित चितै चलि जाइ ॥

पद दुइ चारि चलै वर नागरि रहइ निमिष कर जोरि।
कुटिल कटाख कुसुम शर बरखन सरबस लेयल छोरि॥"

पुन:—

"कंचन कमल पवन उलटायो ऐसो बदन सँवारि।
सरबस लेइ पलटि पुनि बेध्यो रंगिनि बंक निहारि॥
हरि हरि को देइ दारुन बाधा।
नयनक साध आध ना पूरल पलटि न हेर्‌यो राधा॥
घन घन आँचल कुछ कनकाचल झाँपइ हँसि हँसि हेरि।
जनु मो मन हरि कनक-कुम्भ भरि मुहर करै बहु बेरि॥"

आजकल जो नग्न सौन्दर्य के दर्शन से क्रमश: अतृप्ति बढ़ती जा रही है, लोगों की दृष्टि में चातक की तृष्णा समा रही है, देखिए, पहले भी नग्न सौन्दर्य के तृषित थे और किस खूबी से इस नग्न सौन्दर्य की माधुरी पान करते थे। कवि कहता है, "कंचन कमल पवन उलटायो, ऐसो बदन सँवारि।"

कंचन के कमल को जैसे पवन के झकोरे ने उलट दिया हो, मुख से नग्न युगल उरोजों तक की उस समय ऐसी ही माधुरी हो रही है। नग्न सौन्दर्य की ज्योति में अश्लीलता की ज़रा भी सियाही नहीं लग पायी, क्योंकि नायिका अपनी इच्छा से बदन नंगा नहीं करती, पवन के झकोरे से उसका बदन नंगा हो जाता है। एक ओर उसकी विवश लज्जा, जहाँ एक दूसरे सौन्दर्य की अम्लान ज्योति है, दूसरी ओर उसके नवीन यौवन से सुदृढ़, झलकते हुए, भरे अंगों की अमन्द द्युति। इसके बाद भावना की षोडश कला का मधुर प्रकाश—"सरबस लेइ पलटि पुनि बेध्यो, रंगिनि बंक निहारि।" उस नग्न रूप-माधुरी को देखकर दर्शक नायक अपने हृदय का सर्वस्व उस नायिका को समर्पित कर देता है। फिर कहता है, ऐ रंगिनि, इस पर भी तुझे सन्तोष न हुआ, अपनी सरस बंक चितवन से तूने मुझे वेध ही डाला। नायक कृष्ण की रसाधार भावना और बलवती हो जाती है, जब वे कहते हैं—"नयनक साध आध ना पूरल पलटि न हेर्‌यो राधा।" नयनों की साध आधी भी पूरी न हुई थी कि मैंने फिर से राधा को न देखा। यहाँ एक दूसरा ही सौन्दर्य है। अब राधिका अपने खुले हुए अंगों को छिपा लेती है। यहाँ छिपाने में ही सौन्दर्य है, क्योंकि लज्जा का स्फुरण हो रहा है। आकर्षण के लिए यहाँ यही क्रिया काम कर रही है। इस सलज्ज सौन्दर्य को कवि कितना बढ़ा देता है—

"घन-घन आँचल, कुच-कनकाचल, झाँपइ घन-घन हेरि।"

"बार-बार हेरकर (लाजभरी चितवन से) अपने स्वर्ण शिखराकार सुदृढ़ पीन स्तनों को नायिका आँचल से ढक रही है, जैसे नीलाभ जलद पर्वतों के शृंग को घेर लें।"—कैसी उपमा! क्या चमत्कार! मनोविज्ञान के साथ कविता का कितना सार्थक निबाह! उस हँसकर हेरने की सूक्ष्म भावना को कवि किस आकर्षक ढंग से बयान करता है!—नायक कृष्ण कह रहे हैं—"जैसे मेरे मन को हरकर उससे अपने कनक-उरोज कुम्भों को भर लेती और फिर वारम्वार जैसे मुहर कर रखती हो।"

कृष्ण की अपार माधुरी का वर्णन—

"ताहे अपरूप कृष्ण अवतार होइल सुबल सखा।
अति अनुपम जेनो नव घने जलद समान देखा।।
जेमत अंजन दलित रंजन किबा अतसीर फूल।
जेनो कुवलय दल सरोरुह जेमत कानड़ फूल।।
कोन रूप जेनो न हे निरुपम देखियाछि बहु रूप।
विविध बन्धान करिया सन्धान गड़िल रसेर कूप।।
चरपा जेमत जावक निन्दिया हिंगुल दलिया जैछे।
ताहाते अधिक बिम्बफल सम उपमिते पारे कैंछे।।
ताहाते रंजित दश नख चाँद चरणे शोभित भालो।
ताहार शोभाते दश दिक शोभा सकल करेछे आलो।।
कनक किंकिनी कल हंस जिनि पीतेर वसन साजैं।
ए चुआ चन्दन अंगे सुलेपन मृगमद आदि राजैं।।
वनमाला गले किया शोभा करे कौस्तुभ शोभित ताय।
यमुना ते जेन चाँद झलमल देखिये ते मति जाय।।
शिखी मनोहेर अधिक सुन्दर शिरे पुच्छ शोभे ताय।
श्रवणे मकर कुण्डल दोलये जेमन रविर प्राय।।
अधर बान्धुली सुन्दर उपमा दशन दाड़िम बीज।
भाल से शोभित चन्दनेर चाँद ताहे गोरोचना साजैं।।
नयन कमल अति निरमल ताहे काजरेक रेखा।
यमुना किनारे मेघेर धाराटी अधिक दियाछे देखा।।
नवग्रह बेड़ि ताहार उपरे मुकुता दो सारि साजैं।
प्रवाल माणिक मणिर मालाये बेड़िया ताहार माझे।।
विचित्र चामर केशेर आँटुनि बिन्धिया विनोड़ चूड़ा।
नाना जे कुसुम अति से सुषम ताहे माल दिया बेड़ा।।
तापरे मयूर शिखण्ड आरोपि करेते मोहन बाँसी।
त्रिभंग भंगिमा कटाक्ष चाहनि अमिय मधुर हासी।।
देखिया से रूपे मदन मुरछे कूलेरी कामिनी जत।
मुनीर मानस जप तप छाड़े ओ रूप देखिया कत।।
बृकभानुपुर, नगर आगरी पड़िछे मूरछा खाइ।
ढलिया पड़िल बृकभानु राजा द्विज चण्डिदासे गाइ।।"

इन पंक्तियों में यही विशेषता है कि रूप की वर्णना में छोड़ा कुछ भी नहीं गया। केवल वर्णनाशक्ति का ही चमत्कार है। कविवर चण्डिदास की प्रसादगुण से भरी हुई शान्त तथा मधुर भाषा का आनन्द हिन्दी के साधारण पाठकों को मिला होगा। इन पंक्तियों का सरलार्थ लिखकर मैं केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि रूप के वर्णन में कवि ने यहाँ विशेष शक्ति का परिचय दिया है। उपमा भी कम नहीं।

कृष्णावतार अपूर्व है। रूप इतना सुन्दर जैसे काले-काले नवीन बादलों की श्यामलता देखकर आँखें सौन्दर्य की तृप्ति से शान्त हो जायँ, जैसे पिसा हुआ अंजन

नयनों को रंजित कर देता है, जैसे अतसी के फूलों की कान्ति—"अतसी-कुसुम श्याम तनु-शोभा" जैसे नीलाभ शतदल, कानड़ (शायद कंनर)। अनेक रूप मैंने देखे हैं, पर कोई भी रूप मुझे उनमें अनुपम नहीं दीख पड़ा। विधाता ने अनेकानेक उपकरणों को जोड़कर जैसे इस रसाश्रय देह की सृष्टि की हो। इन चरणों की अरुण कान्ति जपा की अरुणिमा को भी परास्त कर देती है जैसे ये हिंगुलों को दलित करते हुए चल रहे हों और उनकी लालिमा से सुरंजित हो रहे हों। चण्डिदास कहते हैं—"उन पैरों की लालिमा से नखों के दस चन्द्र भी अपूर्व शोभा धारण कर रहे हैं जिनकी कान्ति से दसों दिशाओं में प्रकाश फैला है। तमाम सृष्टि उन्हीं से आनन्दोज्ज्वल हो रही है। कनक किंकिनियों की ध्वनि हंसों के कलरव को भी परास्त कर देती है। नीलांग पीताम्बर से सजा हुआ है। मृगमद तथा चोआ-चन्दन से लिप्त है। गले में वन्य पुष्पों की माला विचित्र शोभा धारण कर रही है, उसमें कौस्तुभमणि जड़ा हुआ है, जिसे देखकर जान पड़ता है जैसे श्याम-स्वच्छ-सलिला यमुना के प्रशान्त वक्षःस्थल पर प्रतिबिम्बित चन्द्र झलमला रहा हो। मस्तक पर मयूर-पुच्छ, कानों में मकराकार कुण्डल, जिनसे सूर्य की किरणें स्फुरित हो रही हैं। अधरों की उपमा बाँधुली या बन्धूक पुष्प से, दशनों की दाड़िम के बीजों से। भाल पर चन्दन का चन्द्र-बिन्दु। उस पर गोरोचन। निर्मल नयन कमल के दलों की तरह, जिनकी धार पर काजल की मसृण क्षीण रेखा, जिसे देखकर यमुना के तट पर बादलों की धारा याद आ जाती है। मुक्ता की दो लड़ें नवग्रह को घेर रही हैं, बीच-बीच प्रवाल और मणि भी पिरोये हुए हैं। चँवर जैसे कोमल बाल चूड़ाकार बाँध दिये गये हैं। उनके चारों ओर से फूलों की मालाएँ भी घेर दी गयी हैं। इस त्रिभंग मोहन-मधुर रूप को देखकर सुर, नर और मुनि भी मुग्ध हो जाते हैं। मदन भी मूर्च्छित हो जाता है! कुल-कामिनियाँ भी अपना सर्वस्व अर्पित कर देती हैं।"

श्रीराधा और श्रीकृष्ण की वासकशय्या का वर्णन—

> "डगमग अरुण उजागर लोचन उरे नख परतीत रेखा।
> रतिरणे रमणी पराभव मानइ देयल रति-जय लेखा।।
> माधव, अब कि कहब तुअ आगे ?
> ना जानिये रतिरस ओ सुख सम्पद की फल तुअ अनुरागे।।
> रतिरसे अलस अबश दीठि मंथर निरवधि नींदक सेवा।
> कौन कलावति करि कत आरती पूजल मनोरथ देवा।।"

रसावेश से टलमल अरुण नयन, उरोजों पर नखक्षतों की रेखाएँ, रति-समर में उस अपराजित अम्लानमुख कृष्ण से नारियाँ पराभव स्वीकार करती हैं। कृष्ण को विजयपत्र दे देती हैं। इसके पश्चात् अलस आवेश-अवश सखियों का वर्णन आया है। यहाँ यह रति-वर्णन कामुक युवक और युवतियों की इतर प्रवृत्ति का वर्णन नहीं। हैं सब बातें वैसी ही, पर झुकाव दूसरा है। जैसे एक ही कार्य कोई अर्थ प्राप्ति के लिए यानी सकाम करे और कोई कार्य सेवा की दृष्टि से निष्काम। साधारण मनुष्यों का सम्भोग कामना-प्रसूत है, एक रूप मुग्ध का रूपज सम्मिलन है, और यह चेतन का चेतन से सम्मिलन, पुरुष और प्रकृति का ज्ञानपूर्वक विहार। बड़ी-

बड़ी बातें छानबीन करने पर भी समझ में नहीं आतीं, कारण वे अनुभवसापेक्ष हैं। यहाँ इन बातों पर बड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। परन्तु उनसे सर्वसाधारण को लाभ नहीं पहुँचा, न पहुँच सकता है। कारण बुद्धि जब तक जड़वाद-ग्रस्त है, तब तक जड़ता के अजेय विश्व को हराकर चेतन की व्याप्ति में नहीं जा सकती। इसलिए उस लोक के रहस्यों को भी वह नहीं समझ सकती। मसलन, दुनियाई बातें, लाभ-नुकसान की बहस, रूप-रस-शब्द-गन्ध-स्पर्श की करामात लोग बहुत जल्द समझ लेते हैं। कारण उनकी बुद्धि संस्कारों के इन्हीं रास्तों से चक्कर काटती आयी है, वह इनसे अभ्यस्त हो गयी है। मस्तिष्कविद् भी यही कहते हैं। मनुष्य ने जिस तरह का अनुसरण किया है, वह जिस राह से चला है, उसने जिस-जिस विषय का अनुशीलन किया है, उसी-उसी विषय का वह बार-बार अनुशीलन करता है, उसके मस्तिष्क में उस-उस विषय की रेखाएँ तैयार हो चुकी हैं—बुद्धि तत्काल उनसे गुजर जाती है, उसे दिक्कत नहीं पड़ती, यही पीछे से संस्कार या प्रकृति में परिणत होता है। इसीलिए दुनियाई बातें दुनियाई मनुष्यों की समझ में आ जाती हैं और वे उन्हें ही सच मानते रहते हैं। परन्तु जिस मार्ग से वे कभी गये नहीं, उस मार्ग से चलाने पर उन्हें कष्ट तो होता ही है किन्तु मस्तिष्क के उस गहन विषय को वे समझ भी नहीं सकते। एक जाता है अपने साधनालब्ध सत्य से, और एक रहते हैं जड़ में अपने संस्कारों के चक्कर में। इसी तरह श्रीकृष्ण और गोपियों का सम्बन्ध चेतन सम्बन्ध है। उसे यदि कोई जड़ सम्बन्ध सिद्ध करे, जैसा कि आजकल लोग कहा करते हैं, तो वह सिद्ध करता रहे। इस सृष्टि में एक ही तरह के जीव तो हैं नहीं। तरह-तरह के जीव, तरह-तरह की बोलियाँ। दमदार कौन है, यह तो उसका विकास सिद्ध करता है। कबीर को लिखना न आता था, पर उनके भीतर से कवित्वशक्ति का विकास हुआ।

कल मेरे मकान में हिन्दी की प्रसिद्ध पुस्तक 'अक्षर विज्ञान' के लेखक पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का शुभागमन हुआ। एक ही कौतूहल-प्रिय सहृदय सरस : मैंने तीन कौड़ी नर्तकी, पाँच कौड़ी बाबू लेखक और सात कौड़ी वकील का हाल बयान किया, तो आप भी हँसकर फर्माते हैं, अँ: तीन पुश्त से एक पैसा भी न पूरा हुआ—आजा दमड़ीलाल, बाप छदम्मीलाल, आप पँचकौड़िया।

इसी तरह हिन्दी ने भी करीब-करीब तीन पुश्त गुजार दिये; परन्तु अभी साहित्य के भण्डार में एक पैसा भी पूरा न हुआ, हो भी कहाँ से ? आचार्य दमड़ीलाल अपने वंशधरों को छदम्मीलाल और पँचकौड़िया के ही रूप में देखना चाहते हैं—किसी अशर्फीलाल से उनकी कब पट सकती है—फिर हीरालाल, मोतीलाल, पन्नालाल और जवाहरलाल तो उनकी नाक के बाल ही होंगे।

अस्तु, सौन्दर्य-दर्शन के लिए बड़ों-बड़ों का ही स्वागत किया गया है, जिनके विरोध में प्राचीन सहस्र-सहस्र कर्कश कण्ठ एक साथ कुहराम मचा देते हैं, जिनकी पुस्तकों की मर्यादा, लेखनशैली की शान, नवीन स्वच्छ तरल भाषा-प्रवाह, विद्युत-स्फुरित सौन्दर्य, ओज, साहित्य की जीर्ण-दीवार के किसी पुराने ताक पर घोंसला बनाकर रहनेवाले जीव नहीं समझ सकते, नहीं देख सकते।

"जासु चरण-नख-रुचि हेरत ही मुरछ कोटि शत काम।
सो मो पदतल धरनी लेटाय पलटि न हेर्यो बाम॥
सजनि पूछसि मोरि अभागि।
ब्रज-कुल-नंदन चाँद उपेख्यो, दारुण मान कि लागि॥
कातर दीठ मीठ वचनामृत बहुतक साध्यो नाह।
हूलत स्रवन सेल सम हिरदय जारत भीषन दाह॥"

प्रियतम के आदर करने पर भी उसका तिरस्कार कर देनेवाली प्रेमिका अब पश्चात्ताप कर रही है। भाषा और भाव हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकल रहे हैं। वह कहती है—"ऐ सखि, जिसके चरणों की नख-रुचि को देखकर कोटि-कोटि कामदेव मूर्च्छित हो जाते हैं, वही आकर मेरे पैरों पड़ा, पर मैंने नजर फेरकर ज़रा उसकी तरफ देखा भी नहीं। सखि! मेरे अभाग्य की भला क्या पूछती है?"

श्रीराधिका का रूपाभिसार—

"कुंचित केशिनि निरुपम वेशिनि रस-आवेशिनि भंगिनि रे।
अधर सुरंगिनि अंग तरंगिनि संगिनि नव नव रंगिनि रे॥
सुंदरि राधा आवति सुंदरि ब्रज-रमनी-गन मुकुट मनी।
कुंजरगामिनि मोतनदसनी दामिनि-चमक-निहारिनि रे॥
नव अनुरागिनि अखिल-सुहागिनी पंचम रागिनि मोहिनि रे।
रासविलासिनि हासविकासिनि गोविंददास चित सोहिनि रे॥

और भी—

दोउ जन नित नित नव अनुराग।
दोउन रूप नित नित दोउ हिय जाग॥
दोउ मुख चूमइ दोउ करु कोर।
दोउ परिरंभन दोउ भयो भोर॥
दोउ दुहन जस दारिद हेम।
नित नित आरति नित नव प्रेम॥
नित नित ऐसहि करत विलास।
नित नित हेरत गोविंददास॥"

इन दोनों पदों के अर्थ बिलकुल साफ हैं। कहीं कोई कठिनता नहीं देख पड़ती। प्रथम पद में श्रीराधिका के रूपाभिसार-समय की वर्णना है। शब्दों की मधुरता पर क्या लिखा जाय, वह तो प्रत्यक्ष ही है और उनसे उनके कवि के हृदय का भी पाठकों को अनावृत, बिलकुल खुला हुआ परिचय प्राप्त हो जाता है। दूसरे पद में सरल-से-सरल वाक्य में कवि मधुर-से-मधुर भाव प्रदर्शित कर गया है।—"दोनों में नित्यही अनुराग के नवीन अंकुर दिखलायी पड़ते हैं। दोनों के रूप दोनों के हृदय में जागते रहते हैं। दोनों ही दोनों को सरस दृष्टि से देखते, परस्पर चुम्बन करते हैं। परस्पर के रसालाप से दोनों ही विभोर हो रहे हैं। दोनों एक-दूसरे के लिए वैसे ही हैं, जैसे महादरिद्र के लिए स्वर्ण-भार। नित्य ही दोनों इसी तरह विलास के रस-सागर में निमज्जित हो रहे हैं।" कविता क्या, नारी-पुरुष के प्रथम यौवन की चन्द्रहासोज्ज्वल स्निग्ध पूर्णिमा है।

मिलन—

"जामिनि जागि अलस दृग-पंकज कामिनि अधरन राग।
बन्धुक अरुण अधर भयो काजर भालहिं अलकत दाग।।
माधव दूरहि कपट सुनेह।
हाथक कंकन किये दरपन हेरि चल तू ताकर गेह।।
सो स्मर-स्मर सुधीर कलावति रतिरणे विमुख न भेल।
नखर कृपाणे हनि उर अन्तर प्रेम रतन हरि नेल।।"

"चरणे लागि हरि हार पिंधायल जतने गूँथि निज हाथ।
सो नहिं पहिरलु दूरहि डारलु माननि अवनत माथ।।
सजनि, काहे मोर दुरमति भेल।
दगध मान मो विदगध माधव रोखे विमुख भै गेल।।
गिरिधर-नाह बहुत धरि साधल हम नहिं पलटि निहारि।
हाथक लछमी चरण पर डायलु इह कि करब परकारि।।"

इन पंक्तियों को पढ़ते ही एक साथ रवीन्द्रनाथ के कितने ही विदग्ध संगीत, नवीन कामिनियों के आकर्ण विस्तृत भूले हुए-से नयन, वह सुप्तोत्थित प्रातर्मलय-शीतल जागरण-कान्ति अलस सौन्दर्य एक ही साथ याद आ जाते हैं। "अहा, जागि पोहाल विभावरी, क्लान्त-नयन तव सुन्दरि" वासर-जाग्रत नायिका के रूप का चित्रण कर रहे हैं। यहाँ वैष्णव कवि भी किस खूबी से कह जाते हैं—"यामिनि जागि अलस दीठि पंकजे कामिनी अधरन राग। बाँधली अरुण अधरे भेल काजर, भालोपरि अलकत दाग।"

वसन्त-लीला—

"मधुर दामिनी काम कामिनी विहरे कालिन्दी तीर।
कोकिल कुहरत भंवरा झंकृत बदत की रसधीर।।
राधा-माधव संग।
संगे सहचरि नाचय फिरि फिरि गावे रस-परसंग।।
करहि बन्धन झमिक कंकन चरणे मंजरि बोल।
कटिते किंकिनी बाजय किनि किनि गण्डे कुण्डल डोल।।
राइ नाचत कतहु अद्भुत कान्ह कत कत गायई।
सबहु सखि मिलि रचय मण्डलि ज्ञानदास मति भायइ।।"

"मलय पवन परसे पिक कुहरई सुनि उलसित बृजनारी।
उलसित पुलकित सबहु लता तरु मदन भेल अधिकारी।।
मुकुलित चूत दूत भेल षटपद शबदहिं देयल बधाई।
सन्त बसन्त पूजा लय घरे घरे जग जने आनन्द बड़ाई।।
चातक पाये कपोत शिखण्डक दुहु जन लिखन बुझाई।
द्विजवर वसन्त विहंगम शुक मुख पंचम वेद पढ़ाई।।

कुंज लता पर साजल ऋतुपति बहु विधि विचित्र विधाने।
कुसुम विकासल रासस्थल झल मल कान्ह सुनल निज काने॥
माधवी मधुमुखी विमला चन्द्रमुखी समाकारे कहब बुझाई।
रस परिधान नारी जहँ बैठय सुँदरि रसवती राई॥
इह मृदु वचन सुनिया रस दामिनी दूती चलिल उल्लासे।
गुरुआगमन तब चलिते न देखे पथ सुबहु कहल धनि पासे॥
सुनह बचन सवे कान्ह मोहे कहलि निज काछे।
श्याम सुघड़ नागर रस शेखर रास करब बन माझे॥
दोतिक बोले दोले घन अन्तर आनन्दे झोरे दुइ आँखी।
राधा सुधामुखी सफल तनु मानइ पुन पुन कह चल देखी॥
जतनह आनने आन नहिं बोलय स्वपने नाहीं आन भान।
राति दिवसे धनि आन ना भावइ नयाने ना हेरइ आन॥
कुंकुम कस्तूरी चन्दन केशर भरि कुच युगे शोभित हारे।
वेश बनावल जो जाहा साजल ऐछन चलिल विहारे॥
रंगिनी संगे चलिल धनी सुन्दरी संगीत संचरु नाई।
नव अनुरागे जागि रूप अन्तरे सबे मिलि श्यामर गाई॥
सब नव नागरी रसे रसे आगरी रस भरे चलइ न पारी।
गुरुआ नितम्ब भरे अंग से टलमल हेरइते कतो मनोहारी॥
दुहुँक दुलम दुहुँ दरसने पहिलहि आध नयन अरविंद।
दुहुँ तनु पुलकित ईषदवलोकित बाढ़ल कत ये आनन्द॥
पहिलहि हास संभाष मधुर दीठे परशिते प्रेम-तरंग।
केलि-कला कत दुहुँ रसे उनमत भावे तरल दुहुँ अंग॥
नयने नयान ढुलाढुलि उरे उरे अधरे अमिया रस भेल।
रास-विलास श्वास बह घन घन घामे तिलक बहि गेल॥
विगलित केश कुसुम शिखि चन्द्रक वेश भूषण भेल आन।
दुहुँक मनोरथ परिपूरित भेल दुहुँ भेल अभेद परान॥
धनि बृन्दावन धनि रंगिनिगण धनि वासर-समय-काम।
धनि धनि सरस कला रस ऋतुपति ज्ञानदास गुनगान॥"

प्रकृति के राज्य में संसार के नेत्रों ने आज तक जितने आश्चर्यकर विषय प्रत्यक्ष किये हैं, उनमें श्रीकृष्ण की रासलीला, सोलह सहस्र ब्रजबालाओं के साथ एक ही कृष्ण का एक ही समय रसकौतुकालाप, सम्भोग, शृंगार-क्रीड़ा सबसे अधिक विस्मयकर है। किस गूढ़ सत्य को असत्य कहकर उड़ा देने में विशेष दिक्कत नहीं पड़ती ? पर उसे सत्य साबित करने में बहुत बड़े अनुभव का सामना करना पड़ता है, कितने ही जीवन की कठोर प्रतिज्ञा ने ही यहाँ 'भगीरथ प्रयत्न' का प्रवाद धारण किया है, तपस्विनी पार्वती से भी कहलाया है—**"जन्म कोटि शत रगर हमारी। बरौं शम्भु न तु रहौं कुमारी।"** तभी यहाँ के लोग बड़े-से-बड़े सत्य का साक्षात्कार कर सके हैं। अगर आजकल के विज्ञानवेत्ता यहाँ तक प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि एक साधारण प्राणी के अन्दर अनेकानेक सृष्टियाँ वर्तमान हैं, तो इससे

एक उच्च तत्त्व के समझने के लिए ज्यामिति के अनुमान की तरह एक अवलम्ब ग्रहण कर लेना अयौक्तिक न होगा और वह अवलम्ब यह कि जब कि एक प्राणी में अनेक सृष्टियाँ वर्तमान हैं तो आर्यों के कथनानुसार एक ही द्रष्टा या देखनेवाले के अन्दर यह तमाम विश्व रह सकता है। अवश्य अनुमान के पश्चात् इस इतने बड़े वाक्य का प्रमाण नहीं हो सकता। कारण, जब एक ही द्रष्टा के अन्दर सबकुछ चला गया, तब प्रमाण के लिए उसके भीतर से जगह निकाल लेना जिस पर कि ठहरकर प्रमाण किया जायगा, अन्याय होगा। इसीलिए यहाँ इसका प्रमाण हुआ भी नहीं। केवल अनुभव-सापेक्ष कह दिया गया है। एक दूसरी युक्ति यह कि संसार है—अनेक—अगणित हैं, इसका साक्षी कौन है? निस्सन्देह मैं'। यदि 'मैं' न रहता तो 'अगणित' भी न रहता। इस तरह भी तमाम सृष्टि 'मैं' के भीतर पायी जाती है। इस यथार्थ 'मैं' को समझनेवाले कृष्ण एक से अनेक रूप धारण कर सकते थे—'मैं' की अद्भुत करामातों का उन्हें पता था। उद्धृत पद्यों के अर्थ सरल हैं। माधुर्य का तो कहना ही क्या है।

रसालाप—

"उधसल केशपाश, लाजे गुपुत हास,
रजनी उजागरे मुख न उजला।
नख-पद सुन्दर, पीन पयोधर,
कनक-शम्भु जनि केसु पूजला॥
न न न न कर सखि, परिणत शशिमुखी।
सकल चरित मोर बुझल विशेषी॥
अलस गमन तोर, वचन बोलसि भोर,
मदन - मनोरथ - मोह - गता।
जूम्भसि पुनु पुनु जासि अरस तनु
आतपे छुँइलि मृणाल-लता।
वास पिन्ध विपरीत, तिलक तिरोहित,
नयन - कजर - जले अधर भरु।
एत सबे चच्छन, संग विवच्छन,
कपट रहत कतिखन जे धरु॥
भणे कवि विद्यापति, अरे वर यौवति
मधुकरे पावल मालती फुलली।
हासिनि देवीपति देवसिंह नरपति
गरुड़ नरायण रंगे भूलली।"

"गगने अब घन मेघ दारुण सघन दामिनि झलकई।
कुलिश-पातन-शबद झनझन पवन खरतर बलगई॥
सजनि, आजु दुरदिन भेल।
कंत हमरि नितंत अगुसरि संकेत कुंजहि गेल॥
तरल जलधर बरिखे झरझर गरजे घन - घन घोर।
श्याम नागर एकले कैसने पेथ हेरइ मोर॥

सुमरि मझु तनु अवस भेल जनि अथिर थर थर काँप ।
ई मझु गुरुजन - नयन दारुण घोर तिमिरहिं झाँप ।।
तोरिते चल अब किए विचारइ जीवन मझु अनुसार ।
कविशेखर वचने अभिसर किए से विघिन बिचार ।।"

बंगभाषा के वैष्णव कवियों के उद्धरणों के साथ मैंने दो पद कविशेखर विद्यापति के भी दे दिये हैं। यह इसलिए कि बंगाली भी विद्यापति को अपना कवि मानते हैं। भाषा विज्ञान के क्रमपरिणाम पर विचार करने पर खासा आनन्द आता है। तिरहुत, जिसे कविशेखर की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है, हिन्दी और बंगला के संगम से 'तीरथराज प्रयाग' हो रहा है।

रति-रसालाप के पश्चात् नायिका की जो हालत होती है, कविशेखर उसकी वर्णना कर रहे हैं। "बालों की गुँथी हुई वेणी खुल गयी है", उर्दू-शायर के शब्दों में—**"हैं बिजरे बाल ये सर के य' सूरत क्या बनी ग़म की।"** नायिका रतिश्रान्त हो रही है, इसलिए खुलकर नहीं हँस सकती—"मृदु मुसकान, खुलते ही लज्जा से म्लान।" रात्रि के उजाले में चन्द्र के षोड़श-कला-प्रकाश में भी उसके मुख की द्युति मलिन हो रही है। कुचों में नखक्षत बन रहे हैं, जिन पर रुधिर की लालिमा आ गयी है, जिससे जान पड़ता है, किसी ने कनक-शम्भु की पूजा की है। पूर्णिमा के चन्द्र-की-सी मुखश्रीवाली रति-विलास से अब इनकार कर रही है।" इसी तरह और-और।

दूसरे पद में विशेष जटिलता नहीं। पर समय की कल्पना निहायत अच्छी हुई है। आकाश बादलों से घिर गया है। रह-रहकर बिजली भी कौंध जाती है। उसी समय नायक नायिका को इशारा करता और श्यामायमान कुंजों की राह लेता है। प्रेम का अनुशासन बिलकुल कड़ा नहीं। नायिका पहले तो इधर-उधर करती, पर अन्त तक नायक की राह पर आ ज़ाती है। क्या दिन ये भी हैं! और क्या कुशल लेखनी!

उद्वेग-दशा—

"फागुने गुनइ ते गुनगण तोर।
फूटि कुसुमित भेल कानन ओर।।
फूल-धनु लेइ कुसुम-शर साज।
फुकरि रोय धनि परिहरि लाज।।
फुकरि कहू हरि इथे नहिं छन्द।
फेरि न हेरबि राइ मुख-चन्द।।
फोरल दुहुँकर मरकत बलई।
फारल नयन सघन जल खरई।।
फुयल कवरी सम्बरि नहिं बाँधै।
फणि-पति-दमन बोलि धनि काँदै।।
टूटल हृदय-विदारण नेह।
फुतकारहि धनि तेजब देह।।

फेरि न हेरबि सहचरि वृन्द।
फलब कि ना बूझल दासगोविंद।।"

इस समय नायिका से नायक दूर है। परन्तु फाल्गुन के वे रसाश्रित दिवस आ गये हैं, द्रुम-लताओं ने नवीन जीवन धारण कर लिया है। चारों ओर से जीर्ण अतीत ज्यों-ज्यों नवीन पल्लवित वर्तमान में आन्दोलित होता हुआ बढ़ता चला आ रहा है, त्यों-त्यों नायिका को उसके अपने अतीत के मृत वसन्त की याद आ रही है। सबकुछ पूर्ववत् ही है, पर एक के बिना तमाम नवीनता उसे जैसे द्युति के दहन की तरह, प्रकाश की असहनशीलता की तरह मालूम पड़ रही हो। इतनी पूर्णता में उसे इतना अभाव।

मान—

"ए धनि मानिनि, मान निवार।
अबिरे अरुण, श्याम-अंग-मुकुर पर,
निज प्रतिबिम्ब निहार।।
तुहुँ इक रमणी, शिरोमणि रसवती,
कोन ऐछे जग माँह।
तुहारि समुखे, श्याम सँग बिलसब,
कैछन रस-निरबाह।।
ऐछन सहचरि, वचन हृदय धरि,
सरमे भरमे मख फेरि।
ईषत हासि सने, मान तेयागल,
उलसित दुहें दुहाँ हेरि।।
पुन सब जन मिलि, करये विनोद केलि,
पिचकारी करि हाते।
द्विज चण्डीदास अबीर जोगावत,
सकल सखी गन साथे।।"
"राइएर वचन, सुनि या सखीगण,
आनिल जमुना वारि।
नागर सुन्दर सिनान करल,
उलसित भेल गौरी।।
ललिता आसिया, हासिया हासिया,
परायल पीत वास।
परिया बसन, हरषित मन,
बसिला राहक पास।।
राइ विनोदिनी, तेरछ चाहनी,
हानल बँधूर चिते।
नागर सुन्दर, प्रेम गरगर,
अंग चाहे परसिते।।

मन आछे भय, मानेर संचय,
साहस नाहिक ह्वय।
अति से लालसे, ना पाय साहसे,
द्विज चण्डिदास क्वय।।"

होली का मौसिम है। सखियाँ कृष्ण के साथ रंग-अबीर खेलने आयी हैं। एक सखी किसी दिल्लगी से रूठ गयी। शायद वही सब सखियों की रानी है। यह देख-कर एक दूसरी सखी जिसका अभी हौसला बाकी था, उस सखी से कहती है— देख, अबीर से लाल हुए श्याम के अंग-मुकुर में अपना चेहरा देख। हम सबों की तू ही सेनापति है। अब अगर इस संग्राम में तू ही ने पीठ दिखा दी, तो फिर हम सब किस बिरते पर लड़ेंगी ? इसलिए तू उठ। सखी की बातों का उस पर प्रभाव पड़ता है। उसके सामने आते ही फिर अबीर की धूम मचती है। दूसरा पद सीधा है। परन्तु कुछ शब्दों मे उसका भी भावार्थ देता हूँ। पहले कृष्ण से किसी कारण श्रीमती की अनबन हो गयी थी। सखियों के समझाने से वे मान गयीं। उन्होंने कृष्ण को बुलाया। उनके आने पर यमुना से घड़ा भरकर पानी मँगवाया गया। कृष्ण के नहाने पर सखियों को हर्ष होता है। ललिता हँसती हुई उन्हें पीताम्बर पहनने के लिए देती है। पीताम्बर पहनकर वे राधा के पास बैठते हैं। राधा के दिल का मलाल चला जाता है। वे हँसती हैं। ये उन्हें स्पर्श करना चाहते हैं। लेकिन दिल से कुछ डरते भी हैं। क्योंकि अभी-ही-अभी श्रीमतीजी के दिल से मान हटा था। अस्तु, आप डर और हौसले के बीच की हालत में रह जाते हैं।

मोह दशा—

"कानने कामिनि कोइ न जाय। कालिन्दी-कूल कलपतरु छाप।।
कुंज कुटीर महँ कान्दइ कोई। करे सिर हानई कुन्तल थोई।।
नलिनि-नागरि-गने नासल नेह। नवीन निदाघे न जीवइ केह।।
नीरद निन्दित नवनव बाला। लागल विरह हुताशन ज्वाला।।
गलत गात गीरत महि माँह। गुरुतर गीरिष अधिक भेल दाह।।
गोकुले गोप रमणी अस भेल। गयल गरासने गोविन्द गेल।।"

"उदल नव नव मेह। दूर साँवर देह।।
घनहिं बिजुरि उजोर। हरि नागरिन कोर।।"

"झर-झर जलधर-धार। झंझा - पवन- बिथार।।
झलकत दामिनि माला। झामरि भैगेल बाला।।
झूठ कि कहब कन्हाई। झुरत तुआ बिन राई।।
झन झन बजर निसान। झाँपि रहत दुइ कान।।
झूमरि दादुरि बोल। झूलत मदन हिलोल।।
झटकि चलत धनि पास। झगड़त गोविन्ददास।।"

यहाँ कृष्ण मे वियोग की दशा का वर्णन है। अब उन फूले फले हुए कुंजों में सखियों का अभिसार नहीं होता। कालिन्दी-कूल के छाया-तरु शून्य-दृष्टि से विरक्तों की तरह आकाश की ओर देखा करते हैं। किसी-किसी कुंज-कुटीर से रोने

की ध्वनि सुन पड़ती है। ब्रज की नागरियों का स्नेह से भरा हृदय-घट जैसे रिक्त-सा हो रहा हो। विरह के प्रखर ग्रीष्म में सब झुलस रही हैं।

वर्षाकाल के नवीन जलदों को देखकर गोपियों को कृष्ण की याद आती है। पर जो गया वह सदा के लिए गया। विद्युत की चकित चौंक से सखियों की दृष्टि में कृष्ण की ही मूर्ति खिंच जाती है। कितना प्रगाढ़ प्रेम! "जित देखो तित श्याम-मयी है। श्याम कुंजवन, जमुना श्यामा, श्याम-गगन घन-घटा छई है।"

निःस्वार्थ प्रेम अपना सहज परिणाम प्राप्त करता है, तमाम प्रकृति में गोपियों को कृष्ण की ही सूरत नजर आती है।—"सर्वं कृष्णमयं जगत्।" अभेद अद्वैत आनन्द में उनकी सम्पूर्ण क्रीड़ाएँ रसालाप, कौतुक-विनोद आदि परिसमाप्त होते हैं।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त-सितम्बर, 1928 (संयुक्तांक)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

कला के विरह में जोशी-बन्धु

कभी सोचा था, दलबन्दी के दलदल में न फसूंगा, मार का जवाब प्यार से दूंगा; परन्तु 'आपन-चेती होय र्नाहि, हरि-चेती तत्काल' की आफत का पहाड़ हरि की इच्छा से मुझी पर आ टूटा। जिस रोज मैंने साहित्य के खाते में नाम लिखाया, उसी रोज से हिन्दी-साहित्य के आचार्यों ने पाठ पढ़ाना शुरू कर दिया कि जब तक जियो, अपने हाथों अपनी नाक काटकर दूसरों का सगुन बिगाड़ते रहो, बस, साहित्य-सेवा के यही माने हैं। पहले तो मैं इस 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का अनुसरण नहीं कर सका—और कौन भला आदमी इस अतिमानवीय कार्य का एकाएक परशुरामी निर्वाह कर सकता?—लेकिन कुछ ही काल की साहित्य-सेवा के फलस्वरूप जब चारों ओर से साहित्य के स्वाधीनचेता महापुरुषों ने बगावत का झण्डा खड़ा किया, डेढ़ इंच की कविता की खाई को पार कर जाने की सलाह साहित्य के वृद्ध सम्पाती ने समागत लंगूरदल को दी, और फिर पार करने का अपार कार्य करके लौटने में सन्देह करनेवाले अंगदजी ने अपने अतीत काल के अभिशाप का हाल बयान किया तब सलाह-मशविरे की धूम पड़ी। किसी ने कहा, यह है तो डेढ़ ही इंच की चौड़ी खाई, लेकिन छायावाद की माया से कभी डेढ़ हाथ की और कभी-कभी गज-भर की भी हो जाती है। अतः इस डेढ़ इंच के हिसाब से लांग जम्प करने पर अगर यह तत्काल डेढ़ गज की हो गयी, तो फिर हमारा क्या हाल होगा। इसी तरह किसी ने कुछ कहा, किसी ने और कुछ। उस समय मुझे मालूम हो गया कि हाँ, 'वृद्धस्य वचनं ग्राह्यम्' एक मूल्यवान् कथन

जरूर है। लेकिन, पहले-पहल किसी को मारूँ भी तो कैसे ? कुछ दाँव-पेंच भी तो नहीं मालूम। फिर किसे मारूँ, किसे नहीं, यह भी एक टेढ़ा सवाल है। कहीं किसी बेजोड़ पर हाथ छोड़ बैठा, तो अन्त में हरसूब्रह्म के भौतिकवाद में परिणाम प्राप्त न करना पड़े। फिर उद्धार के लिए सदियों तक किसी तुलसीदास की बाट जोहता रहूँगा। इस युग में कितने काल पश्चात् ऐसे महापुरुष आवेंगे ! कुछ रोज ठहरकर सोचा, तो दिल ने कहा, शिकार ही करना है, तो किसी शेर का करो, जंगल से गीदड़ क्या उड़ाओगे ? शेर के नाम से एक शेर की याद आ गयी (भगवान् जाने शेर है या सवा सेर)—

"यारो शेरे - बबर से न डरना कभी;
पर विधवा से शादी न करना कभी।"

मैंने कहा, बस-बस मिल गयी, मैं साहित्य की किसी विधवा का ही शिकार खेलूँगा। भई, लगा पता लगाने, हरेकृष्ण-हरेकृष्ण, तमाम खेत ऊजड़; जिस तरह वैवाहिक प्रस्तावों-के-प्रस्ताव जोर मार रहे हैं, विधवाएँ तो क्या, क्वाँरियाँ ही बही-बही फिरती हैं। विधवाओं का दीवाला तो महर्षि दयानन्दजी ने पहले ही निकाल दिया था। लेकिन अध्यवसाय तो कुछ कर ही गुजरता है, और मैं भी खोज के महकमे में बहुत काल तक सी. आई. डी. का अफसर रह चुका हूँ। साहित्य के हर मासिक दफ्तर की जाँच शुरू कर दी। बहुत काल के बाद गत चैत्र मास की 'सुधा' में एक लेख मिला, और आरम्भ ही में—'साहित्य-कला और विरह' देख पड़ा। मैंने कहा, नाम देखा, तो "पं. हेमचन्द्र जोशी बी. ए. और इलाचन्द्र जोशी !" पहले तो नाक सिकुड़ गयी, दिल को मजबूत करके मन-ही-मन कहा कि यह ज़माना विश्ववाद का है, और इस काल में विधवा-सम्बन्धी इतने संकीर्ण विचार रखना ठीक नहीं, दूसरे जिस किसी के अन्दर विधवा के भाव हों, वही विधवा, मुझे मतलब तो बस भाव ही से है न ?—पुरुष-विधवा ही सही, मुझे विवाह थोड़े ही करना है ? प्रमाण ने कहा, तुम ठीक रास्ते पर हो, जोशी-बन्धुओं ने आरम्भ में जो उद्धरण दिया है, उससे तुम्हारा पूरा समर्थन होता है—

"आमार माझारे जे आछे से गो
कोनो विरहिणी नारी।"

—रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ कहते हैं, मेरे अन्दर जो है, वह कोई विरहिणी स्त्री है। बस, इसी तरह विरह के जोशी-बन्धुओं के अन्दर भी किसी विरहिणी विधवा स्त्री की मूर्ति अवश्य ही होगी, और इसी तरह वे विधवा भी सिद्ध होते हैं। मैंने कहा, अच्छा, तो अब मैं शिकार खेलता हूँ, मम दोषो न विद्यते।

महाजनों के मार्ग का अनुसरण जोशी-बन्धुओं ने भी किया है। मुझे स्मरण है, जब कलकत्ते में 'मारवाड़ी अग्रवाल' के विरहिणी बड़े भाईसाहब सम्पादक थे, और औपन्यासिक बाबू शरच्चन्द्र के गृहरूपी सरस्वती-सदन में श्रद्धा से विकम्पितपद प्रवेश करने की उन्होंने हिम्मत कर डाली थी, तथा इसी भाव को श्रीयुत प्रेमचन्दजी की कला-रहित कृति की तीव्र समालोचना करते हुए अपने शब्दों में प्रकट किया था, उस समय आपने सत्यं शिवं सुन्दरम् की आड़ ली थी। कुछ हो, महाजनों के

मार्ग से होकर गुजर भी गये, और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की एक मौलिकता भी अलौकिक हिन्दी-संसार को हमेशा याद रखने के लिए दे गये। विरहिणी बड़े भाई साहब इस तरह तो एक थपेड़ा कसकर प्रतिक्रिया के रूप से सातों सागर पार कर अपने प्रियतम से जा मिले, इधर कुछ काल बाद छोटे भाई साहब का भी विरह चर्राया। कहते हैं, बाज-बाज रोग संक्रामक होता है। खैर, विरह की दवा तो अब तक एक मिलन ही रहा है। आप भी 'माडर्न रिव्यू' से मिले, और आपने वहाँ से भी कुछ छलाँगें उसी शिकार पर भरीं, जिस पर कभी बड़े भाई साहब झपट चुके थे। लेकिन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तो पहले ही से बड़े भाई साहब के हक में चला गया था। अब छोटे भाई साहब कौन-सी मौलिकता प्रकट करते ? आपने कला की आवाज उठायी। धीरे-धीरे दोनों भाई साहबान कला के विरह में सम्मिलित हो गये। अब मुझे उसी का विचार करना है।

आप लोग प्रथम पैरे में लिखते हैं—"सभ्य संसार के इतिहास में कला की अभिव्यक्ति एक आश्चर्य घटना है। इससे यह पता चलता है कि मानव-हृदय प्राथमिक अवस्था से कितनी दूर तक विकसित होता हुआ चला गया है। प्राथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी, अज्ञान में, एक प्रकार की निगूढ़ वेदना का अपने अन्तस्थल के सुदूर किसी निभृत प्रान्त में अवश्य ही अनुभव करता था। आज भी हम देखते हैं, आफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया की जंगली जातियों में और हमारे देश के भील-संथाल आदि लोगों में नाना प्रकार की नृत्य-गीतादि कलाओं के उत्सव मनाये जाते हैं। ये उत्सव अन्तस्तल की उसी निगूढ़ वेदना का प्रकाश हैं। बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य-समाज के भीतर साहित्य, संगीत, चित्र-शिल्प, भास्कर्य आदि सुउन्नत कलाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। अब यह देखना चाहिए कि अन्तस्तल की जिस निगूढ़तम वेदना से ये सब कलाएँ उत्थित हुई हैं, उसका मूल-उत्स कहाँ पर है।"

जब साहित्य के विकास पर आश्चर्य प्रकट करने के पश्चात् मनुष्यों की प्राथमिक अवस्था का अनुसन्धान करते-करते आप लोग अफ्रिका, आस्ट्रेलिया तथा अपने देश के बर्बर और कोल-भीड़-संथालों के मकानों में दाखिल हो जाते हैं, उस समय किसी समझदार से छिपा नहीं रह सकता कि आप लोगों की अन्तरात्मा किस मत की अनुयायिनी है, यानी बिलकुल खुलासा हो जाता है कि आप लोग विकासवाद में डार्विन-पन्थी हैं, भारतीय सृष्टि-तत्त्व का ककहरा भी नहीं मालूम। जिस परा विद्या और अपरा विद्या के प्रचार से दोनों के विश्लेषणात्मक रूप भारतवर्ष के आर्य हमेशा आँखों के सामने रखते थे, जिससे आर्य और अनार्य का, देव और असुर का चित्र देखते ही वे पहचान लेते थे, चाहे वह कितने ही सूक्ष्म रूप से, चाहे केवल भावमय होकर ही, उनके सामने क्यों न आवे, आर्यों के उस जातीय सूत्र को वेदान्त के लच्छेदार प्रमाण उद्धृत करनेवाले जोशीबन्धु कहाँ तक समझ सके हैं, यह उनके उद्धृत बिसमिल्लाह से ही समझ में आ जाता है। तिस पर मजा यह कि आपने एक लेख भी अद्वैतवाद पर लिख डाला था !—किताबों की रटन्त विद्या और लेखों के झटकन्त प्रयास से साहित्य का सागर तो अनायास ही पार कर डाला।—लेकिन वृत्ति को किस ताक पर रख आते ?—वह तो आप लोगों के

साथ ही फिरती हुई आप लोगों का सच्चा साधनालब्ध ज्ञान प्रकट करती जाती रही है। प्रमाण-स्वरूप आप लोग डूबे या नहीं उसी कॉलेज की परिचित, दृढ़ अभ्यास में समायी हुई डार्विन-थ्योरी के गोष्पद-जल में ? "प्राथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी" आप लोगों का यह कथन सिद्ध करता है कि सृष्टि अज्ञान से हुई, यानी पहले लोग बेवकूफ पैदा हुए, अब तरक्की कर रहे हैं—कैसी अवैज्ञानिक बात है ! —यह न वर्तमान जड़-विज्ञान से मिलनेवाली है और न प्राचीन धर्म-शास्त्रानुसार परा-विद्या से। आजकल के जड़-विज्ञान ने जो इतने ये आविष्कार किये हैं, यदि प्रकृति में पहले ही से ये बातें न रही होतीं, ये विषय सूक्ष्म रूप से न रहे होते, तो मनुष्यों के मस्तिष्क में आते कहाँ से और आये भी कैसे ? यदि वाष्पाकार पानी न रहा होता, तो उसकी बूँदें क्या आप लोगों को दिखलायी पड़तीं ?—जो रहा ही नहीं, वह क्या कभी हो भी सकता है ?—अभाव से कभी भाव सम्भव है ? इसीलिए सृष्टि भी अनादि मानी गयी है। आप लोग कला का विकास भीलों-संथालों के घरों से करते हैं, और यहाँ के वेद, जो अब तक के उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे प्राचीन हैं, संसार की सब प्राचीन भाषाएँ जिनके शब्दों के अपभ्रष्ट रूप सिद्ध हो रही हैं—अनार्यत्व-प्राप्त मनुष्यों के उच्चारण की अक्षमता से विकृत पश्चात् निष्क्रान्त हैं, वे यहाँ के वेद कहते हैं कि सृष्टि ज्ञान से हुई है और उस ज्ञान को ही ब्रह्म कहा है। उस ब्रह्म या ज्ञानात्मक सत्ता में अनादि-भाव, अनादि-सृष्टि-वैचित्र्य बतलाये गये। ऐसे ब्रह्म के जाननेवाले उस आदिम काल के मनुष्यों के सम्बन्ध में कहा गया कि संसार के रहस्यों के आप पूर्ण ज्ञाता हैं, आपकी मुट्ठी में संसार एक बेर की तरह दबा हुआ है—"आप 'विश्व-बदर-कर' हैं, यह विश्व-आमलक-समान आपके करतल-गत है।" उन महापुरुषों की सन्तानों को जोशीबन्धु कला में विरह दिखलाते-दिखलाते शिक्षा दे रहे हैं—"बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य-समाज के भीतर साहित्य, संगीत, चित्र-शिल्प, भास्कर्य आदि सुउन्नत कलाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।" आप लोगों के वेदान्त-ज्ञान का यह कैसा समुज्ज्वल प्रमाण है ! मजा यह कि इसी में आप लोगों ने एक उपनिषत् का भी उद्धरण दिया है, जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी। इस विचार से आप लोगों ने कलाओं को सु+उन्नत तो बिलकुल ही नहीं किया, किन्तु कला-कौशल की (सु+उन्नत =) सुन्नत जरूर कर डाली है।

सृष्टि की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों में सत् और असत्, दैव और आसुर भावों का मिश्रण है, चाहे वह मनुष्यकृत हो या प्रकृति-संजात। कला के लिए भी यही विचार है। भारतवर्ष के आर्यों में मनोविनोद के लिए जिस कला का प्रचार था, वह दैव थी, इसीलिए देवतों के सद्गुण-संयुक्त पात्रों के चित्र यहाँ अंकित किये जाते थे। इनके दर्शन से हृदय में दिव्यता का विकास होता है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श द्वारा जिस प्रकार की भावना हृदय में प्रवेश करती है, उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में उसी प्रकार का नशा छा जाता है। यदि पूर्वोक्त परमाणु दैवगण-संयुक्त होते हैं, तो आत्मा में एक प्रकार के दिव्य आनन्द का स्फुरण होता है, और यदि वे तन्मात्राएं (रूप, रस, शब्द, गन्ध या स्पर्श से आनेवाली) किसी विकृत भावना की, किसी आसुर प्रकृति की होती हैं, तो हृदय

को उसी प्रकार का मोह, नशा या उन्माद आच्छन्न कर लेता है। कला की अभिव्यक्ति में इसीलिए यहाँ दिव्य भावना का ही विकास किया गया है, और आसुर भावों से भरसक बचने की कोशिश की गयी है। वे तमाम भाव आसुर हैं, जो मोह के आकर्षण से पतित कर देते हैं। हिन्दू-जाति अपने समाज की रक्षा के लिए आदिम काल से ही इस विषय पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार करती चली आयी है। उसका साहित्य इसका प्रमाण है। वह निर्मल आत्मा की प्राप्ति के लिए ही सचेष्ट रही है। बौद्ध-युग से अधिक कला-कौशल का काल शायद ही संसार में आया हो। उस समय भी भारतवर्ष की कला का रुख किस तरफ था, देवत्व के विकास की ही ओर या नहीं, इसका सहज ही निर्णय हो जाता है, और साथ ही यह भी समझ में आ जाता है कि उस देवत्व-पूर्ण कला के विकास से संसार के किसी भी मनुष्य को, किसी भी सम्प्रदाय को यथार्थ विवेचन से कष्ट या किसी प्रकार का दुःख नही पहुँच सकता, अवश्य आसुर भाववालों की खूराक—इतर प्रवृत्तियों का विकास—उसमें न रहने से उन्हें कष्ट जरूर होता है; क्योंकि कुछ काल के लिए उनकी अधोगति रुक जाती है। हृदय-यन्त्र स्तम्भित तथा निष्क्रिय-सा होकर उन पथ भ्रष्ट जीवों को अधोगामी होने से रोक लेता है—यह क्रिया उन्हें मृत्यु-यन्त्रणा-तुल्य असह्य होती है। परन्तु इससे उस दिव्य कला का कोई कुसूर नहीं सिद्ध होता। उल्लू अगर सूर्य का प्रकाश नहीं देख सकता, तो इसमें प्रकाश का क्या कुसूर? इस विचार से भारतवर्ष हमेशा उल्लुओं को इस काबिल करता रहा कि वे सूर्य का प्रकाश देख सकें। भारतवर्ष की तमाम शिक्षाओं की बुनियाद दैवी विकास के अनुकूल, अन्त तक ब्रह्म की प्राप्ति कराने में सहायक रही है। भारत के लोग बुरी भावनाओं को दबाते ही रहे हैं, समाज में उनका विकसित रूप नहीं रखने दिया, और अगर रक्खा भी, तो व्यंग्य के तौर से, ताकि जन-साधारण पर उनका प्रभाव न पड़े, लोगों की भावनाएँ कलुषित न हों, यहाँ जितने भी चरित्र-चित्रण साहित्य में हुए, सबमे अन्त तक धर्म की ही विजय दिखलायी गयी। 'यतो धर्मस्ततो जयः' की कहावत आज भी पराधीन, पददलित भारतवर्ष रट रहा है। दक्षिण के मन्दिरों में आज जितनी चित्रकारी दिखलायी पड़ती है, उसमें पाप और पुण्य के संग्राम में पुण्य की ही विजय प्रदर्शित की गयी है। पाप और कलि के सैकड़ों व्यंग्य-चित्र हैं। इसी पुण्य की बदौलत दक्षिण के मुट्ठी-भर ब्राह्मण करोड़ों अन्त्यजों पर शासन कर रहे हैं। भारतवर्ष की पराधीनता का गहन विचार सिद्ध करता है कि शक्ति से उद्धत, लक्ष्य-भ्रष्ट मनुष्यों को भारतवर्ष में लाकर आदि-शक्ति एक विशेष शिक्षा देना चाहती है। आज तक हिन्दू इसीलिए नहीं मरे। क्या जोशी-बन्धु बतलायेंगे कि संसार की अमुक पराधीन जाति इतने दिनों तक की दासता के पश्चात् भी जीवित रही है? भारतवर्ष का यह जीवन उसकी अपनी शिक्षा, अपनी कला, अपने साहित्य और अपने भास्कर्य के बल पर ही इतने दिनों से टिका हुआ है। यदि जोशी-बन्धुओं की अन्ध नकल यहाँ कामियाब हुई होती, तो बौद्ध ही इस जाति को तब तक हजम कर गये होते, और वेदों का नामोनिशान भी अब तक न रह गया होता, सनातन-धर्म के जीर्ण अंग-प्रत्यंग आर्य-समाज के निर्मम प्रहारों से, लेक्चरों की तीव्र ज्वाला से दग्ध होकर राख होने के पश्चात् अब तक मिट्टी में मिल गये होते। 'स्वधर्मे

निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' के उज्ज्वल करोड़ों दृष्टान्त इसी भारतवर्ष की दिव्य कलावाली जाति ने दिखाये, और अपनी पराधीन अवस्था के दीन दिनों में यह जौहर प्रदर्शित किया। यहीं के लोग, जो आठ-आठ रुपये की मासिक वृत्ति पर गुलामी करते हैं, जूता उठाने की आज्ञा देनेवाले साहब के, अपने पैरों से पँचसेरी चमरौधा उतारकर, भय-बाधारहित हो दनादन-दनादन जड़ सकते हैं। चमड़े के कारतूस को दाँतों से काटने से इनकार करनेवाले धर्म-जीवन यहीं के लोग सन् 57 की ऐसी संगठित शक्ति की करामात दिखाने का हौसला रख सकते हैं—वह संगठन कर सकते हैं, जितना बड़ा आज तक राजनीति के अन्धकार में उड़नेवालों से नहीं हो सका। यहीं के वीर क्षत्रियों का सम्मुख-समर में प्राण तक विसर्जन कर देने की शिक्षा मिली है, जो एक बार बिना हथियार के भी मोर्चे पर अड़ सकते हैं—अरे, उनके बिना सिर के धड़ तक ने पूर्वावेश के कारण संग्राम किया, और यह सब यहीं के साहित्य, कला, शिल्प, संगीत और भास्कर्य की शिक्षा की बदौलत !

जो लोग कहते हैं, कहते क्या हैं, "Art for art's sake" की प्रतिध्वनि किया करते हैं, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा था—अभी उस दिन 'सरस्वती' की पुरानी फाइलें उलटते-उलटते देखा—जब किसी महिला ने उनसे कहानी लिखने का उद्देश क्या है, पूछा। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "उद्देश कुछ भी नहीं, कहानी लिखने की इच्छा होती है, इसीलिए लिखता हूँ।" Art for art's sake की तरह यह भी "कहानी for कहानी's sake" ही हुआ। खैर, यह तो अपनी-अपनी मर्जी है। एक बार बलऊ के बकरे ने महमूद मियाँ के बगीचे में घुसकर आम की एक टहनी कतर ली। आपने लठ लेकर पीछा किया, तो बकरा भागकर घर में घुस गया। आपने कहा—"ठहर बेटा, मैं जुलाहे का जना ही नहीं, अगर जल्द ही तेरी खबर न ली।" दूसरे दिन आप बलऊ के पास पहुँचे। बकरा ज्यादा-से-ज्यादा छः रुपये का था। आपने आठ लगा दिये। सोचा, न सही मुनाफ़ा, घाटा तो है ही नहीं। बलऊ ने भी सोचा, मौका चूकना बेवकूफी है। खैर, तय हो गया। मियाँ महमूद ने आठ रुपये गिन दिये, और बकरे का कान पकड़कर बड़ी पहचान से निगाह मिलाते हुए अपने मकान ले चले। दरवाजे पर पहुँचे, तो लड़के से कहा, अबे ले तो आ छुरा। लड़का छुरा ले आया। पड़ोस में कुछ हिन्दू भी रहते थे। महमूद मियाँ ने वहीं बकरे को दे मारा, और पूंछ की तरफ से छुरा भोंकने लगे। हिन्दुओं ने कहा, अरे मियाँ, यह क्या करते हो ? लगता होगा बेचारे के ! महमूद ने कहा, बस चुप रहो, बकरा मेरा है, मैं इसे पूंछ की तरफ से ज़िबा करूँगा।

इसी तरह जबान हर एक की अपनी है, चाहे वह किसी विषय का वर्णन सिरे की तरफ से करे, चाहे पूंछ की तरफ से। ज़माना दूसरा है, कहनेवाला भी कोई नहीं।

जिन कहानियों में आजकल के समालोचकों को कला की कोई विभूति नहीं मिलती, उन कहानियों और उपन्यासों में यदि किसी विशद आदर्श की रक्षा की गयी है, तो कौन कह सकता है कि वही आज या कुछ समय के अनन्तर इस जाति के गले का हार न होंगी ? "**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**"—चिर-काल से अब तक इस जाति की यही शिक्षा रही है। उन कहानियों का वह विशद

आदर्श जिस प्रकार से निर्वाह प्राप्त करता हुआ पूर्ण होता है, वह 'अनन्त-अनन्त' की रट भले ही न लगाता हो, पर उस आदर्श की परिपूर्णता की व्याख्या 'अनन्त' ही होती है। अगर कोई औपन्यासिक एक सच्चरित्र स्त्री का चित्र अनेक भावनाओं के भीतर से खींचकर लोक-समाज के सामने रखता है, और यद्यपि वह सच्चरित्र स्त्री को 'अनन्त' या 'विश्वदेव' के सिंहासन की बगल में नहीं खड़ा करता, तथापि उसकी उस सच्चरित्रता की परिणति अन्त तक कहाँ होती है ?—उसी अनन्त में या और कहीं ? नदी का पानी नदी के ही पानी से अगर मिला दिया गया तो क्या वह वहीं रुक गया, या बहकर अन्त तक अपार महासागर से जा मिला ?—जब हिन्दुओं के हजार वर्ष तक गुलामी करके भी न मरने के कारण की जाँच की जाती है, तब उत्तर में अनन्तदेव नहीं उतरते; बल्कि उस जाति के सदाचरण, सच्चरित्रता, दिव्य भाव और शुभ संस्कार ही काम आते हैं, जो उस अनन्त शक्तिमान् परमात्मा को धारण करने के स्तम्भ-स्वरूप हैं—अनन्त की छत का भार इन विशद शिक्षाओं की भीत पर ही टिका हुआ है। जब आजकल की तरह, आसुरी शक्ति का औद्धत्य अनन्त को ग्रहण करता है, तब ग्रहण तो कर सकता है, पर तत्काल वह आसुरी शरीर नष्ट-भ्रष्ट भी हो जाता है। यहाँ के पुराणों के उदाहरण देखिए—हिरण्यकशिपु, रावण, बाण, मधुकैटभ, रक्त-बीज आदि असुरों का उत्कर्ष, उनकी शक्ति का परिचय, उनकी राज्य परिचालना-शक्ति, शासन-शृंखला कितनी विशाल, कितनी सुदृढ़, कितनी सुशृंखल थी! विज्ञान में, जिसे पहले के आर्य-परिभाषाकारों ने माया कहा है (चूँकि यह अपरा, अविद्याजन्य दुःखद है, और विज्ञान परा की कोटि में है, जिसे विद्या कहते हैं), उन असुरों ने कितनी उन्नति की थी! पर जिस घड़ी नृसिंह-भगवान् हिरण्यकशिपु का मुकाबला करते हैं, तब विराट् की शक्ति से उसका साक्षात्कार होता है—अनन्त का वह अनुभव करता है, वह शरीर से निष्प्राण होकर उनमें परिसमाप्त होता है; परन्तु वह महाशक्ति का विकास प्रह्लाद का कुछ नहीं कर सकता—प्रह्लाद इतना बड़ा दिव्यधार है कि उस समय देवतों के देवता तो भगवान् नृसिंह का भयंकर रूप देखकर कूच कर ही जाते हैं, किन्तु उनकी धर्मपत्नी श्रीलक्ष्मीजी में भी यह साहस नहीं होता कि वे नृसिंहदेव का सामना करें—उनका क्रोध शान्त करें। अन्त में प्रह्लाद ही उन्हें शान्त करते हैं। इस कथा में कितना बड़ा सत्य छिपा हुआ है!—दिव्य भावना की कितनी बड़ी महत्ता प्रकट की गयी है! आसुरी शक्ति के सामने ईश की उस अनन्त की आसुरी शक्ति का ही विकास होता है, घात प्रतिघात की ही सृष्टि करता है और उसी से उसका नाश भी होता है। इसी तरह असुर अपनी शक्ति से ईश्वर को, उस अनन्त को, प्रत्यक्ष करते हैं; परन्तु उनका शरीर इसके बाद नष्ट भी हो जाता है। इसीलिए कहा है—"**प्रभु से बैर कौन सो हारा।**" आजकल योरप के विज्ञानवेत्ता भी कहते हैं कि हरएक घात प्रतिघात की सृष्टि करता है। आप दीवार में चपत मारेंगे, तो आपके हाथ में भी चोट लगेगी। आसुरी प्रकृति स्पर्द्धा से अनन्त को प्रत्यक्ष करती है। यहाँ वालों ने इसका बहुत पहले ही विश्लेषण कर डाला था, और जहाँ सख्य, दास्य, मधुर और वात्सल्य आदि भाव निश्चित किये वहाँ एक वैर-भाव को भी जगह कर दी है। अस्तु, यहाँ हमें मालूम हो जाता है कि अनन्त को धारण कर रखने की

शक्ति दिव्य भावों में ही है, और इस दृष्टि से उन कृतियों में यदि दिव्य भावों का विकास मिलता है, तो वह जातीयता के विकास का यथार्थ मार्ग ही है, और एक आदर्श कला से भी रहित नहीं।

यहाँ तक हम यह देख चुके कि दिव्य भावना, दिव्य कला, सत्साहित्य, सत्संगीत की आवश्यकता क्यों है, और किस तरह ये इस जाति के जीवन और अनन्त को धारण कर रखने के मूल-आधार हैं। साथ ही यह भी दिखलाया गया कि सृष्टि के आदिम काल से ही इन तमाम दिव्य गुणों पर आर्य-जाति का उसकी वैदिक भाषा द्वारा एकाधिकार है—'विद्'—'ज्ञान', 'विद्या' और 'वेद' के रूप भी सिद्ध करते हैं कि ज्ञान-जन्य सृष्टि हुई, और चूँकि वेदों से प्राचीन ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुए, इसलिए इससे भी प्रमाण मिल रहा है कि जब तक प्राचीन साहित्यों का क्रम इस तरह नहीं दिखलाया जायगा कि असभ्यता के अन्दर से सभ्यता निकली, अविद्या के भीतर के विद्या का प्रकाश हुआ, तब तक इस तरह की धारणा डार्विन की कल्पना और एक मोहान्ध कल्पना के अतिरिक्त और किसी मान्य अस्तित्व का परिचय नहीं दे सकती। 'वेदान्त', जिसे ज्ञान का अन्त या ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, वह भी यही बतलाता है। आज तक डार्विन-थ्योरी के विरोधी योरप में भी अनेक हो गये हैं, परन्तु 'वेदान्त' अनादि काल से आज तक उसी सत्य पर स्थित और अविचल है, आज भी उसके समझने और माननेवाले भारतवर्ष में और बहिर्देशों में अनेक हैं। उसके अनुसार चलनेवाले मनुष्य गलत रास्ते पर हैं या ठीक मार्ग पर, यह स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ की ओर देखने से समझ में आ जाता है। उस वेदान्त का सृष्टितत्त्व भी बतलाता है कि सृष्टि का विकास ज्ञान से ही हुआ।

जोशी-बन्धुओं के वेदान्त-ज्ञान की कुछ परीक्षा करना आवश्यक है। आप लोगों ने लिखा है—"जब आनन्द के कम्पन ने अव्यक्त को द्विधा करके व्यक्त प्रकृति को परिस्फुटित किया, तब सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त था।"

पहले इस वाक्य का विभाजन करना ही ठीक होगा; क्योंकि जो लोग वेदान्त का यथार्थ आशय नहीं समझते, उन्हें समझने में कठिनता होगी। आप लोगों का यह वाक्य सिद्ध करता है—

(1) आनन्द के कम्पन ने—

(इसमें आनन्द और कम्पन दो हैं, यानी आनन्द में एक कम्पन हो रहा है, जिसने)—

(2) अव्यक्त को—

(यह अव्यक्त का उल्लेख साफ कह रहा है कि आनन्द के कम्पन से अलग यह एक तीसरा कुछ है, अर्थात् कर्तारूपी 'आनन्द के कम्पन' की क्रिया का यह 'अव्यक्त' कर्म 'आनन्द के कम्पन' से भिन्न एक और सिद्ध विषय, वस्तु या कुछ है, जिसे)—

(3) द्विधा करके व्यक्त प्रकृति को।

(यहाँ आनन्द के कम्पन से अव्यक्त के भिन्न होने पर भी, उससे पहले, यानी उसके भिन्न होने से पहले भी एक व्यक्त प्रकृति का अस्तित्व आप लोग सूचित

करते हैं, अर्थात् अब कई हो गये--(1) आनन्द (2) कम्पन (3) अव्यक्त (4) व्यक्त प्रकृति—जिसे—यानी व्यक्त प्रकृति को भी) ---

परिस्फुटित (!) किया —

(अर्थात् व्यक्त प्रकृति को भी व्यक्त किया !)

कैसा सृष्टितत्त्व समझाया है आप लोगों ने ! कहाँ तो उपनिषद कहते हैं— "वह अव्यक्त खुद ही व्यक्त हुआ, उसकी व्यक्ति ही यह तमाम सृष्टि है," कहाँ आप लोग जिस वाक्य में न नाक है, न कान, न सिर है, न पूँछ—और हो भी कैसे? एक की जगह चार-चार को ठूँसते चले गये हैं ! अन्त में जो कहा कि तब सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त था, यह कल्पना और गजब ढा रही है—इस कुल वाक्य के बाद एक 'छू:' जोड़ देने की आवश्यकता थी, बस, बना-बनाया साँप का मन्त्र था । हम लोग समझ लेते कि तुलसीदास की चौपाई सार्थक हो गयी—

"अनमिल आखर अर्थ न जापू
'जोशी-युग-कृत' प्रगट प्रतापू ।"

अब ज़रा मुलाहिज़ा फर्माइए कि बृहदारण्यकोपनिषद् का दिया हुआ आप लोगों का उद्धरण आप लोगों के पूर्व-कथन से कहाँ तक मिलता है—"उस अनादि, अव्यक्त पुरुष को अपने तईं व्यक्त करने की इच्छा हुई ।" जोशी-बन्धु देखें, अनादि अव्यक्त पुरुष अपनी इच्छा से खुद ही व्यक्त होता है—कोई आनन्द (यद्यपि वह खुद आनन्द-स्वरूप है, जोशी-बन्धुओं के कहने की त्रुटि है, जो एक दूसरे कर्ता से उसे व्यक्त किया)—कोई असर---कुछ उसे व्यक्त नहीं करता । "वह काँपता है और वह नहीं भी काँपता," यह जो विशेषाभास श्रुतियों में ब्रह्म के लिए, उस अनादि, अव्यक्त सत्ता के लिए, कहा है, इसका सत्य यह है कि वह पूर्ण है, तब नहीं काँपता, और जब वह अपने को व्यक्त करता है, तब काँपता है। जब कभी जोशीजी समाधि-मग्न होकर ब्रह्म का दर्शन करेंगे, तब शरीर की सब क्रियाएँ रुक जायँगी—डॉक्टर लोग बाहर से परीक्षा करके कहेंगे, मृत्यु हो गयी, और जब जोशीजी ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् हम लोगों के उद्धार के लिए इस पाँच भौतिक संसार में उतरेंगे, तब उनके शरीर की क्रियाएँ फिर पूर्ववत् होने लगेंगी, वह काँपने लगेंगे, आनन्द-स्वरूप में इच्छारूपी कम्पन होने लगेगा । अस्तु, यह कम्पन इच्छा-जन्य है—वह इच्छा ब्रह्म की है, और इस तरह ब्रह्म काँपता है और नहीं भी काँपता; किन्तु कोई आनन्द का कम्पन ब्रह्म या उस अव्यक्त को नहीं हिलाता, इस तरह के कहने में दोष आ जाता है। खैर, उपनिषद् के बाद का उद्धरण जोशी-बन्धुओं ने यों दिया है—"क्योंकि एकत्व में किसी को आनन्द नहीं मिलता, दो होने में ही आनन्द है। द्वैध भाव से ही आनन्द का रस मथित होता है, इसलिए उसने अपने को पुरुष और नारी में विभक्त किया । यही कारण है कि पुरुष और नारी एक-दूसरे के प्रति इतने प्रबल आकर्षण के साथ मिलित होना चाहते हैं। समस्त शून्य-मण्डल नारीत्व के भाव से भरा हुआ है ।"

इसके बाद सृष्टि के मूल में स्थित विरह के दिखलाने से प्रयत्न में जोशी-बन्धुओं ने फिर उसी तरह साँप के मन्त्रों का उल्लेख करना शुरू कर दिया है। बार-बार इस पचड़े में पड़ने की मेरी इच्छा नहीं । या तो जोशी-बन्धुओं को हिन्दी-

भाषा में अपने भावों के व्यक्त करने का तरीका नहीं मालूम, या वे खुद, जो लिखना चाहते हैं, नहीं समझते, और उनके इस अज्ञान का फल पाठकों पर भी पड़ता है।

ख़ैर, मैं अब यह दिखलाने का प्रयत्न करता हूँ कि जोशी-बन्धुओं द्वारा उद्धत उपनिषद् की उपर्युक्त बातों का क्या अर्थ है। कितने ही महापुरुषों ने इस कथन का अनुभव कर लेने के पश्चात् इसे दुहराया है, कहा है चीनी बन जाने में क्या आनन्द? आनन्द तो उसका स्वाद लेने में है। उद्धृत वाक्य सृष्टि-तत्त्व के इसी कारण को खुलासा करता है, यानी ब्रह्म ने आनन्द लेने के लिए अपने को अनेक रूप में व्यक्त किया! इस पर श्रुति के अनेक वाक्य हैं। अब व्यक्त करने का तरीका भी देखिए—नारी और पुरुष, शक्ति और ब्रह्म एक-दूसरे से अभिन्न हैं या भिन्न होकर भी अभिन्न, जैसा कि कालिदास रघुवंश के प्रारम्भ में ही कहते हैं—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ..."

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

"गिरा-अरथजल-बीचि-सम कहियत भिन्न न भिन्न,"

फिर चित्रकारों ने दिखलाया—"आधा अंग शिव और आधा अंग पार्वती।"

साहित्य-शास्त्र ने सिद्ध किया—स्वरों की शक्ति के बिना व्यंजन के हलन्त अक्षरों का उच्चारण तक नहीं हो सकता—दोनों, स्वर और व्यंजन, एक-दूसरे से जुड़े हुए भी हैं, और पृथक्-पृथक् भी।

इसी तरह, शिव और पार्वती की तरह, एक ही ब्रह्म में पुरुष और स्त्री-भाव मौजूद हैं, जैसे एक चित्र में शिव और पार्वती, दोनों आधे-आधे अंग में मिले हुए। फिर दूसरे चित्र में दोनों, पूर्ण पुरुष और पूर्ण स्त्री के रूप से, अलग-अलग। यहाँ एक ही में, चित्र द्वारा, स्त्री और पुरुष का अलग-अलग विकास दिखलाया गया। फिर दोनों प्रेमाकर्षण से सम्भोग-आनन्द की पूर्ण मात्रा के समय भी एक ही आनन्द में लीन हो जाते हैं।

देखिए, उस अनन्त के भाव को यहाँ के चित्रकारों ने चित्र द्वारा भी किस खूबी से व्यक्त कर दिया है। आश्चर्य है, यहाँ जोशी-बन्धुओं को विरह कहाँ उपलब्ध हो जाता है। उपनिषद् के पूर्वोक्त उद्धरण में यह गुंजायश तो है ही नहीं। अगर एक ने अपने को पुरुष और नारी में विभक्त किया, और इसलिए पुरुष और नारी एक-दूसरे से इतने प्रबल आकर्षण द्वारा मिलित होना चाहते हैं, तो यह 'मिलित' शब्द, जिसका उल्लेख जोशी-बन्धुओं ने ही किया है, 'मिलन' का ही द्योतक है, न कि 'विरह' का। परन्तु इसके बाद ही के अपने भाष्य में—जिसमें उन्होंने अपने शब्दों के बैलों की पूँछ जुए से बाँधकर, सिर पहिए की तरफ करके, भाव की गाड़ी चलाने की चेष्टा की है—लिखते हैं—"सनातन नारीत्व (Eternal Femine) के इस भाव के कारण ही सृष्टि-जन्य विरह के भाव के द्वारा हम आनन्द का अनुभव कर पाते हैं।" जोशी-बन्धु ही जानें, 'मिलन' का उल्लेख, और वह भी वेदान्त-वेद्य, परन्तु उसके बाद क्या?—'सृष्टि-जन्य विरह' का भाव!! मुमकिन है, यह भी गदाधर का गद्य-काव्य हो।

गदाधर मेरे एक मित्र थे। साधारण हिन्दी जानते थे। चार-छः वर्ष पहले की

बात है। उन दिनों हिन्दी के किसी प्रसिद्ध पत्र में गद्य-काव्य बहुत छपा करता था, और गद्य-काव्य के लेखक शीर्षक के नीचे ही लिखा करते थे (खास 'क'-पत्र के लिए लिखित)। गदाधर ने सोचा, जिस शीर्षक के नीचे इतना बड़ा साइन-बोर्ड है, वह जरूर बड़े महत्त्व की चीज होती होगी। फिर मैं उन्हें जब कभी देखता, पत्र लेकर उतना अंश बड़े ध्यान से पढ़ते। एक रोज कुछ लिख रहे थे। उसी समय मैं भी उनके यहाँ जा पहुँचा। बस, उसी रोज हिन्दी की सेवा के लिए उन्होंने लेखनी उठायी थी। मुझे देखकर बेचारे बहुत झेंपे। मैंने पूछा, क्या हो रहा है? इतना कहकर मैं बढ़ा उनके कागज की ओर, और उनके छिपाने से पहले ही छीन लिया।

लिखा था—"गद्य-काव्य"

(खास 'क' पत्र के लिए लिखित)

"हे सखि! मैं जो मर रहा हूँ, यह सब तुम्हारी ही करुणा है। मेरे जीवन की हरी-हरी डालियाँ—"

बस, इतना ही लिख पाये थे। मैंने पूछा, यह क्या है गदाधर? उन्होंने कहा, गद्य-काव्य। मैंने पूछा, तुम्हारे मरने से तुम्हारी सखी की करुणा का क्या सम्बन्ध? उन्होंने कहा, कुछ नहीं। मैंने कहा, तब तो यह जरूर गद्य-काव्य है!

अब रामायण की सीता के पाताल-प्रवेश में जो विरह जोशी-बन्धुओं ने प्रदर्शित किया है, उसकी भी आधिभौतिक व्याख्या सुन लीजिए—

"रामायण में स्नेह-प्रेम, सुख-दुःख, युद्ध-विग्रह की अनेक जटिलताओं के परे राम और सीता का प्रेम अनन्त के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदित करके सीमा का उल्लंघन करता हुआ, असीम के सन्धान में चला जाता है। रामायण के कवि के हृदय में अनन्तकालिक विरह की कितनी तीव्र अनुभूति वर्तमान थी, इसका परिचय इसी बात से मिलता है कि लंका-विजय के अनन्तर सुकठिन मिलन के बाद भी राम और सीता का चिर-विच्छेद संघटित हो जाता है। समग्रता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो फिर सती सीता के पाताल-प्रवेश की सार्थकता केवल इसी बात पर है कि वह स्त्री और पुरुष का जन्म-जन्मान्तर का विरह प्रस्फुटित करके सृष्टि के केन्द्र में स्थित अनन्त-व्यापी विरह की अनुभूति हृदय में जागरित कर देता है। अन्यथा सीता-जैसी साध्वी स्त्री का पति के कैसे ही भारी दोष के कारण पाताल-प्रवेश करके सदा के लिए विच्छिन्न हो जाना बिलकुल असंगत है। पाताल-प्रवेश का यह अर्थ नहीं कि वह सदा के लिए पति से अलग हो गयीं। जिस अभिमान के भाव के कारण उन्होंने पृथ्वी के भीतर प्रवेश किया, उसी अभिमान की प्रेरणा से उनका प्रेम जन्म-जन्मान्तर के लिए प्रेरित हो गया। विरह के विस्तार का भाव ही इस रूपक से ध्वनित होता है; क्योंकि विरह के आधार पर ही हम आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।"

ये कुल वाक्य खुराफ़ात के सिवा और कुछ नहीं। भाष्यकार की ही तरह उनके वाक्य भी क्रोध-विस्फारित-नेत्र होकर, धमकियाँ देते हुए जैसे कह रहे हों—मान लो, ऐ अक्ल के पीछे लठ लिये फिरनेवालो, हमारा यह नवीन आविष्कार है। लेकिन समालोचक भी तो एक अजीब जीव होता है। जब व्याकरण के चर्खे से कुल शब्दों को सूत-जैसा कातना शुरू कर देता है, तब क्या मजाल, जो कहीं एक भी

बिनौला रह जाय। लेकिन इस समालोचक के पास इतना समय नहीं, और शायद सम्पादक-महोदयों के पास इतनी जगह भी न होगी कि इन तमाम वाक्यों का विश्लेषण करने पर जितनी दीर्घसूत्रता होगी, उसके लिए वे अपने पत्र में स्थान-निरूपण कर सकें। उधर पाठकों के धैर्य का हाल मुझे अच्छी तरह मालूम है। लेकिन, खैर, इसके कुछ उदाहरण, देखने के लिए, पेश करता हूँ।

पहले एक यथार्थ घटना सुन लीजिए। एक बार ब्राह्मसमाज की गोल के कोई श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के पास गये। वह व्याख्यान बहुत देते थे। परमहंसदेव ने कहा, मैंने सुना है, तुम व्याख्यान खूब देते हो; धर्म पर एक रोज मुझे भी कुछ सुनाओ। परमहंसदेव की बात उन्होंने मंजूर कर ली। एक रोज उनका व्याख्यान हुआ भी। जोशी-बन्धुओं की तरह वह भी बड़े विद्वान् थे, और इसी तरह अपने भावों को शब्दों की पूँछ पकड़ाकर अपने व्याख्यान की वैतरणी से पार कर देते थे। उन्होंने कहा, भाइयो, ब्रह्म नीरस है, रस द्वारा हमें ही उसे सरस करना होगा। सुनकर परमहंसदेव कहते हैं, यह क्या कहते हो जी, जो स्वयं रस-स्वरूप हैं, उन्हें नीरस बतलाते हो? इसी तरह जोशी-बन्धु-लिखते हैं—"सृष्टि के केन्द्र में स्थित अनन्तव्यापी विरह की अनुभूति।" कैसी अद्भुत शब्द-मरीचिका है कि भाव का प्यासा भटकता ही मर जाय! और सत्य कितना उज्ज्वल! —दीपक की तरह अपने ही नीचे अन्धकार! धन्य है—धन्य है! —जिस सृष्टि के केन्द्र में ब्रह्म है, आनन्द है, सत्य है, ज्ञान है, वहाँ अनन्त-व्यापी विरह! —अनन्त वियोग! —अनन्त अभाव! —अनन्त अज्ञान! —अनन्त दुःख! —क्या बात! —क्या कहना! —तभी तो समझ लेना, कोई दिल्लगी नहीं।

अब ज़रा आप लोगों के शब्द-शास्त्र और प्रकाशन के ढंग को भी देख लीजिए —आप लोगों ने लिखा है—"लंका-विजय के अनन्तर सुकठिन मिलन के बाद भी राम और सीता का चिर-विच्छेद संघटित हो जाता है।" 'सुकठिन मिलन!' अगर कहा जाय मिलन या मिलना सुकठिन या बड़ा कठिन है, तो यह मिलन की ओर इशारा करता है, या जुदाई की ओर? —आज तक हिन्दी में 'मिलन' के साथ 'कठिन' का सम्बन्ध 'वियोग' का ही द्योतक रहा है, पर आप लोग जो लंका-विजय के पश्चात् राम और सीता के मिलन को—जो तीव्र मिलन है—सुकठिन बतलाते हैं, पता नहीं, इस 'सुकठिन' से अपने भाव का आप लोग कौन-सा कठिन प्रश्न हल करना चाहते हैं! फिर प्रथम वाक्य में, जहाँ आप लोगों के शब्दों में, राम और सीता का प्रेम अनन्त के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदन करके, सीमा का उल्लंघन करता हुआ, असीम के सन्धान में चला जाता है, वहाँ साफ जाहिर हो जाता है कि आपके अनन्त महाशय, जिनके प्रति विरहांजलि निवेदित की गयी, कोई और हैं, और असीम महाशय, जिनके सन्धान में वह (राम और सीता का प्रेम) चला जाता है, कोई और। अगर नहीं, अगर आप लोग शब्द-शास्त्र से इतने अनभिज्ञ रहना स्वीकार नहीं करते, तो प्रश्न है कि जिस समय राम और सीता का प्रेम अनन्त के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदित करता है, उस समय अनन्त की प्राप्ति का सरल सम्बन्ध पाकर भी उसे छोड़ फिर उसके सन्धान में चला क्यों जाता है। दूसरे "सन्धान में चला जाता है" सिद्ध कर रहा है, राम और

सीता के प्रेम को अनन्त की प्राप्ति नहीं हुई। जहाँ अनन्त का सन्धान है, वहाँ प्राप्ति कैसी ? इतने बड़े दो महान् चरित्रों का यह हाल !

अधिक कथा कौन कहे, तमाम वाक्यों में इसी तरह गदाधर का गद्य-काव्य भरा हुआ है।

श्रीसीतादेवी के पाताल-प्रवेश का आध्यात्मिक सत्य ही यथार्थ सत्य है, अन्यान्य सत्य कल्पना-मात्र, इसीलिए उन कल्पनाओं में कोई दम नहीं। उनकी बुनियाद कमजोर, प्रतिपादनशैली प्रलापवत्, शब्दों की दशा शराबियों की हालत से भी बुरी। रामायण में भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवती श्रीसीतादेवी के चरित्र-चित्रण द्वारा महर्षि वाल्मीकि का उद्देश किसी "अनन्तकालिक विरह" के उद्दीप्त करने का तो था ही नहीं, किन्तु वे अपनी रचना द्वारा दो आदर्श मनुष्यों का—जिनकी स्थिति सुख की उच्चतम सीमा में रहती है—जो इच्छा करने पर तमाम जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर सकते हैं, परन्तु धर्म के विचार से नहीं करते, प्रत्युत धर्म-प्राणता ही जिनके जीवन की व्याख्या है—उच्चातिउच्च चरित्र त्याग के मार्ग से ले जाकर प्रदर्शित करते हैं। यह अनुभव महर्षि को दीर्घकाल की तपस्या के पश्चात् होता है।

रही पाताल-प्रवेश की बात। सो सीतादेवी की उत्पत्ति का पहले पता लगा लीजिए। परिनिर्वाण आप ही अपनी व्याख्या कर देगा। जो लोग सीतादेवी को नारी-मूर्ति में देखकर ही सन्तुष्ट रहना चाहते हैं, वे आर्यों के सूक्ष्म विवेचन को कहाँ तक समझ सकेंगे, इसमें सन्देह है। यथार्थ बात यह है कि रामायण भी वेदान्त-ज्ञान का एक इतना बड़ा रूपक है। महर्षि वाल्मीकि सिद्ध महापुरुष थे। आत्मा और अनन्त का ज्ञान उन्हें हो चुका था। उन्होंने रूप के भीतर से अरूप की व्याख्या की है। जब कुछ कहने और लिखने की भूमि में आत्मज्ञान-संयुक्त मनुष्य उतरता है, तब स्वभावतः उसकी दृष्टि में बहु हो जाते हैं, क्योंकि वह संसरण की भूमि में—संसार में आ जाता है। अतएव इस बहु की भूमि से वह अपनी रचना के रूपों के भीतर से—चरित्र-चित्रण के द्वारा क्रमशः उत्कृष्ट व्याख्या करता हुआ उसे उसी अनादि सत्य में परिणत कर देता है। महर्षि वाल्मीकि ने भी ऐसा ही किया है। यहाँ रामायण पर आध्यात्मिक विवेचन भी हो चुका है। अध्यात्मरामायण देखिए। तुलसीकृत रामायण दोनों का मिश्रण है। इसीलिए वह जगह-जगह भगवान् श्रीराम-चन्द्रजी को अनादि और अनन्त विभु कहते जाते हैं और सीतादेवी को आदि-शक्ति।

रामायण में सात काण्ड हैं, बल्कि छः ही। मैं कई बार अपने लेखों में रामायण के यथार्थ सत्य पर प्रकाश डालने की चेष्टा कर चुका हूँ। अपने भाषण में भी उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कह चुका हूँ। आज तक हिन्दी में रामायण पर मैंने जितनी टीकाएँ देखी हैं, उनमें कोई भी टीका दमदार नहीं। इसके कारण साधारण मनुष्यों तक गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी का अपार वेदान्त-सत्य नहीं पहुँचता। पढ़े-लिखे लोग भी रामायण के काव्य-सौन्दर्य तक ही पहुँच पाते हैं। गोस्वामीजी जितने बड़े साहित्यिक थे, उससे भी महान् आत्मद्रष्टा थे। सत्य के समझनेवाले। उनका जीवन साहित्य के विश्लेषण में नहीं पार हुआ, किन्तु तपस्या में, और भगवान्

श्रीरामचन्द्रजी के यथार्थ रहस्य के समझने में। वह गोस्वामीजी भी रामायण का रहस्य अपने रूपक से इस तरह प्रकट करते हैं—

"सप्त-प्रबन्ध-सुभग सोपाना; ज्ञान-नयन निरखत मनमाना।"

रामायण में जो सुभग सात प्रबन्ध (सात काण्ड) बतलाये गये हैं, वे जोशी-बन्धुओं की तरह की गयी केवल एक अन्ध-कल्पना के आधार पर नहीं, किन्तु यह भीतर और बाहर का साम्य दिखलाया गया है—भीतर भी द्रष्टा योगियों ने बतलाया है कि सात चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, माणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इसी तरह बाहर भी सात ही काण्डों का सन्निवेश उचित समझा गया है। मूलाधार में आदि-शक्ति का निवास है—जिसे योगियों ने अपनी परिभाषा में कुण्डलिनी शक्ति कहा है, और जिसे जाग्रत कर सप्तम भूमि सहस्रार में ले जाना ही योगियों की साधना है। इधर सप्तम उत्तर काण्ड को भी ज्ञान-काण्ड ही कहा है। देखिए, भीतर और बाहर का कैसा साम्य है। गोस्वामीजी अपने इन सप्त-प्रबन्ध सुभग सोपानों के निरीक्षण के लिए 'ज्ञान-नयनों' का स्वागत करते हैं, 'मोह-नयनों' या 'अविद्या-नयनों' का नहीं। फिर देखते ही (मन माना) मन मान जाता है, मन को विश्वास हो जाता है।

रामचरित को 'मानस-सरोवर' कहा है, मन की निर्मलता को वारि बतलाया है—अरूप, अनाम, अनादि, ब्रह्म, सच्चिदानन्द कहा है। यहाँ रामचरित का आशय बिलकुल साफ हो जाता है। फिर जहाँ पर वह लिखते हैं—

"रघुपति-महिमा अगुण अबाधा
बरनब सोइ बर बारि अगाधा।"

यहाँ और स्पष्ट हो जाता है कि वही मानस-सरोवर का वारि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की अबाध, अरूप, अगाध महिमा है। फिर जब लिखते हैं—

"राम-सीय-जस सलिल-सुधा-सम
उपमा वीचि-विलास मनोरम।"

जग उसी अगाध ब्रह्म से रूप प्रकट करते हैं—राम और सीता में, पुरुष और स्त्री में—जैसा कि पूर्वोद्धृत उपनिषद् के उद्धरण में है—अव्यक्त अपनी इच्छा से व्यक्त होता है, उस समय कैसी चुभती हुई उपमा देते हैं कि जैसे जल पर जल की वीचियाँ, वैसे ही अरूप से रूप; भिन्न होकर भी अभिन्न है। यहाँ रामायण की परिणति उसी उपनिषद्-वाक्य में—ब्रह्मवाद में होती है या और कहीं?—राम और सीता को उसी जल की वीचियाँ सिद्ध किया या और कुछ?

अस्तु, अब सीतादेवी के पाताल-प्रवेश का विवेचन भी हो जाना चाहिए। कहा जा चुका है कि महाशक्ति का निवासस्थल मूलाधार-चक्र, सर्व-निम्न चक्र है। इधर सीतादेवी या महाशक्ति पैदा होती हैं भूमि से, सर्व निम्न स्तर से—देखिए, यह सत्य है या कल्पना। अस्तु, महर्षि वाल्मीकि जहाँ से उस महाशक्ति को पैदा करते हैं, बाह्य रूपक द्वारा जिस भूमि से सीतादेवी को जन्म देते हैं, लीला के पश्चात् उन्हें रखते तो कहाँ रखते?—उसी भूमि में या और कहीं?—जहाँ की वह हैं, वहीं या जोशी-बन्धुओं के विरही दिमाग में? योगियों की भाषा में लीला के पश्चात् महाशक्ति अपने आधार-चक्र में चली गयीं, बाहरी रूपक में

भूमि-सुता ने लीला की समाप्ति कर भूमि की गोद में ही शरण ली। —देखिए, कितनी सार्थकता ऋषि-कल्पना में है। मनुष्य-चरित्र को पूर्ण करते हुए वह अनेक प्रकार की लीलाओं के भीतर से ले जाकर किस तरह वेदान्त के चरम सत्य में प्रतिष्ठित कर देते हैं। राम और सीता का चरित्र इसीलिए यहाँ के लोगों का अब तक आदर्श बना हुआ है।

एक बात और। न्यूटन के मध्याकर्षण-शक्ति का आविष्कार करने से बहुत पहले ही महर्षि वाल्मीकि ने सीतादेवी के जन्म के रूपक में शक्ति के जन्म का हाल बयान कर दिया था। यद्यपि इससे पहले भी ऋषि लोगों को यह सब रहस्य मालूम हो चुका था, परन्तु इतना बृहत् और विशद वर्णन शायद किसी ने नहीं किया।

अब ज़रा यह भी देख लीजिए कि रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास का उल्लेख करते हुए, तुलसीदास के सम्बन्ध में जोशी-बन्धुओं की कितनी इतर धारणा है। आप लोग लिखते हैं—"किसी अन्य कविता में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—'लोग मेरे गीतों के नाना प्रकार के अर्थ करते हैं; पर उनका अन्तिम अर्थ तुम्हारे ही प्रति निवेदित होता है।' तुलसीदास ने जब लिखा था कि राम के चरित्र-वर्णन के बिना कविता शोभित नहीं होती, तब उन्होंने कुछ अंश में इसी भाव का आभास पाया था।"

देखा आप लोगों ने ? रवीन्द्रनाथ जो कुछ अनन्त के प्रति निवेदित करते हैं, उसका कुछ ही अंशों में तुलसीदास को आभास मिलता है !!! यहाँ हमें मालूम हो जाता है कि तुलसीदास को और तुलसीदास के राम को आप लोग क्या समझते हैं। जिस तुलसीदास का जीवन कठोर तपस्या में, निश्छल सत्य-परता में, भगवद्-दर्शन में, आदि-रहस्य के समझने में व्यतीत होता है, उस महापुरुष को—उस महान् प्रतिभाशाली तपस्वी को जोशी-बन्धुओं के और रवीन्द्रनाथ के अनन्त का कुछ ही अंशों में आभास मिलता है ! और जोशी-बन्धुओं को—जिनके विवेचन में प्रलाप और चीत्कार के सिवा और कुछ नहीं — और रवीन्द्रनाथ को — जिन्हें अर्थोपार्जन की चिन्ता न रहने के कारण और उपनिषद् भावसंयुक्त ब्राह्म-समाज के सिद्धान्त-स्वरूप कविता में एक प्रकाश-निरूपण करते रहने के कारण मनुष्योचित कृति में, कवि-कर्म में, सफलता प्राप्त हुई है—अनन्त का आभास पूर्ण मात्रा में मिल जाता है !!! "कहता सो कहता रहा, सुनता बड़ा सरेख !!!"

लेख बहुत बढ़ गया है। पर जोशी-बन्धुओं द्वारा प्रतिपादित "साहित्य-कला और विरह" पर अब तक मुझे एक पंक्ति लिखने का मौका नहीं मिला। उन्होंने कबीर, रवीन्द्रनाथ, टेनिसन और कालिदास के उत्तम-से-उत्तम जो उदाहरण दिये हैं, और उनके भाव-प्रवाह को जो अपने अनुकूल बहाने का प्रयत्न किया है, इस पर भी इस लेख में विचार करने का समय नहीं रहा। सच तो यह है कि अब तक मैं उनके विचारों के मूल का पता लगाने, यहाँ की कला का आदर्श दिखलाने और उनकी विचार-शैली के प्रलाप के प्रतिपादन में ही पड़ा रहा। मुझे विश्वास है, जोशी-बन्धुओं के शब्दों और भावों का यथार्थ चित्र मैंने पाठकों के सामने रख दिया है। इस शीर्षक के दूसरे प्रबन्ध में मैं "साहित्य-कला और विरह" के प्रमाण-पुष्ट सत्य का विचार पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न करूँगा। यदि इस समय

लिखता हूँ, तो लेख का बृहत् कलेवर पाठकों की भीति का कारण तो होगा ही, किन्तु विचारधारा भी एक दूसरी भूमि से होकर बहेगी, जिससे मुझे अब तक के विचारों का स्वत्व पाठकों के मस्तिष्क से उठ जाने का भय है। इस लेख में जहाँ जोशी-बन्धुओं के सम्बोधन में मेरे शब्द कुछ कटु हो गये हैं, उनके लिए मुझे विशेष दुःख है, और इस विचार से नहीं भी कि यह अपराध, अपराध के ही उत्तर में, मुझे करना पड़ा, आवेश के अज्ञान में नहीं; जोशी-बन्धुओं के अज्ञान का इतना बड़ा ज्ञानाडम्बर मेरी प्रसन्न प्रकृति को असह्य हो रहा था।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1928। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

दो महाकवि, गो. तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ
(तुलनात्मक आलोचना)

बहुत-से लोगों का कहना है, विभिन्न काल के दो महाकवियों की तुलनात्मक आलोचना उचित नहीं। एक बार यह बहस साहित्यिक गोष्ठी में बड़े जोरों से उठी थी, मुझे जहाँ तक स्मरण है, 'सरस्वती' में छपे हुए 'गोस्वामी तुलसीदास और वर्ड्सवर्थ' के एक आलोचनात्मक निबन्ध पर। सच है कि काल के परिवर्तन के साथ-साथ कविता के बाहरी अंग भी परिवर्तित हो जाते हैं, आचार-व्यवहार और सभ्यता के नवीन रश्मिपात से साहित्य के कानन में एक दूसरी ही श्री आ जाती है, जिसमें नवीन दृष्टि के लिए अधिक आकर्षण, सौन्दर्य के लिए एक विशेष रोचक जाल फैला दिया जाता है, जिसे समालोचक नवीन युग की विशेषता के नाम से पुकारते हैं। नये काल की कल्पना साहित्य के हृदय पर जो नवीन चिह्न अपने समय के मार्जन और इतिहास के रूप से छोड़ जाती है, उस समय की वे प्रांजल रेखाएँ और जन-समूह की रुचि-अनुकूलता प्राचीन साहित्य के सौन्दर्य को दबा देने के लिए ही जैसे तुली हुई हों—और, रुचि तथा स्पर्द्धा से ही जबकि नवीन प्राचीन से भिन्न हुआ है। जो लोग नवीन संसार के साथ-साथ नहीं चल सके या किन्हीं अन्य कारणों से प्राचीन के प्रशंसक हैं, वे उसी तरह नवीन से लड़ते और प्राचीन के पक्ष में रहते हैं। अवश्य इन दोनों प्रकार के जो कारण एक-दूसरे के अनुकूल ठहरते हैं, इस आलोचना में उनमें कोई भी नहीं। कारण, यहाँ कविता की आत्मा पर विचार किया गया है जो देशकाल से किसी तरह भी विच्छिन्न नहीं। एक उदाहरण दूँ—वैदिक साहित्य में विशेषणों का अधिक प्रयोग नहीं आया, फिर संस्कृत काल में, जब वासना के भोग के लिए साहित्य से विशेषणों की चाह हुई, अलंकार और विशेषणों के प्रयोग बढ़ने लगे; फिर पाली में लालित्य की तृष्णा इतनी बढ़ी कि कविता में जहाँ तक हो सका, लकार की अधिकता और रकार का

वर्जन किया जाने लगा। ब्रजभाषा में शब्दों और धातुओं के परिवर्तन की हद हो गयी। इस तरह का परिवर्तन कविता की आत्मा का परिवर्तन नहीं, यह रुचि का परिवर्तन है। इस विचार से हमें विभिन्न काल के कवियों पर आलोचना करने का अधिकार है, जहाँ तक मैं समझता हूँ।

पाश्चात्य शिक्षा के अनुसार, आजकल सभ्यता के साथ-ही-साथ ज्ञान का अधिकाधिक विस्तार हो रहा है, लोग कहते हैं। इस विचार से इस समय, लोगों का यह भी कहना है कि अब पहले की अपेक्षा कविता की सीमा भी बहुत बढ़ गयी है, अब किसी देश या काल में बँधा हुआ कवि विश्व-साहित्य के हृदय से नहीं मिल सकता। जिस तरह सूर्य्य की रश्मियाँ सबके लिए उदार हैं, पवन के विचार में अपना और पराया नहीं, वारिधारा में कोई स्वार्थभाव नहीं छिपा हुआ, उसी तरह इस युग के कवि के भाव हैं—या किसी विषय के महान व्यक्ति के, जब कविता में साम्प्रदायिकता का प्रचार भी निन्द्य हो रहा है। जो सत्य सार्वजनिक, अनादि और चिरन्तन है, जिसे सब देश के लोग समभाव से ग्रहण कर सकते हैं, यदि कविता में उसका अस्तित्व है तो कविता इस युग के अनुकूल कही जा सकेगी।

कविता की बात तो मैं पीछे कहूँगा। यहाँ, इस चमत्कारजन्य सभ्यता के लिए मेरा यह कहना है कि जितने अंशों में यह सभ्यता लोभप्रसू सिद्ध हो रही है, उतने ही अंशों में जटिल और पर-स्व-हारिणी। वैज्ञानिक उन्नयन का लक्ष्य मनुष्यजाति को सबल, पुष्ट तथा मेधावी बनाना है या दूसरों को आराम देना और स्वयं धनवान होना, मीमांसा उस सृष्टि के नाश-काल में दीख पड़ती है। विज्ञान अवश्य पहले भी था और बीजरूप से प्रकृति के अशेष भाण्डार में रहकर फिर निकला, न जाने और क्या-क्या निकलता रहे; इसमें जो नहीं निकलता वह जीवन, प्रेम, आनन्द है, वह कभी निकल भी नहीं सकता। कारण, प्रेम और आनन्द कारीगरी या स्पर्द्धा की कोई वस्तु नहीं, वह चिरन्तन है, और यान्त्रिक सबकुछ नश्वर। इसीलिए यहाँ की महान आत्माओं को जब-जब सिद्धियाँ मिलीं, उन्होंने उसका वर्जन किया। वे जानते थे, यह चिरन्तन नहीं, यह प्राणों के साथ पूर्णतः पति-पत्नी-संयोग की तरह या किसी समकोण का समकोण के साथ मिल जाने की तरह नहीं मिल सकता; यह आडम्बर, प्रतिष्ठा, शक्ति आदि की श्रेणी का कुछ है। वे समझ गये थे, और जो कुछ भी संसार को दिया जाय, उससे उसका अभाव मिट नहीं सकता। कारण, जो दिया गया वह असीम था और अभाव के मानी ही हैं सीमा में अवस्थिति। इसीलिए वे लोगों को आनन्द, ज्ञान, प्रेम देते थे जो अक्लेद हैं। जिन लोगों को आध्यात्मिक सिद्धियों पर विश्वास नहीं होता वे भारत और योरप के जादूगरों से मिल सकते हैं और बिना यन्त्र के ही बहुत बड़ी-बड़ी करामातें देख सकते हैं। यहाँ समय नहीं कि इस पर अधिक पंक्तियाँ लिखी जायँ, इतना ही कहूँगा; जड़-विज्ञान और आत्म-विज्ञान का प्रसरण-ढंग अलग-अलग होने पर भी न्यायतः दोनों एक ही सिद्ध हुए हैं। परन्तु जिस तरह उधर प्राण नहीं, उसी तरह इधर भी। इसीलिए गीता में कहा है, "हे अर्जुन! जिसके पास एक भी सिद्धि है, उससे मैं (आत्मा, ज्ञान, प्रेम) बहुत दूर हूँ।"

यह सब सोचकर, भारत ने अपनी सभ्यता के आदि युग से लेकर अब तक दैन्यपीड़ित, विलास के सागर में डूबे हुए भी दुखी, अन्यान्य देश के लोगों को जो कुछ दिया है, वह है ज्ञान जिससे मनुष्य अपने को पहचान लेता, उसके शरीररूपी जड़ से उसका अभ्यास छूट जाता, उसके बन्धनों से उसकी मुक्ति होती है। उस समय प्रकृति का अधिकार, इन्द्रजाल का मोह उस पर नहीं रह जाता, वह अमृत हो जाता है। महाकवि ग़ालिब कहते हैं—

न था कुछ तो ख़ुदा था,
कुछ न होता तो ख़ुदा होता।
डुबोया मुझको होने ने,
न होता मैं तो क्या होता।

यहाँ 'मैं' के होने से ही सबकुछ हुआ है, और इस 'मैं' ने ही महाकवि को डुबा भी दिया है। कारण, न यह मैं छूटता है और न ख़ुदा मिलता है। कुछ हो, यहाँ 'मैं' ही इस संसार को प्रत्यक्ष करता है, इसमें अध्यस्त है, पर सत्य के प्रत्यक्ष होने पर यह कुछ नहीं रहता, सब बर्फ की तरह गलकर अगाध आनन्द-सागर में लीन हो जाता है—

जिहि जाने जग जाय हेराई।

वह आनन्द, ज्ञान अपने इतने नजदीक की वस्तु है कि फिर दूसरी वस्तु दीख ही नहीं पड़ती। मन जो देखनेवाला था जब गल गया तो देखे कौन, उसके शिथिल होते ही इन्द्रियाँ भी अकर्मण्य और चलाचल का खण्ड-ज्ञान भी गायब। इतने नजदीक वह आनन्द था कि मिला तो केवल वही रह गया। गो. तुलसीदासजी ने तभी कहा है—

राम प्राण के जीवन जी के।
स्वारथ-रहित सखा सब ही के॥

यहाँ गो. तुलसीदासजी के राम वही हैं जो सबमें रमे हुए हैं—स्वार्थ-रहित सबके सखा वे तभी समझे जाते हैं।

इतिहास में सभ्यता का उत्थान जहाँ-जहाँ हुआ, मिस्र, अरब, फ़ारिस, ग्रीस, रोम आदि देशों में, ये वैदान्तिक भाव वहाँ-वहाँ पहुँचे और सुकृत या विकृत रूप से उनके साहित्य में ठहर भी गये। जिस ग्रीक सभ्यता की बुनियाद पर आज पश्चिमी सभ्यता की इतनी बड़ी-बड़ी इमारतें उठी हैं, साहित्य, शिल्प और कला-कौशल की प्रदर्शनी मनोहर की गयी है, इतिहास के पाठक अच्छी तरह जानते होंगे, ग्रीक-साहित्य की कितनी छाप वहाँ पड़ी है। जब योरप कुछ और जाग्रत हुआ, प्रत्येक विषय के इतिहास का पता लगाने लगा, उस समय कोई विषय उससे अज्ञात नहीं छूटा; हर एक देश ने एक-एक प्राचीन सभ्य देश को केन्द्र करके उसकी तमाम शिक्षाओं की छानबीन की। धीरे-धीरे योरप संसार के प्राचीन सभ्य साहित्यों का भाण्डार बन गया। कविताओं और गाथाओं में वेदान्त के जो भाव प्रचारित किये गये थे, और-और देशों में वे गये तो, पर अनेक कारणों से उनका रूप विकृत हो गया, झुकाव तृष्णा की ओर। उसकी प्राप्ति के पहले बुनियाद मजबूत करने की जरूरत पड़ती है। बहिर्देशों में ऐसा नहीं हुआ। यह काम शुरू से

अब तक भारत ही करता गया है। इसलिए रहस्यवाद, जिसका उत्थान शुद्ध वेदान्तवाद से हुआ है, भारत के चरित्रनिष्ठ बड़े-बड़े महात्मा ही अपनी सुक्तियों द्वारा कहते आये हैं। इस तरह का दोष—

ऐ मेरे बुते शैदा, जो तू है वही मैं हूँ।
फिर किसलिए यह पर्दा, जो तू है वही मैं हूँ ॥

उनमें नहीं आने पाया। यहाँ निर्विषय वेदान्तवाद को विषय की ओर कवि ने मोड़ा है, अर्थ करनेवाले इन पंक्तियों में कितनी ही महत्ता क्यों न देखें। बात यह होती है कि इस तरह की वर्णना में शराब जो रहती है उसमें नशा इतना कड़ा रहता है कि होश नहीं रहता, और शरीर से, जो दिव्य नहीं, जुड़ जाने के कारण गिर जाता है। किसी पाश्चात्य विद्वान ने लिखा भी है, मुझे जहाँ तक स्मरण है, कि दर्शन और तृष्णा एक साथ मिलकर अच्छे कवित्व की सृष्टि करते आये हैं। इस तरह की उक्तियाँ भी वहाँ की रुचि का परिचय देती हैं। उमर ख़ैयाम, काण्ट, ब्लेक, स्पेन्सर आदि जितने कवियों और दार्शनिकों ने अनादितत्त्व में हाथ लगाया है, उन्हें सच्ची सफलता वहीं मिली है, जहाँ उन्होंने सच्चा अनुवाद या तदनुकूल ही लिखा है; परन्तु इसके वे लोग द्रष्टा नहीं थे। यह तब मालूम होता है, जब उन्होंने अधिक पंक्तियों में अपनी तरफ से कुछ लिखना चाहा है। यही हाल महाकवि रवीन्द्रनाथ की दार्शनिक कविताओं का है। जब तक वे शेक्सपियर की तरह मनोराज्य की उधेड़बुन में रहते हैं, बहुत ही अच्छे रहते हैं, परन्तु केवल मनोराज्य की कल्पना सर्वोच्च नहीं, यहाँ तो सवाल खड़ा होता है कल्पना के मर जाने का —ब्रह्मदर्शन के बाद जो कल्पना होती है, उसका। तभी वह राह पर धोखा नहीं खाता, गिरता नहीं, उसके पैर बेताला नहीं पड़ते। यह सब लोग नहीं समझ सकते कि कहाँ ताल कटी, पुस्तकों के ज्ञान से चलनेवाले को अद्वैत तत्त्व पर कहाँ धोखा हुआ।

रवीन्द्रनाथ का एक उदाहरण—

आमाय तोमाय मिलन हाले सकलि जाय भूले।
विश्व-सागर ढेउ खेलाये उठे तखन दुले।

[मेरा और तुम्हारा मेल होता है तो मैं सबकुछ भूल जाता हूँ, उस समय यह विश्व-सागर तरंगाकार (खेलता हुआ) डोल उठता है।]

यहाँ पहली पंक्ति से दूसरी पंक्ति का साम्य बिलकुल नहीं पाया जाता। दूसरी पंक्ति का सम्बन्ध छिन्न हो जाता है। मेरा और तुम्हारा संयोग जब होता है, मैं सबकुछ भूल जाता हूँ, इतना तो सत्य है। फिर जो उस समय विश्वसागर तरंगाकार (क्रीड़ाएँ करता हुआ) डोल उठता है, यह कौन देखता है?—देखनेवाला 'मैं' तो 'तुम' —अनादि से मिलकर एक हो गया—अब जब वह रह नहीं गया, कवि सबकुछ भूल गया है, तो अब बाद में क्या हो रहा है क्या नहीं, इसकी खबर वह कैसे दे रहा है?—और एक ही वाक्य में—'मेरा और तुम्हारा मेल होने पर मैं सबकुछ भूल जाता हूँ, उस समय (यह 'उस समय' ध्यान देने योग्य है) विश्वसागर तरंगाकार डोल उठता है'—इस तरह के भाव पर तुलसीदास बहुत ही खूब उतरते हैं—

सो जाने जिहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई ।।

मिल जाने के बाद, 'तुम' हो जाने के बाद, तुलसीदास फिर उस कल्पना का अन्त भी कर देते हैं ।

कुछ लोग जो कहते हैं कि वेदान्त-सूत्रों में कविता नहीं, वह तो शुष्क शब्दबन्ध मात्र है; जहाँ कविता रहती है, वहाँ राग-विराग और विरह-मिलन की वर्णना अलंकारों से सजकर रसों के उच्छ्वास तथा आवर्तों से अनन्त की ओर अग्रसर होती है—जैसे कोई अभिसारिका, कविता का यथार्थ आनन्द तभी मिलता है; मेरे विचार से पाठक स्वयं अभिसारिका क दर्शनों का प्यासा रहता है, इसलिए उसकी दृष्टि कविता में नायिका और अभिसारिका को ही खोजती रहती है ।

कविता में अनेक कोटियाँ हैं, जहाँ भाव किसी प्रकार का बाहरी अवलम्ब नहीं लेते, वहीं कविता को कलंक स्पर्श नहीं करता, अन्यथा उच्च भावना जड़ावलम्ब से गिर जाती है । मुझे जान पड़ता है, उस तरह के लोगों को राधिका के कलंक, बिरह-मान, गृह से अर्द्ध रात्रि में अभिसार, नायिका का अन्वेषण, कालिन्दी विहार, रास, वंशी आदि-आदि में निहायत सुन्दर कवित्व मिलता होगा, पर चांचल्य रहित, स्थिर, मूक, पावन दृष्टि सीता में नहीं । शराब और प्याले में जो कविता है—

जाहिद शराब पीने दे मसजिद में बैठ के,
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो ।

ऊँचे-ऊँचे भावों का अक्सर दुरुपयोग ही है । इस नशे के कारण निबाह भी प्रायः पूरा नहीं उतरता । पर किसी में कुछ दुनिया की प्रगति रोकने की शक्ति तो है नहीं, और दुनिया की सृष्टि-विचित्रता भी अपने रस-ग्रहण वैचित्र्य को छोड़ नहीं सकती, ऐसी हालत में कौन इसके पीछे हैरान हो । हाँ, एक विचारमात्र लिख रहा हूँ । यहाँ जो कमल, चम्पक, जवा आदि की उपमाएँ दी गयी हैं, सब सात्विक भाव की वृद्धि के लिए ही । लेकिन Passion वाले पश्चिम के मन को Lotuslike face कितना हँसता है —आप लोग जानते हैं । इस तरह रवीन्द्रनाथ में शराब की मात्रा वहुत है, भाषा ने भी अपनी लज्जावरण मर्मद्रष्टा महाकवि के चरित्र-चित्रण में मुक्त कर दिया है, वहाँ उसके नग्न सौन्दर्य में केवल उच्च कोटि की शिष्टता रह जाती है—छन्दों के ताल-ताल पर परियों का नृत्य ।

श्रृंगार की रचनाओं में रवीन्द्रनाथ अद्वितीय हैं, परन्तु मनुष्य को मनुष्य से अधिक नहीं देखते । दैवी उपमाएँ उस तरह खिलती नहीं, शायद दिव्य सौन्दर्य का स्फुरण वैसा अच्छा उनकी कविताओं में हो भी नहीं सकता । भाषा और छन्दों की गति बहिर्मुखा है—उस उद्दाम गति में जब वे शान्त प्रवाह लाते हैं, उस समय दुःख के परमाणुओं से मिली कोई करुणा किसी रागिनी में बजने लगती है—दिव्य चित्र नहीं निकलता । इधर तुलसीदास में दिव्य-भाव की ही छटा है, साधारण नारी-भाव का चित्रण जो गृहस्थों के सांसारिक रसों की तरह भोग्य हो, उन्होंने नहीं किया; शायद महात्मा होने के कारण शरीर-संस्पर्श की ओर उन्हें बड़ी सतर्क दृष्टि रखनी पड़ी है । जब कभी इस तरह का संस्पर्श आया है उन्हें उसे दिव्य रूप ही देना पड़ा है । उनके जितने पात्र हैं, प्रधान पात्र प्रायः सभी सच्चरित्र

हैं। अपर जो राक्षस, इन्द्र आदि इन महापुरुष-चरित्रों के विरोध में हैं, उन्हें 'हेयं दु:खमनागतम्' के विचार से उन्होंने भली-बुरी सुनायी है। इस तरह, उनकी मानवीय प्रकृति की ईर्ष्या मात्र प्रगट हुई है। अन्यथा प्रायः सब जगह वही शुद्ध धारा-प्रवाह। शृंगार में भी वही। आँखों के सौन्दर्य पर महाकवि रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

जे खाने पथेर बाँके गेल चलि नत आँखे,
भरा घट लये काँख तरुणी।

"जहाँ रास्ते के मोड़ पर, भरा घड़ा काँख में लिये, नीची आँखें किये तरुणी (कामिनी) चली गयी।" रवीन्द्रनाथ इस तरह के चित्रों के खोलने में अपना सानी नहीं रखते। चित्र सब अपना; अत्यन्त मार्जित (उन्नत से साधारण तक लेकर), वहाँ सौन्दर्य का आकर्षण निहायत प्रवल है। ब्रजभाषा हिन्दी के शृंगारी कविभी इस तरह चित्रांकन में वहुत दूर तक पहुँचे हैं। गो० तुलसीदास—

बहुरि बदन-विधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै दृष्टि करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति तिनहि कह्यो सिय सैननि ।।

चकित विलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत।

'पिय तन चितै दृष्टि करि बाँकी' में दृष्टि की जिस सूक्ष्म मृदुल गति से प्रिय की पहचान करायी गयी है, अद्भुत है। फाँस कहीं कोई नहीं और एक बहुत छोटे से Action का चित्र है। चित्र काव्य में महाकवि तुलसीदास की कुशलता कहीं भी ऊन नहीं। आँखों पर वासना का चित्र भी कितना सुन्दर है—

केहि हेतु रानि रिसानि, परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहु सरोष भुजंग-भामिनि विषम भाँति निहारई ।।
द्वै वासना रसना सदन वर मर्म ठाहर देखई।
तुलसी नृपति भवितव्यतावश काम कौतुक पेखई ।।

यहाँ रानी का देखना किस ढंग से है और राजा का देखना किस ढंग से, जरा गौर कीजिए। और उस जहरीली निगाह से—शराब की-सी भरी कविता-मूर्ति से, राजा के अन्दर क्या भाव पैदा होता है, यह भी देख लीजिए।

रवीन्द्रनाथ चित्रों को अपनी सुकुमार कुशल लेखनी द्वारा केवल सर्वांग सुन्दर कर देना ही नहीं जानते, वे उनमें जान डाल देते हैं। एक जगह उन्होंने जो लिखा है, कितनी ही जटिल समस्याओं का जैसे एक ही चित्र, भाव-अभिव्यक्ति से मर्म-स्पर्शी उत्तर दे रहा हो, एक कवि की शिक्षा इससे अच्छी और हो नहीं सकती—

चारि दिके तर्क उठे सांग नाहीं होय,
कथाय कथाय बाड़े कथा;
संशयेर उपरेते चापिछे संशय,
केवलि बाड़िछे व्याकुलता।
फेनार उपरे फेना ढेउ, परे ढेउ, गरजने बधिर श्रवण,
तीर कोन दिके आछे नाहीं जाने केउ, हाहा करे आकुल पवन।

एइ कल्लोलेर माझे निये एसो केह, परिपूर्ण एकटी जीवन,
नीरवे मिटिया जाबे सकल सन्देह, थेमे जाबे सहस्र वचन।
तोमार चरणे आसि माँगिबे मरण लक्ष्यहारा शत-शत मत,
जेदिके फिराबे तुमि दुखानि नयन, सेदिके हेरिबे सबे पथ।

[चारों तरफ तर्क उठते रहते हैं, उनकी समाप्ति नहीं होती, बातों-ही-बातों में बातें बढ़ती रहती हैं, संशय के ऊपर संशय चढ़ता जाता है, केवल व्याकुलता बढ़ती रहती है। फेन पर फेन, तरंग पर तरंग, गर्जना से श्रवण बधिर हो रहे हैं; तीर किस तरफ है, कोई नहीं जानता; आकुल पवन हहर-हहर कर रही है। इसी कल्लोल के बीच कोई ले आओ एक परिपूर्ण जीवन, सब सन्देश चुपचाप मिट जायेंगे, सहस्रों वचन रुक जायेंगे। तुम्हारे चरणों पर लक्ष्यहीन शत-शत मत मृत्यु (अवसान, समाप्ति) की प्रार्थना करेंगे, जिधर तुम दोनों आँखें फेरोगे, सब लोग उधर ही रास्ता देखेंगे।]

इस चित्र में जो व्याख्या है वह उसकी है जिसमें पूर्ण चित्र के अंकन की शक्ति है; वह चित्र चाहे कविता का सर्वांग सुन्दर चित्र हो या साधक का, साधनालब्ध मनोराज्य में चुपचाप खींचा हुआ इष्ट-चित्र, जिसके लिए ध्यान-धारणा आदि की अपेक्षा रहती है। किसी तरह का चित्र क्यों न हो, यदि कोई इसके खींचने में समर्थ है, तो निस्सन्देह वह संसार के सहस्रों आवर्त में शान्ति की स्थापना कर सकता है; तभी उसके पास लक्ष्यभ्रष्ट सहस्रों मत अपने हठी रूप को समाप्त कर देने, नवीन सुन्दर प्रफुल्ल आलोकोज्ज्वल रूप लेने के लिए आवेंगे, वह जिधर आँखें फेरेगा, उधर ही सब लोग राह देखेंगे। यह अन्तिम पंक्ति बड़े ही उच्च भाव की है। इस तरह चित्रों में जीवन की स्फूर्ति रवीन्द्रनाथ जगह-जगह दिखलाते हैं—

पत्र-पुष्प-ग्रह-तारा-भरा नीलाम्बरे मग्न चराचर,
तुमि तार माझखाने कि मूर्ति आँकिले प्राणे
कि ललाट, कि नयन, कि शान्त अधर।
सुगम्भीर कलध्वनिमय ए विश्वेर रहस्य अकूल,
माझे तुमि शतदल फुटे छिले ढलढल
तीरे आमि दाँड़ाइया सौरभे आकुल।
परिपूर्ण पूर्णिमार माझे ऊर्ध्व मुखे चकोर जमन,
आकाशेर धारे जाय, छिड़िया देखिते चाय
अगाध स्वपन-छाया ज्योत्स्ना-आवरण।
तेमनि सभये प्राण मोर तुलिते चाइतो कतो बार,
एकान्त निकटे गिये समस्त हृदय निये
मधुर रहस्यमय सौन्दर्य तोमार।
हृदयेर काछा काछि सेइ प्रेमेर प्रथम आना गोना,
सेइ हाते-हाते ठेका सेइ आधो चोखे देखा,
चुपि-चुपि प्राणेर प्रथम जाना शोना।

अजानित सकलि नूतन, अवश चरण टलमल,
कोथा पथ, कोथा नाइ, कोथा जेते, कोथा जाइ,
कोथा होते उठे हासि कोथा अश्रु जल।

[पत्र-पुष्प-ग्रह-ताराओं भरा चराचर नील अम्बर में मग्न है, तुमने उसके बीच मेरे प्राणों में कैसी मूर्ति खींच दी ! —कैसा ललाट, कैसी आँखें, कितने शान्त अधर !

सुगम्भीर कल ध्वनिमय इस विश्व के अकूल रहस्य, जिनके बीच तुम कमल की तरह खिली हुई, डोल रही थीं, मैं किनारे पर, सौरभ से व्याकुल, खड़ा था।

परिपूर्ण पूर्णिमा में ऊर्ध्वमुख हो चकोर जैसे आकाश के किनारे तक जाता, अगाध स्वप्न-छाया ज्योत्स्नावरण चीरकर देखना चाहता है।

उसी तरह, सभय मेरे प्राण कितने ही बार बिलकुल नजदीक जाकर, समस्त हृदय ले तुम्हारे रहस्यमय मधुर सौन्दर्य को तोल लेना चाहते थे।

हृदय के पास वह प्रेम का पहला ही आना-जाना हुआ था, वह हाथ से हाथ का लगाना, वह अधखुली आँखों से देखना, चुपचाप प्राणों का पहले ही पहल प्राणों से परिचय।

अज्ञात, सभी नया, अवश टलमल चरण, कहाँ है मार्ग, कहाँ नहीं; कहाँ जाने को है, कहाँ जा रहा हूँ; कहाँ से हास्य उठता है और कहाँ से आँसू !]

यह चित्र पुरुष के यौवनोन्मेष का है। सम्पूर्ण कविता में जैसे अनेकानेक चित्रों से यौवन-विज्ञान ही चित्रित कर दिया गया है। इसमें जितना अंश दिया गया है, पुरुष की दृष्टि में प्रियतमा नारी-मूर्ति किस तरह आती है, कितनी सुन्दर, हृदय में कितना मधु और सुगन्ध लेकर, उस समय पुरुष की अवस्था कैसी होती है और कैसी उसकी क्रिया, महाकवि रवीन्द्रनाथ बहुत अच्छी तरह बतला देते हैं।

वइ मन-उदासीन वइ आशाहीन वइ भाषा हीन काकली,
देय व्याकुल परशे सकल जीवन विकलि,
हाय मिछे मने होय जीवनेर व्रत मिछे मने होय सकली !
मने होय जारे छाड़िया एसेछि फिरे देखे आसि शेष बार,
वइ काँदिछे से जेनो एलाए आकुल केशभार,
जारा गृह छाये बोसि सजल नयन मुख मने पड़े से सबार।

कवि यहाँ संसार के बन्धनों को तोड़कर बाहर निकला है, वह बहुत कुछ करना चाहता है, ऐसे समय, घर से कुछ दूर चलने के बाद ही, वह किसी को भैरवी गाते हुए सुनता है, ठहर जाता है, रागिनी के आरोह-अवरोह में भूल जाता है, फिर जो कविता में ऊहापोह, भावना का उत्थान-पतन, संकल्प-विकल्प, प्रतिज्ञा और फिर खण्डन दिखायी पड़ते हैं, यथार्थ साधारण घटनाओं के भीतर से जैसे कुछ चिरकालिक सुन्दर, गम्भीर भावनामय दे जाते हैं। भैरवी सुनकर कवि कहता है :

[वह मन को उदास कर देनेवाली, बिना आशा की भाषाहीन तान अपने व्याकुल स्पर्श से मेरे कुल जीवन को विकल कर देती है। हाय ! जीवन का व्रत और सभी कुछ मिथ्या जान पड़ता है।

याद आता है, जिसे छोड़ आया हूँ, फिर उसे, बस एक बार और—इस अन्तिम बार के लिए देख आऊँ।

देखो, जैसे वह अपने व्याकुल केश-भार खोले हुए रो रही है, जो गृह की छाया में बैठी हुई भी सजल-नयना हो रही है, उन सबके मुख याद आ रहे हैं।]

अयि सन्ध्ये,
अनन्त आकाश तले बसि एकाकिनी, केश एलाइया,
नत करि स्नेहमय मोहमय मुख जगते रे कोलेते लाइया,
मृदु-मृदु ओकि कथा कहिस आपन मने मृदु-मृदु गान गेये-गेये,
जगतेर मुख पाने चेये।

[अयि सन्ध्ये, अनन्त आकाश के नीचे अकेली बैठी हुई, केश खोले हुए, स्नेह-मय मोहमय मुख झुका, संसार को गोद पर ले, मधुर-मधुर यह कौन-सी बात आप-ही-आप कह रही है मृदु मधुर गान गाती हुई संसार के मुँह की ओर हेर-कर ?]

फूल खिलने की उपमा देकर रवीन्द्रनाथ यथार्थ कवि की कविता की व्याख्या कर रहे हैं—

तोरा केउ पारबिने गो पारबिने फूल फोटाते।
जतइ बोलिस, जतइ करिस, जतइ तारे तुले धरिस,
व्यग्र होये रजनी दिन आघात करिस बोटाते,
तोरा केउ पारबिने गो पारबिने फूल फोटाते।
दृष्टि दिये बारे बारे म्लान करते पारिस तारे,
छिंढ़ते पारिस दल गुलि तार धूलाय पारिस लोटाते।
तोदेर विषम गण्डगोले यदिइ वा से मुखटी खोले,
धरबे ना रंग—पारबे ना तार गन्ध टुकु छोटाते।
तोरा केउ पारबि ने गो पारबिने फूल फोटाते॥
जे पारे से आपनि पारे, पारे से फूल फोटाते।
से सुधु चाय नयन मेले दुटी चोखेर किरण फेले,
अमनी जेनो पूर्ण-प्राणेर मन्त्र लागे बोटाते।
जे पारे से आपनि पारे पारे से फूल फोटाते॥
निश्वासे तार निमिषते, फूल जेनो चाय उड़े जेते,
……पाखा मेले ……हावाय थाके लोटाते।
रंग जे फूटे ओठे कतो, प्राणेर व्याकुलतार मतो,
जेनो कारे आनते डेके गन्ध थाके फोटाते,
जे पारे से आपनि पारे पारे से फूल छोटाते॥

[तुम लोग कोई फूल खिला नहीं सकोगे। जितना ही कहो, जितना ही करो, जितना ही उसे उठाये पकड़े रहो, व्यग्र हो, दिन-रात डण्ठल में आघात करते रहो, पर तुम लोग कोई फूल खिला नहीं सकोगे।

बार-बार अपनी दृष्टि से उसे म्लान कर सकते हो, उसके दल नोच सकते हो, धूल में उसे लोटा सकते हो, तुम्हारे इस विषम गोलमाल से यदि वह मुँह खोले भी,

तो रंग नहीं पकड़ेगा, अपनी गन्ध का विकिरण नहीं कर सकेगा। तुम लोग कोई फूल खिला नहीं सकोगे।

जो सकता है वह आप ही कर सकता है, वह फूल खिला देता है। वह सिर्फ आँखें खोलकर हेरता है, दोनों आँखों की किरणें डालकर, कि तत्काल वृन्त पर भरे प्राणों का जैसे मन्त्र लग जाय। जो सकता है वह आप फूल खिला सकता है।

उसकी साँस से, पलक मारते ही, फूल जैसे उड़ जाना चाहे, पत्रों के पंख फैला हवा में लोटता रहता। न जाने कितने रंग खुल पड़ते हैं, प्राणों की व्याकुलता की तरह, जैसे किसी को बुला लाने के लिए अपनी सुगन्ध भेजता रहता है। जो सकता है, वह आप फूल खिला सकता है।]

काहार नूपुर-शिञ्जित पद सहसा बाजिल वक्षे?
संन्यासीवर चमकि जागिल, स्वप्न-जड़िमा पलके भागिल,
रूढ़ दीपेर आलोक लागिल क्षमा-सुन्दर चक्षे॥
नगरीर नटी चले अभिसारे यौवन-मदे मत्ता।
अंगे आँचल सुनील वरण, रुनुझुनु रवे बाजे आभरण,
संन्यासी गाये पड़िते चरण थामिल वासवदत्ता॥
प्रदीप धरिया हेरिल ताहार नवीन गौर कान्ति—
सौम्य सहास तरुण बयान, करुणा-किरणे विकच नयान,
शुभ्र ललाटे इन्दु-समान भातिछे स्निग्ध शान्ति॥

संन्यासी कहे करुणा बचने, 'अयि लावण्य-पुंजे,
एखनो आमार समय होयनि, जेथाय चलेछो, जाओ तुम धनि—
समय जे दिन आसिबे आपनि, जाइबो तोमार कुंजे।'

निदारुण रोगे मारी-गुटिकाय भरे गेछे तार अंग।
रोगमसी ढाला काली तनु तार लये प्रजागणे, पुर-परिखार
बाहिरे फेलेछे, करि परिहार विषाक्त तार संग।

झरिछे मुकुल, कूजिछे कोकिल, यामिनी जोछना-मत्ता।
'के ऐसेछो तुमि ओगो दयामय' सुधाइल नारी, संन्यासी कय,—
'आज रजनीते होयछे समय, एसेछि वासवदत्ता।'

[नूपुर-शिञ्जित किसका पद सहसा हृदय में लगा? (संन्यासी सो रहे थे, अँधेरे में उनकी छाती से वासवदत्ता का पैर लग गया था।) संन्यासी चौंककर जग उठे, पलक-भर में स्वप्न की जड़ता दूर हो गयी, दीप का रूढ़ आलोक उनकी क्षमा-सुन्दर आँखों में लगा।

नगर की यौवन-मदमत्त नटी अभिसारिका जा रही थी। अंग में नील वर्ण अंचल, रुनझुन आभरण बज रहे थे, संन्यासी की देह पर पैर पड़ते ही वासवदत्ता रुक गयी।

प्रदीप सीधा कर उसने उनकी नवीन गौर-कान्ति देखी—सौम्य सहास तरुण

वदन, करुणा की किरणों से विकच आँखें, शुभ्र भाल पर इन्दु के समान स्निग्ध शान्ति शोभा दे रही है।]

[संन्यासी ने करुणा-वाक्यों में कहा—अयि लावण्यपुंजे, अभी मेरा समय नहीं हुआ, धनि, तुम जहाँ जा रही हो, जाओ; जिस दिन समय आयेगा, मैं आप तुम्हारे कुंज में जाऊँगा।]

[कठिन रोग में, छालों से, उसकी तमाम देह भर गयी है। रोग की सियाही देह-भर में दौड़ गयी है, उसे लेकर, प्रजागणों ने पुर-परिखा के बाहर डाल दिया है, विषाक्त उसका संग परिहार कर।]

[मुकुल झर रहे हैं, कोयल बोल रही है। 'हे दयामय, तुम कौन हो जो आये हुए हो' नारी ने पूछा। संन्यासी ने कहा, 'आज रात्रि में समय आया है, वासवदत्ता, इसीलिए आया हूँ।]

'सुर-सभा-तले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल हिल्लोल उर्वशी,
छन्दे छन्दे नाचि उठे सिन्धु माझे तरंगेर दल,
शष्य-शीर्षे सिहरिया काँपि उठे धरार अंचल,
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा,
अकस्मात पुरुषेर वक्षो माझे चित्त आत्म हारा,
नाचे रक्त धारा।
दिगन्ते मेखला तव टूटे आचम्बिते अयि असंवृते ॥

[सुरों की सभा में जब तुम पुलकोल्लसित हो नृत्य करती हो ऐ विलोल-हिल्लोल उर्वशी, छन्दों से उस समय सिन्धु में तरंगों के दल नाच उठते, शष्य के शीर्षों में धरा का अंचल काँप उठता है; तुम्हारे स्तनहार से नभ में तारे टूटे पड़ते, अकस्मात् पुरुष के हृदय में चित्त अपनापन भूल जाता है; रक्तधारा नाचने लगती है। एकाएक तुम्हारी मेखला, अयि असंवृते, दिगन्त में टूटने लगती है।]

ये सब रवीन्द्रनाथ की वास्तव जगत की कल्पना के चित्र हैं, उपमा-अलंकारों से सजे हुए, कहीं-कहीं घटनाक्रम के मेरुमूल के रूप से, कला जिनकी जान है, हर एक चित्र आप ही अपने मनोहर सौन्दर्य का प्रमाण दे रहा है। बहिर्गत और अन्तर्गत के ऊहापोह में काल्पनिक अपने सुन्दर चित्रों से रवीन्द्रनाथ जिस खूबी से अपनी कविता को खिला देते हैं, ऐसे कवि बहुत थोड़े हैं। तुलसीदास इस कार्य में भी पारंगत हैं। फर्क यह है कि इन्हें कथा-प्रसंग पर उत्तम-उत्तम चित्र दिखलाने पड़े हैं, और प्राचीन भारतीय धारा के अनुसार और रवीन्द्रनाथ आधुनिक युग के अनुकूल देश-देशान्तरों की प्रचलित सौन्दर्य-विकास की कला काम में लाते हैं। दोनों के चित्रों में यहाँ केवल काव्य-कौशल दिखलाया जा सकता है, चित्र-समता नहीं रखी जा सकती। कारण, दोनों के विषय एक-दूसरे के बिलकुल प्रतिकूल हैं। तुलसीदास के उदाहरण—

कंकन - किंकिनि नूपुर - धुनि-सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं । मनसा विश्व-विजय कहँ कीन्हीं ।।
अस कहि फिरि चितये तिहि ओरा । सिय-मुख-शशि भये नयन चकोरा ।।
भये विलोचन चारु अचञ्चल । मनहुँ सकुचि निमि तज्यौ दृगञ्चल ।।

प्रथम पंक्ति में पद्य के आवर्त में ही कंकन-किंकिनियों की ध्वनि होना और दूसरी पंक्ति में राम का वीरोचित सौन्दर्य, कि मन-ही-मन सोचकर लक्ष्मण से कहते हैं। इतनी मधुर ध्वनि भी उन्हें केन्द्रच्युत नहीं कर सकती, वे कामिनी-रूप पर मुग्ध होकर मरीचिका के मृग की तरह तृष्णा से बिलकुल बहिर्मुख नहीं हो जाते। वे सोचकर, विचारपूर्वक कहते हैं। अन्तिम दोनों पंक्तियों में प्रेम का बड़ा ही पावन रूप प्रकट हुआ है। एकटक दृष्टि की कितनी सुन्दर व्याख्या है जो किशोर और किशोरियों के यौवनोन्मेष की प्रथम माया, प्रथम वशीकरण मन्त्र, अज्ञात भाव से अपनी सिद्धि की सीढ़ियों पर चढ़ा ले जाता है, जिसका फल कुछ पीछे चलकर प्रगट हुआ है :

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं ।
चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं ।।

धनुष के टूटने के समय जब तरह-तरह के संकल्प और विकल्प जानकीजी की माता में और उनमें दिखलाये गये हैं, मानसिक परिस्थिति तथा प्रेम के कारण अधैर्य का बड़ा ही सहृदय चित्र गोस्वामीजी ने खींचा है। जहाँ वे लिखते हैं—

प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन युग, जनु विधु मण्डल डोल ।।
गिरा-अलिनि मुख-पंकज रोकी । प्रगट न लाज-निशा अवलोकी ।।
लोचन-जल रहु लोचन कोना । जैसे परम कृपण कर सोना ।।

इस जगह, दुःख के भाव को सौन्दर्य की वर्णना से बिलकुल रससिक्त कर दिया है, दुःख को हलका कर देने के लिए तुलसीदास का रसपरिपाक ऊपर के लिखे हुए दोहे में बहुत अच्छी तरह जाहिर हो रहा है। चिन्ता का समय है, इसीलिए रामचन्द्र को देखकर जानकी पृथ्वी की ओर हेरती हैं—यहाँ इस कार्य से दुःख और चिन्ता का भाव प्रगट हुआ। फिर मुखचन्द्र-मण्डल में मनसिज-मीन-नयनों के हिंडोर झूलने के अलंकार से, नेत्रों में जो चंचलता जाहिर की उससे चित्त की अस्थिरता प्रगट हुई। दोहे के भीतर है दुःख, चिन्ता और अस्थिरता जो उस समय उनकी मानसिक दशा के अनुकूल थे, परन्तु बाहर है श्रृंगार का पवित्र मनोहर चित्र। यों मानसिक अवस्था की वर्णना हुई, फिर भाषा की वर्णना है जो लज्जा-वश नहीं खुलती।

लाज की रात देखकर गिरा-अलिनी को मुख-पंकज में बन्द ही रखा। दुःखातिरेक से आँसू आ गये थे, कृपण के सोने की तरह उन्हें आकर्ण विस्तृत लोचनों के कोने में ही छिपा रखा।

माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु ।
देन कह्यो वरदान दुइ, तेउ पावत सन्देहु ।।

मुग्ध सर्प के लिए जैसे वंशी-रव, कामना-मन्त्र से भरे हुए ये शब्द महाराज

दशरथ पर अचूक बैठ रहे हैं—बनावटी प्यार के अन्दर का छिपा हुआ जहर ही दशरथ पर काम कर रहा है। कैकेयी के ज़हर की उन्हें खबर नहीं। वे केवल कामिनी के वाक्-छल में, कामनामीलित नेत्रों के दर्शन-सौन्दर्य में लुब्ध हैं। इसी-लिए—

जानेउ परम राउ हँसि कहई। तुम्हें कोहाब परम प्रिय अहई ।।

दशरथ को किस तरह कैकेयी अपने जाल में फँसाती जा रही है, रामायण के एकच्छत्र साम्राज्य शासन में बसनेवाले हिन्दी-भाषी अच्छी तरह जानते हैं। अतएव विशेष लिखना अनुचित-सा जान पड़ता है।

सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे ।।

दीन मोहि सिख नीक गुसाईं। लागि अगम अपनी कदराई ।।
नरवर धीर धर्म धुर धारी। निगम-नीति के ते अधिकारी ।।
मैं शिशु प्रभु सनेह-प्रतिपाला। मन्दर मेरु कि लेइ मराला ।।

जाइ जननि पग नायउ माथा। मन रघुनन्दन-जानकि साथा ।।
पूच्छ्यो मातु मलिन मन देखी। लखन कह्यो सब कथा विशेषी ।।
गयी सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि जनु दव चहुँ ओरा ।।
लखन लख्यो भा अनरथ आजू। यहि सनेह-वश करब अकाजू ।।
माँगत विदा समय सकुचाहीं। जान संग विधि कहहिं कि नाहीं ।।

मातु-चरण सिर नाइ चले लखन शंकित हिये।
बागुर विषम तुराइ, मनहु भाग मृग भाग्य वश ।।

यहाँ लक्ष्मण का चित्र एक वीर बालक का चित्र है। मानसिक चित्रण में यहाँ गोस्वामीजी ने उच्च कोटि की कला प्रदर्शित की है। राम बहुत समझाते हैं, पर रहने की बात पर लक्ष्मण राजी नहीं होते। बड़े-बड़े उपदेशों को जिस युक्ति से काटते हैं, वह युक्ति लक्ष्मण के ही योग्य है—शास्त्र नीति के अधिकारी तो वे पुरुष हैं जो धर्म की धुरी धारण करनेवाले उत्तम पुरुष हैं। मैं आपके स्नेह का पाला हुआ, भला मराल कभी मेरु-मन्दर भी उठा सकता है ? फिर जब वे माता के पास गये और विपत्ति की कथा सुन माता दावाग्नि में घिरी मृगी की तरह त्रस्त हो गयीं, तब उनके ये शंका के चिह्न देखकर लक्ष्मण सोचते हैं कि अब शायद यह मुझे जाने न देंगी। उस शंका का आरोप वे अपने ऊपर कर लेते हैं—सोचते हैं, स्नेहवश अब यह अकाज करेंगी। इसलिए सभय विदा माँगते हैं। यहाँ कविता के साथ जैसे स्वर्ण का सुगन्ध से जोड़ मिल गया हो।

माँगी नाव न केवट आना। कहै तुम्हार मर्म मैं जाना ।।
चरण-कमल-रज कहँ सब कहई। मानुष-करन मूरि कछु अहई ।।
छुवत शिला भइ नारि सुहाई। पाहन ते न काठ-कठिनाई ।।
तरनिउ मुनि घरनी ह्वै जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ।।
यहि प्रतिपालौं सब परिवारू। नहि जानौं कछु और कबारू ।।
जो प्रभु अवसि पार गा चहहू। तो पद-पद्म पखारन कहहू ।।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहँसे करुणा-ऐन चितइ जानकी-लखन तन ।।

केवट ने जो नाव न लाने का कारण बतलाया है, जिस तरह का सन्देह करता है, एक सीधी कामना को जैसे टेढ़ी रीति से पूर्ण कर लेता है, उसके भाव इन पंक्तियों में मूर्तिमान हो रहे हैं । रवीन्द्रनाथ के चित्रों से कहीं भी सौन्दर्य की कमी नहीं, न कला में, न कवित्व में, बल्कि सहृदयता में भाव और बढ़े हुए हैं ।

कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी । जानि राम बनवास इकाकी ।।
करि कुमन्त्र मन साजि समाजू । आये करन अकंटक राजू ।।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आये दल बटोरि द्वउ भाई ।।
जो जिय होति न कपट कुचाली । किहि सुहाति रथ-बाजि-गजाली ।।

सहस - बाहु सुरनाथ त्रिशंकू । केहि न राजमद दीन कलंकू ।।
भरत कीन यह उचित उपाऊ । रिपु - रिन रंच न राखब काऊ ।।
एक कीन नहिं भरत भलाई । निदरे राम जानि असहाई ।।
इतना कहत नीति-रस भूला । रन-रस-विटप पुलक मिसु फूला ।।

नीति कहते ही कहते, राम पद प्रेम और अहैतुकी भक्ति रखने के कारण, लक्ष्मण प्रेम और भक्ति की ओर झुक जाते हैं जो मनुष्यों का साधारण स्वभाव है। अन्तिम पंक्तियों में भाव-वैचित्र्य देखने ही लायक है । 'रन-रस-विटप पुलक मिसु फूला' सिनेमा के बदलते हुए चित्र की तरह तत्काल लक्ष्मण को एक दूसरे चित्र में बदलकर खड़ा कर देता है और इतना सुन्दर कि प्राचीन काल के एक वीर ब्रह्मचारी नवयुवक क्षत्रिय की दृप्तमूर्ति हम अच्छी तरह देख लेते हैं। भावों का निबाह, अमूल्य भाषा का कहना ही क्या है। 'कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई'। 'कलपि' का सौन्दर्य, स्थान-योग्यता और बल एक बहुत बड़े कलावन्त कवि का परिचय दे रहा है और इस तरह के भाषा सौन्दर्य से रिक्त शायद ही तुलसीदासजी की कोई चौपाई हो ।

वेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू ।।
बल्कल-वसन जटिल तनु श्यामा । जनु मुनि-वेश कीन रति कामा ।।
कर-कमलनि धनु-सायक फेरत । जिय की जरनि हरत हसि हेरत ।।
लसत मंजु मुनि मण्डली, मध्य सीय रघुचन्द ।
ज्ञान-सभा जनु तनु धरे, भक्ति सच्चिदानन्द ।।
सानुज सखा - समेत मगन मन । बिसरे हरष शोक सुख दुख गन ।।
पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं । भूतल परे लकुट की नाईं ।।
बचन सप्रेम लखन पहिचाने । करत प्रणाम भरत जित जाने ।।
बन्धु-सनेह सरस यहि ओरा । इत साहिब सेवा बरजोरा ।।
मिलि न जाय नहिं गुदरत बनई । सुकवि लखन मन की गति भनई ।।
रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जनु खैंच खिलारू ।।
कहत सप्रेम नाइ महि माथा । भरत प्रणाम करत रघुनाथा ।।
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ।।

इतने में अनेक चित्र हैं। हर एक सौन्दर्य और स्वाभाविकता की सीमा तक पहुँचा हुआ। 'कर कमलनि धनु सायक फेरत'—इस चित्र से मुनियों की मण्डली में बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी की स्वाभाविक स्वच्छन्दता प्रगट की गयी है। इसके बाद भरत की भक्ति और लक्ष्मण का बर्ताव, जहाँ मानसिक द्वन्द्व मचता है, मनोवैज्ञानिक विचार, आदर्श और सेवक-धर्म-पालन, कितने ही अतुल चित्रों का गोस्वामीजी ने समुद्घाटन किया है। श्रीरामचन्द्रजी के उठने के ढंग में प्रेम और हृदयता का स्रोत बह चलता है—'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा' जिसकी कला,—खोलने के कारण है। भारत का चित्र यहाँ इतना पावन है कि किसी दूसरे साधारण सौन्दर्य-चित्र में उतनी शक्ति ही नहीं जो इस चित्र के दिव्य प्रभाव को दबाकर अपना प्रभाव दर्शक या पाठक पर छोड़ सके। कैसा ही सुन्दर चित्र हो, गहन भक्ति के चित्र के गुरु भार से दब जाता है—उसकी महत्ता जैसे मान लेता हो। भरत के सामने इसीलिए तमाम प्रकृति अदब करती है—जंगम-जड़, ऋषि, मुनि, बृहस्पति, इन्द्र आदि-आदि, संसार के साधारण से लेकर श्रेष्ठ जीव तक। जिस तरह भरत की व्यक्तिगत साधना ऐसी गम्भीर, पवित्र, और दूसरे पर प्रभाव छोड़नेवाली, उसे नतमस्तक कर देनेवाली है, उसी तरह उनके चरित्र की गुरुता को यथार्थ रूप से प्रगट करनेवाली तुलसीदास की भाषा और उनका कवित्व। इसकी दिव्यता इतनी बोझीली है कि चित्रण-सार्थकता और महत्ता स्वीकार कराके ही छोड़ती है—प्रकृति का चाहे जितना बड़ा महापुरुष या साहित्यिक क्यों न हो।

तुलसीदासजी के भाव-चित्र के अब अधिक उद्धरण न दूँगा। यहाँ तक यह साहित्यिक तुलना रही है। हम देख चुके हैं, मानवीय भूमि से कविवर रवीन्द्रनाथ का काव्य-सौन्दर्य-श्रृंगार मानव-सौन्दर्य की असीमता तक उठता, अद्‌भुत कौशल दिखाकर समाप्त होता है। तुलसीदास मानव-सौन्दर्य के साथ ही कुछ और देखते हैं, जिसे वे उस सौन्दर्य से अधिक महत्त्व देते हैं, उससे बड़ा भी मानते हैं—

श्याम सरोज-दाम-सम सुन्दर। प्रभु भुज करि कर-सम दशकन्धर।।
सो भुज कण्ठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान-पन मोरा।।

यह इतना श्रृंगार है, कि कोई बात नहीं कही जा सकती या मानवीय होने पर भी उसका संयोग दिव्यता से है जो मानवीय नहीं। रवीन्द्रनाथ में ऐसी बात नहीं। किसी स्त्री को देवी कह देने से वह देवी नहीं बन जाती, यदि उसके दिव्य भाव का विकास उस कहने में न हो, आजकल की सभ्यता के प्रचलित प्रणाम की तरह, जिसमें भक्ति की भाव-सुगन्ध नहीं—केवल एक सभ्य कवायद मात्र है। एक उदाहरण इन दोनों कवियों में मिलता है। वह है अहल्या का उदाहरण—इस पर दोनों कवियों की उक्तियाँ देखने में आती हैं। तुलसीदास उसे ऋषि-पत्नी मानकर उसमें भगवद्‌भक्ति का आभास देखते हैं। उससे जो कुछ कहलाते हैं, उस युक्ति में भक्ति-ज्ञानोन्मीलितनयना पवित्र वाणी के दर्शन होते हैं जिसका असर बड़ी देर तक पाठक के हृदय में रहता है और कवि की वर्णना, भाव और भाषा तथा प्रकाशन-ढंग भी चरित्र की महत्ता से घटकर नहीं रहता। अहल्या के पाषाण-मूर्ति हो जाने की आख्यायिका के अन्दर जो सत्य छिपा हुआ है उसे महाकवि महात्मा तुलसीदासजी जानते थे, यद्यपि रामायण में सत्य का विचारात्मक उल्लेख न कर

उन्होंने ऐतिहासिक उल्लेख ही किया है; और उन्हें इस तरह से विचारात्मक प्रमाण देने की जरूरत भी न थी। कारण, उस समय जबकि तुलसीदासजी का ज़माना था, पौराणिक कथाओं पर भारतवर्ष विश्वास करता था—पहले ऋषियों के कहे हुए वाक्यों पर लोग अन्धविश्वास करते थे, फिर सत्यानुरागी अपने मार्ग पर आगे बढ़कर जड़ में चेतनता देखता हुआ, जड़बुद्धि के प्रभाव से पहले की गयी अन्ध धारणा को नेत्रों के खुलने पर—चेतना का प्रकाश पाने पर सत्य समझने लगता था। पश्चात् वह भी पहले के धृत अन्धविश्वासों को, पुराणों की कहानियों को सत्य कहकर प्रचार करने लगता था, और इस तरह के सत्यों का चूँकि वह दर्शन कर लेने के बाद प्रचार करता था, इसलिए उसके वाक्यों में इतना जोर रहता था कि साधारण लोग या तत्कालीन जनता उसे अपने से बड़ा मानकर, अपनी समझ की अक्षमता स्वीकार कर, अदृष्ट सत्य या अविश्वास के तौर पर भी स्वीकार कर लेती थी। इधर जब से पश्चिमी शिक्षा देश में जगी, साधुओं तथा भारतीय पुराणों की आख्यायिकाओं पर लोगों का अविश्वास प्रबल होने लगा, शिक्षित साधुओं से पृथक् हो गये। शिक्षितों के मस्तिष्क में पश्चिमी सिद्धान्तों ने अड्डा जमाया, यद्यपि वे लोग अपने मौलिक ज्ञान और मौलिक विचारों पर जोर देकर बातचीत करते—यद्यपि उनकी विचारधारा पश्चिम की बही-बहायी या बहती हुई नालियों से होकर ही गुजरती—यद्यपि वे इस बौद्धिक चक्कर के समझने की परवा न करते। इस तरह शिक्षितों का एक पृथक् समुदाय देश में तैयार हुआ। राष्ट्र-सम्मेलन के लिए नपुंसक, मक्का-मुखी मुसलमानों की तरह, हिन्दुस्तान के साधु-समागम से सतर्क बचे हुए, उनकी शिक्षा से विमुख हमारे शिक्षित भी लण्डन-मुख बने रहे। वे वहाँ की प्राचीन आख्यायिकाओं के साथ यहाँ की आख्यायिकाओं की तुलना करते और वहाँ के अब के लोगों की तरह, जो संसार को क्रमशः उन्नतिशील मानते और अपनी प्राचीन आख्यायिकाओं को सत्य के प्रथम प्रकाश की असत्य छाया-रूपिणी मानने लगे हैं। (और उनकी कहानियों से भारत की पौराणिक कहानियों की तुलना हो भी नहीं सकती—क्योंकि वह कल्पना है और यह कल्पनाकाय विचार-सत्य), यहाँ की आख्यायिकाओं के सम्बन्ध में भी ऐसी धारणा करने लगे; यद्यपि अपने विचारों को मौलिक समझते हैं। फल यह हुआ कि यहाँ के नवीन साहित्य में यथाशिक्षा तथाकृति होने लगी सब तरफ; साहित्य, समाज, राजनीति, व्यवसाय, धर्म-तर्क-विचार—सब तरफ। नवीन प्रतिभा के आधार महाकवि रवीन्द्रनाथ पर भी इस पश्चिमी शिक्षा और विचारों की किरणें पड़ीं। वे चन्द्र बन उन्हें धारणकर उनकी स्निग्ध ज्योत्स्ना भारत की पृथ्वी में भरने लगे और यहाँ के उनके उपनिषद् पाठ, धर्म तथा चिन्तन के प्रभाव ने वहाँ के लिए यहाँ की एक मनोहारिणी मूर्ति खींच दी। महाकवि रवीन्द्रनाथ का यही रूप है। अहल्या के चित्रण में कवि को हम इसी रूप में देखते हैं। रवीन्द्रनाथ की अहल्या में जो सौन्दर्य है वह ऋषि-पत्नी का सौन्दर्य नहीं। उनकी वर्णना श्रृंगार को हद दर्जे तक पहुँचाती है, पर उसे पढ़ने पर मालूम होता है, यह कोई ब्रजभाषा की चम्पकवर्णा नायिका या समुद्र के तट पर रहनेवाली, बालुका राशि पर नग्नपद विचरण करती हुई, हवा से लहराते बाल, वसन, हँसमुख निष्पाप कोई गोरी

युवती है। आकर्षण दोनों में अत्यधिक है और अपने-अपने ढंग पर दोनों ही बहुत बड़े हैं, पर फिर भी सब तरफ से केवल काव्य के सौन्दर्य पर विचार करने पर तुलसीदास ही बड़े ठहरते हैं—भाषा-साहित्य में रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में कहना पड़ता है कि भ्रम, त्रुटियाँ मिल सकती हैं, पर तुलसीदास के सम्बन्ध में, कोई शायद ही मिले।

छायावाद, रहस्यवाद या अध्यात्मवाद की तुलना में रवीन्द्रनाथ किसी तरह भी तुलसीदास के सामने नहीं ठहरते।

गीतांजलि—संगीत 30वाँ —

एकला आमि बाहिर होलेम तोमार अभिसारे,
साथे साथे के चले मोरे नीरव अन्धकारे।
छाड़ाते चाइ अनेक करे, घुरे चलि, जाइ जे सरे,
मने करि आपद गेछे—
आवार देखि तारे।
धरणी ने काँपिये चले विषम चंचलता।
सकल कथार मध्ये से चाय कइते आपन कथा।
से जे आमार आमि, प्रभु, लज्जा ताहार नाइ जे कभू,
तारे निये कौन लाजे बा जाब तोमार द्वारे।

[अकेली मैं तुम्हारे अभिसार के लिए बाहर निकली। मेरे साथ ही साथ नीरव अन्धकार में कौन चल रहा है? अनेक प्रकार से उसे छुड़ाना चाहती हूँ, फिरकर चलती हूँ—हट जाती हूँ। सोचती हूँ, बला गयी,...लेकिन फिर उसे देखती हूँ।

वह पृथ्वी को कँपाता हुआ चलता है। उसमें बड़ी ही चंचलता है, सब बातों के भीतर से वह अपनी बातें कहना चाहता है। प्रभु, वह मेरा 'मैं' है, उसे कभी कोई लज्जा नहीं, उसे लेकर भला किस लाज से मैं तुम्हारे द्वार पर जाऊँ?]

यहाँ एक है अभिसारिका (कवि या कोई मनुष्य या जीव), जो अकेली अपने प्रियतम के पास जा रही है। अब बीच में उसने एक और कुछ देखा जिसे वह अपना 'मैं', 'प्रभु' कहती है—जिसकी अपरिमित शक्ति का परिचय देती है, फिर कहती है, उसमें लज्जा भी नहीं; साथ ही अपने इस नये प्रभु के अतिरिक्त एक और प्रभु की कल्पना किये रहती है जिसके अभिसार में वह निकली है। इस गीत में अभिसारिका अपने लिए तो 'मैं' का प्रयोग करती, नये आये हुए प्रभु के लिए 'मैं का मैं' और सर्वनाम में 'उसे', 'वह', 'उसका'; और जिसके अभिसार में चली है, उसके लिए 'तुम', 'तुम्हारा'। यानी इस पद्य में तीन कर्ता हैं—एक अभिसारिका या कवि का 'मैं', दूसरा अभिसार करते वक्त पैदा हुआ 'मैं का मैं' और तीसरा 'तुम' जो अभिसार करने के पहले के सोचे हुए प्रभु हैं। पीछे तमाशा यह होता है कि अभिसारिका (या कवि) उस हाल में पैदा हुए प्रभु के अन्दर लज्जा न रहने का भाव आरोपित कर जब उसे ले लेती है—मिला लेती है (तारे निये); उससे एक हो जाती है, तब अपने तीसरे प्रभु से कहती है, मैं अब किस लाज से तुम्हारे पास जाऊँ?—यानी अब जरूरत नहीं रह गयी, यानी अपने मालिक को अपने अन्दर पा गयी। पर वह 'तुम' वाली ध्वनि कहाँ मिटी?—'तुम' वाले प्रभु को

तो अँगूठा ही मिल रहा है—अब इनके साथ कौन मिले—'तारे निये' में उसे तो आपने ले लिया, पर जिनकी पहले से कल्पना कर रक्खी है, इनको कौन ले ? ये बिचारे तो ताकते ही रह जाते हैं। प्रश्न उठता है, प्रभु जब भीतर ही मिले तो ये कौन थे ?—भीतरवाले प्रभु की छाया ?—तो 'कौन लाजे बा जाब तो···रद्वारे' कहकर अन्तिम वाक्य में 'तुम' को जीवित क्यों किया गया ? क्या पद्य की ध्वनि कहती है कि 'तुम' मरा ? चित्र कहता है, जैसे एक नायिका के दो-दो प्रेमी हों, वह एक से मिले दूसरे को अँगूठा दिखावे। इसे छायावाद या रहस्यवाद नहीं कहते। यह समझदार का रहस्यवाद नहीं। जिस तीन से बहु होते हैं, 'मैं अरु मोरि तोरि तैं' वाली माया बनती है, वे तीन इस पद्य में हैं—पानी की तीन बूंदें। रवीन्द्रनाथ दो ही बूँदों को मिलाते हैं, तीसरी पड़ी ही रह जाती है। यही छिद्र है, जिससे रहस्यवाद के समालोचक को दर्शन-सत्य और कल्पना-सत्य का भेद मालूम होता है, कहने के लिए उसे जगह मिलती है। यहाँ जो एक साहित्यिक छल है, रवीन्द्रनाथ उसी के फेर में पड़े हैं जैसे, दूसरी आत्मा या 'मैं' को अभिसारिका का पहले पृथक् रखना, उससे अलग होते रहना, फिर उसके विशेषणों में उसे लाजहीन (खुला हुआ, मुक्त) बतलाना, फिर उसे मिलाकर—लेकर अपने को भी लाजहीन (मुक्त, पूर्ण, खुली हुई, अभाव रहित) सोचना और प्रथम कल्पित प्रभु के द्वार पर न जाना, किस लाज से (अभाव से, लाज के झुकने के भाव से अभाव लेकर) जाय ?—ऐसी ध्वनि करना। इससे दार्शनिक संगति छूट गयी है। अप्रधान साहित्य यहाँ प्रधान हुआ है—कवि ने उसी तरफ निगाह दौड़ायी है, और प्रधान दर्शन अप्रधान हो गया है। साहित्य वहीं तक उचित था जहाँ तक दर्शन का साथ दे सकता था। यहाँ साहित्य के पीछे ही इतनी बड़ी बात की मिट्टी बरबाद हो गयी है। और भी बहुत तरह से इसमें त्रुटियाँ मिलती हैं, पर समय नहीं।

और भी रवीन्द्रनाथ के जितने रहस्यवाद के पद्य हैं, प्रायः सब इसी तरह चित्र-प्रधान हैं। इसलिए चित्रों की मनोहरता के फेर में पड़कर कवि दार्शनिक तत्त्व भूल गया है। जहाँ केवल मानसिक विचार है, वहाँ रवीन्द्रनाथ पूर्ण सफल हैं और शुद्ध साहित्यिक कविताओं के लिए कहना ही क्या है।

बन्दी ओगो के गड़ेछे बज्रबांधन खानि ?
आपनि आमि गड़ेछिलेम बहु जतन मानि।
भेबे छिलेम आमार प्रताप करबे जगत ग्रास,
आमि रब एकला स्वाधीन सवाइ हबे दास।
ताइ गड़ेछि रजनी दिन लोहार शिकल खाना,
कत आगुन कत आघात नाइक तार ठिकाना।
गड़ा जखन शेष होयेछे कठिन सुकठोर,
देखि आमाय बन्दी करे आमारि यइ डोर।

[बन्दी, यह वज्र-सा कठिन बन्धन किसका गढ़ा हुआ है ? मैंने सोचा था, मेरा प्रताप संसार को ग्रास करेगा, मैं अकेला स्वाधीन और संसार मेरा दास होगा। इस विचार से ही रातोदिन मैं यह ज़ंजीर तैयार करता रहा; कितनी आग,

कितने घाव लगाये, जिसका पता नहीं। अब, जब कठिन कठोर गढ़ना समाप्त हो चुका तो देखता हूँ, मेरी ही इस डोर ने मुझे बन्दी किया है।]

यहाँ, यह तमाम बन्धनोक्ति भारत की प्रचलित दार्शनिक उक्ति है—

कोउ न काउ दुख-सुख कर दाता। निज-कृत कर्म भोग फल भ्राता।।

अपने ही किये हुए कर्मों का भोग-फल मिलता है। अनेकों बार ऐसी उक्तियाँ की गयी हैं। बंगला में भी—

दोष कारो नय माँ श्यामा आमि स्वखाद सलिले डूबे मरि।

[किसी का भी दोष नहीं, ऐ माँ श्यामा, मैं अपने ही हाथ के खोदे हुए गढ़े के पानी में डूब रहा हूँ।]

बहुत कहा गया है। और चूँकि यहाँ रवीन्द्रनाथ सत्य को उसी रूप में रखते हैं, इसलिए निबाह भी सार्थक आया है। "मैं इतना बड़ा हूँगा कि संसार में और सब मेरे दास रहेंगे, केवल मैं स्वाधीन।" इस कल्पना से जो संगठन का कार्य आत्मा के भीतर जारी हो जाता है और इसकी पूर्णता ही बन्धन की कठिन डोर होती है—दीर्घ काल तक एक किसी कर्म-योग में लगी रहनेवाली; शास्त्रों में, अन्य उदाहरणों द्वारा विस्तृत रूप से यह सब समझाया गया है। इस तरह जब रवीन्द्रनाथ चक्रानुवर्त्तन करते हैं, उनकी कविता कलाकार कवि के लेखनी-कौशल, चित्रण-शक्ति के परिचय से वसन्त की कोमल कली की तरह आँखें खोल देती है।

गो. तुलसीदास का तत्त्वज्ञान, जिसकी आधुनिक परिभाषा Mysticism का अनुवाद, रहस्यवाद या छायावाद है, निहायत चुस्त है। उसका प्रति वर्ण पूर्वकाल के ऋषियों की अनुभूति से मिलता है, वह ज्ञान उनका साधनालब्ध ज्ञान है, केवल अध्ययनजन्य नहीं। तत्त्वज्ञान की साधना या पन्था अलग-अलग हो सकती है, पर अनुभव में भिन्नता नहीं—

शून्य भीति पर रंग रूप नहिं कर बिन लिखा चितेरे।
मारे मरै न मिटै मोह, दुख पाइय विविध घनेरे।।

यही अनुभव तुलसीदास को होता है, यही सूरदास को और यही कबीर को भी, यहाँ तक कि संसार के जितने मुक्त महापुरुष हुए हैं। 'शून्य भीति पर' द्वारा हमें मालूम हो जाता है कि संसार की बुनियाद कुछ नहीं, शून्य है, निरंजन है। ये जो इतने अंजन इस पर लिखे हुए दिखलायी पड़ते हैं, इतनी जो सृष्टियाँ हैं, चित्र हैं, इनका सृजन करनेवाला भी अतनु (शून्य, पूर्ण, सच्चिदानन्द) है—वही चित्रकार है। 'मारे मरै न मिटै मोह' जब तक इन चित्रों पर अध्यास रहता है, तभी तक दुःख मिलता है—कारण, ये सुख-दुःख सीमित करनेवाले हैं, जीव में सीमा का ज्ञान भरनेवाले। जो साधना करते हैं, वे इस अध्यास को छुड़ाते हैं, चाहे 'नेति-नेति' का अवलम्ब लेकर छुड़ावें, कि यह पेड़ आत्मा नहीं, ये पत्तियाँ आत्मा नहीं, क्योंकि इनमें परिवर्तन हुआ करता है—इस तरह, या इष्ट मूर्ति की कल्पना द्वारा उसमें लीन होकर। पन्था कोई हो, चरम सत्य एक ही होगा। इसीलिए हम महापुरुषों में विभिनन्ता देखते हुए भी साम्य पाते हैं। यह है दार्शनिक साम्य, ज्ञानजन्य समता।

रवीन्द्रनाथ ने इस पर उक्तियाँ तो अनेक की हैं, पर उनका दर्शन भी उनकी

एक कविता है। वे स्वयं कहते हैं—'वैराग्य-साधने मुक्ति से आमार नय'—वैराग्य-साधना द्वारा जो मुक्ति मिलती है, वे कहते हैं, वह मेरी मुक्ति नहीं। रवीन्द्रनाथ की मुक्ति-विवेचना में भी योरप और भारत की खासी खिचड़ी पकती है। पत्रों की हरीतिमा, आकाश की नीलिमा, पुष्पों की सुगन्ध में इन्हें मुक्ति का स्वाद मिलता है। सुनने में कितना अच्छा है यह वाक्य ! मसनद भी न छूटेगी, तकलीफ भी सहनी नहीं, और मुक्ति भी हाथोंहाथ। एक हाथ में पूँजीवाद और दूसरे में अखण्ड तत्त्वज्ञान। एक आँख से बीवी-बच्चों को स्नेह और प्यार भी कर लेंगे, और दूसरे से ब्रह्म भी देख लेंगे। यह दर्शन उस रवीन्द्रनाथ का है, जो कहते हैं—तब आदमी अपने को धोखा देता है जब दु:साध्य फल की प्राप्ति के लिए सुखसाध्य मार्ग ढूँढ़ निकालता है। इधर तुलसीदास और अन्यान्य साधुओं की तरह स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं—He who owns a little, can never pass through Maya's gate (जिसके पास अधिकार के नाम से कुछ भी है—जो थोड़ी-सी वस्तु को भी अपनी कहकर सोचता है, वह कभी भी माया का द्वार पार नहीं कर सकता।)

कहीं-कहीं विराट् वैभव की प्रगति या जीवन का सहारा लेकर रवीन्द्रनाथ उसी में मुक्ति-तत्त्व देखते हैं जैसा कि उन्होंने अपनी नवीन 'नटराज' रचना के 'मुक्तितत्त्व' में लिखा है—

मुक्ति - तत्त्व सुनते फिरिस तत्त्वशिरोमणिर पीछे ?
हाय रे मिछे, हाय रे मिछे ! मुक्त जिनि देखना ताँरे,
आय चले ताँर आपन द्वारे, ताँर वाणी की सुकनी पाताय
हलदे रंगे लिखेन तिनि ? मरा डालेर झरा फुलेर
साधन कि तार मुक्ति-कूलेर ? मुक्ति कि पण्डितेर हाटे
उक्ति - राशिर बिकि - किनि ? यइ नेमेछे चाँदेर हासि
यइ खाने आप मिलबि आसि, वीणार तारे तारण-मन्त्र
सिखेन तोर कविर काछे। आमि नटराजेर चेला,
चित्ताकाशे देखचि खेला, बान्धन-खोलार सिखछि साधन
महाकालेर विपुल नाचे।

सुनबि रे आय कविर काछे, तरुर मुक्ति फुलेर नाचे,
नदीर मुक्ति आतमहारा नृत्य धारार ताले ताले।
रविर मुक्ति देख ना चैये आलोक आमार नाचन गेये,
तारार नृत्ये शून्य गगन मुक्ति जे पाय काले काले।

[मुक्ति-तत्त्व सुनने के लिए तत्त्व-शिरोमणि के पीछे घूमता है तू !—हाय रे मिथ्या (भ्रमण)—हाय रे मिथ्या !

जो मुक्त हैं, उन्हें देख, उनके अपने द्वार पर चला आ, वे अपनी वाणी को सूखे हुए पत्तों के जर्द रंग से लिखते हैं ?

मरी डालों के झड़े हुए फूलों के साधन ही क्या उनके मुक्ति-कूल के साधन हैं ? मुक्ति क्या पण्डितों के बाजार में उक्ति-राशि का खरीद-फरोख्त है ?

यह चाँद की हँसी उतरी हुई है, यहीं आ, यहीं आकर मिल, वीणा के तार में तारण-मन्त्र अपने कवि से सीख ले ।

मैं नटराज का चेला हूँ, चित्ताकाश में क्रीड़ा-कौतुक देख रहा हूँ, बन्धन-मुक्ति की साधना सीख रहा हूँ—महाकाल के विपुल नृत्य से ।

आ, अगर तुझे अपने कवि के निकट सुनना है, पुष्पों के नृत्य में तरु की मुक्ति है, नदी की मुक्ति आपा खोकर बहती हुई नृत्य-धारा की ताल-ताल पर है ।

आँखें खोलकर सूर्य की मुक्ति भी देख, रश्मि-जागरण के नृत्य को गाकर होती है, ताराओं के नृत्य से शून्य गगन समय-समय पर मुक्ति पाता है ।]

मुक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते हुए रवीन्द्रनाथ जहाँ कहते हैं कि वे सूखे हुए पत्तों के जर्द रंग से अपनी वाणी नहीं लिखते, यह तो चन्द्रालोक, ज्योत्स्ना की मधुर मुस्कराहट उतर रही है, यहाँ आकर तू वाणी के तारों से झंकार द्वारा उठता हुआ अपने कवि के निकट तारण-मन्त्र सीख ले, ऐसे स्थलों में तत्त्व की जगह कल्पना और कविता के ही दर्शन होते हैं । यदि तत्त्व की भाषा खोजना कवि का अभिप्राय है जो जीर्ण में भी तत्त्व है और नवीन में भी—"तू गुले चमन मैं खारे दस्त नक्काश एक तस्वीरें दो । तू शाहंशाह मैं दर का गदा जुज रूह एक तकदीरें दो ।" यदि ज्योत्स्ना के हास्य में तारण-मन्त्र होगा, तो पीले पत्रों में भी होगा । लेकिन तारण-मन्त्र न ज्योत्स्ना में है, न सूर्य की चमकीली किरणों में, न फूलों के विकास में । ज्योत्स्ना, सूर्य-रश्मि तथा पुष्पों को देखकर जो आनन्द होता है वह संसार की सीमा के अन्दर ही बँधा हुआ है, उस समय Time और Space (काल और सीमा) का ज्ञान रहता है और जब तक यह ज्ञान है तब तक मुक्ति कैसी ?—यह बन्धन के भीतर आनन्द की छायामात्र है, जिससे बन्धन ही जीवों को प्रिय लगता है, वे उसकी ओर और आकर्षित होते हैं। ताराओं के नृत्य से शून्य गगन की मुक्ति समय-समय पर होती है'—यदि यह सब तत्त्व है तो पता नहीं प्रमाद और किसे कहते हैं । हाँ, उत्तम कविता अवश्य है जब हम इसका अर्थ करते हैं कि ताराओं के मूल्य से चमकता हुआ आकाश अप्सराओं का रंगमंच-सा बन जाता है । यहाँ मुक्ति को रवीन्द्रनाथ ने जितने उदाहरणों से प्रदर्शित किया है, वे सब पश्चिम के ढंग के उदाहरण हैं, जिनमें जड़ और चेतन दोनों का समावेश है और कवित्व-जन्य एक प्रकाश । इस प्रकाश को हम मुक्ति नहीं कह सकते । तरु की मुक्ति किस तरह पुष्पों के नृत्य से होती है, यह कविवर रवीन्द्रनाथ के प्रकाशन में एक समझने की बात है । 'नटराज' के व्यापक नृत्य में जहाँ तक जान पड़ता है, रवीन्द्रनाथ व्यापक मुक्ति दिखलाते हैं । तरु मुक्त इसलिए हुआ कि मुक्त आत्माओं की तरह उसने पुष्प के रूप में अपना पूर्ण विकास कर लिया । इसी तरह नदी ने अपनी मुक्ति नृत्य करती बहती हुई धारा, सूर्य ने अपनी चंचल किरणों द्वारा और आकाश ने ताराओं द्वारा प्राप्त की । नृत्य के उल्लेख से 'नटराज' का विश्व में नृत्य भी दिखलाया गया । पर यह मुक्ति इस अर्थ से कवित्व की ही मुक्ति ठहरती है, बन्धन की नहीं; यद्यपि वे कहते हैं 'बान्धन खोलार सिखछि साधन महाकालेर विपुल नाचे ।' (महाकाल के विपुल नृत्य से बन्धन खोलने के साधन सीख रहा हूँ) । एक जगह इसी पद्य में जिसका उद्धरण नहीं दिया गया, रवीन्द्रनाथ लिखते हैं,

'ज्ञानेर मुक्ति सत्य-सूतार नित्य-वोना चिन्ताजाले ।' (ज्ञान की मुक्ति सत्य के सूत्र के नित्य बुने गये हुए चिन्ताजाल में है), यानी ज्ञान जब सत्य की कल्पना करता जाता है तब वह मुक्त है। यहाँ भारतवर्ष के दर्शन में ज्ञान स्वयं मुक्त है। जब चिन्ताजाल में वह मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार के रूपों में बदलकर उड़ता है, तब वह बद्ध समझा जाता है पर ज्ञान को कल्पना की प्रगति देखकर रवीन्द्रनाथ उसे मुक्त बतलाते हैं। यह उल्टवाँसी यहाँ की विचार-परम्परा नहीं, न सत्य है। मुक्त वह है जो स्थिर है। स्थैर्यवाला गुण यदि उसमें नहीं, यदि वह संसरणशील है—चलता-फिरता है तो वह ससीम है, संसार में है, 'भव-गुण' रखने के कारण बद्ध है। मुक्ति-लक्षण समाधि में है, इसीलिए सब प्रकार की निश्चलता बतलायी गयी है और उसी अवस्था में ज्ञान का यथार्थ प्रकाश होता है, कहा गया है; पर यहाँ रवीन्द्र-नाथ की कल्पना में इसका विरोध मिल रहा है।

साम्य एक जगह कुछ मिलता है। जहाँ भारतीय दर्शन ने इस संसार की प्रत्येक वस्तु और जीव में ईश की स्वतन्त्र सत्ता मानकर, उसी की स्वतन्त्र क्रीड़ा यह संसार है, यह बतलाया है; पर वहाँ किसी में ईश का अभाव नहीं दिखलाया गया —जिस तरह रवीन्द्रनाथ उद्धृत पद्य के दूसरे बन्द में, सूखे पत्तों की जर्दी से उनकी (ईश की, नटराज की) वाणी नहीं लिखाते। — एक जगह अभाव दिखलाते हैं।

कवित्व की दृष्टि से तो कुछ कहना ही नहीं। रवीन्द्रनाथ संसार के प्राचीन साहित्य से लेकर अब तक के कवियों में एक अद्भुत प्रतिभावान महाकवि हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, वे शुद्ध साहित्य के जितने अच्छे कवि हैं, दर्शन मिश्रित साहित्य के उतने अच्छे नहीं। यहाँ उनकी मौलिकता स्वयं तो धोखा खाती ही है, किन्तु दूसरों को भी धोखा देती है।

सपने होय भिखारी नृप, रंक नाकपति होई।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जग जोई।।

मोह-निशा सब सोवनहारा। देखहिं स्वप्न अलीक अपारा।।
यहि जग-यामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।
होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब दृढ़ चरण-कमल अनुरागा।।

'जागे हानि न लाभ कछु' यह यथार्थ ज्ञान है। ज्ञान के होने पर जड़त्व-प्रेम बिल्कुल नष्ट हो जाता है। यह ज्ञान संसरणशील नहीं। अलीक स्वप्न ही संसरण-शील है। यह प्रगतिशीलता ज्ञान के होने पर नष्ट हो जाती है। 'तैल धारावत् विश्वच्छिन्नं ध्याम्' द्वारा ईश से संलग्न जिस मन की अवस्था का वर्णन आया है वह मन इस अवस्था को प्राप्त हुए बिना नहीं तैयार होता और अन्य प्रकार की कल्पनाएँ भी मर जाती हैं, न मरें तो ध्यान का यह लक्षण गलत समझा जाय। ज्ञान के होने पर मनुष्य का मनुष्यत्व ईशत्व में परिणत होता है। तभी कहा है—'नींद नारि भाजन शत कोटी, तजत तासु महिमा अति छोटी।' यह जागृति का लक्षण, कभी बेहोश न होने का लक्षण ज्ञान की ही सूचना है—सर्वदा एकरस रहने की। 'अव्यक्तमेकमनादि तरु' में जहाँ 'संसार विटप ! नमामहे' तुलसीदास लिखते हैं वहाँ से सृष्टिमय ईश की सत्ता देखते हैं। यहाँ कुछ छोड़ नहीं दिया

गया। दर्शन लिखते समय उन्होंने साहित्य को प्रधान भी नहीं किया, हमारे विचार से गोस्वामी तुलसीदास साहित्य और सत्य-दर्शन के पारंगत महाकवि हैं। रवीन्द्र-नाथ साहित्य के महामान्य महाकवि हैं, पर उनकी दार्शनिक कविता जहाँ उनकी मौलिकता लिये हुए है या रचना-चातुर्य से चलती है, उतनी सहृदय नहीं।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 9 मार्च, 16 मार्च, 6 अप्रैल और 13 अप्रैल, 1929, के अंकों में चार किस्तों में प्रकाशित। **संग्रह** में 'दो महाकवि' शीर्षक से संकलित]

खड़ी बोली के कवि और कविता

इस समय देश की जैसी परिस्थिति हो रही है, उसे देखते हुए जब हम खड़ी बोली के प्रसंग पर आते हैं, हमें उसकी सार्थकता के विचार से अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। खड़ी बोली के घट को साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मन्त्र-पाठ द्वारा देश के नवयुवक समुदाय को एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त में आमन्त्रित किया, और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की। हिन्दी साहित्य की वर्तमान धारा पूर्ण ज्ञान के महासागर की ओर जितना ही बढ़ती जायेगी, लोग उतना ही उसके महत्त्व को समझेंगे। इस देश में उन दिनों उर्दू की जैसी अवस्था थी, शिक्षित लोग जिस प्रकार उसकी ओर खिंचे हुए थे, जिस तरह वह हिन्दुस्थान की प्रचलित सजीव भाषा समझी जाती थी और बहुत कुछ श्रेय उसे आज भी प्राप्त है, उसके एक समय राजभाषा होने के कारण—तमाम पश्चिमोत्तर भारत के शिक्षित समुदाय की जबान पर फिरती हुई शिक्षा तथा नाजो-अन्दाज की मूर्ति हो रहने के कारण, यह निश्चय था कि आज की अपेक्षा उर्दू को ही लोग राष्ट्रभाषा के मयूरासन पर बैठने के लिए अधिकतर योग्य समझते, जबकि इधर के तमाम शिक्षित समुदाय की प्यारी भाषा उर्दू ही हो रही थी और मुसलमानों की भाषा का एक प्रश्न भी राष्ट्र-मैत्री के सामने आ जाता था। निस्सन्देह हिन्दी की खिचड़ी शैली ने इस सवाल को हल कर दिया है और उसी तरह खड़ी बोली की कविता ने शिक्षित समूह के हृदय में अपनी तरफ का एक प्रेमजन्य आकर्षण भी पैदा कर दिया है—शिक्षित लोग भी हिन्दी लिखने और पढ़ने लगते हैं। ब्रज-भाषा काल में जातिगत विचार जितने प्रबल थे, अपनी संस्कृति की जितनी कट्टरता थी, उतनी व्यापकता संसार की संस्कृति तथा शिक्षा-दीक्षा आदि के सम्बन्ध में नहीं थी, बल्कि संसार के साहित्य से लोग अनभिज्ञ ही थे। आज जिस तरह हम किसी भी प्रान्त की भाषा के द्वारा विश्व के प्रत्येक देश के विश्वविद्यालय की शिक्षा-दीक्षा तथा उत्कर्ष का विवेचन कर लेते हैं, ब्रजभाषा काल में यह बात न थी।

मुसलमान बादशाह धार्मिक कट्टरता के कारण अरब से उधर की शिक्षा ग्रहण ही नहीं करते थे; जैसे कि मुसलमानों के चिरन्तन विचार हैं। जिसके फेर में उन्होंने रोमन तथा ग्रीक सभ्यता की विशाल लाइब्रेरी—शायद उस समय की ससार की सर्वश्रेष्ठ लाइब्रेरी जला दी, कुरान शरीफ में जो कुछ लिखा है, उससे बाहर की बातें व्यर्थ हैं—अनर्थकारी हैं, यह सोचकर इधर इतने प्रकाशमान सभ्य संसार में बच्चा-ए-सक्का की धार्मिक कट्टरता बारहवीं सदी के ही स्वप्न देख रही है, यह प्राय: सभी शिक्षित लोग समझ गये हैं। इसी तरह उस समय उस ब्रजभाषा-काल के हिन्दू भी थे। मुसलमानों में फिरके की जो वृत्ति थी, उसका हिन्दुओं में भी होना बहुत स्वाभाविक था। धार्मिक संघर्ष के उस Tug of war में यहाँ की हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियाँ ब्रिटिश आधिपत्य से रस्से के टूटने के साथ ही जमीन देख गयीं। इधर वैज्ञानिक चमत्कार ने ज्यों-ज्यों संसार में अपनी ज्योति फैलायी, जीवन-संग्राम के लिए इस पराधीन देश को अधिक शक्ति-संचय की आवश्यकता आ पड़ी, इससे ब्राह्मणों के हाथों से जपवाली माला छूट गयी और इस प्रकार की सक्रियता द्वारा अर्थोद्‌गम का द्वार भी बन्द हो गया। 'राम बड़े या रहीम' वाला सवाल ही न रह गया। दुलारे पाण्डेय को पाँच हजार जप करते हुए देखकर भी कोई सेठजी नहीं पसीजे। लाचार, पाण्डेयजी को माला छोड़कर उन्नाव में मिठाई की दूकान खोलनी पड़ी, और जैसा कि प्रवाह है, हलवाई होकर भी वे ब्राह्मण बने रहे, और बड़े गौर से विलायत यात्रा का विरोध करते रहे। उन्हीं के वंश से छट-कर जिन उच्छृंखलों ने विलायत में अध्ययन किया और अपने उत्कर्ष के कारण देश में अच्छी स्थिति पायी, वे धर्म से पतित तथा नास्तिक करार दिये गये—इस तरह जहाँ सार्वभौमिक दासता आ गयी थी, वहीं पर जाति के बुद्धि-संस्कार के साथ-ही-साथ भाषा संस्कार भी आवश्यक था। यह प्रसार, यह उदारता ब्रजभाषा के द्वारा सम्भव न थी। वह जिस काल की भाषा थी, जाति को उसी काल के लिए अलंकृत करती है। जिस तरह ब्रजभाषा में कहीं भी केम्ब्रिज का उल्लेख नहीं, यद्यपि उस समय भी केम्ब्रिज सैकड़ों नररत्न पैदा कर चुका था, उसी तरह आज भी विश्व विज्ञान तथा राष्ट्र की मैत्री के लिए वह तैयार नहीं। उसके कवि जो इस समय प्रसिद्धकीर्ति हो रहे हैं, गणेशजी की वन्दना से ही फुरसत नहीं पाते और उनके कद्रदाँ भी वही हैं—उन्नाव में मिष्ठान्न बेचनेवाले। खड़ी बोली की कविता का उद्‌भव ऐसे समय बहुत ही सार्थक हुआ है। कविता हृदय की सृष्टि है, जहाँ मातृजाति का स्थान है। महाकवि उपाध्यायजी ने लिखा भी क्या खूब है—

> नर है पीवर, धीर, वीर, संयत, श्रमकारी;
> है मृदुतन, उपराममयी, तरलित उर नारी।
> नर जीवन है विपुल कार्यमय प्रान्तर न्यारा;
> नाना-सेवा-निलय नारिता है सरि-धारा।
> मस्तिष्क-मान-साहस-सदन वीर्यवान है पुरुष-दल;
> है सहृदयता-ममतावती पयोमयी महिला सकल।

खड़ी बोली के गद्य में कर्मजीवन के चिह्न और पद्य में हृदय की सुकुमार भावनाएँ व्यक्त कर हिन्दी के इस काल के प्राचीन स्तम्भ, साहित्यिकों ने अपूर्व दूर-

दर्शिता दिखलायी है। मृतप्राय मनुष्य के रुकते हुए शोणित-प्रवाह को गतिशील करने के लिए वह जहर उसके खून से मिलाया जाता है, जो उसकी स्वाभाविक अवस्था के बिलकुल प्रतिकूल होता है। भाषा के लिए भी यही दवा है। मृतप्राय ब्रजभाषा के भीतर से नवीन खड़ी बोली का जो रूप उर्दू के सम्मिश्रण से निकाला गया है यह निस्सन्देह भाषा के साथ ही जाति को चिरकाल तक सजीव रक्खेगा। यही वैज्ञानिक उपाय भी है। विभिन्न गोत्रों का विवाह यहाँ इसी विचार से प्रचलित हुआ था। आज खड़ी बोली में जो कुछ भी कठिन, शुष्क तथा रूढ़ दिखलायी पड़ रहा है, वह केवल भाषा को अधिक काल तक स्थायी रखने के लिए है। ब्रजभाषा की कोमलता पर जितना विचार हो चुका है, अब उससे अधिक हो नहीं सकता। सच तो यह है कि आजकल के प्रख्यात कवि, जो ब्रजभाषा में कविताएँ लिखते हैं, प्राचीन ब्रजभाषा काल के तीसरे दरजे के कवियों का भी मुकाबला नहीं कर पाते, और यह सिर्फ इसलिए कि ब्रजभाषा काल में जाति के भीतर से भाषा की एक ही धारा बहती थी—खड़ी-पड़ी का कोई सवाल न था। यह अब खड़ी बोली पर विचार करके उसे ही कोमल से कोमलतर बनाने का समय है। और यह खड़ी बोली की कठोरता ही अब आगे चलकर सरस कवियों की काव्य-साधना का कारण होगी। भाषा की गति के साथ ही हमारी मातृशक्ति का उत्थान होगा, और उनके मुखों से सुन-सुनकर खड़ी बोली के बालक क्रमश: अपनी भाषा, समाज और राष्ट्र का कल्याण साधन करेंगे। इस भाषा के द्वारा इस जाति के जीवन ने एक दूसरा ही प्रवाह लिया है, जो अधिक-से-अधिक क्षिप्रगामी होता जा रहा है, और कभी ऐसा भी समय आवेगा, जब समस्त भारतवर्ष एक ही भाषा-शक्ति के प्रवाह में बहने के लिए राजी हो जायेगा।

खड़ी बोली की कविता में प्राण-प्रतिष्ठा सौभाग्यवान् आचार्य पं. महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने की है। इनके प्रोत्साहन तथा स्नेह ने खड़ी बोली की कविता के प्रथम तथा दूसरे काल के कितने ही सुकवि साहित्य-सेवक उत्पन्न किये। ब्रजभाषा के पक्षपातियों से इन्होंने लोहा लिया, और बड़ी योग्यता से अपने पक्ष को प्रबल करते गये। नवीन युवक-शक्ति इन्हीं के साथ सम्मिलित हो गयी, और ईश्वर-दत्त इनका साधन भी उस काल में सबसे प्रबल रहा। आज 'सरस्वती' के जोड़ की हिन्दी में कई पत्र-पत्रिकाएँ हैं, पर उस समय 'सरस्वती' ही हिन्दी की सरस्वती थी। उस समय खड़ी बोली की कविता का श्रीगणेश इस प्रकार हुआ था—

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे;
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे।
क्या वाद्य है ? विशिख है ? अहि है विषारी ?
किंवा विशाल-तम-तोप दृढ़ाङ्गधारी ?
पृथ्वी - समुद्र - सरिता - नर - नाग - सृष्टि;
मांगल्य - मूल - मय वारिद - वारि - वृष्टि।
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
व्यापार - भार सहता रहता महाना ?

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता;
स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता?
जो हानि - लाभ कुछ भी उसको न होता;
तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खोता?

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रथम काल की इस कविता में प्रांजलता काफी है। द्विवेदीजी संस्कृतज्ञ तथा संस्कृत के पक्षपाती थे, इसलिए इन्होंने संस्कृत वृत्त ही चुना है। इनकी कविता में हिन्दी-वृत्त भी हैं। आजकल के कवियों के प्रिय वीर छन्द में भी इन्होंने कविताएँ लिखी हैं। इस उद्धृत दार्शनिक पद्य में दर्शन की तो दुर्दशा की गयी है, पर इसकी भाषा अवश्य बड़े महत्त्व की है। यह महत्त्व हम इसकी प्राथमिक दशा का विचार करके इसे देते हैं। इस पद्य की अन्तिम पंक्तियाँ कहती हैं, विश्व की रचना द्वारा स्रष्टा लाभ उठाता है। यदि ऐसा न होता, तो व्यर्थ ही वह अपना अमूल्य समय क्यों खोता? इन पंक्तियों से सूचित है कि कवि अपनी ही तरह इस विश्व के स्रष्टा को भी कहीं बैठा हुआ समझ रहा है। हमें यहाँ सृष्टि-रहस्य में नहीं पड़ना है। हम इतना ही कहेंगे कि इस पद्य के लेखक के दार्शनिक विचार अधूरे हैं। 'महाना' जिस जगह पर आया है, वहाँ यह निश्चय हो जाता है कि अन्तिम वर्ण को दीर्घ बनाने के उद्देश्य ने कवि को ब्रजभाषा की शरण लेने के लिए विवश किया है। दूसरा कारण तुक का विचार है। यों तो संस्कृत का अन्तिम वर्ण दीर्घ माना जाता है, परन्तु यहाँ 'महान' का हलन्त 'न्' संस्कृत के पक्ष-समर्थक के सामने एक विकट समस्या खड़ी कर देता है, जिसके कारण 'न' को अकारान्त मानकर वे दीर्घत्व के विश्वास पर शुद्ध नहीं छोड़ सके, उसे 'महाना' बना ही डाला। 'नाना' के अन्त्यानुप्रास खाना, कमाना, जमाना, चलाना, उठाना, गिराना, आना, जाना, ताना, बाना, ठाना आदि अनेक हैं। पर वहाँ पद्य की लड़ी कुछ ऐसी चल गयी कि निभाना ही कठिन हो गया, अन्त में 'महाना' ही की विजय रही। खैर 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'। दोष तो सिर्फ छायावादियों के शब्द-विकार पर पकड़े जाते हैं। आचार्य द्विवेदीजी का एक उद्धरण और—

पद-पीठ को शोभित करते हुए इन्द्र ने इतने पर;
जंघा से उतारकर अपना खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित विषय में सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा;
उससे अति आनन्दपूर्वक समयोचित इस भाँति कहा।

भाषा के सम्बन्ध में क्या कहना है! परन्तु रबड़ छन्द को एक आँख न देख सकनेवाले द्विवेदीजी भी कभी-कभी रबड़ छन्द के लकड़दादा छन्द की सृष्टि कर बैठते हैं। यह हमें आज ही मालूम हुआ। ज़रा अन्तिम पंक्ति के 'आनन्दपूर्वक' को देखिए, मात्राएँ गिन जाइए, एक घटेगी। छन्दशास्त्र की पाबन्दी पर चलनेवाले द्विवेदीजी का 'आनन्दपूर्वक' बड़ा मजेदार शब्द आया है, 'आनन्द-पूरबक' हो तो छन्द के तैमूरलंग ज़रा सँभल पावें, परन्तु खड़ी बोली के आचार्य का भाषा-विज्ञान बिगड़ जाता है, और जब उन्होंने भाषा को सँभाला, तब छन्द-शास्त्र के बागी ठहरते हैं। अब कहिए कि 'आनन्दपूर्वक' का निरानन्द कैसे मिटाया जाय।

निस्सन्देह गलतियाँ सबसे होती हैं, और इनके कारण किसी व्यक्तित्ववाले मनुष्य के महान प्रकाश पर आवरण नहीं पड़ सकता। द्विवेदीजी स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि वह कवि नहीं। दूसरे लोग गद्य में उन्हें अप्रतिद्वन्द्वी लेखक मानते हैं। यह सर्वांशत: सत्य है। खड़ी बोली में प्राण-प्रतिष्ठा करने के पश्चात् दूसरों से ही द्विवेदीजी ने कविताएँ लिखवायी हैं। द्विवेदीजी के समय 'सरस्वती' में हिन्दी की जो कविताएँ निकलती थीं, उनमें द्विवेदीजी का कुछ-न-कुछ सम्पादन जरूर रहता था। पहले-पहल तो शुरू से आखिर तक उन्हें कविता की लाइनें दुरुस्त करनी पड़ती थीं। आजकल अपने ही प्रकाश से चमकते हुए उस समय के कितने ही कवियों की प्रतिभा की किरणें द्विवेदीजी के हृदय के सूर्य से मिली हुई ही निकली हैं। वे कविगण द्विवेदीजी की इस अपार कृपा के लिए सर्वान्त:करण से उनके कृतज्ञ हैं। बाबू मैथिलीशरणजी, श्री सनेहीजी, पं. रूपनारायणजी पाण्डेय, पं. रामचरितजी उपाध्याय, पं. लोचनप्रसादजी पाण्डेय, ठाकुर श्री गोपालशरण सिंहजी, बाबू सियारामशरण गुप्त आदि सुकवियों की रचनाओं को द्विवेदीजी ने काफी प्रोत्साहन दिया, और ये सब उस काल की 'सरस्वती' ही की स्टाइल के सुकवि हैं।

पण्डित नाथूराम शंकरजी शर्मा 'शंकर' को कविता-कामिनी-कान्त हिन्दीवाले कहते हैं। समालोचक श्री नारायणप्रसादजी 'वेताव' ने 'शंकर'जी की कविता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। बल्कि उनके विचार से हिन्दी की वर्तमान भूमि के एकच्छत्र सम्राट 'शंकर'जी ही हैं। पं. पद्मसिंह शर्मा जैसे संस्कृत तथा हिन्दी-फारसी के पारंगत विद्वान भी 'शंकर'जी की काफी कद्र करते हैं। ये सब 'शंकर'जी की योग्यता के प्रमाण हैं। उनकी कविताएँ पढ़ने पर किसी को उनके प्रतिभाशाली होने में सन्देह नहीं रह जाता। उनकी भाषा मँजी हुई होती है। मौलिक शब्द-न्यास भी प्राय: मिलता रहता है। कविता में मृदुलता भी रहती है, और कठोरता भी। जो लोग अधिकारी हैं तथा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दों में काव्य देखनेवाले, उनमें अधिकांश ही 'शंकर'जी के प्रशंसक हैं। एक बार पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने इन्हें ही अपनी कविगोष्ठी का सर्वश्रेष्ठ कवि चुना था और 'पदक' तथा सम्मान भी हिन्दी में इन्हें कदाचित सबसे ज्यादा मिल चुका है। इनका अन्तिम जीवन पुत्रादिक वियोग से खिन्न रहता है।

यौवन-मान-सरोवर में कुच-हंस मनोहर खेलन आये;
मोतिन के गलहार निहार अहार विहार मिले मन भाये।
कंचुकी-कुंज-पतान की ओट दुरे लट नागिन के डरपाये,
देखि छिपे छिपके पकड़े धर 'शंकर' बाल मराल के जाये।

—शंकर

स्वर्गीय पं. श्रीधर पाठक की भी हिन्दी में काफी प्रसिद्धि है, और खड़ी बोली के आचार्यों में इनका भी नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अब उनका नश्वर शरीर इस संसार में नहीं रहा, पर उनका कीर्ति-शरीर निस्सन्देह हिन्दी के क्षेत्र में अमर है। इनकी कीर्तियों में 'भारत-गीत', 'ऊजड़-ग्राम' तथा 'काश्मीर-सुषमा' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। खड़ी बोली की कविता के आचार्य माने जाने पर भी इनकी कविता से वह शुद्धि नहीं जो पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की कविता में

है। यों कवित्व के विचार से यह बहुत बड़े कवि थे। इनकी कविता में, विशेषतया 'भारत-गीत' में समस्त पदों की बहुलता है।

ध्यान लगाकर जो तुम देखो सृष्टी की सुघराई को;
बात-बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को।
ये सब भाँति-भाँति के पक्षी ये सब रंग-रंग के फूल,
ये वन की लहलही तला नव ललित-ललित शोभा के मूल।
ये नदियाँ, ये झील-सरोवर, कमलों पर भौंरों की गुंज;
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों के कुंज।
ये पर्वत की रम्य शिखा औ शोभा-सहित चढ़ाव-उतार;
निर्मल जल के सोते झरते सीमा - सहित महाविस्तार।

लरजन गरजन घनमण्डल की बिजली बरषा का संचार;
जिसमें देखा परमेश्वर की लीला अद्‌भुत अपरम्पार।

—श्रीधर पाठक

पाठकजी की कृतियों में कविता-कामिनी के कोमल हृदय का स्पन्दन मिलता है। वह खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा ग्राम्य-गीतों में अधिक सफल हुए हैं। इन लोगों की खड़ी बोली की कृतियों में गत बीस-पच्चीस साल के साहित्य की जो झलक मिलती है, उसमें प्रतिभा का कहीं भी पूर्ण विकास नहीं दीख पड़ता। वह मध्याह्न-काल के सूर्य की तीव्र रश्मियों की तरह स्थायी रूप से झुलसानेवाली नहीं, वह केवल एक बिजली की झलक है, जो कौंधकर फिर अन्धकार के गर्भ में विलीन हो जाती है।

खड़ी बोली के उस काल में पण्डित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' की काव्य-साधना विशेष महत्त्व की ठहरती है। सहृदयता और कवित्व के विचार से भी वह अग्रगण्य हैं। परन्तु संस्कृत के वृत्तों तथा प्रचलित समस्त पदों के प्रयोग की प्रथा यह भी नहीं छोड़ सके। इनके समस्त पद औरों की तुलना में अधिक मधुर हैं, जो इनकी कवित्व-शक्ति के ही परिचायक हो जाते हैं। इनकी यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि यह हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। खड़ी बोली, उर्दू के मुहावरे, ब्रजभाषा, कठिन-सरल सब प्रकार की कविता की रचना कर सकते हैं, और सबमें एक अच्छे उस्ताद की तरह। बहुत से लोग इनके प्रतिकूल हैं। पर इन्हें इसका विचार-विशेष नहीं। यह सरल चित्त से सबकी बातें सुन लेते हैं। इनके समय, स्थिति और जीवन पर विचार करने पर कवित्व का कहीं भी पता नहीं मिलता, पर यह महाकवि अवश्य हैं। हिन्दूकुल की प्रचलित ब्राह्मण-प्रथाओं पर विश्वास रखते हुए, अपने आचार-विचारों की रक्षा करते हुए तथा नौकरी पर रोज हाजिर होते हुए भी सदैव यह सरस, सरल कवि ही बने रहे। कवि की उच्छृंखलता उसकी प्रतिभा के उन्मेष का कारण होती है, वह इनमें नाम के लिए भी नहीं है। परन्तु नौकरी करते हुए भी यह प्रतिभाशाली कवि ही रहे। हिन्दी भाषा पर इनका अद्‌भुत अधिकार है। मुहावरों के प्रयोगों पर जो रचनाएँ इनकी हैं, वे कवित्व-विकास के विचार से कुछ भी नहीं, पर मुहावरे याद कराने की अनमोल लड़ियाँ हैं—

कमला लौं सब काल लोक-लालन-पालन रत;
गिरि-नन्दिनी-समान पूत-पति-प्रेम-भार-नत।
गौरव-गरिमामयी ज्ञानशालिनी गिरा-सम;
काम - कामिनी - तुल्य मृदुलतावती मनोरम।

आँख का आँसू ढलकता देखकर,
जी तड़प करके हमारा रह गया;
क्या गया मोती किसी का है बिखर,
या हुआ पैदा रतन कोई नया।
ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी,
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ;
या अनूठी गोलियाँ चाँदी - मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

पण्डित रामचरितजी उपाध्याय सरल खड़ी बोली के अच्छे कवि हैं। इन्होंने भी अपनी कविताओं द्वारा हिन्दी साहित्य की दीर्घकाल-व्यापी सेवा की है। पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी तथा 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत बख्शीजी इनकी कविताओं की प्रशंसा कर चुके हैं। इधर कुछ वर्षों से यह दो अर्थ रखनेवाली कविताएँ लिखते हैं जिनका एक अर्थ राजनीतिक हुआ करता है। इन कविताओं में सहृदयता कम रहती है। पर उपाध्यायजी समय को देखते हुए खड़ी बोली के अच्छे कवियों में ही स्थान पायेंगे—

लड़ नहीं सकता मुझसे कभी;
तनिक भी नृप-बालक स्वप्न में।
कब कहाँ, कह तो, किसने लखा;
कपि, लवा-रण वारण से भला।

—रामचरित उपाध्याय

रघुवंश के 'द्रुमवतीमवतीर्यवनस्थलीम्' की तरह इनकी रचना भी मधुर तथा सरल हुई है। सरलता ही इनकी विशेषता है—

सरसता सरिता - जामिनी जहाँ,
नवनवा नवनीत - पदावली।
तदपि हा ! यह भाग्य-विहीन की;
सुकविता कवि - ताप - करी हुई।
जनम से पहले विधि ने दिये;
रजत, राज्य, रथादि तुम्हें स्वयं।
तदपि क्यों उसको न सराहते;
मचलते चलते हो तुम वृथा।

—रामचरित उपाध्याय

पं. कामताप्रसादजी 'गुरु', पं. गिरधरजी शर्मा 'नवरत्न', सैयद अमीर अली

'मीर' आदि कवियों ने भी खड़ी बोली में कविताएँ लिखी हैं। नवरत्नजी बड़े सरस हृदय कवि हैं। आपने रवीन्द्रनाथ के Gardener का 'बागवान' के नाम से सुन्दर अनुवाद किया है। आपकी भाषा भी सुललित होती है। कहीं-कहीं गुजराती बू जरूर आती है। इस मार्जन के विचार से 'गुरु' जी की भाषा अधिक परिपक्व है। 'गुरु' जी की भाषा की कई बार द्विवेदीजी ने भी प्रशंसा की है। 'गुरु' जी की भाषा में व्याकरण पर खूब ध्यान रहता है। इसलिए मार्जन के रहने पर भी रूखापन बहुत है। 'गुरु' जी कवि नहीं। व्याकरण का पुल बाँध खड़ी बोली के शब्द-जीवों को छन्दशास्त्र की पक्की सड़क से पार उतार लेते हैं, बस। 'मीर' साहब की कविता चुलबुली होती है, जैसा चुलबुलापन मुसलमान कवियों में रहा है।

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा, दोनों में काव्य रचना की है। कोई-कोई कहते हैं, इनकी कविता में करुणा का परिपाक मिलता है। इनकी कविता में दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न जरूर है, पर मेरे विचार से यह जैसे बहु-पठित विद्वान् हैं, वैसे कवि नहीं। इनकी कविता में इनके भाषा-ज्ञान तथा बहु-दर्शिता का अच्छा प्रकाश है, पर कवित्व बहुत कम, कहीं-कहीं कविता अस्वाभाविक हो गयी है। इसके उदाहरण हम आगे चलकर देंगे। शब्दों की तोल इन्हें मालूम नहीं, न अलंकार का निर्वाह करना आता है। दार्शनिक कविताओं में जहाँ कहीं बीरबल की तरह इन्होंने अपने पढ़े हुए सिद्धान्त की खिचड़ी पकायी है, इनकी विद्वत्ता के वंश-दण्ड पर भावना की हण्डी में पड़े हुए इनके अपने ढाई चावल ज्यों-के-त्यों ही टँगे हुए रह जाते हैं, इनकी प्रतिभा के पानी तक कविता की आँच पहुँचती ही नहीं। कवित्त-छन्द में यह चूक ही जाते हैं, यही उनकी विशेषता है। केवल 16—15 की गिनती से कवित्त छन्द पूरा कर देते हैं। 'गहरे पड़े गोपद के चिह्नों से अंकित जो' जब इस लड़ी में हम आठ-आठ अक्षरों को अलग कर लेते हैं, तब 'दोय विषभनि बीज समपद् राखिए न' की शुक्लजी द्वारा अच्छी मरम्मत दीख पड़ती है, 'गहरे' और 'गोपद' के बीच में 'पड़े' हुए शुक्लजी निकलते ही नहीं और हम लोग 'गोपद' तट पर खड़े हुए देखते ही रह जाते हैं—

अंकित नीलाभ रक्त और श्वेत सुमनों से,
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में;
करती हैं कलियाँ संकेत जहाँ मुड़ते हैं,
और अधिकार का न ज्ञान उस काल में।
बैठते हैं प्रीति-भोज - हेतु आस-पास सब,
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में;
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे,
हम मेड़ पार हुए एक ही उछाल में।

—रामचन्द्र शुक्ल

पहले तीसरे बन्द का ज़रा मुलाहजा फरमाइए। 'बैठते हैं' क्रिया का आधार "थाल में' है, जिससे 'थाल में' सातवीं विभक्ति, अधिकरण कारक आया है, असंगति जाहिर है प्रीति-भोज के हेतु थाल में नहीं बैठते। यदि 'थाल में या थाल पर बैठना' इसे कोई मुहावरा मानें, अर्थ 'भोजन करना' किया जाय, तो यह अर्थ

लगता नहीं, कारण यहाँ मुहावरा प्रयोग तो है नहीं, 'थाल' का आलंकारिक प्रयोग आया है। 'थाल' के आगे का 'इस' जाहिर कर देता है कि यह प्रकृति का थाल है, जिसमें प्रीति-भोज हेतु पक्षियों के साथ सब बैठते हैं। अवश्य थाल में बैठने की पक्षियों की स्वाभाविक वृत्ति है पर वह नादानी ही है। प्रीति-भोज कराके उनके कुटुम्बों को भी, याने समुदाय-के-समुदाय को थाल में बैठाना आखिर उनकी नादानी का ही डंका पीटना ठहरा, न कि कविता करना। इधर जब कविता में प्रीति-भोज का कोई मनोहर चित्र आँखों से गुजरता है, उस समय कोई थाल में बैठा हुआ नहीं मिलता। मजा तो यह है कि उधर पक्षी थाल में बैठे, और इधर आपने हाँक चढ़ायी। पश्चात् क्या हुआ ? पंखों ने सर्राटे भरे !! —चिड़ियाँ गायब !! जान पड़ता है, दस-बीस पंख मँडला रहे हैं !!! कविता में पक्षियों के पंख आपने खूब नोचे !!! और अगर यही Nature को Personify करने का आपका तरीका है, तो निस्सन्देह यहाँ Wordsworth भी मात हैं। यह सब इतना अत्याचार करके आप एक ही उछाल में मेड़ पार कर जाते हैं। मेड़ जैसे कोई खाई हो ! हम लोग तो चढ़कर ही मेड़ पार करते हैं, पर शुक्लजी 'एक ही उछाल में'। ऐसे हैं शुक्लजी हिन्दी के कवि ! 'शक्ति-सिन्धु के बीच भुवन को खेनेवाले' में इनका शक्ति-सिन्धु कौन-सा है, पता नहीं। हम तो अब तक यही जानते थे कि भुवन के साथ शक्ति का अविच्छेद्य सम्बन्ध है, जैसे आग और उसकी गरमी। ऐसी मौलिक उद्भावना-शक्ति शुक्लजी में बहुत ज्यादा मिलती है।

पण्डित रूपनारायणजी पाण्डेय 'कमलाकर' हिन्दी की सेवा करते हुए अब प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्होंने हिन्दी में कविताएँ भी लिखी हैं। 'बेताब' जी ने पाण्डेयजी की बन्दिशों की बड़ी तारीफ की है। वास्तव में इनकी लेखनी बड़ी साफ चलती है। यह नामी सम्पादक हिन्दी के शायद सर्वश्रेष्ठ अनुवादक तथा खड़ी बोली की कविता के कमलाकर कवि हैं। पाण्डेयजी की कविता हमें बहुत पसन्द है। भाषा में इन्होंने लखनऊ की नाक रख ली—

सुविशाल नभों के उड़े फिरते, अवलोकते प्राकृत - चित्र - छटा;
कहीं शस्य-से श्यामल खेत खड़े, जिन्हें देख घटा का भी मान घटा;
कहीं कोसों उजाड़ में झाड़ पड़े, कहीं आड़ में कोई पहाड़ सटा;
कहीं कुंज-लता के वितान तने, सब फूलों का सौरभ था सिमटा।
झरने झरने की कहीं झनकार, फुहार का हार विचित्र ही था;
हरियाली निराली, न माली लगा, फिर भी सब ढंग पवित्र ही था।
ऋषियों का तपोवन था, सुरभी का जहाँ पर सिंह भी मित्र ही था;
बस, जान लो, सात्त्विक सुन्दरता, सुख-सम्पत-शान्ति का चित्र ही था।
कहीं झील-किनारे बड़े - बड़े ग्राम, गृहस्थ - निवास बने हुए थे;
खपरैलों में कद्दू - करैलों की बेल के खूब तनाव तने हुए थे;
जल शीतल, अन्न जहाँ पर पाकर, पक्षी घरों में थने हुए थे;
सब ओर स्वदेश - स्वजाति - समाज, भलाई के ठान ठने हुए थे।

—रूपनारायण पाण्डेय

पाण्डेयजी की भाषा देखते ही बनती है। हिन्दी में पाण्डेयजी की मौलिक

कविताओं का एक संग्रह 'पराग' के नाम से, कोई दो-ढाई वर्ष हुए, निकल चुका है। इन्होंने बहुत ज्यादा मौलिक कविताएँ नहीं लिखीं। अब भी हिन्दी अपने सरस हृदय कवियों का भरण-पोषण नहीं कर सकती। कदाचित यही कारण है कि कविता के क्षेत्र में अधिक काम करने का हौसला नहीं रहा, यह बंगला की उत्तमोत्तम पुस्तकों का अनुवाद करने लग गये।

पण्डित मन्ननजी द्विवेदी गजपुरी भी अच्छे कवि थे। इनकी आशु-मृत्यु के कारण हिन्दी के काव्य साहित्य को कुछ क्षति अवश्य हुई। इनकी भाषा मार्जित, सरल और शुद्ध होती थी। इनके छोटे भाई पं. रामअवधजी द्विवेदी भी बड़े होनहार कवि हैं। यह अभी विद्यार्थी-जीवन में हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के छठे साल की पढ़ाई पढ़ते हैं, साथ ही कानून भी पढ़ रहे हैं। पं. मन्ननजी दूसरे ढंग के कवि थे, यह दूसरे ढंग के हैं। मन्ननजी की भाषा बे-फास होती थी, इनकी भाषा में शक्ति रहती है।

खड़ी बोली की कविता का सेहरा यदि किसी एक ही कवि को पहनाया जाय, तो अब तक इसके अधिकारी केवल बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त ठहरते हैं। खड़ी बोली की कविता के उत्कर्ष के लिए इनकी सेवा अमूल्य है। इनकी पुस्तक 'भारत-भारती' ने राष्ट्र के सूखे हुए अनेक हृदयों को जीवन के अमृत से प्रसन्न तथा सक्रिय कर दिया है। अर्द्ध-शिक्षित मनुष्यों में भी जातीय अभिमान पैदा कर दिया है। अपने उत्कर्ष और अपकर्ष की कोई भी बात इन्होंने नहीं छोड़ी। और भी कई पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं। इनकी भाषा हिन्दी में आदर्श मानी जाती है। खड़ी बोली के इनके प्रयोग शुद्ध होते हैं। दूसरे-दूसरे प्रान्त के लोग भी इनकी प्रसिद्धि के कारण इन्हें ही हिन्दी का श्रेष्ठ कवि मानते हैं। इनकी भाषा ने दूसरे काल में, बहुत शीघ्र ही, खड़ी बोली के काव्य शरीर का निर्माण किया। यह बंगला से खड़ी बोली में काव्यानुवाद भी करते हैं, और वह भी सफलतापूर्वक। रस और अलंकारों की बहार इनकी कविता में बहुत ज्यादा नहीं, पर भाषा का मार्जन देखने ही लायक होता है। यह शुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं इनकी भाषा आलंकारिक भी होती है। कुछ पद्य इनके ऊँचे दरजे के हैं। इनका भाषा-वैभव ही इनकी विशेषता है—

संचित किये रक्खे हुए,
शुक वृन्द के चक्खे हुए,
कुछ बेर जो थे दीन शबरी के दिये।
खाकर जिन्होंने प्रीति से,
शुभ मुक्ति दी भव-भीति से,
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये।

भाषा की सफाई देखकर तबीयत प्रसन्न हो जाती है। जैसे शुद्ध भाव, वैसी ही मार्जित भाषा—

बैठी बहन के स्कन्ध पर,
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल दीप-सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ।

थी तोतली वाणी अहा,
उसने मधुर स्वर से कहा,
मा लूँ अचुल को मैं कहो वह है कहाँ ?

वीर बालक का कितना सुन्दर चित्र है। कहीं कोई अलंकार नहीं; पर चित्रण निहायत चोट करनेवाला है।

चुन ले चला हमारा साथी सुमन कहाँ तू ?—
माली, कठोर माली !
है छोड़ता यहाँ पर केवल कराल कंटक,
यह रीति है निराली !
किसको सजायगा रे हमको उजाड़कर यों,
यह तो हमें बता तू !
झंखाड़ छोड़ता है इस पंथ झाड़ कर क्यों ?
हत देख यह लता तू !

मृदु मन्द-मन्द गति से शीतल समीर आकर,
दल-द्वार खटखटाता,
पर सन्न हो विरति से जाता उसे न पाकर,
निर्गन्ध लटपटाता !
वह फूल जो मधुर फल समयानुकूल लाता,
तू सोच देख मन में;
भगवान् के लिए क्या वह भोग में न आता,
बलि हो स्वयं भुवन में।

यह गुप्तजी की आलंकारिक रचना है। हिन्दी के हृदय पर अधिकार कर जिस समय 'मयंक' डूबा था, यह कविता गुप्तजी ने उसी के 10-15 दिन पश्चात् लिखी थी। इसमें जैसे मयंक की ही किरणें मिल गयी हों।

अच्छी आँख मिचौनी खेली,
बार-बार तुम छिपो और मैं
खोजूँ तुम्हें अकेली।
किसी शान्त एकान्त कुंज में,
तुम जाकर सो जाओ,
भटकूँ इधर-उधर मैं, इसमें
क्या रस है, बतलाओ,
यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो
अनायास ही पाओ,
कहाँ नहीं तुम, जहाँ छिपूँ मैं,
जाने भी दो, आओ—
करें बैठ रँगरेली,
अच्छी आँख मिचौनी खेली।

पर जब तुम हो सभी कहीं तब
मैं ही क्यों यों भटकूँ,
चाहूँ जिधर उधर ही अपना
भार पटककर सटकूँ,
इसकी भी क्या आवश्यकता,
जो बहार पर अटकूँ,
अन्तर के ही अन्धकार में,
क्यों न पीत-पट झटकूँ।
बन अपनी ही चेली,
अच्छी आँख मिचौनी खेली।

यह गुप्तजी की दार्शनिक कविता है। इन्होंने अनेक दार्शनिक कविताएँ लिखी हैं। यह भक्त हैं। इनका दर्शन भी भक्ति रसाश्रित है। पढ़ने में रस मिलता है। भावना में माधुर्य है। दर्शन अवश्य बहुत ऊँचे दरजे का नहीं। इनकी देश-जागृति पर भी फुटकर कविताएँ हैं। इनका सम्मान सभी दलवाले करते हैं। यह इनके सरल स्वभाव का गुण है। हिन्दी में शुद्ध साहित्य की सृष्टि करनेवालों में गुप्तजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। खड़ी बोली के अन्य कवियों के विषय में किसी दूसरे लेख में शीघ्र प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1929। **चयन** में संकलित]

महाकवि रवीन्द्रनाथ की कविता

आज वाणी के विशाल मन्दिर में कविता-शिल्प के सर्वोत्तम कलाकार महाकवि रवीन्द्रनाथ ही समझे जाते हैं। संसार के बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वानों ने उनकी अनुवादित कविताओं के भाव देखे हैं, और मर्म समझकर एक स्वर से उनकी प्रतिभा की प्रशंसा की है। बंगाल में कुछ ऐसे भी विद्वान बंगालियों का एक समुदाय है, जो रवीन्द्रनाथ को भारत में अब तक पैदा हुए कवियों में सर्वश्रेष्ठ समझता है। देशबन्धु दास के समान ऐसे भी बंगाली बहुत-से हैं, जिनके कथनानुसार रवीन्द्रनाथ की 50 पंक्तियों में कहीं चार ही छः पंक्तियाँ कवित्वपूर्ण तथा प्रांजल हैं। मैं इतनी छानबीन में यहाँ नहीं पड़ूँगा। मेरा उद्देश्य इस प्रबन्ध में रवीन्द्रनाथ की कविता का रसास्वादन कराना ही है, न कि उनकी निर्विवाद-सिद्ध प्रतिभा पर विचार करना। हाँ, उनके एक पाठक की हैसियत से मैं यह जरूर कहूँगा कि वह एक प्रतिभाशाली महाकवि अवश्य हैं।

मौन भाषा—

थाक, थाक, काज नाइ, बोलियो न कोनो कथा !
चेये देखी, चले जाइ, मने-मने गान गाइ,
मने-मने रचि बोसे कतो सुख कतो व्यथा ।
विरही पाखीरे प्राय अजाना कानन छाय
उड़िया बेड़ाक सदा हृदयेर कातरता;
तारे बाँधियो ना धरे बोलियो न कोनो कथा ।

'रहने दो, अब कोई जरूरत नहीं, कोई बात न बोलो । आँखें खोलकर देखता हूँ, मन-ही-मन गाना गाता हूँ, मन-ही-मन न जाने कितने सुख और कितने दुःख की रचना कर डालता हूँ । विरही पक्षी की तरह अज्ञात अरण्य की छाया में हृदय की कातरता उड़ती फिरे । उसे पकड़कर बाँधो मत, कुछ बोलो मत ।'

रवीन्द्रनाथ को संसार की चहल-पहल बिलकुल पसन्द नहीं । वह मौन में ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते हैं; वहीं उन्हें भाषा, भाव तथा संसार के ज्ञान की तमाम बातें संचित हुई-सी देख पड़ती हैं । वह मौन में ही सहृदय मुखरता की सृष्टि प्रत्यक्ष करते हैं, इसीलिए उसका उल्लेख किया है । दूसरी भावना में जो विरही पक्षी की उपमा दी गयी है, वहाँ यह दिखलाया गया है कि हृदय की आकुलता यदि अन्धकार हृदय की छाया में वन के बिहंग की तरह अबाध उड़ती रहे, तो उसका इसी में कल्याण है, इसी में उसकी मुक्ति है, उस वेदना को किसी की सान्त्वना से बाँधने का प्रयत्न कोई न करे, वही उस वेदना की शक्ति है ।

एकदा बोसे छिनु विजने चाहि,
तोमार हात निये हाते ।
दोहाँर कारो मुखे कथाटी नाहीं,
निमेष नाहीं आँखि-पाते ।
से दिन बुझेछिनु प्राणे,
भाषारसीमा कोन् खाने,
विश्व हृदयेर माझे
वाणीर वीणा कोथा बाजे।
किसेर वेदना से बनेर बुके
कुसुमे फोटे दिन-यामी,
बुझिनु जबे दोंहें व्याकुल सुखे
काँदिनु तुमि आर आमी ।

'एक दिन जब एकान्त में हेरता हुआ तुम्हारा हाथ अपने हाथ में लेकर मैं बैठा था, और हम दोनों में किसी के मुँह से बात नहीं निकलती थी, पलक नहीं पड़ते थे, उस दिन मैंने अपने हृदय में अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि भाषा की सीमा कहाँ तक है, वाणी की वीणाझंकार विश्व के हृदय में कहाँ तक पहुँचती है । वह कौन-सी और कैसी वेदना है, जो दिन-रात अरण्य के हृदय में पुष्प के रूप से खुलती है । जब मैं यह समझा, तब तुम और मैं दोनों व्याकुल सुख से रो दिये थे ।'

यह मूक भाषा की विशद वर्णना संसार की अन्य भाषाओं को निस्सार सिद्ध कर रही है । प्रियतम अपनी प्रिया से कहता है कि उस रोज जब मैंने एकान्त में

तुम्हारा हाथ अपने हाथ में ले लिया था, मैंने देखा कि आप-ही-आप मेरी जबान बन्द हो गयी, अर्थात् सुख की अधिकता होने पर भाषा ने जवाब दे दिया; अथवा दूसरे शब्दों में यह मौन ही शिव और सुन्दर की उस समय यथार्थ भाषा ठहरी थी। उसी दिन, नायक कहता है, मेरी समझ में आ गया कि संसार के हृदय में वाणी की वीणा जो बजती है, उसकी पहुँच कहाँ तक है, यानी वह सत्य, शिव और सुन्दर को व्यक्त नहीं कर सकती, वहाँ वह अक्षम है। इधर दर्शनशास्त्र भी उस मौन-रूपी सत्यशिव को 'अवाङ्मनसोऽगोचरम्' कहते हैं। इस पद्य में मौन को ही व्यक्त करने में कवि ने इतने शब्दजाल की सृष्टि की है, यह उपमा दिखलायी है, फिर भी मौन मौन ही है।

'उच्छृंखल' को चित्रित करते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ने अपने ही हृदय का चित्र रक्खा है, अपने ही उच्छृंखल रूप में रंगीन कल्पना द्वारा जीवन की ज्योति भर दी है—

ए मुखेर पाने चाहिया रयेछ
केनो गो अमन कोरे ?
तुमी चिनितें नारिबे बुझितें नारिबे मोरे !
आमी केंदेछि हेसेछि भाला जे वेसछि
एसेछि जेतेछि सरे
कि जानि किसेर घोरे !
कोथा होतें एता वेदना बहिया
एसेछे पराण मम,
विधातार एक अर्थ-विहीन
प्रलाप-वचन सम !

जगत बेड़िया नियमेर पाश
अनियम शुधू आमी
वासा बेंधे आछे काछे काछे सबे
कतो काज करे कतो कलरवे,
चिरकाल धरे दिबस चलिछे
दिवसेर अनुगामी।
शुधू आमी निज वेग सामालितें नारि
छुटेछि दिबस-यामी।

प्रति दिन बहे मृदु समीरण,
प्रतिदिन फुटे फूल।
झड़ शुधू आसे क्षणेकेर तरे
सृजनेर एक भूल।
दुरन्त साध कातर वेदना
फुकारिया उभराय,
आँधार होइते आँधारे छुटिया जाय।

ए आवेग निये कार काछे जाब,
निते के पारिबे मोरे !
के आमारे पारे आँकड़ि राखिते
दू खानि बाहुर डोरे !
आमी केवल कातर गीत !
केह बा सुनिया घुमाय निशीथे,
केह जागे चमकित ।
कतो जे वेदना से केह बोझे ना,
कतो जे आकुल आशा,
कतो जे तीव्र पिपासा-कातर भाषा !

अधिक समय नाइ
झड़ेर जीवन छुटे चले जाय
शुधू केंदे 'चाइ' 'चाइ' !
जार काछे आसि तार काछे शुधू
हाहाकार रेखे जाइ !

कोथाकार एइ श्रृंखल-छेंडा
सृष्टिछाड़ा ए व्यथा
काँदिया-काँदिया, गाहिया-गाहिया,
अजाना आँधार सागर बाहिया,
मिशाये जाइबे कोथा !
एक रजनीर प्रहरेर माझे
फुराबे सकल कथा !

'क्यों जी, इस मुख की ओर क्यों इस तरह हेर रहे हो ? तुम मुझे पहचान नहीं सकोगे, समझ नहीं सकोगे । मैं रोया हूँ, हँसा हूँ और मैंने प्यार भी किया है। आया हूँ, और फिर चला जाऊँगा। न जाने किस एक आवेश में मैं इस तरह आया-जाया करता हूँ । नहीं मालूम, कहाँ से इतनी व्यथा का बोझ लादकर मेरे प्राण आये हैं—यह जैसे विधाता का एक बिना अर्थ का कोई प्रलाप हो ।

'तमाम संसार को नियमों के पाश घेरे हुए हैं; सिर्फ मैं ही एक अनियम हूँ । पास-ही-पास सभी लोग तो अपना-अपना वासस्थल घेरे हुए हैं; कितने कलरव के साथ कितना काम वे कर सकते हैं; चिरकाल से दिवस—दिवस का अनुगमन करता हुआ चला आ रहा है ।

'प्रतिदिन मन्द-मन्द समीरण बहती है, फूल खिलते हैं । परन्तु आँधी एक क्षण के लिए ही आती है, जैसे सृष्टि की कोई एक भूल हो । दुस्तर, साध, कातर वेदनाएँ रोती हुई उमड़ पड़तीं, अँधेरे से और अँधेरे की ओर चली जाती हैं । यह वेग लेकर मैं किसके पास जाऊँ, कौन मुझे सँभाल सकेगा । सिर्फ दो बाहुओं की डोर से कौन मुझे पकड़ सकेगा । मैं सिर्फ एक व्याकुल संगीत हूँ । कोई उसे सुनकर

रात्रि को सो जाता है, कोई सुनकर चौंक उठता है। कितनी इसमें वेदना है, कितनी व्याकुल आशा भरी हुई है, यह कोई नहीं समझता, इसमें कितनी तीव्र प्यास से व्याकुल भाषा भरी हुई है ।

'अब अधिक समय नहीं, आँधी की जिन्दगी दौड़ती हुई समाप्त होती है, 'चाहिए, चाहिए' सिर्फ रोती हुई । जिसके पास भी मैं जाता हूँ, उसके पास सिर्फ हाहाकार रख जाता हूँ । कहाँ की यह शृंखला तोड़नेवाली सृष्टि से अलग की एक वेदना है । रोती हुई, गाती हुई, अज्ञात अन्धकार-सागर पार करती हुई, न-जाने कहाँ मिल जायेगी। रात के सिर्फ एक ही पहर में तमाम बातें समाप्त हो जायेंगी ।'

इस पद्य में कवि के हृदय की सिर्फ व्याकुलता एक लक्ष्य करने का विषय है । उन्होंने उच्छृंखलता को जो रूप यहाँ दिया है, वह उनकी पंक्तियों में वेदना का इतना गुरु-भार लेकर पाठकों के सामने आता है कि कवि के साथ पाठकों की पूरी सहानुभूति हो जाती है, वे उस वेदनायुक्त उच्छृंखलता को प्यार करने लगते हैं । कवि की वर्णना में ऐसी ही शक्ति प्रकट हुई है । बंगला के 'चाइ-चाइ' शब्द में आँधी की 'साँय-साँय' की ध्वनि है, उधर 'चाइ-चाइ' की अर्थ-द्युति व्याकुल प्रार्थना को सजीव कर देती है । दूसरी ओर, जिसके पास भी वह आँधी जाती है, हाहाकार रख जाती है; इस 'हाहाकार' में भी आँधी का यथार्थ शब्द और उच्छृंखलता का अर्थ-गौरव भरा हुआ है । पद्य की तमाम लड़ियाँ उच्छृंखलता को जीवन दे रही हैं । यह ऐसी उच्छृंखलता है, जो सबको प्रिय है, सबकी सहानुभूति खींच लेती है । कारण, यहाँ शिव और सुन्दर का समावेश हो गया है ।

शृंगार

ओगो, तुमि एमनि सन्ध्यार मतो होव ।
सुदूर पश्चिमाचले कनक आकाश तले
एमनि निस्तब्ध चेये रव ।
एमनि सुन्दर शान्त एमनि करुण कांत
एमनि नीरव उदासिनी,
ओइ मतो धीरे-धीरे आमार जीवन-तीरे
बारेक दाँड़ाब एकाकिनी ।
जगतेर पर पारे निए जाव आपनारे
दिबस-निशार प्रान्त देशे ।
थाक् हास्य-उत्सव, ना आसुक कलरव
संसारेर जनहीन शेषे ।
ऐसो तुमी चुपे-चुपे श्रान्तिरूपे निद्रारूपे,
ऐसो तुमी नयन आनत,
ऐसो तुमी म्लान हेसे दिवादग्ध आयु-शेषे
मरणेर आश्वासेर मत ।
आमी शुधू चेये थाकी अश्रुहीन श्रान्त आँखी,

पड़े थाकी पृथिवीर परे;
खुले दाव केशभार, घन स्निग्ध अन्धकार
मोरे ढेके दिक स्तरे-स्तरे।
राखो ए कपाले मम निद्रार आवेश सम
हिम स्निग्ध करतलखानि।
वाक्यहीन स्नेहभरे अवश देहेर परे
अंचलेर प्रान्त दाव टानी।
तार परे पले-पले करुणार अश्रुजले
भरे जाक नयन-पल्लव।
सेइ स्तब्ध आकुलता गभीर विदाय-व्यथा
कायमने करि अनुभव।

'सुनो, तुम इसी तरह सन्ध्या की तरह होओ! दूर अस्ताचल में, सुनहले आकाश के नीचे, इसी तरह चुपचाप हेरती रहो। इसी तरह सुन्दर, शान्त, इसी तरह करुण, क्लान्त, इसी तरह नीरव, उदासिनी, इसी तरह धीरे-धीरे मेरे जीवन के तट पर एक बार अकेली खड़ी हो जाओ। संसार के दूसरे पार, दिवस और रात्रि के प्रान्त देश में, अपने को ले जाओ। यह हास्य और उत्सव पड़े रहें, संसार के उस निर्जन अन्त में कोई कलरव भी सुनायी दे। तुम म्लान हँसकर आओ—दिवादग्ध आयु के अन्त होने पर, मृत्यु के आश्वासन की तरह। मैं पृथ्वी पर पड़ा केवल अश्रुहीन शान्त आँखों से हेरता रहूँ। अपने केश-भार खोल दो, स्निग्ध घनान्धकार मुझे स्तर-स्तर से ढक दे। मेरे मस्तक पर निद्रा के आवेश की तरह अपना हिम-स्निग्ध करतल रख दो। निःशब्द स्नेह से मेरे अवश अंगों पर अपने आँचल का प्रान्त खोलकर डाल दो। इसके बाद क्रमशः करुणा के अश्रु-बिन्दुओं से मेरी पलकें भी भर जायँ। उसी स्तब्ध व्याकुलता के साथ विदाई की गहन व्यथा का मैं काय-मन से अनुभव करूँ।'

सन्ध्या की प्रकृति के साथ ही कविवर रवीन्द्रनाथ ने इस करुण-शृंगार की सृष्टि की है, जो सब तरह से मौजूँ हुआ है। सन्ध्या की प्रकृति में जो संहार की भावना मिली हुई है, उसकी सार्थकता कवि ने बड़ी ही सफलता के साथ प्रदर्शित की है। सन्ध्या सुन्दरी के काल्पनिक चित्र में परिशान्त नायक की उक्ति और भावनाएँ बिल्कुल मिल जाती हैं।

तबे पराणे भालोबासा केनो गो, दिले
रूप ना दिले यदि विधि हे!
पूजार तरे हिया उठे जे व्याकुलिया
पूजिब तारे गिया के दिये!

भालो बासिले जारे भालो देखिते होय
से जेनो पारे भालो बासिते!
मधुर हासी तार दिक से उपहार
माधुरी फोटे जार हासिते!

जार नवनि - कुसुम कपोल, तले
कि शोभा पाय प्रेम-लाजे गो!
जाहार ढल ढल नयन - शतदल
तारेइ आँखीजल साजे गो!
ताइ लुकाये थाकि सदा पाछे से देखे,
भालोबासिते मरी सरमे।
रुधिया मनोद्वार प्रेमेर कारागार
रचेछि आपनार मरमे।
आहा ए तनु-आवरण श्रीहीन म्लान
झरिया पड़े यदि शुकाये,
हृदय माझे मम देवता मनोरम
माधुरी निरुपम लुकाये।
जतो गोपने भालोबासी पराण भरि,
पराण भरि उठे शोभाते।
जेमन कालो मेघे अरुण आलो लेगे
माधुरी उठे जेगे प्रभाते।
देख, वनेर भालबासा आँधारे बसि
कुसुमे आपनारे बिकासे।
तारका निज हिया तुलिछे उजलिया
आपन आलो दिया लिखा से।

आमी रूपसी नहीं तबू आमारो मने
प्रेमेर रूप से तो सुमधुर।
धन से जतनेर शयन - सपनेर
करे से जीवनेर तमो दूर।

'तो प्राणों को फिर प्यार ही क्यों दिया, हे विधि, यदि तुमने मुझे रूप हीं नहीं दिया है। पूजा के लिए मेरा हृदय व्याकुल हो उठता है, परन्तु मैं क्या देकर उसे पूजूं?

'प्यार करने पर जिसे प्यार किया जाता है, वह भी जैसे प्यार कर सके—वह अपनी मधुर मन्द मुस्कान का उपहार दे, जिसकी हँसी में माधुरी खुल पड़ती है। जिसके वे कपोल मक्खन से सुकुमार हैं, अहा, प्रेम और लज्जा से उनकी कैसी शोभा बन जाती है। और, आँसू भी बस, उसे ही सजते हैं, जिनकी कमल-सी आँखें झुकी हुई डोल रही हों। इसलिए मैं सदा छिपी रहती हूँ कि कहीं वह देख न ले। प्यार करती हुई मारे शर्म के मरी रही हूँ! अपने मन के द्वार बन्द करके अपने ही मन में मैंने प्रेम का कारागार बना लिया है। आह! इस शरीर का श्रीहीन, म्लान आवरण यदि सूखकर झड़ जाय, तो भी हृदय में मेरे मनोरम देवता उस अनुपम माधुरी को छिपाये रहेंगे। मैं एकान्त में जितना ही जी भरकर प्यार करती हूँ, उतना ही मेरे प्राण शोभा से भर जाते हैं, जैसे काले मेघ में प्रभात

के अरुण-आलोक-स्पर्श से माधुरी जग जाती है। देखो, अरण्य में का प्यार अन्धकार में बैठा हुआ पुष्पों में अपना विकास करता है। तारकाएँ अपने हृदय को उज्ज्वल करती जा रही हैं। यह उन्हीं के आलोक से लिखा हुआ है।

'मैं रूपवती नहीं हूँ; किन्तु मेरे मन में जो प्रेम का रूप है, वह मधुर तो है। वह शयन और स्वप्न का सयत्न-संचित धन है, जीवन के अन्धकार को दूर कर देता है।'

यहाँ महाकवि रवीन्द्रनाथ ने एक कुरूपा नायिका के हृदयभावों का परिचय दिया है। प्रेम एक ऐसा अवलम्ब है, जो जीवमात्र के लिए आवश्यक है; नहीं तो उस जीवन का कोई अर्थ ही न हो। यहाँ कवि की नायिका प्यार करती है; पर अपने प्रिय के सामने नहीं जाती। कारण, जिस रूप को देखकर प्रेमिकाएँ अपने प्रिय-जनों की पूजा-अर्चा करती हैं, वह रूप उसमें नहीं। मनोभावों का कितना सुन्दर विकास दिखलाया है कि प्रेम करके नायिका अपने-ही-आप में सन्तुष्ट रहती है, वह आत्मा में प्रेम के कारण अपना सौन्दर्य प्रत्यक्ष करती है, जैसे साधक को इष्ट की प्राप्ति हो गयी हो, जैसे काले मेघ में प्रभात की स्वर्णाभा आ गयी हो।

व्यंग्य

रवीन्द्रनाथ व्यंग्य लिखने में भी बड़े पटु हैं। दूसरों के व्यंग्य में कटुता प्रायः रहती ही है, कितना ही कोई बचकर लिखे। पर रवीन्द्रनाथ में यह बात नहीं। ऐसी कुशल लेखनी है कि मन मुग्ध हो जाता है। जैसी सरल कवित्वपूर्ण उक्ति, वैसा ही प्रसन्न मर्मवेधी व्यंग्य। पाठकों के मनोरंजन के लिए मैं यहाँ 'नव बंग-दम्पति का प्रेमालाप' उद्धृत करता हूँ। यह व्यंग्य बाल-विवाह पर किया गया है। वर जवान है, वधू बालिका।

वर —

जीवने जीवने प्रथम मिलन,
से सुखेर आर तुला नाइ।
ऐसो सब भूले आजि आँखी तूले
शुधू दुँहूँ दोंहाँ मुख चाइ।
मरमे मरमे सरमे भरमे
जोड़ा लागियाछे एक ठाँइ;
जेनो एक मोहे भूले आछि दोंहे
जेनो एक फूले मधु खाई।
जनम अवधि विरहे दगधि
ए पराण होयेछिल छाइ,
तोमार आमार प्रेम - पारावार
जुड़ाइते आमी एनु ताइ।
बलो एक बार 'आमिओ तोमार
तोमा छाड़ा कारे नाहीं चाइ!'
उठो, केन, ओकि, कोथा जाव, सखि।

वधू—(सरोदन) आइ मार काछे शुते जाइ !

वर—आज जीवन के साथ जीवन का पहले-ही-पहल मिलन हुआ है, इस सुख की तुलना नहीं हो सकती। आज सबकुछ भूलकर, आँखें उठा दोनों दोनों के मुख की ओर देखें। हम दोनों के मर्मस्थल अब एक-दूसरे से जुड़ गये हैं, जैसे हम दोनों एक ही मोह में भूले हुए हों—जैसे एक ही फूल में मधुपान कर रहे हों। जन्म से लेकर अब तक विरह की आग से झुलस रहा था, मेरे प्राण खाक हो रहे थे, तुम्हारा प्रेम अपार पारावार है, मैं इसीलिए यहाँ शीतल होने के विचार से आया हूँ। एक बार तो कहो कि मैं तुम्हारी ही हूँ, तुम्हें छोड़ और किसी को भी नहीं चाहती। उठो सखि, यह क्या ? कहाँ जाती हो ?

वधू—दीदी के पास सोने जा रही हूँ !

वर—कि करिछ वने श्यामल शयने
आलो कोरे बसे तरुमूल ?
कोमल कपोले जेनों नाना छले !
उड़े एसे पड़े एलो चूल !
पदतल दिया काँदिया काँदिया
बहे जाय नदी कुलकुल।
सारा दिन मान सुनि सेइ गान
ताइ बुझि आँखीं ढुलुढुल !
कानन निराला आँखी हासीढाला
मन सुख स्मृति समाकुल !
कि करिछे वने कुंज भवने

वधू—खेतेछि बोंसिग्रा टोपाकूल।

वर—वन्यश्यामल शयन में बैठी, तरुमूल को प्रकाश से भरती हुई क्या कर रही हो ? कोमल कपोल पर मानो अनेकानेक छल से खुले हुए तुम्हारे बाल ग्रा-आकर गिर रहे हैं। पैरों के नीचे कुल-कुल रोती हुई नदी बही जा रही है। तमाम दिन लगातार यह संगीत सुन रही हो, शायद इसीलिए तुम्हारी आँखों में निद्रा का आवेश छा गया है ? एकान्त वाटिका में तुम्हारी ये हँसती हुई आँखें, सुख की स्मृतियों से भरा हुआ मन कितना सुन्दर है ! वाटिका के इस लता-वितान के नीचे क्या कर रही हो ?

वधू—बैठी हुई बेर खा रही हूँ।

वर—आजि प्राण खुले मालती-मुकुले
वायु करे जाय अनुनय।
जेनो आँखी टुटी मोर पाने फुटी
आशा भरा दुटी कथा कय।
जगत छानिया कि दिब आनिया
जीवन यौवन करि क्ष्य ?
तोमा तरे सखि बोलो कारबे कि ?

वधू—आरो कुल पाड़ो गोटा छय !

वर—आज प्राणों को मुक्त कर मालती के मुकुलों से वायु विनय कर रही है, जैसे दोनों आँखें मेरी ओर खुलकर आशा से भरी हुई बातें कर रही हैं। संसार छानकर मैं तुम्हें क्या ला दूँ, अपने जीवन और यौवन का क्षय करके, कहो, सखि, तुम्हारे लिए मैं क्या करूँ ?

वधू—और भी चार-छः बेर झोर दो !

बालिका को बहुत कुछ प्रेम समझाया गया पर उसकी समझ में वे बातें नहीं आयीं। वह अपने ही काम की बातें कहती गयी। इससे नायक निराश होकर प्रेम की आग भड़काये हुए चले जाते हैं।

प्रतिमा—

आमी ढालिब करुणा - धारा,
आमी भाँगिब पाषाण - कारा,
आमी जगत प्लाबिया बेडाब गाहिया
आकुल पागल पारा।

केश एलाइया, फूल कुड़ाइया,
रामधनु - आँका पाखा उड़ाइया,
रविर किरणे हासी छड़ाइया,
दिबरे पराण ढाली।

शिखर होइते शिखरे छुटिब,
भूधर होइते भूधरे लुटिब,
हेसे खलखल गेये कलकल,
ताले-ताले दिब ताली।

तटिनी होइया जाइब बहिया—
जाइब बहिया-जाइब बहिया—
हृदयेर कथा कहिया - कहिया
गाहिया - गाहिया गान,
जतो देबो प्राण बहे जाबे प्राण,
पुराबे ना आर प्राण।
एतो कथा आछे, एतो गान आछे,
एतो प्राण आछे मोर;
एतो सुख आछे, एतो साध आछे,
प्राण होये आछे भोर।

रवि-शशि भाँगि गाँथिब हार,
आकाश आँकिया परिब बास।
साँझेर आकाशे करे गलागली,
अलस कनक जलद राश,
अभिभूत होए कनक - किरणे
राखिते पारे ना देहेर भार
जेनरे विवशा होयेछे गोधूली,
पूरेब आँधार वेणी पड़े खुली,

पश्चिमेते पड़े खसिया-खसिया
सोनार आँचल तार।

एतो सुख कोथा, एतो रूप कोथा,
एतो खेला कोथा आछे,
यौवनेर वेगे जाइब बहिया
के जाने काहार काछे।
(ओरे) अगाध वासना असीम आशा;
जगत देखिते चाइ!
जागियाछे साध चराचरमय
प्लाबिया वहिया जाइ!
जतो प्राण आछे ढालिते पारी,
जतो काल आछे बहिते पारी,
जतो देश आछे डुबाते पारी,
तबे आर किबा चाई,
प्राणेर साध ताइ।
कि जानि कि होलो आजि जागिया उठिल प्राण,
दूर होते सुनि जेनो महासागरेर गान।
सेइ सागरेर पाने हृदय छुटिते चाय,
तारी पद-प्रान्ते गिये जीवन लुटिते चाय।
अहो! कि महान् सुख अनन्ते होइते हारा,
मिशाते अनन्त प्राणे अनन्त प्राणेर धारा!

'मैं करुणा की धारा ढालूँगा। पाषाण-खण्डों की बनी कारा तोड़ दूँगा। मैं व्याकुल पागल की तरह संसार को प्लावित कर गाता हुआ घुमूँगा। अपने बड़े-बड़े बालों को खोलकर, फूल चुनता हुआ, इन्द्रधनुष जैसे रंगीन पंखों से उड़कर, रवि की किरणों में अपनी हँसी बिखेरकर अपने प्राणों को ढाल दूँगा। एक शिखर से दूसरे शिखर पर दौड़ूँगा; एक भूधर से दूसरे भूधर पर लोटूँगा। खल-खल हँसता हुआ, कल-कल गाता हुआ ताल-ताल पर तालियों के ताल दूँगा। तटिनी होकर हृदय की बातें कह-कहकर गाने गाता हुआ बह जाऊँगा। जितना ही मैं प्राण दूँगा मेरे प्राण बहते जायेंगे, प्राणों का फिर अन्त न होगा। इतनी बातें हैं, इतना गान है, इतना प्राण मुझमें है, इतना सुख है, इतनी साधें हैं कि प्राण मत-वाले हो रहे हैं। सूर्य और चन्द्र को चूरकर मैं हार गूँथूँगा। आकाश खींचकर वास पहनूँगा। सन्ध्या के आकाश में राशि-राशि अलस कनकवर्ण जलद परस्पर आलि-गन करेंगे, जैसे स्वर्ण-किरणों से अभिभूत होकर वे अपने देह का भार न सँभाल सकते हों मानो गोधूलि विवश हो गयी है, पूर्व की ओर उसका अन्धकार वेणी-सा खुलकर गिर रहा हो और पश्चिम में उसका सोने का अंचल।

'इतना सुख, इतना रूप, इतनी क्रीड़ाएँ और कहाँ हैं? यौवन के वेग से न जाने किसके पास बह जाऊँगा। अन्दर अगाध वासना, असीम आशा उमड़ आयी

है । मैं तमाम संसार देखना चाहता हूँ । ऐसी साध जग गयी है कि इस चराचर को प्लावित कर मैं बह जाऊँ । मेरे अन्दर जितना प्राण है, मैं पूर्णत: ढाल सकूँ। जितना काल है सब व्याप्त कर वहन कर सकूँ । जितने देश हैं, डुबा सकूँ, तो और मुझे क्या चाहिए ?—मेरे प्राणों की यही साध है ।'

यह तरुण रवीन्द्रनाथ की रचना है । जिस समय उनकी किशोरता धीरे-धीरे उनके पुष्ट यौवन के साथ मिल रही थी, जब पहले-पहल उनके अन्दर प्रतिभा का प्रवाह आया था । बंग भाषा के मर्मज्ञों ने इस कविता की सहस्रों कण्ठ से प्रशंसा की है। इसमें इतनी शक्ति है, जो महाकवि के भविष्य रूप को स्पष्ट कर देती है । इतना अच्छा निर्वाह, इतना प्रखर प्रवाह, इतनी दमदार भाषा आज तक बहुत कम कवियों में देख पड़ी है । इस दुर्जेय शक्ति का स्फुरण कवि प्रत्यक्ष करता है, तभी वह इतनी बड़ी-बड़ी बातें, इतनी बड़ी-बड़ी आशाओं को लेकर, कह डालता है । भाषा में बनावट कहीं भी नहीं मिलती जैसे कोई मुक्त प्रवाह हो । इस शक्ति का ही प्रवाह है कि आज रवीन्द्रनाथ कविता के शीर्षस्थान के अधिकारी हो सके हैं ।

संगीत

महाकवि रवीन्द्रनाथ ने अब तक दो हजार से अधिक संगीत लिखे हैं। पहले-पहल इनके संगीतों में हिन्दोस्तानी यानी हिन्दी के संगीतों का असर ज्यादा रहा । अब, इधर बंगाल के प्रचलित 'बाउल' के स्वर में यह बिलकुल बंगला के ही उच्चारण और लय के विचार से संगीतों की रचना कर रहे हैं । रवीन्द्रनाथ के अपर समालोचकों की जो यह सम्मति है कि यदि रवीन्द्रनाथ अपर कविताओं की रचना न करके केवल इतने ये संगीत ही छोड़ जाते, तो भी यह संसार के एक श्रेष्ठ कवि रहते, इस कथन के साथ मैं पूर्णतया सहमत हूँ । संगीत काव्य में भी रवीन्द्रनाथ की अद्‌भुत कवि-प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है—

अयि भुबन मनमोहिनी ।
निर्मल सूर्य-करोज्ज्वल धरणी
जनक - जननी - जननी ।
नील सिन्धु-जल धौत चरण-तल,
अनिल विकम्पित श्यामल अंचल,
अम्बर-चुम्बित-भाल हिमाचल,
शुभ्र - तुषार - किरीटिनी ।
चिर-कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश - विदेशे वितरिछ अन्न,
जाह्नवी-यमुना विगलित-करुणा,
पुण्य-पीयूष-स्तन्य-दायिनी ।
प्रथम प्रभात उदय तव गगने,
प्रथम साम - रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन - भवने,
ज्ञान-धर्म कत पुण्य काहिनी ।

यह रवीन्द्रनाथ का प्रसिद्ध संगीत है। इसकी रचना हिन्दी के अनुसार हुई है। भाव स्पष्ट हैं और उनकी व्याप्ति और सौन्दर्य का कहना ही क्या ?

यामिनी ना जेते जागाले ना केन
बेला होलो मरि लाजे।
शरमे जडित चरणे केमने।
चलिब पथेरि माझे ॥
आलोक - परशे सरमे मरिया,
हेरो लो शेफाली पड़िछे झरिया,
कोनो मते आछे पराण धरिया,
कामिनी - शिथिल साजे।
निबिया बाँचिल निशार प्रदीप
ऊषार बतास लागी;
रजनीर शशि गगनेर कोने
लुकाय शरण माँगी !
पाखी डाकि बोले, गेलो विभावरी,
बधू चले जले लइया गागरी,
आमिओ आकुल कवरी आवरी,
केमने जाइबो काजे।

'रात बीतने से पहले ही तुमने मुझे क्यों नहीं जगा दिया ? दिन चढ़ आया है, मुझे लाज लग रही है ? लाज से जकड़े हुए पैर, मैं राह कैसे चलूंगी ? आलोक के स्पर्श से अपने-ही-आप में मुरझायी हुई, देखो शेफालिकाएँ झड़ी जा रही हैं। कामिनी इस शिथिल सज्जा में किसी तरह अपने प्राणों को सँभाले हुए है। उषा की वायु के लगाने पर निशा का प्रदीप गुल होकर बचा, रात का चन्द्र आकाश के कोने में शरण लेकर छिप रहा है; चिड़ियाँ पुकारकर कहती हैं—रात गयी; वधुएँ घड़े लेकर जल भरने जा रही हैं; मैं भी खुली हुई अपनी वेणी सँभाल रही हूँ; अब काम पर कैसे जाऊँ ?'

यह एक युवती गृहस्थ वधू की वाणी है। प्रभात हो गया है, सूर्य निकल आया है, वह अपने प्रिय की सेज पर सोती ही रह गयी, रात को शायद उसे देर तक जगना पड़ा था। अब उठकर वह अपने प्रियतम से कहती है कि तुमने मुझे रात रहते ही क्यों नहीं जगा दिया, अब मुझे बाहर निकलते हुए लाज लगती है। यह वर्णना अलंकारों के साथ ऐसी सुन्दर हुई है जो रवीन्द्रनाथ की ही लेखनी कर सकती थी। भाषा की विभूति तो वही समझ सकते हैं, जिन्हें बंग-भाषा का थोड़ा-बहुत ज्ञान है।

कविता में जिस किसी विषय पर रवीन्द्रनाथ ने लेखनी चलायी है, वहीं उन्होंने अद्भुत चमत्कार पैदा कर दिया।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1929। **चयन** में संकलित ('महाकवि रवीन्द्रनाथ की कविता' शीर्षक से)]

मुसलमान और हिन्दू कवियों में विचार-साम्य

सभ्यता के आदि-काल से लेकर आज तक जितनी बड़ी-बड़ी बातें साहित्य के पृष्ठों में लिखी हुई मिलती हैं, उनके बाह्य रूपों में साम्य रहने पर भी वे एक ही सत्य का प्रकाश देती हैं। आज तक मानवीय सभ्यता जहाँ कहीं एक दूसरी सभ्यता से टक्कर लेती आयी है, वहाँ उसके बाह्य रूपों में ही वैषम्य रहा है; वेश-भूषणों, आचार-व्यवहारों तथा उच्चारण और भाषाओं का ही बहिरंग भेद रहा है। उन सभ्यताओं के विकसित रूप देखिए, तो एक ही सत्य की अटल अपार महिमा वहाँ मिलती है। थोड़ी देर के लिए, उदाहरणार्थ, हम मुसलमानों को ले सकते हैं। मुसलमानों से हिन्दुओं की लड़ाई शताब्दियों तक होती रही। आज भी यदि भारत-वर्ष के स्वतन्त्र होने में कहीं किसी को अड़चन मिलती है, तो वह हिन्दू-मुसलमानों का वैषम्य ही कहा जाता है। जगह-जगह, मौके-बेमौके, आज भी दोनों एक-दूसरे की जान ले लेने को तैयार हो जाते हैं। बहुत कम हिन्दू और बहुत कम मुसलमान ऐसे होंगे, जो इनमें से एक-दूसरे के उत्कर्ष का पूरा-पूरा पता रखते हों। मुसलमानों के आक्रमण के समय से लेकर आज तक दोनों जातियों में जो घृणा के भाव चले आ रहे हैं, वे दोनों जातियों की अस्थि-मज्जा में कुछ इस तरह से मिल गये हैं कि सुप्त रहते हुए भी वे जाग्रत् ही रहते हैं। हिन्दू लोग, आचारों को प्रधानता देते हुए, खुदापरस्त मुसलमानों को म्लेच्छ आदि नामों से विभूषित करते हैं। उसी तरह मुसलमान भी हिन्दुओं को मूर्तिपूजक देखकर उन्हें बुतपरस्त, क़ाफिर आदि घृणासूचक शब्दों से याद करते हैं। सदियों से यह व्यवहार कुछ ऐसा चला आ रहा है कि दोनों के विचारों में जहाँ साम्य है वहाँ तक पहुँचकर दोनों में मैत्री-स्थापना की कोई चेष्टा ही नहीं की गयी। जिन हिन्दुओं को 'आचारः प्रथमो धर्मः' सिखलाया जाता है, और यह इसलिए कि आचारों से चित्तशुद्धि होने पर ज्ञान या सत्य की प्रतिष्ठा मन में हो सकेगी, वे हिन्दू आचारों में इस बुरी तरह बँध जाते हैं कि वे आचार ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति के अन्तिम लक्ष्य-से बने रहते हैं, यद्यपि 'अघोरान्नापरो मन्त्रः' का वे प्रतिदिन पाठ किया करते हैं। इधर मुसलमानों को बुत ही से ख़ुदा का पाठ मिला; पर वे बुत को घृणा ही करते गये; केवल काव्य में ही रह गया—

> "परस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत, तुझे—
> नज़र में सभों की ख़ुदा कर चले।"

किन्तु बुतों के प्रति ये भाव उनके नहीं रह गये, यद्यपि बुत-रूपी अपने बीवी-बच्चों को सभी मुसलमान प्यार करते हैं।

आज, अब, विज्ञान के युग में, जिस तरह पश्चिम की रोशनी से अपने गृह का अन्धकार दूर करने के लिए राष्ट्रवादी हिन्दू प्रयत्नशील हैं, उसी तरह मुसलमान भी। परन्तु स्वार्थ एक अजीब सत्ता है। यहाँ प्राणों का भरा हुआ आनन्द बिलकुल ही नहीं, सिर्फ एक अभाव की आग भड़कती है। देश दीन है, दुखी है, परतन्त्र है, स्वाधिकाररहित है, इस तरह की अभाववाली जितनी भी बातें होंगी, वे जिस

तरह प्राणहीन हैं, उनकी पूर्ति के लिए लड़ाइयाँ, उद्योग आदि भी इसी तरह प्राण-हीन। कारण, स्वार्थ ही दोनों का मूल है। यदि ब्रिटेन के वीरसिंह हैं और भारत के दीन कृषक मेष, तो विचार की दृष्टि में, दार्शनिक की भाषा में, दोनों मनुष्यता से गिरे हुए हैं, और आधुनिक विकासवाद के अनुसार सिंह और मेष में कौन-सी सृष्टि अधिक उच्च है, यह बतलाना भी ज़रा टेढ़ी खीर है। मतलब यह कि जिस विज्ञान के बल पर पश्चिम सिंह बन सकता है, वह जिस तरह मनुष्यता की हद से गिरा हुआ होता है, उसी तरह हिन्दुओं का ज्ञान-मूलरहित आचारवाद, जिसने सदियों से उन्हें गुलाम बना रखा है, और मुसलमानों की ख़ुदापरस्ती भी, जो बुतों से घिरी हुई रहकर भी उनकी सत्ता से घृणा करे।

हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं। इस लेख में हम यही दिखलाने की चेष्टा करेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि जब तक हिन्दू और मुसलमान इस भूमि पर चढ़कर मैत्री की आवाज नहीं लगायेंगे, तब तक वह स्वार्थजन्य मैत्री स्वार्थ में धक्का न लगने तक की ही मैत्री रहेगी—वैसी ही मैत्री, जैसी ब्रिटिश-सिंह और भारत-गऊ की हो सकती है।

"न था कुछ तो ख़ुदा था, कुछ न होता तो ख़ुदा होता;
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।" (ग़ालिब)

जब कुछ नहीं था, तब ख़ुदा था। यदि कुछ न होता, तो ख़ुदा होना। मुझे होने ने (भव ने, संसार ने, 'हूँ' इस भाव ने) डुबा दिया। मैं न होता, तो क्या (अच्छा) होता!

महाकवि ग़ालिब के ये भाव हर्फ़-हर्फ़ वेदान्त से मिलते हैं। जब कुछ नहीं था, तब ख़ुदा था, यही वेदान्त की तथा हिन्दू आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की बुनियाद है। जहाँ ईश्वर की सत्ता है, वहाँ संसार नहीं। इसी पर गोस्वामीजी लिखते हैं—

"जिहि जाने जग जाय हेराई।"

यहाँ दोनों के भाव एक ही हैं। 'होने' ने या 'भव' ने ग़ालिब को डुबा दिया है अर्थात् दुनिया के ज्ञान ने उन्हें ससीम कर दिया है, संसार में डाल रक्खा है, जिसके लिए वह कहते हैं, यह न होता तो क्या ही अच्छा होता! तब केवल ख़ुदा का ही अस्तित्व रहता, जिसके लिए कहा है—

"None else exists and thou art that."

कबीर भी कहते हैं, जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मोह नहीं रहता—

"सूर-परकास तहँ रैन कहँ पाइए
रैन-परकास नहिं सूर भासै;
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहँ पाइए
होय जहँ ज्ञान अज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइए,
होय जहँ प्रेम तहँ काम नाहीं;
कहत कब्बीर यह सत्य सुविचार है
समझ तू, सोच तू, मनहिं माहीं।"

आज तक मनुष्यों के मनों ने जितनी ऊँची उड़ानें भरी हैं, वे सब यहीं आकर ठहरती हैं। अन्यथा लक्ष्यभ्रष्ट हो गयी हैं। सांसारिक जितने भी चमत्कार हैं, उन सब पर प्रभुता करनेवाली यही भूमि है, और संसार में जितने भी भेद हैं, उन सबमें साम्य स्थापित करनेवाली भी यही भूमि है। बिना यहाँ आये हुए भेद का ज्ञान कदापि दूर नहीं हो सकता। यही हिन्दुओं की अद्वैत-भूमि है। और, चूँकि यहाँ भेद-भाव नहीं रह जाता, इसीलिए इसे अद्वैत कहा भी है।

नज़ीर कहते हैं—

"तनहा न उसे अपने दिले तंग में पहचान;
हर बाग में, हर दश्त में, हर संग में पहचान।
बेरंग में, बारंग में, नैरंग में पहचान;
मंजिल में, मुक़ामात में, फ़रसंग में पहचान।
नित रूम में, औ हिन्दू में, औ जंग में पहचान;
हर राह में, हर साथ में, हर संग में पहचान।
× × ×
हर आन में, हर बात में, हर ढंग में पहचान;
आशिक़ है, तो दिलबर को हर रंग में पहचान।"

यहाँ दुनिया की लावण्यमयी श्री भी है और वहाँ उस प्यारे की खोज भी। यह यहाँ विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है यानी दुनिया भी है और ख़ुदा भी। या यों कहिए कि वह ख़ुदा ही दुनिया के अनेक रूपों में विराजमान है। गो. तुलसीदासजी की एक उक्ति इसी अर्थ पर बहुत ही सुन्दर हुई है—

"अव्यक्तमेकमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने;
षट कन्ध, शाखा पंचविंश, अनेक पर्ण, सुमन घने।
फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे;
पल्लवित, फूलित, नवल नित संसार-विटप नमामि हे।"

यहाँ राम को ही उन्होंने वेद के मुख से संसार-विटप कहकर सम्बोधित किया है, जिसकी तारीफ में संसार की कोई वस्तु छोड़ी भी नहीं, जैसे तमाम संसार में राम ही का रूप भर रहा हो।

एक जगह महाकवि ग़ालिब कहते हैं—

"तेरे सर्वे क़ामत से एक क़द्दे आदम,
क़यामत के फ़ितने को कम देखते हैं।"

यहाँ महाकवि ग़ालिब क़यामत को एक आदमी-भर लम्बी बतलाते हैं, यानी क़यामत उतनी ही बड़ी है, जितना लम्बा एक आदमी। यह प्रलय की सर्वोत्तम व्याख्या है। हरएक आदमी में प्रलय की नाशकारी कुल शक्तियाँ हैं, और वह चाहे, तो उन्हें प्रत्यक्ष कर सकता है। हर मनुष्य सौर ब्रह्माण्ड से मिला हुआ भी उससे अलग है। संसार का अस्तित्व उसके पास सिर्फ इसलिए है कि वह अपने अस्तित्व पर विश्वास रखता है। जब मनुष्य सो जाता है, उस समय वह अपना अस्तित्व बहुत-कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि सुप्ति-काल में संसार का ज्ञान नहीं रहता। संसार के सिर पर जो क़यामत क्रीड़ा कर रही है, उसको प्रत्यक्ष करनेवाला

वही है, और उसका शरीर भी क़यामत के कानून के अन्दर है। इसीलिए क़यामत को एक ही आदमी के कद के बराबर कहा, और यह केवल साहित्यिक उपमा ही नहीं, किन्तु दार्शनिक महान् सत्य हो गया है।

बिलकुल यही भाव सूरदासजी के हैं, जहाँ उन्होंने बालक कृष्ण की वर्णना की है—'प्रभु पौढ़े पालने पलोटत' आदि-आदि। यहाँ भी श्रीकृष्ण के हिलने-डुलने से जो क्रिया होती है, वह प्रलय ही है—'विडरि चले घन प्रलय जानि कै'; कारण, किसी भी चेतन के हिलने से सौर-ब्रह्माण्ड हिलता-डोलता है, यह सूरदासजी के कहने का मतलब है। श्रीकृष्ण की चेतन-क्रिया में संसार डोल रहा है, कहीं-कहीं प्रलय हो रहा है, दिग्दन्ती बड़े धैर्य से धरा-भार को धारण कर रहे हैं। यहाँ भी एक ही की चेतन-क्रिया से संसार में क़यामत आ रही है, प्रलय मचा हुआ है, और इसे समझनेवाले सूरदासजी 'सकट पगु पेलत'—धीरे-धीरे चल रहे हैं। ग़ालिब और सूरदासजी की उक्तियाँ बिलकुल मिल जाती हैं। कोई विरोध नहीं देख पड़ता। वहाँ भी एक ही कद के बराबर क़यामत की नाप होती है, और यहाँ भी एक कृष्ण की चेतन-क्रिया से आफत उठी हुई है। दोनों महाकवि इस सत्योक्ति में पूर्णतया सहमत हैं।

"कुछ ज़ुल्म नहीं, कुछ जौर नहीं,
कुछ दाद नहीं, फ़रियाद नहीं;
कुछ क़ैद नहीं, कुछ बन्द नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं;
हैं जितनी बातें दुनिया की,
सब भूल गये, कुछ याद नहीं॥
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥
जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं,
उस दिलबर की फुलवारी है;
कहिं सब्जी की हरियाली है,
कहिं फूलों की गुलकारी है।
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं,
और आस उसी की भारी है;
बस, आप ही वह दातारी है,
और आप ही वह भण्डारी है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा;

जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।
हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
वह दिलबर सबसे आला है;
उसने ही हमको जी बख़्शा,
उसने ही हमको पाला है।
दिल अपना भोला-भाला है,
औ' इश्क़ बड़ा मतवाला है;
क्या कहिए और नज़ीर आगे,
अब कौन समझनेवाला है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
तब क्या दिलगीरी है बाबा। —नज़ीर

कविवर नज़ीर यहाँ फ़क़ीरी का हाल बयान कर रहे हैं। यह वह फ़क़ीरी है, जब तमाम दुनिया में अपना इष्ट-ही-इष्ट नजर आता है। संसार की हर वस्तु में उसी का रंग चढ़ा देख पड़ता है। प्रह्लाद के चरित्र-लेखक दिखलाते हैं कि शेर आता है, तो उससे भी प्रह्लाद 'हरि आये' कहकर लिपट जाते हैं। नरसीजी भूत देखते हैं, तो 'आये मेरे लम्बकनाथ' कहकर गाने और प्रेमविह्वल होकर नाचने लगते हैं। एक सिद्ध श्वान पर बैठा हुआ भोजन कर रहा था, और कभी-कभी अपना अन्न उस कुत्ते को भी खिला दिया करता था। दूर से कुछ लोगों ने यह तमाशा देखा। उसके पास गये। कहने लगे, "तुम कुत्ते की जूठन खाते हो, कैसे आदमी हो ?" वह सिद्ध बड़ी देर तक चुप रहा। तब भी इन लोगों ने अपना व्याख्यान बन्द नहीं किया। तब चिढ़कर वह सिद्ध कहता है—

"विष्णूपरिस्थितो विष्णुः विष्णुं खादति विष्णवेः
कथं हससि रे विष्णो सर्वं विष्णुमयं जगत्।"

सूरदासजी इन्हीं भावों पर कहते हैं—

"जित देखो तित श्याममयी है;
श्याम कुंज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन-घन-घटा छई है।
श्रुति को अच्छर श्याम देखियत,
दीप-शिखा पर श्यामतई है;
मैं बौरी को लोगन ही की
श्याम पुतरिया बदल गयी है।
इन्द्र-धनुष को रंग श्याम है,
मृग-मद श्याम, काम विजयी है;
नीलकण्ठ को कण्ठ श्याम है,
मनो श्यामता बेलि बई है।"

कवि के भाव-नेत्र चारों तरफ श्याम को ही प्रत्यक्ष करते हैं। तमाम संसार में वह एक ही श्याम-छवि रमी हुई है। रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी इस भाव की सुन्दर व्याख्या-सी कर देते हैं। जिस कारण से यह इष्ट-मूर्ति भक्त को चारों ओर दिखलायी पड़ती है, उस कारण की जड़ चित्त में है, जहाँ इष्ट की छाप पड़ जाने पर फिर और कोई रूप नहीं देख पड़ता, दूसरे रूपों की सत्ता छिप जाती है :

"चित्रकूट चित चारु, तुलसी सुभग सनेह बन;
सिय-रघुबीर-बिहारु, सींचत माली नयन-जल।"

मृत्यु की नश्वरता को दिखलाते हुए कविवर नज़ीर कहते हैं—

"जब चलते - चलते रस्ते में
यह गौन तेरी ढल जावेगी;
यक बधिया तेरी मिट्टी पर
फिर घास न चरने पावेगी।
यह खेप जो तूने लादी है,
सब हिस्सों में बट जावेगी;
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या,
बनजारन पास न आवेगी।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा
जब लाद चलेगा बंजारा;
क्या जी पर बोझ उठाता है
इन गोनों भारी - भारी के;
जब मौत का डेरा आन पड़ा,
तब दोनों हैं व्यापारी के।
क्या साज़ जड़ाऊ ज़र-ज़ेवर,
क्या गोटे थान किनारी के;
क्या घोड़े, ज़ीन सुनहरी के,
क्या हाथी लाल अमारी के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा
जब लाद चलेगा बंजारा।
मग़रूर न हो तलवारों पर,
मत भूल भरोसे ढालों के;
सब पट्टा तोड़ के भागेंगे
मुँह देख अजल के भालों के।
क्या डिब्बे मोती-हीरों के,
क्या ढेर खज़ाने मालों के;
क्या बकचे ताश मुशज्जर के,
क्या तख्ते शाल-दुशालों के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।"

नश्वर संसार का जो चित्र यहाँ विवेक को जाग्रत् करने के लिए नज़ीर साहब ने खींचा है, उसका प्रभाव हिन्दू कवियों पर पहले ही से बहुत ज्यादा रहा। नश्वरता पर प्रायः यहाँ के सभी कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। भगवान् शंकराचार्य आदि धर्म-प्रचारकों से लेकर आधुनिक कवियों तक में यह भाव यहाँ परिपुष्ट ही मिलता है—

"कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम्।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी-जठरे-शयनम्;
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे।
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुंचयत्याशामर्षम्।"

—श्री शंकराचार्यः

"चढ़कर मेरे जीवन रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उसते हारी होड़ लगायी।" —श्री जयशंकर 'प्रसाद'

"लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर;
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे नित घनाकार जगती का अम्बर,
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुण्डल दिङ्-मण्डल!
अये दुर्जेय विश्वजित्!
नवाते शत सुरवर नरनाथ,
तुम्हारे इन्द्रासन-तल माथ।
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ।
तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित,
उत्पीड़ित संसृति को करते हो पदमर्दित;
नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिरसंचित;

आधि-व्याधि बहुवृष्टि पात उत्पात अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्यदल;
अये निरंकुश पदाघात-से वसुधा टलमल,
हिल-हिल उठता है प्रतिपल पद-दलित धरातल !"

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

नश्वरता को प्रत्यक्ष करा देने पर ज़रा देर के लिए मन में वैराग्य का उदय होता है। फिर वह वैराग्य यदि स्थायी हो, तो मनुष्य संसार की नश्वर वस्तुओं से प्रेम करना छोड़कर एक ऐसी ज्ञान-स्थिति प्राप्त करता है, जिससे उसे यथार्थ शान्ति मिलती है। जिस तरह हिन्दुओं में वैराग्य की यह शिक्षा मिलती है, उसी तरह मुसलमानों में भी। सूफ़ीवाद में तो ज्ञान, वैराग्य और मादकता, तीनों की प्रधानता है। मुसलमानों के दर्शन में तो नहीं; हाँ, क़ुरान के साथ अद्वैतवाद की सूक्तियाँ जरूर मिल जाती हैं। पर कविता में और सूफियाने ढंग की कविता में यहाँ के बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र का तो बिलकुल जोड़ मिल जाता है। खान-पान और रहन-सहन का भेद रहने पर भी जिस विकास की ओर मुसलमान सभ्यता गयी है, वह यहाँ से कोई पृथक् सत्ता नहीं। क़ुरान का असल तत्त्व जो 'ला इलाह इल्लिल्लाह' है, वह 'एकमेवाद्वितीयम्' का अक्षर-अक्षर अनुवाद है। हम यह नहीं कहते कि क़ुरान की उक्ति अनुवाद के रूप में आयी है; क्योंकि हमें मालूम है, ईश्वर को प्रत्यक्ष करनेवाले महापुरुष एक ही सत्य का प्रचार करते हैं। और, जिस तरह हिन्दुओं के महापुरुषों ने सत्य से ओतप्रोत एक ही ज्ञानमय कोष का तत्त्व हासिल किया, उसी तरह मुहम्मद ने भी तपस्या द्वारा 'अवाङ्मनसोऽगोचरम्' सत्य का साक्षात्कार किया। सिन्धु और बिन्दु की उक्ति से ब्रह्म और जीव की जो बातें भारतीय साहित्य में मिलती हैं, वही मुसलमान कवियों की कविता में, दरिया और क़तरे के रूप से, आयी हैं।

"तुमहिं मिलत नहिं होय भय, यथा सिन्धुगत नीर।"

--तुलसीदास

"इशतरे-क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।"

—ग़ालिब

"यक क़तरए-मै जब से साक़ी ने पिलाया है;
उस रोज़ से हर क़तरा दरिया नजर आता है।"

खुदनुमाई पर की गयी वह गुफ्तगू याद आती है, जो अपनी बाँदी के साथ शायद बेगम नूरजहाँ ने की थी जब उसका चीनी आईना बाँदी के हाथ से गिरकर फूट गया था, और एकाएक महर्षि वाल्मीकि की तरह बाँदी के मुँह से यह शेर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था—

"अज़ कज़ा आईनए-चीनी शिकस्त।"
"ख़ूब शुद सामाने खुदबीनी शिकस्त।"—

यह मेहरुन्निसा का उत्तर था। तमाम हिन्दोस्तान की सम्राज्ञी के हृदय में भी वैराग्य की यह भावना प्रबल थी,—वह शिक्षा जो गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महापुरुष ही दे सकते हैं—

"सेवहिं लखन सीयरघुवीरहिं,
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।"

एक तरफ श्रीरामचन्द्र की सेवा लक्ष्मण और सीताजी धर्मभावना से प्रेरित होकर करते हैं, जैसे अपने परम इष्ट की सेवा की जाये, दूसरी तरफ महाकवि शिक्षा से भरी हुई उसकी उपमा में कहते हैं, जैसे अविवेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा करते हैं—उसे किसी क्षण के लिए भी नश्वर नहीं समझते। यहाँ शरीर-ज्ञान में बँधे हुए मनुष्य सदा ही नश्वरता के ग्रास में पड़े रहते हैं, यह भावना भी उद्दीप्त होती है, और आलंकारिक व्यंजना श्रीरामचन्द्र की तल्लीन सेवा का बोध भी अच्छी तरह करा देती है—एक ढेले में दो पक्षियों का शिकार हो गया है।

"तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता।"

—ग़ालिब

यह बहुत ऊँचे दर्जे का प्यार है। सच्चा प्यार भी यही है। लोग इसका अर्थ यह भले ही करें कि निर्जन रहने पर ही प्रिय की याद आती है—दिल के आईने में उसकी सूरत देख पड़ती है; पर इसका मतलब वह नहीं। यह सांसारिक प्रेम नहीं, यह ईश्वर-प्रेम है। जब मन बिलकुल निस्संग हो जाता है, किसी भी दूसरे से लगावट नहीं रहती, तभी उस मन में ईश्वर का ध्यान आता है, वह भगवत्-संग प्राप्त करता है, वह मित्र—जिसके लिए कहा जाता है, "रामप्राण के जीवन जी के"—मिलता है, साथ रहता है; इसी क्षण को इष्ट-प्राप्ति का समय कहते हैं, और इसी अवस्था में वह मिलता भी है। कविवर मैथिलीशरण कहते हैं—

"प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं,
जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाते हैं।"

ज़ौक़ के एक शेर में परलोक, यहाँ तक कि अर्थ लगाने पर हिन्दुओं के पितृलोक, देवलोक, प्रेतलोक आदि की सिद्धि भी हो जाती है—

"अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जायेंगे;
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।"

—ज़ौक़

मृत्यु के बाद चैन न पाने की उक्ति परोक्ष रीति से उसी प्रेतयोनि को सिद्ध कर रही है, जहाँ जीवों को शान्ति नहीं मिलती, एक प्रकार की जलन, क्षोभ, अशान्ति तथा चंचलता बनी रहती है। इसके अर्थ से प्रेतलोक की सिद्धि कोई भले ही न करे, पर इतना तो जाहिर ही है कि मृत्यु के बाद अशान्ति की चिन्ता कवि को लगी हुई है। वह इस पर भी विश्वास करता है। दूसरे, महाकवि ग़ालिब को भी ज़ौक़ का यह शेर पसन्द आता है। इसके मानी ये हैं कि इस तत्त्व पर वह भी विश्वास करते हैं। बहिश्त और दोज़ख तो मुसलमानों के शास्त्र मानते ही हैं, जहाँ हिन्दुओं का बिलकुल साम्य है। वह बेचैनी की हालत, जो मृत्यु के बाद होती है, और उस मृत्यु के बाद जिसे आत्महत्या कहते हैं—'मर जायेंगे' के अर्थ से असमय मृत्यु या आत्महत्या का ही भाव व्यंजित है—बहुत-कुछ उसी अवस्था की वर्णना है, जो प्रेतयोनि में होती है। यहाँ हिन्दू और मुसलमान मृत्यु के बाद के एक ही

विचार रखते हुए देख पड़ते हैं। यों तो प्रेत या जिन्न मुसलमानों के यहाँ भी कम नहीं—

"जिन्नों ने वहीं अपना मैखाना बना डाला।"

और, रात बारह बजे शहर-भर की मिठाई खरीद लेनेवाले लखनऊ के जिन्न अब भी देहात में काफी मशहूर हैं, वे आजकल की व्याख्या के अनुसार मुँह ढककर आनेवाले छज्जे पर बैठनेवालियों के यार और आशिक भले ही हों, अथवा चाहे लखनऊ की प्राचीन व्याख्या के अनुसार 12 लाख साफ करने के बाद रईसों के शोहदा-खाते में नाम लिखानेवाले हों। हिन्दी में तो

"भूत-पिशाच निकट नहिं आवे;
महावीर जब नाम सुनावे।"

से लेकर

"सावर-मन्त्र-जाल जिन सिरजा, प्रेत, पितर, गन्धर्व;
बन्दौ किन्नर, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व।"

तक, पता नहीं, इस परलोकवाद की कितनी चर्चा हुई है, और समाज में इस पर कितना दृढ़ विश्वास है; जबकि ज्ञान की जननी गीता स्वयं कहती है—'पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' और केशवदास का प्रेत होना तमाम साहित्यिकों के दिमाग में भरा ही हुआ है, उधर गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी से 'बसै तहाँ इक प्रेत पुरानो' जबकि अभी तक नहीं निकाला गया; और उन्हें भगवान् श्रीरामचन्द्र से मिलने का पता भी बताता है प्रेत!

"जहाँ में हाली किसी का अपने सिवा भरोसा न कीजियेगा;
य' भेद है अपनी जिन्दगी का कि इसका चर्चा न कीजियेगा।"

हाली साहब जिस तरह यहाँ हरएक को अपनी ही सत्ता पर जोर देने के लिए कहते हैं, और इसे ही वह दुनिया में कामयाब होने की कुंजी समझते हैं, उसी तरह यहाँ के हिन्दुओं की भी शिक्षा है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, न मेधया न च बहुना श्रुतेन' में सबसे कठिन कार्य आत्म-प्राप्ति के लिए जिस तरह मनुष्य को अभ्यन्तर-बल प्राप्त करने के उपदेश दिये गये हैं, उसी तरह अन्य सफलताओं के लिए भी। यथार्थ बल अपने ही भीतर से प्राप्त होता है, जिससे कुल सिद्धियाँ हासिल होती हैं, यही यहाँ की शिक्षा है। इस प्रकार मन को प्रसन्न करने के लिए ही कहा है—

"मन के हारे हारिए, मन के जीते जीत;
परब्रह्म को पाइए, मन ही की परतीत।"

यहाँ के साहित्य में अपनी ही आत्मा पर विश्वास रखने के केवल उपदेश ही नहीं, किन्तु जीवनियाँ भी अनेक लिखी हुई हैं। इस कोटि में स्त्री और पुरुष, दोनों को बराबर जगह मिली है। पार्वती तपस्या में दृढ़निष्ठ हैं। वह महादेव को पति-रूप से प्राप्त करना चाहती हैं। उनकी तपस्या की परीक्षा करने, उनके मनोबल को तोलने के इरादे से ऋषि उनसे कहते हैं, "तुम क्यों व्यर्थ ही शिव जैसे एक पागल के पीछे पड़ी हो? इससे तो अच्छा है कि विष्णु की कामना करो। वह सुन्दर हैं, और सब तरह से महादेव से श्रेष्ठ हैं।" यह सुनकर पार्वती का उत्तर नम्र होकर

भी दृढ़ होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहती हैं। कहती हैं—

"सत्य-सत्य शिव अशिव-घर, विष्णु सकल-गुण-धाम;
जाको मन रम जाहि सँग, ताहि ताहि सन काम।"

उद्धव को अपने ज्ञान का गर्व है। श्रीकृष्ण उनका यह अहंकार तोड़ना चाहते हैं। साथ ही, एक दूसरे मन का बल भी उन्हें दिखाना चाहते हैं। इस विचार से वह उद्धव को गोपियों के पास अखिल व्यापक निरंजन ब्रह्म का उपदेश करने के लिए भेजते हैं। उद्धव गोपियों के बीच में व्यापक ब्रह्म की कथा सुनाते हैं, और गोपियाँ बार-बार उनसे श्रीकृष्ण का कुशल तथा अन्यान्य संवाद पूछती हैं, बार-बार उद्धव को उनके विषय से अलग कर देती हैं। पर वह भी अपने ज्ञान-हठ पर अड़े रहते हैं। वह भी बार-बार वैराग्य की वाणी के प्रभाव से उनका प्रेमजन्य मोह दूर कर देना चाहते हैं। पर गोपियों का प्रेम शरीर-प्रेम नहीं था। उसमें कृष्ण की चेतन सत्ता थी, जिससे उनके हृदय का मोहान्धकार दूर हो चुका था। वे प्रेम ही की वाणी में जो उत्तर देती हैं, उसका फिर प्रत्युत्तर उन्हें उद्धव से नहीं मिलता—

"ऊधो, मन न होंहि दस-बीस।
एक रह्यो सो गयो स्याम सँग,
काह करब अज, ईस ?"

और 'राधे-दृग-सलील-प्रवाह में सुनौ हौ ऊधौ, रावरे समेत ज्ञान-गाथा वहि जावैगो' आदि सुनकर प्रेम के प्रभाव से उद्धव मौन ही रह जाते हैं। यह यहाँ का मानसिक बल है, अपना अटल विश्वास, जिससे अपने सम्पूर्ण कार्य सार्थक हो जाते हैं। यही अँगरेजों का concentration power (एकाग्रता शक्ति) है। 'The real I is real He' अर्थात् यथार्थ मैं और यथार्थ वह (ईश्वर) एक ही है, अतः अपने पर यथार्थ विश्वास और उस पर अकृत्रिम विश्वास एक ही है।

"जन्म कोटि शत रगर हमारी;
बरौं शम्भु, न तु रहौं कुमारी।"

यह अपनी शक्ति पर विश्वास है, और

"नट-मरकट इव सबहिं नचावत;
राम खगेस वेद अस गावत।"

यह ईश्वर पर किया गया विश्वास है। यहाँ ईश ही की शक्ति सफल-काम है।

हिन्दू और मुसलमानों के सामाजिक आचार-व्यवहार और वेश-भूषण आदि निस्सन्देह एक-दूसरे से नहीं मिलते; परन्तु यह कोई बहुत बड़ा भेद नहीं। कारण, मनुष्य की जाँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है, और वहाँ ये दोनों जातियाँ एक ही पथ की पथिक तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँची हुई जान पड़ती हैं। हिन्दू सभ्यता बहुत पुरानी है और मुसलमान-सभ्यता हिन्दुओं के मुकाबले बहुत आधुनिक। यह तो हम दावे के साथ कहेंगे कि जहाँ भी सभ्यता ने अपने उत्कर्ष के प्रति संसार को आकृष्ट करना चाहा है, जहाँ कहीं उसकी सुप्त अपार शक्ति जाग्रत् हुई है, वहीं, किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या प्रकृति की अपर शक्तियों की तरह परोक्ष रीति से, हिन्दू-सभ्यता के बीज संचालित हो गये हैं। आज संसार में जितने भी धार्मिक विचार अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं, वे सब हिन्दुओं के किये हुए

विचारों के अनुवाद-से प्रतीत होते हैं। हमारा विचार है कि यह हिन्दुओं की ही मानसिक दुर्बलता है, जिसके कारण वे हर तरह से पराधीन हो रहे हैं। यदि वे अपने-आपको पहचानें, तो उनके भीतर के भेदभाव तो दूर हों ही, किन्तु संसार में एक अद्भुत साम्य का प्रचार भी हो, जिसकी अब तक संसार के लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। जहाँ प्रतिद्वन्द्विता के भाव प्रबल हैं, वहाँ मानवीय शक्ति भी नहीं, पशु-शक्ति काम करती है, चाहे कितने ही बड़े-बड़े शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति वहाँ की जाये। मानवीय प्राथमिक शक्ति का विकास ही कार्य की शक्ति है। धर्म के अनुकूल चलकर शक्ति को विकसित करना, यही शास्त्रीय शिक्षा है। पर आज इसके प्रमाण बहुत ही कम रह गये हैं। पाशविक वृत्तियों की प्रबलता मानवीय वृत्ति को, जिसे प्रवृत्ति कहते हैं, दबाये हुए है। युग-धर्म ही कुछ ऐसा बन रहा है कि प्रवृत्तिमूलक बातें अत्यन्त रुचिकर मालूम देती हैं यद्यपि उनसे पतन के सिवा एक इंच भी उत्थान की गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि समाज के विवेक की तुला टूट गयी है। बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे, सब मनुष्य, सब सम्प्रदाय अन्धानुसरण को ही सनातन-धर्म या अपना सच्चा मज़हब समझ रहे हैं। उधर विज्ञान के प्रकाश ने वहाँ के मनुष्यों के हृदय से यह विश्वास ही दूर कर दिया है कि ईसा को भजोगे, तो डूबते वक्त पानी में आप ही जमीन बन जायेगी। वहाँ नास्तिकता का राज्य है, यहाँ अन्धानुकरण का। संसार की अशान्ति इस तरह कब दूर हो सकती है? मोटर, रेल, तार, जहाज, मैशीनगन, ऐरोप्लेन, टारपेडो, मेन ऑफ् वार और तीस मील की चाँदमारी करनेवाली तोपें, बम, तरह-तरह की विषैली बारूदें हजारहा मैशीनें, ये सब अभाव ही की आग भड़कानेवाले हैं; इनसे कुछ मनुष्यता की प्राप्ति नहीं होती। यूरोप में जो दो-चार मनीषी मनुष्यता के तत्त्व को समझकर उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं, उन्हें वहाँ की गवर्नमेण्ट से तिरस्कार ही मिलता रहता है। प्रभुता स्वयं अनिष्टकर है, इसलिए विभूतिपाद के आचार्यगण मनुष्यता के दायरे से सदा ही निकाले हुए रहे हैं। मनुष्यता किसी कीमत से नहीं मिलती। वह तो एक प्रकार की शिक्षा है, जिस पर अभ्यास दृढ़ हो जाने पर मनुष्य, मनुष्य कहलाता है। भारत की राष्ट्रोन्नति के लिए जो अनेक प्रकार की चर्चाएँ सुनने में आती हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यहाँ लोगों की आँखों में यूरोप का ही चश्मा लगा हुआ होता है, और वे बेचारे झूठ बोलकर जिन्दगी-की-जिन्दगी पार कर देनेवाले भारतवर्ष के वकील-लीडर यह क्या जानें कि यहाँ की शिक्षा किस रंग की चिड़िया थी? भारतवर्ष में जो सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह शिक्षा की है। हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध के भाव दूर करने के लिए चाहिए कि दोनों को दोनों के उत्कर्ष का पूर्ण रीति से ज्ञान कराया जाये। परस्पर के सामाजिक व्यवहारों में दोनों शरीक हों, दोनों एक-दूसरे की सभ्यता को पढ़ें और सीखें। फिर जिस तरह भाषा में मुसलमानों के चिह्न रह गये हैं, और उन्हें अपना कहते हुए अब किसी भी हिन्दू को संकोच नहीं होता, उसी तरह मुसलमानों को भी आगे चलकर एक ही ज्ञान से प्रसूत समझकर अपने ही शरीर का एक अंग कहते हुए हिन्दुओं को संकोच न होगा। इसके बिना, दृढ़ बन्धुत्व के बिना, दोनों की गुलामी के पाश कट नहीं सकते, खासकर ऐसे समय जबकि फूट डालना शासन

का प्रधान सूत्र है ।

हिन्दुओं की जो मानसिक स्थिति पहले थी, वह मुसलमानों के आक्रमण-काल तक नहीं थी । पंच-देवताओं की उपासना में पड़े हुए हिन्दू द्वैतवादी हो रहे थे । यों तो भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति भगवान् बुद्ध से पहले ही बिगड़ गयी थी । बुद्ध के आने के बाद कुछ सुधरी, और यही कारण है कि बुद्ध-काल में कला के विस्तार के साथ-ही-साथ भारत की शासन-शृंखला भी सुदृढ़ हो गयी थी। भगवान् शंकर के आविर्भाव के पश्चात् भी भारतवर्ष की कुछ अच्छी अवस्था थी । पर देश सब तरह से मानसिक दुर्बल हो रहा था । वह शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद की धारणा करने में समर्थ नहीं रहा । उसे एक ऐसे धर्म की जरूरत पड़ी, जो सरस हो, और गृहस्थों के सामने त्याग का महान् आदर्श न रख उन्हें कोई प्रेम तथा पूजा का मार्ग बतलाये । मनुष्यों के मन के अनुकूल धर्म का भी उद्‌भव हो जाता है। भगवान् रामानुज ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया । इसमें ईश्वर और संसार, दोनों रहे । अद्वैत की सूक्ष्म छान-बीन नहीं रही । किन्तु रस से भरा हुआ एक दूसरा ही प्रेम-धर्म लोगों के सामने आया । चूँकि साधारण मनुष्य जन्म से ही मूर्तिप्रेमी हुआ करता है, और संसार के अस्तित्व पर विश्वास रखता है, इसलिए यह विशिष्टा-द्वैतवाद उस समय के लोगों को बहुत पसन्द आया । भारतवर्ष में आज भी अधिकांश मनुष्य इसी सम्प्रदाय की शाखा-प्रशाखाओं में शामिल हैं । परन्तु मूर्ति स्वयं समीम होती है, इसलिए उसके उपासक भी, समीम होने के कारण, भाव तथा क्रिया की भूमि में छोटे ही होते गये । महाभारत के समय से लेकर कई बार महापुरुषों ने भारतवर्ष को गिरने से रोकने की चेष्टाएँ कीं; पर स्वाभाविक गति में कोई रुकावट हो नहीं सकती । जिस हद तक इस देश को गिरकर पहुँचना था, उस अवश्यम्भावी परिणाम को कौन रोकता ? वह गिरता ही गया । उधर दीन-इस्लाम की नयी रोशनी अद्वैतवाद से भरी हुई फैली। उसका वह नवीन वेग कोई भी देश नहीं रोक सका । भारत भी जिस मानसिक अवस्था को प्राप्त था, उसके लिए हारना स्वाभाविक ही था । वह हारा । किसी भी बृहत् तथा व्यापक वस्तु या धर्म से कोई भी ससीम वस्तु या धर्म हार जाता है । ससीम हो रहने के कारण भारत की शक्ति भी खण्डशः हो रही थी । मुसलमानों की संगठित तलवारों की चोट से भारत का स्वाधीन दम्भ चूर-चूर हो गया ।

हिन्दुओं के साथ मुसलमानों का यह प्रथम सम्बन्ध हुआ जेता और विजित के भावों से । वे शासन भी करने लगे । उस समय के संगठित मुट्ठी-भर मुसलमान किस तरह आतंक की तरह तमाम भारतवर्ष में फैल गये, यह पढ़कर आश्चर्य होता है । उनकी दक्षता, उनकी कार्यपटुता के प्रभाव से राजपूत शक्ति ने भी उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया । जहाँ देखिए, जिस प्रान्त में देखिए, मुसलमानों का ही शासनाधिकार हो गया । पठानों के बाद मुग़ल आये । ऐयाशी में पड़कर पठान दुर्बल हुए, और उसी ऐयाशी ने मुग़ल-बादशाहत को बरबाद कर दिया । खैर, मुसलमानों के वे भाव, जो पहले से हिन्दुओं के प्रति थे, अब भी ज्यों-के-त्यों ही रह गये, और यह स्वाभाविक भी है । अभी उस दिन तक यह प्रचार किया जाता था कि एक मुसलमान 50 हिन्दुओं के लिए काफी है । और, यह सब हिन्दुओं की ही

कमजोरी है। इस समय कुछ को छोड़कर प्रायः सभी हिन्दू क्षुद्रतम सीमा में बँधे हुए हैं। यही कारण है कि देश शताब्दियों के लिए पिछड़ा हुआ नजर आ रहा है। मुसलमान भी अब वे मुसलमान नहीं रहे। एक प्रकार की कट्टरता मूर्खता से मिली हुई रह गयी है। इन दोनों जातियों के सुधार के लिए मनुष्यता की शिक्षा आवश्यक है, जिससे एक-दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर-भाव धारण करें। तब तक यूरोप का वर्तमान धर्म अवश्य ही नष्ट होगा। वहाँ विज्ञान की चर्चा से जिस नास्तिकता का उदय हुआ है, उससे सुफल के ही होने की सम्भावना है। चरम नास्तिकता और चरम आस्तिकता एक ही बात है। शून्य को चाहे कुछ नहीं कह लीजिए या सबकुछ। वह पूर्ण भी है और कुछ भी नहीं। यह आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का रहस्य है। यही कपिल, बुद्ध और नास्तिक दर्शन कहते हैं और यही वेदान्त, गीता और पातंजल आदि आस्तिक दर्शन। यही सबसे ऊँची भूमि है। यहीं हिन्दू और मुसलमान परस्पर मिलते हैं। यूरोप के भौतिक विज्ञानवाद को और एक सीढ़ी चढ़ना है, बस। सब फैसला वही प्रकृति कर देगी, जिसने इतना सब चमत्कार पैदा किया है। फिर ये सब 'यथा पूर्वमकल्पयत्' ही रहेंगे, अन्यथा मनुष्य की जीवन-प्रगति रुकेगी। मशीन के पहिये जितना तेज चलते हैं, आदमी की चाल उतनी ही द्रुत बन्द होती है। इस पर बहुत-कुछ लिखा-पढ़ी हो चुकी है, और होती जा रही है। यही कारण है कि महात्माजी का चर्खावाद यहाँ की अपेक्षा यूरोप के किसानों को अधिक पसन्द आया है, और वे अपने जीवन को अन्नवस्त्रोत्पादन के पश्चात् शुभचिन्तन में लगाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं। जब-तब अनेक प्रकार के वितण्डावाद भारतवर्ष में चक्कर काट रहे हैं, तब तक यदि हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी यथार्थ प्राचीन शिक्षा को प्राप्त कर दबाने या दबनेवाले अपर भावों को त्यागकर आपस में मैत्री स्थापित करके एक-दूसरे के उत्कर्ष को समझने की चेष्टा करें, तो दोनों के लिए उन्नति का रुका हुआ रास्ता निस्सन्देह खुल जायेगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1929। **प्रबन्ध-पद्म** में संकलित]

सुकवि पद्माकर की कविताएँ

भट्ट तिलँगाने को बुंदेलखण्ड वासी नृप,
सुजस प्रकासी पदुमाकर सुनामा हौं।
जोरत कबित्त छन्द छप्पय अनेक भाँति,
संसकृत प्राकृत पढ़े हौं, गुनग्रामा हौं।

हय रथ पालकी गयन्द गृह ग्राम चारु,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं ।
मेरे जान मेरो तुम कान्ह हौ जगतसिह,
तेरे जान तेरो वह विप्र मैं सुदामा हौं ।।

इन पंक्तियों द्वारा सुकवि पद्माकरजी का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। "ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्" लिखकर अपनी प्रतिष्ठा की व्याख्या आप ही करनेवाले महाकवि श्रीहर्ष की तरह इन्होंने भी अपने सनातन धर्म को अपनी इन पंक्तियों में दृढ़ रूपेण धारण कर रक्खा है, नहीं तो शायद हाथी-घोड़े की फिहरिस्त न पेश करते, पर इन्हें तो जगतसिंह की Oiling (तारीफ़) करनी थी, और अधिक प्राप्ति के लिए अत्यन्त दीन बनना था, सो झट ब्राह्मण बन गये हैं। मुझे मालूम है, इसी छन्द में जगतसिंह की जगह, अवध के किसी तअल्लुक़दार का बिलकुल चुस्त बैठता हुआ ऐसा ही पाँच हरूफ़ों का नाम लिखकर एक ज्योतिषीजी काफी इनाम ऐंठ लाये थे; तअल्लुक़दार साहब हिन्दी साहित्य के कहाँ तक ज्ञाता थे, यह तो नहीं मालूम, पर यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि उस समय इस छन्द के ज्योतिषीजी द्वारा ही विरचित होने में किसी को कोई सन्देह नहीं हुआ। यदि कविवर भूषण द्वारा की गयी महाराज शिवाजी की ऐसी तारीफ साहित्य में पायी जाय तो वह खटकती नहीं, महाराज छत्रसाल जातीय साहित्य में प्रशंसा के ही पात्र हैं, पर जब हम "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" पढ़ते हैं, तब किसी तरह भी पण्डितराज के प्रति रुष्ट अपनी भावना को बदल नहीं सकते। इस तरह की कविता करनेवाला कवि, वह चाहे जितना बड़ा प्रतिभाशाली मान लिया जाय, कभी भी कल्पना के मुक्तलोक में विचरण नहीं कर सकता। इनकी दृष्टि में कविता का वह आलोक जिसमें समस्त संसार डूबा हुआ अनेक भावों की कल्लोल-ध्वनि कर रहा है, नहीं भाता। यह मैं मानता हूँ कि उन्होंने उच्चकोटि की कविता की है और प्रत्येक प्रकार के सौन्दर्य तथा भावना का समावेश कर दिखाया है, कहीं-कहीं बहुत ऊँचे भाव भी कह गये हैं; पर मेरा विश्वास है कि यह अब "सूत्रस्येवास्ति मे गतिः" को अक्षर-अक्षर चरितार्थ करता है। प्राचीन ज्ञान-लब्ध सम्मति जितनी बड़ी उनके पास थी, पठित कवित्व, लक्षण-भेद तथा छन्दों आदि का जितना सहारा वे लोग लेते थे, उतनी बड़ी मौलिकता उनमें नहीं थी। करीब-करीब यही हाल अन्य कवियों का भी है। यह मैं मानता हूँ कि उनकी भूमि से वे बहुत बड़े-बड़े कवि ठहरते हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे सब भुजों से विचार करने पर गिर जाते हैं—उनमें एक संस्कारजन्य कृत्रिम कवित्व ही पाया जाता है। इधर पीछे के जमाने में तो अर्थ-लोलुपता से अधिकांश कवियों की दास-मनोवृत्ति का ही परिचय मिलता है। उधर नायिका-भेद वर्णन में कवि लोग मुद्दतों से कमाल हासिल करते आ रहे थे, परवर्ती काल के कवियों ने भी कर दिखाया। पहले के काव्य-पात्र कुछ चरित्रवान होते थे, इससे अश्लील कविता होने पर भी उन पात्रों के चरित्र गुण से कुछ आदर्श की डाँड़ी के टूटी जोतवाले पलड़े की तरह आखिर उसी से लटकती रह जाती थी, पर पीछे जब कृष्ण की ओट में "सुधा सीसी सी" ढरकने लगी, तब कविता के पतन की हद हो गयी। इस तरह काव्य तथा साहित्य के विचारों का

पता लगाकर हम जाति के भी उत्कर्ष और अपकर्ष का अन्दाजा लगा सकते हैं। पर हाँ, यहाँ यह उद्देश नहीं कि इस समय के राष्ट्रीय महाकविजी की 'चिनगारी' कविता में "अब देश को उद्धारिए" पंक्ति जितनी प्रांजल तथा रससिक्त है, व्रज-भाषा की कविता-कामिनी के कण्ठ में उतनी सरसता आयी ही नहीं, न मैं यही कहता हूँ कि इलाचन्द्रजी की "आलस-लालस छाया" पंक्ति में जितनी मौलिकता और कवि-प्रतिभा मिलती है, व्रजभाषावाले उसके लिए तरसते ही रह गये। मेरा मतलब यह कि मानवीय भावनाओं के बने हुए हृदय से कविता की नैसर्गिक ज्योति ज़रा कम निकली है, प्राय: नहीं—क्योंकि हृदय और मस्तिष्क में पराधीनता की बहुत बड़ी छाप थी। "अली कली ही ते फँस्यो आगे कौन हवाल" में कविता की दुर्दशा का भी हाल लिख गया है, जैसे कविता को छन्द, मात्रा, अनुप्रास और रस अलंकारों की दासी बना दिया हो, शब्दों का व्यवसाय किया गया हो और यही अब उस काल के कवियों की तारीफ़ में आता है। "कै कै सबै टलाटली अली चलीं सुख पाय" में सुख तो कुछ है ही नहीं किन्तु अस्वस्थ समाज का ही दृश्य सामने आता है। मानवीय शृंगार में दिव्य ज्योति के दर्शन नहीं होते। हिन्दी की एक प्रशंसनीय कृति 'मिश्रबन्धु विनोद' में पद्माकर का सविस्तार वर्णन लिखा हुआ है। पर इस छोटे से निबन्ध में मैं केवल उनकी कुछ अच्छी कविताओं का रसास्वादन कराके ही पाठकों से अवसर ग्रहण करूँगा। पद्माकर को मैं जहाँ तक समझ सका हूँ, मेरे विचार से उनकी भाषा में प्रांजलता अधिक है। उनका कोई-कोई छन्द अत्यन्त सरस, शृंगार की माया-मरीचिका में बरबस आकर्षित कर लेनेवाला सुन्दर हुआ है। कहीं-कहीं अलंकारों में उनकी अपनी कल्पना देख पड़ती है, जिसका चित्र तथा निर्वाह देखकर उनकी तारीफ़ बिना किये नहीं रहा जाता। शृंगार में यहाँ के कवियों का अधिकांश भाग ऐसा है जिसके मुकाबले में बड़े-बड़े कवि लोहा मान जाते हैं, किसी तरह भी परास्त नहीं कर पाते। पद्माकर का एक कवित्त देखिए—

सुन्दर सुरंग नैन सोभित अनंग रंग,
अंग-अंग फैलत तरंग परिमल के।
बारज के भार सुकुमारि को लचत लंक,
राजै परजंक पर भीतर महल के।
कहै पदुमाकर बिलोकि जन रीझैं जाहि,
अम्बर अमल के सकल जल-थल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के,
सु जात गड़ि पायन बिछौना मखमल के।।

यह पद्माकर का कोई बहुत अच्छा छन्द नहीं, परन्तु फिर भी अनुप्रासों की बहार के साथ-साथ सुकुमारी राज-कुलांगना की नज़ाकत का जैसा चित्र खींचा है, वह प्रशंसनीय है। इसे पढ़कर शेली की ये बन्दिशें याद आ जाती हैं—

"Live a high-born maiden
In a palace tower,
Soothing her love-laden
Soul in Secret hour.

With music Sweet as love, which
overflows her bower."

शेली की नायिका भी बड़े घराने की युवती बालिका है। पद्माकर की राज-कुलांगना महल के भीतर रहती है और शेली की युवती बालिका Palace-tower पर। पद्माकर ने बाहरी उपकरणों तथा नायिका की पद-कोमलता द्वारा अंगों तथा स्वभाव की कोमलता का वर्णन किया है, और शेली की युवती राजकन्या प्यार ही जैसे मधुर संगीत द्वारा अपने प्यार के भार से दबे हुए हृदय को आश्वासन दे रही, शीतल कर रही है। शेली के कुल उपकरण भीतरी हैं। पद्माकर ने शब्दों द्वारा कोमलता को द्योतित किया है और शेली ने संगीत जैसे कोमलता के विषय द्वारा। पद्माकर की कविता में "ल" कार के इसीलिए बहुत अधिक प्रयोग आये हैं, पद्माकर के "सोभित अनंग रंग" तथा "बिलोकि जन रीझैं जाहि" में ज़रा कवि मनोवृत्ति गिर गयी है। पर शेली के "Soul in secret hour" में राज-कन्या के स्वभाव की कोमलता के साथ-साथ पवित्रता का भी बोध करा दिया गया है। उधर "Skylark" का रूपक भी सार्थक हो गया है।

जाहिरैं जागत सी जमुना जब बूड़ैं वहै उमहै वह बेनी।
त्यों पदुमाकर हीर के हारन गंग तरंगन को सुख देनी॥
पायन के रंग सों रँगि जात सी भाँतिहि भाँति सरस्वति सेनी।
पैरैं जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तँह ताल में होत त्रिवेनी॥

नायिका के तैरने से ताल में जो त्रिवेणी सुकवि पद्माकर ने दिखायी है, निहायत सुन्दर है। इनकी भाषा में भी बड़ी कोमलता है। बाला के तैरने का सौन्दर्य मन को मुग्ध कर लेता है। पन्तजी की नायिका लहर भी इसी तरह तैरती है, फ़र्क इतना ही है कि पद्माकर में भारतीय माधुर्य है और पन्तजी में पाश्चात्य उज्ज्वलता।

"चला मीन-दृग चारों कोर,
गह गह चंचल ग्रंचल छोर,
रुचिर रुपहरे पंख पसार,
अरी वारि की परी किशोर,
तुम जल-थल में अनिलाकार,
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहुरूप विहार!"

"ग्रे अलि या बलि के अधरानि में,
आनि चढ़ी कछु माधुरई सी।
ज्यों पदुमाकर माधुरी त्यों कुच,
दोउन की चढ़ती उनई सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितम्ब चढ़े,
कुछ ज्यों ही नितम्ब त्यों चातुरई सी।
जानी न ऐसी चढ़ाचढ़ी में
केहि धौं कटि बीच ही लूटि लई सी॥"

बालिका के नव-यौवनागम में चारों ओर से यौवन-राज के सिपाहियों की चढ़ाई होती है। और ऐसे अवसर पर किसी वस्तु का लुट जाना बहुत ही स्वाभाविक है। अतः युवती नायिका की कटि लूट ली गयी। विद्यापति की यौवन-सन्धि में ये भाव मिलते हैं और यों तो करीब-करीब सभी शृंगारी कवियों ने इस किशोर-काल की आकर्षक वर्णना की है।

"शैशव यौवन दुहुँ मिलि गेल।
श्रवनक पथ दुहुँ लोचन लेल॥
लहु लहु चातुरी लहु लहु हास।
धरनिमँ चाँद करए परकास॥
× × ×
दिन दिन पयोधर भै गेल पीन।
बाढ़ल नितम्ब माझ मेल खीन।" —विद्यापति

"आरत सों आरत सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै पदमाकर सुगन्ध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजें वार हीरन के हार पर।
छाजत छबीली छिति छहरि छरा की छोर,
भोर उठि आयी केलि-मन्दिर दुवार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।"

सुबह के वक्त विपर्यस्तवसना नायिका के द्वार पर खड़े होने का चित्र बड़ा अच्छा दिखलाया गया है। गोविन्ददास की "कवरी भार मुक्त हारावलि" की याद आ जाती है और रवीन्द्रनाथ की सुबह को देर से उठी नायिका की वर्णना—

"केनो यामिनी ना जेते जागाए ना नाथ,
बेला होलो, मरी लाजे।
सरमे जड़ित चरणे
केमने चलिब पथेर माझे॥
× × ×
आयी ओ आकुल कवरी आवरी,
केमने जाइब काजे।
"कवरी खसिया खुलिछे"
"नामे सन्ध्या तन्द्रालसा
सोनार आँचल खसा"
"पुरबे आँधार वेणी पड़े खुलि
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
सोनार आँचल तार",
"प्राते कखन देवीर वेशे
तुमि सुमुखे उदिले हेसे।"

आदि-आदि की एक साथ ही याद आ जाती है। उधर विद्या की सुप्तोत्थित छबि की झलक आ गयी है—

"अप्यापि तां कनक-चम्पक—दाम-गौरीं,
फुल्लारविन्द-नयनां तनु-रोमराजिम्।
सुप्तोत्थितां मदन-विह्वलिता लसाङ्गीं,
विद्या प्रमाद गलितामिव चिन्तयामि।।"

पद्माकर ने एक छन्द में प्रेयसी की भावना में पवित्र प्रेम की अच्छी पंक्तियाँ लिखी हैं—

"प्रीतम के संग ही उमड़ि उड़ि जैबे को,
न एती अंग अंगन परंद पखियाँ दई।
कहै पदुमाकर जे आरती उतारैं,
चौंर ढारैं स्रम हारैं पै न ऐसी सखियाँ दई।
देखि दृगं द्वै ही सों न नेकहू अघैए इन,
ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ दई।
कीजै कहा राम स्याम आनन बिलोकिबे को,
बिरचि बिरंचि न अनन्त अँखियाँ दई।।"

एक जगह एक चित्र होली खेलकर घर आयी हुई नायिका का चूनरी निचोड़ते समय का अच्छा आया है—

"आई खेलि होरी धरैं नवल किसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगन्धन झकोरै है।
कहै पदुमाकर इकन्त चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन के फन्द बन्द छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सु ऊरुन दुबीचे दाबि,
आँगिहू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दन्तन अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पचौवर कै चूनरी निचोरै है।"

"लै पट जीतम के पहिरै पहिराइ पियै चुनि चूनरि खासी।
त्यों 'पदुमाकर' साँझ ही ते सिगरी निसि केलि कला परकासी।
फूलत फूल गुलाबन के चटकाहट चौंकि चकी चपला सी।
कान्ह के कानन आँगुरी नाइ रही लिपटाइ लवंग लता सी।।"

यहाँ नायिका की जैसी रति-दृढ़ता दिखलायी है, उसके लिए क्या कहना है—

"अधिक झकोर होत मेघन की द्रुमतर छिन बिलमावत।
वे हँसि ओट करत पीताम्बर ये चुनरी ओढ़ावत।।
भीजत कुंजन तें द्वउ आवत।।"

अथवा—

"द्वउ मुख चूमइ द्वउ कर कोर।
द्वउ परिरम्भन द्वउ भयो भोर।।"

या— "आध आध अंगन मिल्यो, सखि जब राधा कान्ह।
अर्द्ध भाल सीस देखिए, अर्द्ध भाल छबि भान॥"

"लख सखि राधा माधव संग।
दुहूँ मिलत आनन्द बढ़ो मन
द्वउ मन चढ़ो अनंग॥
द्वउ कर परसत पुलक द्वऊ तन,
दोउन अधफुट बोल।
नीलमनिहिं कंचन मेंट्यो जनु
तोलत लोचन मोल॥"

एक छल पद्माकर ने अच्छा दिखलाया है। ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के बीच में रहकर छल से नायक दोनों को खुश कर रहा है—

"दोऊ छबि छाजति छबीली मिली आसन पै,
जिन्हिं बिलोकि रह्यो जात न ज़ितै जितै।
कहै पदुमाकर पिछैं हैं आइ आदर सों,
छलिया छबीली छैल वासर बितै बितै।
मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सुदृग मिचाउनी कै ख्यालन हितै हितै।
नेसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धन्य दूसरी को,
औचक अचूक मुख-चूमत चितै चितै।"

भावना भी कहीं-कहीं बहुत अच्छी तरह खुल पड़ी है—

"जब लौं घर को धनी आवै धरै तब लौं तौ कहूँ चित दैबौ करौ।
पदुमाकर ये बछरा अपने बछरान के संग चैरवो करौ।
अरु औरन के घर ते हम सों तुम दूनी दुहावनी लैबो करौ।
नित साँझ सबेरे हमारी हहा हरि गैया भला दुहि जैबो करौ॥"

नायिका ने आरजू मिन्नत भी की है, संकेत भी किया है, कि मकान-मालिक घर पर नहीं है, दूनी मिहनत भी देने के लिए कहा है और अपने हृदय की जलती हुई वियोगाग्नि को मिलन के जल से शीतल कर जाने की मौन प्रार्थना भी की है।

"पूरे अँसुवान को रह्यो जो पूरि आँखिन में,
चाहत बह्यो पै बढ़ि बाहरै बहै नहीं।
कहै पदुमाकर सुधोखे हू तमाल तरु।
चाहत गह्योई पै ह्वै गहब गहै नहीं।
काँपि कदली लौं या अली को अवलम्ब कहूँ,
चाहत लह्यो पै लोक-लाजन लहै नहीं।
कन्त न मिले को दुख दारुन अनन्त पाय,
चाहति कह्यो पै कछु काहू सों कहै नहीं।"

"कहहू ते कछु दुख घटि होई।
काहि कहौं यह जान न कोई॥"—

का ही भाव पद्माकर के इस छन्द में प्रकट हुआ है। भाव संयत और पाक है। "चाहति कह्यो पै कछु काहू सों कहै नहीं" से हृदय की विदग्धता खूब खुल पड़ी है। कोई समझनेवाली है ही नहीं, सब हँसनेवाली ही हैं, इसलिए अपने आँसुओं के घूंट आप ही एकान्त में पी जाया करती है। इस दुःखातिरेक की अवस्था में सहृदय पाठकों की सहानुभूति इस नायिका को अवश्य मिल जाती है।

अपने काल की परिपाटी के अनुसार पद्माकर अपने समय के अच्छे कवि थे। मिश्र-बन्धुओं ने भी इन्हें अच्छा सम्मान दिया है। इनका एक काल ही अलग कर रक्खा है, इससे जान पड़ता है कि ये अपने उस काल के प्रतिष्ठित कवि थे। मुझे इनकी भाषा अधिक पसन्द है। आजकल की भावना तथा कल्पना की सीमा जिस तरह बढ़ी हुई है, कवि होने के लिए जितने बड़े ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, जितना बढ़ा अनुभव तथा अध्ययन चाहिए, मैं जहाँ तक "संसकृत प्राकृत पढ़ें हौं, गुनग्रामा हौं—" ऐसे पद्माकर को समझ सका हूँ, वे इस विचार से बहुत पीछे हैं, परन्तु हाँ, भाषा के मार्जन में अपने समय के बहुत से कवियों से आगे हैं। बहुत जगह पद्माकर अनुप्रास के पीछे पड़कर अर्थ की तरफ़ ज़रा भी खयाल नहीं रखते, यह उनमें एक अक्षम्य अपराध पाया जाता है। उस जगह कविता का भाव ही गायब हो जाता है। यों पद्माकर एक सुकवि अवश्य हैं।

['साहित्य-समालोचक', पद्माकरांक, संख्या 7-9, संवत् 1986 (वि.) (1929 ई.)। असंकलित]

'मनसुखा को उत्तर'

कानपुर के हाल-पैदा-लाल 'मनसुखा' पत्र की चौथी संख्या में श्रीयुत रमाशंकर अवस्थी उर्फ 'मनसुखा' महाशय ने अपनी कलम की नोंक बड़ी बेदर्दी से मेरे हृदय में चुभो दी है। कारण, आपकी समझ में ग़ालिब के एक अर्थ का मैंने वहुत बड़ा अनर्थ कर डाला है।

गत कार्तिक की 'सुधा' में मेरा एक लेख निकला है, 'मुसलमान और हिन्दू कवियों में विचार साम्य।' उसमें एक जगह है—

तेरे सर्वे-क़ामत से एक क़द्दे आदम
क़यामत के फ़ितने को कम देखते हैं।

मैंने इसके नेगेटिव को अफर्मेटिव (ना को हाँ) कर लिया था। भावार्थ के तौर पर, अपने मजमून पर चलते हुए, लिखा था, महाकवि ग़ालिब कयामत को एक आदमी-भर लम्बी बतलाते हैं। 'मनसुखा' महोदय लिखते हैं, 'शायर का मतलब यह है कि कयामत का फ़ितना (उपद्रव) (तेरे माशूक के) सर्व (वृक्ष) ऐसे डील

से एक आदमी की लम्बाई-भर छोटा है।' तो कितना लम्बा हुआ ? अगर आदमी की लम्बाई-भर छोटा है तो आदमी ही-भर लम्बा नहीं ?

मैंने भावार्थ लिया था। उस तरह अर्थ सीधा हो जाता है। कयामत और फ़ितना परस्पर सम्बद्ध हैं, जैसे आग और उसकी गर्मी। 'आदमी-भर लम्बी' द्वारा कयामत ही माशूक में सीमित होती है यानी माशूक की लम्बाई में कयामत नप जाती है—उस अलंकारोक्ति का यही मतलब है। कयामत ही माशूक की चहल-पहल है, इसलिए मैंने कयामत को प्रधान माना है। इसी भाव का साम्य सूरदास की पंक्तियों में इसके बाद ही दिखलाया गया है। यह भी एक उद्देश्य था।

अब आपका भाष्य देखिए—"कयामत माशूक की तरह मूर्तिमान नहीं, इसलिए उसका एक आदमी की ऊँचाई-भर छोटा होना निर्विवाद है।' कैसा तर्क ! आकाश माशूक की तरह मूर्तिमान नहीं, इसलिए उसका एक आदमी की ऊँचाई-भर छोटा होना निर्विवाद होगा ? हवा माशूक की तरह मूर्तिमान नहीं, इसलिए उसका एक आदमी-भर छोटा होना निर्विवाद है ? क्यों, कुछ सूझता है ? अरे अवस्थीजी, आप और फिलासफी ! आपको किसी बहाने मेरी तरफ भूंकना था, सो भूंक चुके। इस तरह आप दूसरों को प्रसन्न कर सकते हों, तो कीजिए, पर मैं कहूँगा, कुछ काटना भी सीखिए, आपने अपने चुभीले शब्दों का भाण्डार बिल्कुल खाली कर दिया है, और कसूर मेरा कुछ भी नहीं; पर खैर मैं मुर्गियाँ नहीं हलाल करता फिरता। यहाँ इतना ही कहूँगा कि वह लेख आप जैसों के लिए नहीं लिखा गया, मैं भैंस के आगे बीन नहीं बजाता। आप पर मैंने कई सफे रँग डाले थे पर आप बेचारे ! मेरे अन्तर के आइने में जितनी आग है, आप में सहने की उतनी ताब है ? मैं अगर हिन्दी के मैदान से खदेड़ा हुआ मनुष्य हूँ, तो राष्ट्रभाषा के स्वयंवर के समय महारथियों के मुकाबिले में अक्षय शब्दास्त्र-शिक्षा के बल पर मत्स्य-लक्ष्य का भेद करनेवाला दूसरा और कौन है ?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930। **चयन** में संकलित]

काव्य-साहित्य

मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुषता तक पहुँचकर शब्द ब्रह्म से उसका संयोग प्रत्यक्ष करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति करार दिया। अन्यान्य देशवालों ने भी तरह-तरह के तरीक़े इख्तियार कर एक अप्रत्यक्ष दिव्य शक्ति को ही काव्य के कारण के रूप से सिद्ध किया। काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर खासतौर से ज़ोर देता हो, तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति

का साधन समझना निरुपद्रव होगा। कारण, अहंकार को घटाकर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह बढ़ाकर भूमा में परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है—जैसा ज्ञानियों ने किया। शंकर, कबीर, रवीन्द्रनाथ, गेटे बढ़नेवालों में हैं और तुलसीदास, सूरदास तथा अपर भक्त कवि आदि अहंकार की भूमि से घटनेवालों में, दोनों जैसे एक ही शक्ति की अणिमा और द्राघिमा विभूति हों। काव्य के विचार के लिए भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि आलोचक के लिए यथेष्ट शस्त्र हैं। विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का।

जिस तरह कवियों पर एकदेशीयता के दोष लगाये जाते हैं, उसी तरह प्रायः अधिकांश आलोचक भी अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते हैं, अपनी ही दिशा के ऊँट बनकर चलते हैं। जैसे, हिन्दी-साहित्य की पृथ्वी पर अब व्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गयी, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवानसि वेदम्' के भक्तों की नजर में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम, 'बेवक्त की शहनाई' के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर बावन जिले के कवि ढेर हो जाते हैं। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों ने नयी जान डाल दी, भाषा का सरल संगत प्रवाह बहा दिया, प्रसादजी की प्रतिभा के सूर्य का मध्याह्न काल हो गया। पन्तजी के 'पल्लव' की परी सोलहवें साल पर कदम रख चुकी पर साहित्य की मंगलाप्रसाद पारितोषिक इन्हें मिला? क्यों नहीं मिला, कारण आप जानते हैं?—आलोचकों की योग्यता!!!

ऐसे आलोचक प्रायः सभी देशों में रहते हैं। हिन्दी तो अभी बालिका है, उसकी इज्जत नहीं की जाती तो न की जाय; समय उसके सेवकों को और बड़ा पुरस्कार देगा। अँगरेजी, जिसके प्रताप का सूर्य कभी ग्रस्त होता ही नहीं, ऐसे सदाशयों से खाली नहीं। टामस हार्डी अभी उस दिन मरे हैं। तब भी साहित्य की पताका इसी तरह आकाश में फहरा रही थी। पर तिरस्कार के प्रति हार्डी कहते हैं—

"Mock on! mock on, yet I'll go pray
To some Great Heart, who happily may
Charm mental miseries away."

[हँसी, मजाक करो, फिर भी मैं किसी महान आत्मा से प्रार्थना करता जाऊँगा जो कदाचित् मानसिक दुःखों को अपनी प्रभा से चकित कर हटा सकती है।]

बंगाल में जब रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की किरणें सत्साहित्यिकों के हृदय के कमलों को खोल रही थीं और सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे थे, उस समय कितना विरोध हुआ था! रवीन्द्रनाथ ने एक पद्य में इसकी कैफियत दी थी। उसमें उनके कवि-हृदय का काव्य-स्रोत ही फूट पड़ा है—

अश्रु झलिछे शिशिरेर मत, पोहाइये दुख-रात!

[ये आँसू हैं, मित्र, (शब्द नहीं) जो ओस-कणों की तरह दुःख की रात पार

कर अब चमक रहे हैं।]

जान कि बन्धु, उठियाछे गीत कतो व्यथा भेद करि।

[हे मित्र, क्या तुम जानते हो, ये गीत कितनी व्यथा पार कर निकले हैं ?]

एक दिन सुमित्रानन्दन को भी आलोचनाओं से घबराकर भवभूति की तरह दृप्त भाषा में लिखना पड़ा था—

न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर मनन, शकुनि नादान !

गोस्वामी तुलसीदास को इन आलोचकों से कम घबराहट न थी !

भाषा भनित मोरि मति थोरी।
हँसिबे लोग हँसे नहिं खोरी॥

ज़रा सोचिए तो, समालोचकों की किस वृत्ति का इन पंक्तियों से परिचय मिलता है। श्रीहर्ष के मामा ने कहा, मैंने काव्य के दोष-दर्शन के लिए व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, तुम्हारे नैषध में सब दोष एकत्र मिल जाते हैं। और यह वह नैषध है, संस्कृत साहित्य में जिसकी जोड़ का दूसरा काल-ग्रन्थ है ही नहीं, जिसके उदय से किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध जैसे महाकाव्यों की प्रभा मन्द पड़ गयी। आलोचकों की कृपा जिन पर नहीं हुई, ऐसे भाग्यवान कवि संसार में थोड़े ही होंगे।

जिन तीन साहित्य-रथियों का मैं जिक्र कर चुका हूँ, प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, और पन्तजी, वे कृति तैयार करनेवाले हैं, उनकी आलोचनाएँ कैसी भी हों, वे आलोचनाओं से पहले हैं, पीछे नहीं। आज भी हिन्दी-साहित्य के व्याकरण की निन्दा होती है, महात्मा गांधी-जैसे श्रेष्ठ मनुष्य का कहना है कि यू. पी. वालों की भाषा ठीक नहीं होती—अगर कोई ऐसे हैं, तो महात्माजी को इसका ज्ञान नहीं, पर इससे हिन्दी-साहित्य की प्रगति नहीं रुक रही, और भाषा के व्याकरण पर दोष देनेवालों की दिक्कतें भी, बामुहाविरा हिन्दी लिखनेवाले यू. पी. के बड़े-बड़े साहित्यिकों को, जिन्हें अपर दो-एक साहित्यों के व्याकरण का भी ज्ञान है, मालूम हो जाती हैं। इसके कारण लिखने की यहाँ जगह नहीं। मैं सिर्फ यही कहूँगा कि व्याकरण जिस तरह भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके, यदि उस कृति के फूल खुले हैं और उनमें सुगन्ध है, समालोचक अपना जितना भी जबरदस्त ठाट खड़ा करे, वह कभी टिक नहीं सकता। इसलिए समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए। प्रसादजी की आजकल जैसी आलोचनाएँ निकल रही हैं, उनमें अस्सी फ़ीसदी आलोचना सहानुभूति से रहित और आक्रमण है। पं. रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलानेवालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा-समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुन्तला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है।

फूल का मुख्य गुण है उनकी सुगन्ध, कृति का मुख्य गुण उसकी रोचकता। पर जिस तरह चीनियों को घी में बदबू मिलती है और सोड़े में डुबोकर जीते हुए

'तिलचट्टे' खाने में स्वाद, उसी तरह यदि पूर्वोक्त-जैसे कृतिकारों की रचनाएँ किसी को रुचिकर प्रतीत न हों और गुणों की गणना से दोषों की ही संख्या बढ़ रही हो, तो सन्देह उन्हीं की रुचि-योग्यता पर होगा, जो एक हिन्दुस्थानी चीज को अँगरेजी 'चीज़' (Cheese = पनीर) बना डालते हैं। (कहते हैं, जिस पनीर में कीड़े पड़ जाते हैं—सड़कर बदबू आने लगती है, वह खाने में ज्यादा स्वाददार समझी जाती है, कारण, कीड़े कुछ मीठे होते हैं।) दूसरा कारण यह भी है कि 'उग्र'जी की कृति पढ़कर समालोचक अपनी आलोचना की तोप में बर्नार्डशा, डी. एल्. राय और रोमा रोलाँ को भरकर दागते हैं। 'उग्र'जी भी बर्नार्डशा होते यदि आपका समाज अँगरेजों की तरह शिक्षा तथा सभ्यता की उतनी ही सीढ़ियाँ तय किये हुए होता। रही बात योग्यता की, सो 'उग्र'जी की योग्यता का पता लगाने के पहले बर्नार्डशा की ही योग्यता का पता लगाकर बतलाइए कि वह किस विश्वविद्यालय से Ph-D. होकर निकले हैं, जो यह फिलासफी छाँट रहे हैं, और कहाँ वह साहित्य के डाक्टर हैं, जो नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर लिया। जैसे उनके लिए अँगरेजी सुगम है, वैसे ही 'उग्र'जी के लिए हिन्दी; उनके अँगरेजी के चित्र, अँगरेजी-समाज के परिचायक हैं, 'उग्र'जी के हिन्दी के चित्र हिन्दी-समाज के परिचायक। आपको अच्छा न लगे, तो चीन या विलायत चले जाइए, यहाँ क्यों व्यर्थ घी की बदबू में सड़ रहे हैं?

कृतिकार कहाँ से सौन्दर्य, सत्य और भावना पाता है, यह भारतीयों के स्वर से कण्ठ मिलाकर राबर्ट ब्रिजेज ने कहा है—

"Thy work with beauty crown, thy life with love;
Thy mind with truth uplift to God above:
For whom all is, from whom was all begun,
In whom all Beauty, Truth, and Love are one."

[तुम्हारी कृति सौन्दर्य-किरीटिनी हो, तुम्हारा जीवन सप्रेम; तुम्हारा मन सत्य के साथ ऊपर ईश्वर तक चढ़ा हुआ हो; जिसके लिए ही सबकुछ है, जिससे सब शुरू हुआ है, जिसमें सब सौन्दर्य, सत्य और प्रेम एक है।]

सत्य या ईश्वर का ही वह रंग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है। अनेक प्राणों में एक ही प्रकार की सहानुभूति, एक ही मधुर राग बज उठता है। ब्रिजेज के ये भाव भारत के हृदय में चिरन्तन सत्य की प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इन पंक्तियों में सत्य का जो सूत्र है, उससे भारत और इंगलैण्ड बँधा हुआ है। दोनों आत्माएँ एक हैं, जातिगत कोई भी वैषम्य यहाँ नहीं।

प्रिया के चित्र को कितनी खूबसूरती से कविवर विलियम् शेक्सपियर खींचते हैं! देखिए—

"Mine eye hath play'd the painter, and hath stell'd
Thy beauty's form in table of my heart:
My body is the frame wherein 'tis held,
And perspective it is best painter's art.

For through the painter must you see his skill,
To find where your true image pictur'd lies,
Which in my bosom's shop is hanging still,
That hath his windows glazed with thine eyes.
Now see what good turns eyes for eyes have done:
Mine eyes have drawn thy shape, and thine for me
Are windows to my breast.'

[मेरी आँखों ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौन्दर्य की तस्वीर मेरे हृदय की मेज पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अन्दर वह रक्खी है। शीशे के अन्दर से देख पड़ती हुई-सी वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार की कला है; क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्ति खिची हुई रखी है। वह तस्वीर मेरे हृदय की दूकान में निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के झरोखे तुम्हारी हेरती हुई आँखें हैं। अब देखो कि आँखों ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आँखों ने तुम्हारी तस्वीर खींच ली, और तुम्हारी आँखें मेरे लिए हृदय की खिड़कियाँ हैं।] कितना कमाल है!

लोचन-मगु रामहिं उर आनी।
दीन्हें पलक-कपाट सयानी।

में स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बड़ा सौन्दर्य अवश्य नहीं। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो-एक कारण—जैसे मेज का उल्लेख है—हटा दिये जायँ, तो किसी भारतीय के लिए अपनी चीज कहने में कोई असुविधा हो सकती है? इस प्रकार की एक उक्ति और याद आयी—

नैन झरोखे बैठि कै, सबको मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय।

भावों की उच्चता पर कुछ भी नहीं कहना, पर कला की जो खूबसूरती शेक्सपियर में है, वह इसमें भी नहीं। इस तरह के भाव—

तेरे नैनन-झरोखे बीच झाँकता सो कौन है

अनेक लड़ियों में गुँथे हुए मिलते हैं। हिन्दी में कहीं मैंने शेक्सपियर की-सी उक्ति पढ़ी है, मुझे स्मरण नहीं। प्रिया और प्रियतम के स्नेह का आदान-प्रदान इस तरह की उक्तियों से बढ़ा दिया जाता है, इसलिए सांसारिक दृष्टि से इस कला को बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त है।

"I fear thy kisses, gentle maiden;
Thou needest not fear mine;
My spirit is too deeply laden
Ever to burden thine.
I fear thy mien, thy tones, the motion;
Thou needest not fear mine;
Innocent is the heart's devotion
With which I worship thine."

—P. B. Shelley

[हे धीर कुमारी, मुझे तुम्हारे चुम्बनों से भय है, पर तुम्हें मेरे चुम्बनों से नहीं घबराना चाहिए, क्योंकि मेरी शक्ति इतनी दबी हुई है कि वह तुम्हारी शक्ति का भार नहीं सँभाल सकती। मैं तुम्हारी छवि, वाणी और गति से डरता हूँ, पर तुम्हें मेरी चेष्टाओं से नहीं डरना चाहिए; क्यों? हृदय के जिस अर्घ्य से मैं तुम्हें पूजता हूँ, वह निर्दोष है।]

शेली की इन पंक्तियों में, कविता-कुमारी की साधना कर वह कितना कोमल बन गया था, इसका प्रमाण मिल जाता है। प्रायः कवियों को हम कुमारियों की पूजार्चना करते हुए, अनेक प्रकार की स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करते हुए देखते हैं। पर शेली अपनी सुन्दरी कुमारी की छवि, शब्द तथा गति से भी डरता है, जैसे कुमारी की गति से उसी के सुकुमार प्राण काँप उठते हों—इतनी कोमलता!

कल्पनामय शब्दों में प्राञ्जल रवीन्द्रनाथ—

अलख निरंजन—महारव उठे बन्धन टुटे, करे भय भंजन।
वक्षेर पाशे घन उल्लासे असि बाजे झंझन।
पंजाब आजि उठिले गरजि—'अलख निरंजन'।
एसेछे से एक दिन, लक्ष पराणे शंका ना जाने, न राखे काहारो ऋण।
जीवन मृत्यु पायेर भृत्य, चित्त भावनाहीन।
पंचनदीर घिरि दश तीर एसेछे से एक दिन।
दिल्ली-प्रासाद-कूटे होथा बार-बार बादशाहजादार तंद्रा जेतेछे छुटे।
कादेर कण्ठे गगन मन्थे निविड निशीथ टुटे।
कादेर मशाले आकाशेर भाले, आगुर जेसेछे फुटे।

['अलख निरंजन'—महान रव उठता, बन्धन टूट जाते, भय दूर हो जाता है। कटि में सोल्लास असि झन-झन बज रही है। आज पंजाब 'अलख निरंजन' गरज उठा। वह भी एक दिन था, जब लाखों प्राण शंका नहीं जानते थे। किसी का ऋण नहीं रखते थे। जीवन और मृत्यु पैरों के भृत्य-से थे, चित्त चिन्ता से रहित। पाँचों नदियों के दसों तट घेरकर वह भी एक दिन आया था। दिल्ली के प्रासाद-कोट में बार-बार बादशाजादे की आँख खुल रही है। आधी रात के स्तब्ध आकाश को मथता हुआ यह किनका कण्ठ है? आकाश के भाल पर फूटती हुई यह किनके मशालों की आग है?]

कल्पना, चित्रण तथा ओज एक ही पद्य में मिल जाता है, पढ़कर हृदय की काव्य-तृष्णा मिट जाती है। हिन्दी में यदि चारों ओर से परकोटा घेरकर अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावराशि रोक रक्खी गयी, तो इस व्यापक साहित्य के युग में हिन्दी के भाग्य किसी तरह भी नहीं चमक सकते, और उसके साहित्य में महाकवि तथा बड़े-बड़े साहित्यिकों के आने की जगह, चिरकाल तक 'बनी रहे—ठनी रह' होता रहेगा। पुराना साहित्य हिन्दी का बहुत अच्छा था, पर नया और अच्छा होगा, इस दृष्टि से उसकी साधना की जायगी। पुराने साहित्य का जितना दायरा था, नये का उससे बहुत अधिक बढ़ गया है। जो लोग व्रजभाषा के प्रेमी हैं, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिन्दी की नवीन संस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिन्दी की नवीन कृतियों को

नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्राय: व्रजभाषा की श्रेष्ठता जाहिर करने के लिए, तब उनकी इस रुचि की वजह से उन्हें प्रयत्न करके साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए। उनके द्वारा साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। वे तो सिर्फ मनोरंजन के लिए काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तरदायित्व को लेकर नहीं। उनकी आँखों में दूर तक फैली हुई निगाह नहीं है। वे अपने ही घर को संसार की हद समझते हैं। साहित्यिक प्रतिस्पर्धा क्या है, अपने व्यक्तित्व को साहित्य के भीतर से एक साहित्यिक किस प्रकार बढ़ा सकता है, अपर साहित्यों से भावों के आदान-प्रदान के लिए कैसी शिष्टता, कितनी उदारता होनी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृतिगत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन से भाव सार्वजनीन और कौन-से एकदेशीय हैं, उन्हें पता नहीं। चिरकाल से एक ही समाज के चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गयी है, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रक्खी जाती है तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दोहाई लेकर उसके देशनिकाले पर तुले जाते हैं। पर यदि इनसे पूछा जाता है कि वे किसी भी एक कायदे का बयान करें, जो उनकी चिरन्तन भारतीय संस्कृति हो और जिस ढंग की संस्कृति दूसरे देशों में न हो, तो महाशयगण उत्तर देने की जगह दुश्मन की तरह देखने लगते हैं। कोट के सामने आधुनिक मिर्जई की प्राचीनता-भक्ति की तरह उसके पहनने वाले यदि विचारपूर्वक देखेंगे, तो मिर्जई भी उनकी सनातन पोशाक न ठहरेगी। एक बार बनारस में अपनी गुर्जरी पवित्रता की व्याख्या करते हुए मेरे एक मित्र ने कहा, हम लोग पीताम्बर पहनकर खाते हैं। इस बीसवीं सदी में उनका पीताम्बर-धर दिव्य-रूप आँखों के सामने आया तो बड़ी मुश्किल से हँसी को रोकना पड़ा, जैसे आजकल के वकीलों का झब्बा देखकर अकस्मात् जटायु की याद आ जाती है। मैंने मन-ही-मन कहा, पहले के आदमी पीताम्बर पहनकर भोजन करते थे या दिगम्बर होकर, यह सब बतलाना बहुत कठिन है। पर अगर ज़रा अक्ल का सहारा लिया जाय, तो दिगम्बर रहना ही विशेष रूप से सनातन धर्म जान पड़ता है, कारण सनातन पुरुष के बहुत बाद ही कपड़े का आविष्कार हुआ होगा, और इस प्रथा को माननेवाले सिद्ध नागे महाराजों की इस समय भी कमी नहीं। अस्तु, अभिप्राय यह कि भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता तथा सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को कायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातन धर्म व्याप्ति है भी।

देखने के लिए जो दो-चार उद्धरण दिये गये हैं, उनमें उच्चतम वेदान्त-वाक्य से लेकर श्रृंगार के अत्यन्त आधुनिक चित्र तक हैं, पर वे अभारतीय होकर भी भारतीय हैं। कारण, उनमें प्रकाश तथा जीवन है। जो भाव या चित्र किसी देश की विशेषता सूचित करते हैं, वे उतने अंश में एकदेशीय हैं। पर जहाँ मनुष्य-मन के आदान-प्रदान हैं, वहाँ वह व्यापक साहित्य ही है। सिर्फ उसके उपकरण अलग-अलग होते हैं। शेक्सपियर की नायिकाओं के परिच्छेद एकदेशीय हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा, प्यार, भाव व्यापक हैं। पश्चिम के लिए जिस तरह यहाँ के भावों

की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग यहाँ वालों के लिए जरूरी है । इस समय वहाँ वालों का खूनी प्रेम भी शक्ति-संचार के लिए यहाँ आवश्यक-सा हो गया है । यह है आसुरी, राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं में राक्षस ही प्रबल होकर बल पहुँचाते हैं, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते । हिन्दी के भारतीय लोगों ने तुलसी की कथा पढ़ी होगी । यहाँ के साहित्य में मद्य-पान बहुत कम है, पर वेदों में मादक सोमरस की जैसी महिमा है प्रायः सभी लोग जानते हैं; और मद्य के प्रचार का कहना क्या ? जिस गुजरात में अब ताड़ी के पेड़ कट रहे हैं, वहीं द्वापर में अवतार-श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी के वंशज यादवों ने शराब पीकर एक ही दिन में अपना संहार कर लिया था । शायद शराब का ऐसा रोचक इतिहास मद्यपयोरप भी नहीं दे सकता । शराब अच्छी भी है, और बुरी भी अवश्य । यहाँ मैं देशप्रेम की बातें नहीं कर रहा । साहित्य की शराब मुझे तो अत्यन्त रुचिकर जान पड़ती है और बिना विचार के इसे भारतीय कर लेने की इच्छा होती है । किसी मुसलमान विद्वान् ने कहा था, योरप शराब से डूबा हुआ है, पर कहीं के धर्म से भी शराब की तारीफ न करने-वाले एशिया ने शराब की कविताओं से योरप को मात कर दिया । शराब से सख्त नफरत करनेवाले कितने ही पण्डितों को मैं जानता हूँ, जिन्हें दवा के रूप से ब्राण्डी दी गयी और वे विना शिखा हिलाये पी गये । सुना है, यदि दवा के तौर पर प्रति-दिन थोड़ी-सी शराब पी जाय, तो स्वास्थ्य को निहायत फायदा पहुँचाती है । यों तो मैं जानता हूँ, हर खाद्य पेट में पहुँचकर पहले शराब बनता और नशा पहुँचाता है, उसी के रासायनिक अनेक रूप शरीर की जीवनी शक्ति बनते हैं । नशे की नींद के बाद ही जागरण का आनन्द मिलता और जागरण की जरूरत के साथ नींद की भी आवश्यकता सिद्ध होती है । इसी तरह इन दिव्य भारतीयों को कुछ प्रसन्न करने के लिए आसुर शराबी भाव भी आवश्यक हैं । पर देश के साहित्यिक सुधारपन्थी नेतागण अवश्य इसके खिलाफ विद्रोह खड़ा कर मेरी स्त्री की तरह अपनी दिव्यता का परिचय देंगे ।

यहाँ ज़रा अपनी धर्मपत्नीजी की दिव्यता का परिचय दे लूं । खेद है कि अपनी दिव्यता के कारण ही वह इस समय दिव्य-धामवासिनी हो रही हैं । पण्डितों ने मेरा और उनका सम्बन्ध पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं । इसलिए विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति वैसी ही मिली, जैसे पण्डितों की पोथियों के पत्र एक-दूसरे से मिले रहते हैं । वह अखण्ड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज मांस खाता था । उन्होंने मुझे 'विश्राम-सागर', 'पद्य-पुराण', 'शिव-पुराण' और न जाने कौन-कौन-से ग्रन्थ, गुटके और पादटिप्पणियाँ दिखला-कर कहा, इससे बड़ा पाप होता है, तुम मांस खाना छोड़ दो । तब मैं कुछ मूर्ख था, और वह मुझसे हिन्दी में ज्यादा पण्डिता थीं । मांस खाने से कितनी भयंकर सज़ा मिलती है, उसके जो चित्र उन्होंने दिखलाये, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते । कुछ दिनों तक मैंने मांस खाना छोड़ दिया। तब मेरा स्वास्थ्य मुझे छोड़ने लगा । स्वास्थ्य की चिन्ता तो होती थी, पर यमदण्ड के भय के सामने स्वास्थ्य का

विचार न चलता था। मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का उतना भय न था, जितनी प्रसन्नता उन्हें मेरे मांस छोड़कर भारतीय बन जाने की थी। धीरे-धीरे सूखकर काँटा हो गया। एक दिन नहाने के लिए जा रहा था, कुएँ पर मेरे एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले। मुझे देखकर बड़े तअज्जुब में आये, पूछा, 'तुम क्या हो गये?' मैंने कहा, 'मांस छोड़ दिया, इसलिए दुबला हो गया हूँ।' उन्होंने कहा, 'तो मांस क्यों छोड़ा?' मैंने कहा, 'विश्राम-सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसाहारी को यम के दूत बड़ा दण्ड देते हैं।' उन्होंने पूछा, 'तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर?' मैंने सच-सच बतला दिया। उन्होंने कहा, 'तो तुम फिर खाओ, कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको वरदान है।' मैंने पूछा, 'कहीं लिखा भी है?' उन्होंने कहा 'हाँ, है क्यों नहीं? वंशावली में है।'

मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई। पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया। उनसे तो मैंने कुछ भी नहीं कहा, शाम को बाजार से आधा सेर मांस तौला लाया। मकान में लाकर रक्खा, तो श्रीमतीजी दंग। उस समय मेरे घर के और लोग विदेश में थे। श्रीमतीजी रूमाल में खून के धब्बे देखकर समझ गयीं। पूछा, 'यह क्या है?' मैंने कहा, 'मांस।' 'तो क्या फिर खाओगे?' मैंने कहा, 'हाँ, हमें वरदान है।' श्रीमतीजी हँसने लगीं। पूछा, 'कहाँ मिला यह वरदान?' 'हमारे पूर्वजों को मिला है, वंशावली में देख लो, तुम्हें विश्वास न हो।' श्रीमतीजी ने कहा, 'खुद तो पकाते हो ही, अपने मांसवाले बरतन अलग कर लो, और जिस रोज मांस खाओ, उस रोज न मुझे छुओ और न घर के और बरतन और तीन रोज तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे।' मैंने कहा, 'इस समय तो रोज खाने का विचार है क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है।' उन्होंने कहा, 'तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ।' मैंने कहा, 'लिख दो, कोई ले जाय; नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे; मैं जहाँ मांस पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूंगा।' श्रीमतीजी चली गयीं। पत्रा-प्रेम इसी तरह तीन-चार साल कटा। चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके। अन्तिम बार मायके में इंफ्लूयेंज़ा के साल, उन्हें भी इंफ्लूयेंजा हुआ। मैं तब बंगाल में था। मेरे पास तार गया। जब मैं आया, तब महाप्रयाण हो चुका था। कस्बे के डाक्टर मेरे परिचित मित्र थे। उनसे मिला, तो अफसोस करने लगे। कहा, 'फेफड़े कफ से जकड़ गये थे। प्यास ज्यादा थी, मैंने पानी की जगह अखनी पिलाने के लिए कहा, वैसे ही डाक्टरी दवा भी देने के लिए पूछा। उन्होंने इनकार कर दिया। कहा, दस बार नहीं मरना है।' इस दिव्य भावना ने अगर कुछ भी मेरे साथ सहयोग किया होता, तो शायद यह अकाल मृत्यु न हुई होती और जीवन भी कुछ सुखमय रहता। इस तरह साहित्य को जीवित रखने के लिए उसमें अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है, और जब कि अपने-अपने स्थान पर सभी भाव आनन्दप्रद और जीवन पैदा करनेवाले हैं। व्यापक साहित्य किसी खास सम्प्रदाय का साहित्य नहीं। शराब, कबाब, नायिका, निर्जन, साज और संगीत के कवि उमर खैयाम की इज्जत साहित्य-संसार के लोग जानते हैं। ग़ालिब मशहूर शराबी थे। पर उनकी कृति कितनी सुन्दर है। व्यापक भावों के कवि रवीन्द्रनाथ ने भी इससे फायदा उठाया है—

कालि मधु यामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे कुञ्ज कानने सुखे,
फेनिलोच्छल यौवन-सुरा धरेछि तोमार मुखे।
तुमी चेये मोर आँखी परे धीरे पात्र लयेछ करे,
हेसे करियाछ पान चुम्बन भरा सरस बिम्बाधरे।
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे मधुर आवेश-भरे।

[कल वसन्त-ज्योत्स्ना की अर्द्धरात्रि को सुख से बगीचे के कुञ्ज में छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा मैंने तुम्हारे मुख पर रक्खी थी। तुमने मेरी आँखों की ओर देखकर धीरे-से पात्र (प्याला) हाथ में ले लिया, और हँसकर चुम्बनों से खिले हुए सरस बिम्बाधरों से मधुर आवेश में आ पी गयीं।]

यहाँ रवीन्द्रनाथ से एक बड़ी गलती हो गयी है। पहले उन्होंने 'यौवन-सुरा' लिखकर सुरा के यथार्थ भाव में परिवर्तन करना चाहा था। वहाँ उन्होंने तरंगित यौवन को ही सुरा बनाया है। पर अन्त तक नहीं पहुँच सके। क्योंकि अन्त में उनकी प्रिया की जो क्रिया है, वह सुरा पीने की ही है, यौवन-सुरा पीने की नहीं। विदेशी भावों को लेते समय ज़रा होश दुरुस्त रखना चाहिए। मुसलमानी सभ्यता के कवि इस कला में एकच्छत्र सम्राट् हैं। पर एक जगह और रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

दुःख सुखेर लक्ष धाराय पात्र भरिया दियाछि तोमाय
निठुर पीड़ने निगाड़ि वक्ष दलित द्राक्षा सम।

[दुःख और सुख की लाखों धाराओं से मैंने तुम्हारा प्याला भर दिया है— अपने वक्ष को निष्ठुर पीड़नों से दलित द्राक्षा की तरह निचोड़-निचोड़कर।]

'दलित-द्राक्षा' का भाव उमर खैयाम का है। सुरा की कविताओं में मुसलमानों ने कमाल कर दिया कि मयखाने को मसजिद से बढ़कर बतला दिया और पाठकों को पढ़कर आनन्द आता है।

दूर से आये थे साकी सुनके मयख़ाने को हम।
बस तरसते ही चले अफ़सोस पैमाने को हम।

क्या यहाँ मयखाना मन्दिर नहीं ? और पैमाना अमृत का कटोरा ?

मय भी है, मीना भी है, सागर भी है, साकी नहीं।
दिल में आता है लगा दें आग मयखाने में हम।।

यहाँ साकी क्या अमृत पिलानेवाला गुरु नहीं ? इस तरह शराब के लक्ष्य से बड़ी-बड़ी बातें कह दी गयी हैं जिनका किसी भी साहित्य के लिए गर्व हो सकता है। उर्दू-शायरी की काफी निन्दा परवर्ती काल के सुधारकों ने की है। पर यह प्रायः सब लोग मानते हैं कि पहले की शायरी का आनन्द अब दुष्प्राप्य है।

काव्य-साहित्य में लक्ष्य तथा भाव की परीक्षा की जाती है, उपकरणों की नहीं।

किस्मत तो देखिए कि कहाँ टूटी जा कमन्द।
दो-चार हाथ जब कि लबे-बाम रह गया।।

असफलता की कितने सुन्दर सरस ढंग से वर्णना की, सफलता तक पहुँचाकर असफल कर दिया।

हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है। पश्चिमी कवियों के हृदय में पूर्व के लिए अपार सहानुभूति उमड़ चली थी। उनका यही साहित्यिक पौरुष तथा प्रेम आज संसार-भर में फैला हुआ है। ये सत्रहवीं और अठारहवीं सदी की बातें हैं, वर्ड्सवर्थ और उसके मित्र कालरिज (Samuel Tailor) ने पूर्व का वर्णन किया है। इधर दो सौ वर्ष में पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक चमत्कार कहाँ तक पहुँचा है, इसका हिन्दी-भाषियों को भी यथेष्ट ज्ञान है—

"...the Great Moghul, when he
Ere while went forth from Agra to Lahore,
Rajas and Omrahs in his traiu .."

—Wordsworth

लाहौर या आगरे से यात्रा में राजा और उमरावों को लेकर चलते हुए प्रतापी मोगल बादशाह का जिक्र है। इस समय के इंगलैण्ड के कुछ आगे-पीछे होनेवाले कवियों में पूर्व के साथ शेली का प्रगाढ़ प्रेम देख पड़ता है। पूर्व के रहस्यवादियों तथा सन्तों को वह चाव से याद करता है। "Lines to an Indian air", "Revolt of Islam," "Queen Mab" आदि-आदि अनेक कविताएँ, काव्य-नाटक, खण्ड-काव्य हैं, जिनमें शेली ने पूर्व की बड़ी इज्जत की है। ब्रह्म, शिव और बुद्ध भी उसकी कविता में हैं। कीट्स भी पूर्व की छवि से मुग्ध है। भारत का उल्लेख उसने भी किया है। भारत के अमर स्नेह में डूबा हुआ है। पूर्व देशों का इनमें सबसे ज्यादा ज्ञान बायरन को था। उसने तुर्किस्तान की सैर भी की थी और इस तरह काव्य में अपना प्रत्यक्ष अनुभव लिखा है, जिससे उसकी वे रचनाएँ और भी महत्त्व-पूर्ण हो गयी हैं। 'The Corsair" "The Bride of Abydos," "The siege of Corinth" आदि रचनाएँ उसके भ्रमण के ही कारण साहित्य को मिलीं। लीला, जुलेखा आदि उसकी प्रधान पात्रियाँ हैं। नैपोलियन की उसने तैमूर से तुलना की। और भी बहुत कुछ उसने लिखा। टेनीसन ने भी पूर्व पर काव्य लिखे। टेनीसन फ़ारस के सौन्दर्य पर मुग्ध था। परन्तु फिर भी पूर्व पर टेनीसन की बहुत श्रद्धा न थी।

कुछ हो, व्यापक साहित्य की इस प्रकार सृष्टि हुई। गद्य की बातें नहीं लिखी गयीं। यह सब पूर्व के लिए इंगलैण्ड का पद्य-प्रवाह है। पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। धन्य है, हे संस्कृति के बच्चो! —नस-नस में शरारत भरी, हजार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक में दम हो गया, अभी संस्कृति लिये फिरते हैं।

सबसे बड़ी आफत ढहा रहे हैं कुछ साहित्यिक सुधारपन्थी, जो स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकते, दूसरों की कृति पर हमला करके महालेखक बन जाना चाहते हैं। सुधार और प्रोपागांडा से साहित्य मंजिलों दूर है। प्रसादजी की जैसी आलोचना निकली है, जैसा दोष भाषा-क्लिष्टता का बनारसीदासजी ने उन पर लगाया है, वह यदि वास्तव में मनुष्योचित शौर्य तथा पर्यवेक्षण के साथ आलोचनाएँ करते हैं; तो मैं उनसे कहूँगा, आप डी. एल्. राय के ऐतिहासिक नाटकों को पढ़िए, फिर

देखिए, नव साल की बच्ची और दो रुपिट्टी का नौकर गज़-गज़-भर के समस्त पद बोलते हैं या नहीं, और यह देखकर यदि अभी तक आप आँख मूँदकर ही राय महोदय के पीछे-पीछे चलते आये हों, एक वैसा ही नोट जैसा प्रसादजी की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है, उसी लहजे में लिखकर 'माडर्न रिव्यू' में छपवा दीजिए, मैं तभी आपकी इस आलोचना को आपकी मर्यादा के योग्य समझूँगा। अवश्य यहाँ प्रत्यालोचना की जगह नहीं। समय मिला तो अन्यत्र लिखूँगा। पर यह जरूर है कि आलोचकों ने वरदान से प्रसादजी को शाप ही अधिक दिया है, जो एक बहुत बड़े साहित्यिक अन्याय में दाखिल है। आलोचकों ने अपने को जितना बड़ा समझ-दार समझ लिया है, यदि कुछ हद तक प्रसादजी को भी उसी कोटि में रखते, तो इतनी बड़ी त्रुटि न होती।

साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिए मैंने तमाम भावों की एक साथ पूजा करने का समर्थन किया। हिन्दी के साहित्यिकों का अन्याय सीमा को पार कर जाता है। उन्हें अपनी सूझ के सामने दूसरे सूझते ही नहीं। हमें उनकी आँख में उँगली कर-करके समझाना है, और बहुत शीघ्र वैसे संकीर्ण विचारवालों को साहित्य के उत्तरदायी पद से हटाकर अलग कर देना है। तभी साहित्य का नवीन पौधा प्रकाश की ओर बढ़ सकेगा। हमें अपने साहित्य का उद्देश्य सार्वभौमिक करना है, संकीर्ण एकदेशीय नहीं। राष्ट्रभाषा को राष्ट्रभाषा के रूप से सजाना और अलंकृत करना है।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1930। **चाबुक** (आंशिक रूप में) और **चयन** में संकलित]

साहित्य का फूल अपने ही वृन्त पर

कला निष्कलुष है। दुनिया में वह अपना सानी नहीं रखती। साहित्यकार के लिए उसके अपर अंगों के ज्ञान से पहले बोध आवश्यक है। जैसे बीजमन्त्र, उसका अर्थ, पश्चात् अनिन्द्य सुन्दर रूप उसी के फूल की तरह उसके अर्थ के डण्ठल पर खिला हुआ। नया जन्म जिस तरह, एक युग की संचित अनुभूतियाँ अपने भीतर से रूप और भाव पैदा करती हैं; यही युगान्तर की कला है—साहित्य में रस और रूप के प्रवर्तन का दिव्य स्रोत। सूक्ष्मतम विवेचन सनातन को जिस तरह निरस्थिति देता है, उसी तरह कला भी नित्य रहस्य में दाखिल है—अपरिवर्तनीय; पर नये कोंपल, नये फूल, नयी शरत्, नयी आँखें, नयी शशि-स्निग्ध दृष्टि और नयी रोशनी अपने समय के नकाब के भीतर से अचंचल देखती हुई लोगों की नजर बाँध ही लेती है। इसीलिए नित्य-नवीन, चापल्यतल्प, अप्रसंग काम्य, साहित्य की एक ही कल्प-

लता है। जिसे पुरानापन कहते हैं, वह जैसे एक युग तक एक खास तौर की कला पर नजर फेरते हुए अभ्यास के ज़ंग की ही मलिनता हो; फिर जैसे सुबह के सूरज की किरणों से निखरा, शबनम का धुला हुआ नया फूल अकल डाल पर उत्कीर्ण कला का एक नैसर्गिक चुम्बन बन रहा हो। साहित्य की जमीन खिल उठती है।

कला का आकरण-भेद वैसा ही है, जैसा व्याकरण का; जल जड़ हुआ, जड़ जल; ऐसा ही दर्शन-शास्त्र में। महत्त्व सिर्फ सामयिक है। समय का प्रभाव ही एक खास जल को तीर्थ-जड़ और जंगम चेतन बना देता है, जैसे कैलास की अर्धेन्दु-शिखरा कला गंगा को महत्त्व देती, कृष्ण की अखिल 'तत्त्वमसि' कला यमुना को, महाकालेश्वर की पल-त्वरित पद-ताल क्षिप्रा को, अनसूयाजी की पयःस्राविनी तपस्या पयस्विनी को। कला उसी तरह समय के स्वर्ण-घट में प्राण प्राप्त कर पूजक साहित्यिकों की दिव्य दृष्टि बन जाती है, जिससे साहित्य का असामयिक जड़ पिघलकर जल बनकर बह चलता है।

जैसे संगीत में किसी एक रागिनी की प्रधानता नहीं, बंगाली, पूरबी, मुलतानी, गज़ल, कनाडी, तिलंगी, बैरारी, लखनऊ की ठुमरी आदि ऐकदेशिक तथा मिली हुई रागिनियों के सार्वभौम प्रचार के साथ-साथ छहो राग तथा रागिनियाँ सर्वत्र गायी जाती हैं, और अब देश के प्राणों के साथ बिलकुल परिचित की तरह मिल गयी हैं, वैसे ही कला के अपने सामयिक लिबास से पहले-पहल आने पर थोड़े ही-से लोग वह रंग व रूप पहचान सकते हैं; क्योंकि अपने समय की वस्तु का आविष्कार, पूर्व-सूचन, परिचय और समर्थन आदि विज्ञानवेत्ता ही करते हैं। हर रागिनी की जान की तरह सामयिक साहित्यकला की भी एक जान है। जान रागिनी की सच्ची पहचान है, और साहित्यकला की पहचान उसकी व्यापक महत्ता, एक असर जो दिल को खिलाता और हिलाता है, मौसम की तरह, एक खिज़ाँ, दूसरा बहार। दोनों में अलग-अलग स्वर बज रहे हैं।

हर देश की एक खुसूसियत कहलाती है, जो उसकी आबोहवा से मिली होती है। हिन्दोस्तान की जितनी बातें प्राणों से मिली हुई आत्मा बन गयी हैं, वे इस समय उसकी अपनी चीजें कहलाती हैं। अपनी संस्कृति पर हम इसे ही पहले की संस्कृति और अब अभ्यास में बदलती हुई परिणति कहते हैं; यह आत्मा होकर भी आत्मा नहीं, जीर्णता है, भले ही सनातन हो। हम नवीनता को ही यहाँ सनातन कहेंगे। आत्मा पुरानी नहीं होती, चोला पुराना होता है। इस तरह, पकड़ रखने की कोई चीज, कोई संस्कृति नहीं हो सकती, और चोला पकड़ रखने पर भी पकड़ा नहीं रहता। आब और हवा पकड़े नहीं जा सकते। इसलिए देश की आबोहवा या खुसूसियत कोई चीज नहीं हो सकती। स्वामी विवेकानन्दजी इसीलिए हिन्दोस्तान की कोई नस्ल नहीं निकालते—"शून्य भीत पर चित्र रंग बहु, तन बिन लिखा चितेरे" —यही यहाँ की नस्ल है।

आब और हवा हर वक्त नये हैं, यहाँ तक कि कूप-मण्डूक को भी कुएँ के अतल सोते से नया-ही-नया जल मिलता जाता है। हवा रोज ताजी चलती, आसमाँ हर वक्त नये रंग बदलता है। फिर भी लोग संस्कारों के अनुसार की हुई—सोची हुई बातें ही लिखते, चली हुई राहें ही चलते हैं। हम साधारण जन इसे ही अपने साहित्य

की, जो कुछ लिये हुए हैं, उसकी रचना-कल्पनाएँ किया करते हैं। यही हमारा सनातन धर्म है। इसी किये और सोचे हुए में डूबकर चमत्कृति को हम लोगों ने संस्कृति बना लिया है। पर यहाँ जैसे वस्त्रों के बारे में प्रतिलिपि है, चित्र हैं कि बौद्धकाल तक यहाँ सिले हुए कपड़े नहीं बन सकते थे, यह मुसलमानों की दी हुई विभूति है, यद्यपि सूचि-व्यूह से सुई और नौ-विद्या से navigation का होना साहित्य-सम्भव है, अस्तु, उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि कुर्ता, वास्कट, मिर्ज़ई आदि की सुहावनी प्राचीनता इस देश की आबोहवा के लिए सम्भव होती हुई भी अब सम्भाव्यता को बहुत बुरी तरह जकड़े हुए है, जैसे मिर्ज़ई पहनकर दरबार में जाते रहे हों! कम-से-कम वैदिकसाहित्य के ज्ञाता हमारे आर्य-समाजी भाई तो ऐसा नहीं कहेंगे।

हम दोनों प्रकार की कला को साहित्य में सन्निविष्ट करते हैं। जिस वृन्त पर वह कृति की कलिका खिलती है, वह है भाषा। भाषा भी समयानुसार अपना रूप बदलती रहती है। कला के विकास के साथ-साथ साहित्य में नयी भाषा भी विकसित होती है। हरा कँड़ेदार मजबूत डण्ठल ही कृशांगी नवीन कला को चाहिए। कोमल और कठोर, आत्मा और प्राणों का ऐसा ही सम्बन्ध रहा है। ब्रज-भाषा पूर्ण भाषा है, खड़ी बोली हिन्दी के हृदय की अश्रान्त आशा, सार्वदेशिक प्रसार से लिपटी हुई, जड़ और चेतन के विश्व-संसर्ग से बन्धनहीन, चित्रा और विचित्रा। यह घर बड़े ही मर्मज्ञ कलावन्त का है। वह ब्रज-साहित्य अपने भावना-प्रसार को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के भीतर से शेर के संकोच को झपट में देखना चाहता है। तमाम विश्व, नहीं, तमाम सौरमण्डल को क्रिया तथा ज्ञान के भीतर डाल लेना चाहता है; महावीर विजयी सिकन्दर एक नंगे संन्यासी का शौर्य निर्भय तन्त्र में प्रदर्शित करता है, इसीलिए यह कला दिग्वसना श्यामा सुन्दरी है—ज्ञानाम्बुधि की अगणित-ऊर्मिमयी महासीमा। वह प्राचीन वसन्त आज अनन्त-किसलय-मृदुल पुष्पसंकुल स्निग्ध-वायु-कम्पित मर्मर ध्वनि करता, अभ्यास-जीर्णता उड़ाता हुआ पुनः प्रतिष्ठित होना चाहता है।

[‘माधुरी’, मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1932। **प्रबन्ध-पद्म** में संकलित]

‘भक्त’जी और प्रकृति-निरीक्षण

कोई स्वर भाषा की वीणा में छेड़िए, उसका श्रुति सुखद सार्थक रूप राग बन जायगा। इस प्रकार जो भी बीज काव्य के क्षेत्र में अंकुरित हो, वह काव्य-प्रकृति के अन्तर्गत कहा जायगा। जहाँ प्रकृति का स्वर सूक्ष्मतम, अश्रव्य, मौन, चिर-समाप्ति में पारवाली आख्या प्राप्त करता है—जिसे लोकोत्तरानन्द कहते हैं, वह

भी प्रकृति की क्षीणतम अव्यक्त अवस्था है। स्वर, काव्य, रूप आदि में बँधी प्रकृति की प्रत्येक संज्ञा इसी अप्रकट, अनादि स्थिति से संसार में गोचर होती और फिर अपने सुख-दुःख का संसरण पूरा कर पूर्व स्थिति में विलीन हो जाती है। इस आख्या के ग्रहण से सभी प्रकार के कवि प्रकृति के निरीक्षक कहे जायँगे। पर पश्चिमी जो प्रथा हिन्दी के आलोचनांक में खेलने लगी है, उसके अनुसार केवल शोभामयी बाह्य प्रकृति का पुजारी कवि Nature poet (प्रकृति का कवि) कहा जायेगा। अंग्रेजी के प्रमुख कवि वड्र्सवर्थ की यही निर्णीत विशेषता है। हमारे सौभाग्य से श्री गुरु-भक्त सिंहजी 'भक्त', बी. ए., एल-एल. बी. हिन्दी के प्रकृति-जल पर एक ऐसे ही कमल होकर विकसित हुए हैं। राष्ट्रभाषा की अन्याय दिक्कुमारियाँ जिस प्रकार नयी मुसकान हँसने लगी हैं, बाह्य प्रकृति के आयत नयन उसी प्रकार 'भक्त'जी के मधुर वीक्षण से स्नेहचंचल हो गये हैं। युग के सूर्य की स्वर्ण-किरण 'भक्त'जी के काव्य-शिखर पर भी पड़ी है।

'भक्त'जी हिन्दी के पाठकों के प्रिय चिर-परिचित कवि हैं। अच्छे-अच्छे प्रायः सभी पत्र आपकी रचना-रुचि से भरकर जन-समक्ष निकलते रहते हैं। कितने ही बार आपकी निर्मल शब्द-कलियों का हार गले में धारण कर मैं सुखी हो चुका हूँ। आज यह एक उसी सुगन्ध की मन्द प्रशंसा की।

युक्त-प्रान्त का पूर्वीय भाग, बलिया, 'भक्त' जी की स्वर्ग से भी गरीयसी जन्म भूमि है, आपके बालपन के दुर्दम दिनों की रंगशाला। यह भाग प्रकृति की रम्यता के लिए प्रसिद्ध है। मैं पहले 'पवहारी बाबा' आदि पुस्तकों, भ्रमण-कहानियों, लेखों तथा लोकमुखों-से इस प्रान्त की बड़ी तारीफ सुन चुका हूँ। निकट ही गाजीपुर के गुलाब, बेला, जूही आदि के बगीचे, पौण्ड्र के पौण्डे, शकर, गंगा और सरयू दो विशाल नदियों का दक्षिण-उत्तर घेरकर बहना, सुरहा आदि झीलों की कमल-शोभा, जल-स्थल और आकाश की दिव्य प्रकृति और प्रकृति-चर अनेकानेक पक्षियों का एकत्र विहार, झीलों और नदियों के किनारे नीड़ रचकर रहना, उपजाऊ भूमि की लहराती हुई श्याम शस्याभा आदि-आदि स्वभावतः मनुष्यों के मन को दिव्य विभूति से ओत-प्रोत कर देते हैं। इस सुन्दरी प्रकृति ने 'भक्त'जी की आँखों में रूपदर्शन की नयी ज्योति भर दी। उनकी कविता चतुर्दिक् के प्राकृत सौन्दर्य-जल से पर्वत-हृदय की कन्दरा पूर्ण कर झरने की तरह मधुर शब्द कलकल करती हुई, छन्दों में, यति में उठती-गिरती, फिरती-फेरती आँखें बह चली।

आपकी कविताओं के तीन संग्रह—'सरससुमन', 'कुसुमकुंज' और 'वंशी-ध्वनि', —अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। यहाँ हम आपके रचित प्रकृति के पुष्पोपम पद्यों की बानगी, अपनी साधारण-सी आलोचना के साथ, पाठकों की रुचि के सामने रखते हैं। यद्यपि हमें पूरा-पूरा अनुभव है कि इस आलोचना के पहले ही पाठकों के लोचनों को 'भक्त'जी की कृतियाँ चुरा चुकी होंगी।

'भक्त'जी जैसे कवि हैं, तदनुसार वह प्रकृति के ही अपरापर रूपों पर तूलिका चलाते रहे हैं और उनका थोड़ा-सा भी वर्णन इस छोटे-से निबन्ध में होना असम्भव है, यहाँ तक कि एक पद्य का पूरा-पूरा चित्रण नहीं दिखाया जा सकता। इसलिए संक्षेप ही में उनके कलम की खूबियाँ खींची गयी हैं।

'कृषक-बधूटी' शीर्षक पद्य में कृषक-बहू की सुन्दर तस्वीर, उसके कार्यों के भीतर से हू-ब-हू वर्णन द्वारा, आपकी आँखों के सामने खड़ी कर दी और साथ-साथ काव्य-रस का उत्स भी खोल दिया है—

फूला खेत देख सरसों का फूली नहीं समाती;
पहन बसन्ती सारी प्यारी फूलों में मिल जाती।

× × ×

भर-भर अंक उठाकर रखती बालें दानों-भरी हुई;
पवन-वेग से आँचल उड़ते, प्यारी मानो परी हुई।

कितनी सहृदयता किसान-किशोरी के लिए है। रूप से रहित समझी जाने-वाली को कवि की लेखनी परी बना देती है और कितनी खूबसूरती से! इस पद्य में खेत और घर के और भी अनेक सुन्दर उल्लेख, जैसे खेत में अण्डे सेनेवाली चिड़िया का सभय उड़-उड़ जाना, एक बिल से निकलकर चूहे का दूसरे बिल को भग जाना, होली मनाना आदि प्रसंगवश आये हैं, जिनका हम उल्लेख स्थान-संकोच के कारण नहीं कर सके।

'नदी' पर आपने कितना सुन्दर लिखा है—

हृदय में जो बसी है शैल-वन के,
सजी है फूल की माला पहन के,
उसी सरसी की यह तटिनी है बाला;
सरस पय है पिलाकर उसने पाला।
पवन आ-आ हिलाता है हिंडोला;
कभी तारों से खेली अँख-मिचोला।
पहन आबेखाँ सारी लहरदार—
किनारा बेलबूटों से तरहदार—
कभी किरनों के संग में नाच आयी;
कभी फूलों के संग में मुस्किरायी।
सिवारों से कभी खेली व लिपटी;
कभी मछली के संग उलझी औ' झपटी।
यों ही बढ़ती गयी, कुछ तन पसारा;
युवापन की हुई कुछ तेज धारा।
तरंगों ने उसे उठ-उठ नचाया;
बहुत चक्कर भँवर ने भी खिलाया।
लखी हिमगिरि ने इसकी यह अवस्था;
लगा तब ब्याह की करने व्यवस्था।
करा पाणिग्रहण तब मन्त्र द्वारा—
बना जल-निधि को इसका प्राण प्यारा—
विदा बस कर दिया आँसू बहाकर—
सहेली और माता से छुड़ाकर।

सहेली साथ खेली छूटने से—
सरस माता का नाता टूटने से—
नदी बेकल हुई; पड़ता न था कल;
बहाती ही रही आठों पहर जल।
× × ×
मिली दो-एक सरिता और आकर
मिलाकर ले चलीं समझा-बुझाकर।
बहुत दिखला के ऊँचा और नीचा,
हृदय बहला के पति की ओर खींचा।
निकट आ, सिन्धु लखकर लाज छायी,
उसक-सी कुछ गयी, सकुची, लजायी।
सकुचते देख बढ़ आया पयोनिधि—
मिलन की करके तैयारी भली विधि।
निछावर करके मोती, शंख, परवाल—
बहुत मणि-माणिकों से साजकर थाल—
सखिन के संग में डोला उतारा,
हुए मिल-मिल के दोनों एक धारा।

कैसा सुन्दर निबाह है! वर्णन में कितनी सच्चाई और कितनी सहृदयता! छन्द हिन्दी का नहीं, इसलिए कहीं-कहीं कवि को भाषा स्वतन्त्रता लेने की जरूरत पड़ी है। काव्य का जो मुख्य गुण है—चित्रण सच्चा हो, 'भक्त'जी उसमें निपुण मिलते हैं। एक 'अन्धे कुएँ' पर आप लिखते हैं—

आँख लगी थी जिस पर सबकी
आज हुआ वह अन्धा है;
जीवन दे जो श्रम हरता था,
भूल गया निज धन्धा है।
टूटी पड़ी जगत है उसकी,
जगत टूटता था जिस पर;
भूरि-भूरि था िसे सराहा,
आज गया वह रज से भर!
कभी न टूटा तार धार का,
ऐसा जगता सोता था;
देख विपुल जलराशि मेघ भी,
पानी भर-भर रोता था।

कुएँ के लिए कितना अच्छा कहना है कि जिस पर सबकी आँखें एक दिन लगी हुई थीं, आज वह अन्धा हो गया; जो जीवन (जल) देकर श्रम हरता था, वही अपना वह धन्धा अब भूल गया है; जिस पर जगत टूटता था, उसकी जगत टूटी पड़ी है; जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी, आज वह मिट्टी से भर गया; उसका सोता ऐसा जगता था कि धार का तार कभी नहीं टूटा; उसकी विपुल जल-राशि

देखकर अपनी क्षुद्रता का विचार कर मेघ भी आँखों में जल भरकर रोता था !

तरह-तरह की उत्तम वर्णना के पश्चात् आपने, इस पद्य का रोचक, सहृदय, कलापूर्ण अन्त दिखलाया है। लिखते हैं—

एक बटोहिन सलिल के लिए
आयी वहाँ दूर से चल;
रस्सी लेकर साँस खींचती
आँखों में भर लायी जल।

पानी न रहने से साँस खींचती हुई बटोहिन का आँखों में पानी भर लाना कवि की कुशल लेखनी का सुन्दर चमत्कार है। ऐसी रचनाएँ हिन्दी में थोड़ी हैं, जिनका आदि और अन्त दोनों, मनोहर शब्दों की शृंखला से बँधे हुए, एक सार्थक भाव हृदय में भर जाते हैं।

अभिसारिका, वर्षा, वियोगिन, धरोहर, पावस-प्रमोद, रिमझिम, नारदमोह, शरद आगमन, भड़भूँजा, नीलकण्ठ, ऋतुराज आदि अनेक रचनाएँ हिन्दी के पाठकों को हाथ पकड़कर काव्य के रम्य उपवन की सैर करा चुकी हैं। उनकी ग्राम्य, सीधी चितवन में जो स्नेह, जो अपनाव और जो आकर्षण पाठकों के जीवन को मुग्ध कर लेने के लिए है, कोई भी आलोचक उस सादगी पर अपने मन को निछावर कर देने के लिए तैयार होगा। मैं स्थान तथा समय के संकट के कारण पूरे विवरणों के साथ कम-से-कम एक उचित सीमा तक चलकर 'भक्त'जी की यथार्थ आलोचना नहीं लिख सका, पर मुझे विश्वास है, हिन्दी के सहृदय पाठकगण, मेरे लिखने के पहले ही से, उनकी मनोहर कृतियों से प्रिय परिचय तथा चिर सामीप्य प्राप्त कर चुके होंगे। अन्त में मैं 'भक्त'जी से निवेदन करूँगा, आप अपनी उत्तम से उत्तमतर कविताओं द्वारा हिन्दी का रिक्त अंचल भरते रहेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933। **संग्रह** में संकलित]

साहित्य और भाषा

भाषा-क्लिष्टता से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न हिन्दी की तरह अपर भाषाओं में नहीं उठते। हिन्दी को राष्ट्रभाषा माननेवाले या बनानेवाले लोग साल में तेरह बार आर्त चीत्कार करते हैं—भाषा सरल होनी चाहिए, जिससे आबालवृद्ध समझ सकें। मैंने आज तक किसी को यह कहते हुए नहीं सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढ़े।

हिन्दी की सरलता के सम्बन्ध में बकवास करनेवाले लोगों में अधिकांश को

मैंने देखा—लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं। कम-से-कम हिन्दी से तो उनका तअल्लुक स्कूल से जब से छूटा, छूटा ही रहा। फिर हिन्दी की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की उन्हें जरूरत नहीं मालूम दी। जरूरत रही दूसरों को सिखलाने की। साधारण जनों का पक्ष लेकर वे बराबर अपने अज्ञान पर मिट्टी डालते रहे।

एक सवाल राष्ट्रभाषा द्वारा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का उठता है। इसके लिए भी हिन्दी को भरसक असंस्कृत करने की जरूरत बतलायी जाती है, जैसे मुसलमानों में राष्ट्रभाषा का सिक्का जम गया हो, और वे क्रमशः हिन्दी-साहित्य के उदार उदर में प्रवेश कर रहे हों। हिन्दोस्तानी एकेडमी के पदवीधर पदाधिकारियों की ऐसी ही राय है। वे लोग स्वयं कुछ हिन्दी जानते हैं या नहीं, यह मत पूछिए; इसकी जाँच व्यर्थ है। उनकी राय सुन लीजिए। ऐसी भावना से प्रेरित हो कुछ कवियों ने कलम के कुल्हाड़े से राष्ट्रभाषा की लकड़ी से काव्य के कुछ चैले चीरे भी हैं, जिनके मुकाबले 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठति अग्रे' बहुत सरस है। कुछ हो, राष्ट्रभाषा का वह काव्य सरल तो है, लोग आसानी से समझ तो लेते हैं।

यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बन्द होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है। जब कुछ खास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायेगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। यह अनुल्लंघ्य दर्शन है। इसीलिए बृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावों से भरा हुआ साहित्य कभी देश, काल या संख्या में नहीं रहा, और उसी से देश, काल और संख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। उन प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने में चार आने जनता के लायक रहना साहित्य का ही स्वभाव है, क्योंकि सब तरह की अभिव्यक्तियाँ साहित्य में होती हैं। तुलसी-कृत रामायण का हमारे यहाँ सब पुस्तकों से ज्यादा प्रचार है, दूसरी किताब समाप्त होने से पहले ही लड़कियाँ सुन्दर काण्ड खोलकर 'जामवन्त के बचन सुहाये, सुनि हनुमान हृदय अति भाये' पढ़ने लगती हैं। इसके मानी यह नहीं कि तुलसीदासजी ने बड़ी सीधी भाषा में रामायण या अपने दूसरे ग्रन्थ लिखे हैं। रामायण कहीं-कहीं, जहाँ जैसे कठिन भाव आये हैं, इतनी मुश्किल है कि अच्छे-अच्छे विद्वानों के छक्के छूट जाते हैं। इसके अलावा साद्यन्त रामायण सालंकार है। यह सब साधारण लोग समझ सकते हैं, यह किसी साहित्यिक नेता के सिवा यथार्थ अनुभवी विद्वान् कभी न कहेगा। रामायण के प्रचार का कारण रामचरित है, जिसका हजारों वर्ष पहले से अनेकानेक रामायणों तथा कथाओं द्वारा प्रचार होता आया है। संस्कार यहाँ के लोगों के ऐसे ही बन गये हैं। क्लिष्टिता के बारे में यही हाल सूरदासजी की कविता का भी है। वे भी कम मुश्किल नहीं। अलंकारों के सिवा एक कदम नहीं उठाते—

"अद्भुत एक अनूपम बाग ।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग ।"

यह सब साधारण जनों की समझ में आने लायक काव्य नहीं । कबीर तो अपनी विशेषता में और मुश्किल हैं । पण्डित न होते हुए भी अलंकार लिखते हैं । केशव अपनी क्लिष्टता के लिए काफी बदनाम हैं । ये चार हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । बिहारी की ठेठ देहाती बगैर टीका देखे मैं अब भी नहीं समझ पाता । उर्दू के ग़ालिब मुश्किल लिखने के लिए काफी बदनाम थे, पर वही उसके सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं । शेक्सपियर के गीतों के भाव गहन, भाषा तदनूकूल है । शेली की भाषा और भी लच्छेदार । रवीन्द्रनाथ भी इसके लिए कम बदनाम नहीं थे । वह मुश्किल-आसान दोनों तरह की भाषा लिखते हैं, पर भाव साधारण जन नहीं समझ सकते । एक बार 'चरका' प्रबन्ध में उन्होंने महात्माजी पर जो आक्षेप किया था, उसकी दिल्लगी तथा पेचीदे भाव पर महात्माजी ने अपने लोगों को समेटकर समझाया था कि तुम लोग उसका अर्थ कुछ-का-कुछ समझ लोगे । अर्थात् महात्माजी के लोग इतने पुष्ट विचारों के हैं ! फिर नेतृत्व का एक संस्कार भी होना है, जो चेतन को जड़ और समझदार को मूर्ख मानता है ।

अस्तु । बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है । कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गयी है । जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गम्भीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है । साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए । भाषा भावों की अनुगामिनी है ।

जनता को तरह-तरह की अहितकर अनुकूल सीख न देकर कुछ परिश्रम करने के लिए ही कहना ठीक होगा । जिनको सन्धि-समास का भी ज्ञान नहीं, ऊँचे साहित्य की सृष्टि उनके लिए नहीं, न 'words in one syllable' असमस्त शब्दों की किताबें लिखने से राष्ट्रभाषा का उद्धार हुआ जाता है ।

जो लोग समय को देखते हुए अपनी पुस्तकों या पत्रों के प्रचार के लिए उनमें साधारण भाषा और सरल भावों को रखने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसा व्यवसाय की दृष्टि से करते हैं । यह हिन्दी का हित न हुआ । हित तो गहन शिक्षा द्वारा ही होगा ।

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए ललित शब्दावली की टाँग तोड़कर लँगड़ी कर देने से लड़खड़ाती हुई भाषा अपनी प्रगति में पीछे ही रहेगी । हमारा यह अभिप्राय भी नहीं कि भाषा मुश्किल लिखी जाये; नहीं, उसका प्रवाह भावों के अनुकूल ही रहना चाहिए । अपने-आप निकली हुई और गढ़ी हुई भाषा छिपती नहीं । भावानुसारिणी भाषा कुछ मुश्किल होने पर भी समझ में आ जाती है । उसके लिए कोष देखने की जरूरत नहीं होती । जिस तरह हिन्दी के लिए कहा जाता है कि वह अधिकसंख्यक लोगों की भाषा है, उसी तरह यदि अधिक संख्या उसकी योग्यता को भी मिलेगी, तो योग्यतम की विजय में फिर कोई असम्भाव्यता न रह जायेगी । इसके लिए भी भाषा-साहित्य में अधिकाधिक प्रसार की आवश्यकता है । जो लोग साधारण भाषा के प्रेमी हैं, उनके लिए साधारण पुस्तकें रहेंगी ही ।

पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकों की तरह भाषा-साहित्य का भी स्तर तैयार रहेगा।

प्राय: यह शिकायत होती है कि छायावादी कविताएँ समझ में नहीं आतीं; उनके लिखनेवाले भी नहीं समझते, न समझा पाते हैं। इस तरह के आक्षेप हिन्दी के उत्तरदायी लेखक तथा सम्पादकगण किया करते हैं। कमजोरी यहीं पर है। हिन्दी में बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो छायावादी कविताएँ समझते हैं। उन्होंने समर्थन भी किया है। मैं अपनी तरफ से इतना ही कहूँगा कि छायावाद की कविताएँ भाषा-साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं। जहाँ-जहाँ उन कविताओं में खूबी आ गयी है, वहाँ-वहाँ बहुत अच्छी तरह यह प्रमाण मिल जाता है। जिन स्थानों में धुँधलापन है, भावों का अच्छा प्रकाशन नहीं हुआ, चित्र चमकते हुए नहीं नजर आते, वहाँ सामयिक दुर्बलता है, जिससे आगे बढ़ने की साहित्य तथा साहित्यिकों को जरूरत है। जो लोग यह कहते हैं कि खड़ी बोली की कुछ प्राचीन काल की कृतियों की तुलना में आधुनिक कविताएँ (मेरा मतलब दोनों समय की अच्छी कविताओं से है) नहीं ठहरतीं, मैं उन्हें अत्युक्ति करते हुए समझता हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है, यह मेरी नहीं, उन्हीं की अल्पज्ञता है। वे साहित्य के साथ अन्याय करते हैं।

गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। व्रजभाषा भाषा-साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। उसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गये हैं, जिससे अधिक कोमलता आ नहीं सकती। व्रजभाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दाक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के कायल थे। बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में उसकी छाप मिलती है। व्रजभाषा-साहित्य के अंग के अपर प्रान्तवाले लोग भी अपनी भाषा को व्रजभाषा की तरह, उसी तूलिका से, मधु-सिक्त कर देते हैं। यही साधना वर्तमान खड़ी बोली के लिए जरूरी है। पहले के अनेक मुसलमान-कवि व्रजभाषा के रंग में रँग गये थे। उनके पद्य हिन्दू-कवियों के पद्यों से अधिक मधुर हो रहे हैं। यही स्वाभाविक खिंचाव खड़ी बोली की कोमलता तथा व्यापकता में आना चाहिए। अच्छे को अधिकांश लोग अच्छा कहते हैं। यों तूल-तकरारवाली बातें तो हैं ही, और होती ही रहेंगी, प्रचार का इससे अच्छा उपाय आज तक संसार में दूसरा नहीं हुआ। जितने भी धर्म प्रचारित किये गये, सब अपनी व्यापकता तथा सहृदयता के बल पर फैले। उनकी साधारण युक्तियाँ मृदुल, जल्द समझ में आनेवाली, आलोचनाएँ, तथा अपर सभ्य अंग वैसे ही गहन, अगाध, विद्वत्ता से भरे हुए। हिन्दी के लिए एक तरह की आवाज उठाने से अच्छा अनेक तरह का प्रदर्शन है, क्योंकि इससे कुछ प्राप्त होता है।

[प्रबन्ध-पद्म में संकलित]

हमारे साहित्य का ध्येय

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्त्व प्राप्त नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मण्डल में रहनेवालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसलिए हमारे देश के अधिकांश प्रान्तीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिए कार्यकारी सच्ची राष्ट्र-नीति की अत्यन्त आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश में नवीन संस्कृति के लिए व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्यक्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, शरीर के तमाम अंगों की पुष्टि की तरह स्वभाव से आवश्यक है।

राजनीति में उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर सम्पत्तिवाद के कायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बन्ध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टि या बाह्य स्वातन्त्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकांश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर जोर देकर संसार की बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिए कमर कस लेता है, तब वह प्राय: सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी गुणों, दुनिया की अड़चनों तथा मनुष्यों की स्वभाव-प्रियता को एक ही छलाँग से पार कर जाता है। समष्टि के मन को यन्त्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मतभेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश में अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काम्य स्वतन्त्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

सम्पत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलनेवाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिए यह स्वाभाविक है भी, जब सम्पत्तिऔर गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतन्त्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतन्त्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत्-चित् और आनन्द। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय पर। उसकी स्वतन्त्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीतिक भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नहीं चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में 'पहले मुर्गी, फिर अण्डा या पहले अण्डा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अन्तर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिए भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भंयकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गन्दगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवाद-व्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे, जो रोग भीतर है, जड़ प्राप्ति द्वारा, रुपया-पैसे या जमीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है। संस्कृत जीवन कुम्हार की बनायी हुई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्राय: एक दूसरा तरीका अख्तियार कर बैठते हैं, वह, साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओं से चक्कर काटती हुई गंगासागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है, उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य में है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिए नवीन कार्य, नयी स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूँकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत्-सम्बन्धी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार में केवल मक्का और जरूसलेम ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पृथ्वी आ जाये। यदि हद गंगासागर तक रही, तो कुछ जन-समूह में मक्के का खिंचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही में पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिये जा सकें, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में सन्देह भी न रह जाये। यह भावना साहित्य की सब शाखाओं, सब अंगों के लिए हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रंग यहीं का है। काल-क्रम से अब हम लोग उस रंग से खींचे हुए चित्रों से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसलिए पूर्ण मौलिक बन भी नहीं पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति-रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते

हैं, उतने ही अंशों में वे एक-दूसरे से अलग हैं, इसलिए कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खण्ड-क्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।

[**प्रबन्ध-पद्म** में संकलित]

काव्य में रूप श्रौर श्ररूप

प्राय: सभी कलाओं के लिए मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न सभ्यता-प्रसूत वस्तु-भावनाओं का श्रेणी-विभाग, संचय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा कलम के अनुसार विभिन्न आकार, इंगित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यंजना कर रही थीं, जो तमाम भिन्नताओं के भीतर से एक भावसाम्य की स्थापना करती थी। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार-भर के लोगों को वह आत्मिक लाभ पहुँचा। फलस्वरूप कला में देश-भाव की जो संकीर्णता थी, आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-सम्बन्ध जोड़कर लोग उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगे।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकौश राग की वीर मूर्ति अँगरेजी-स्वर में, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की ग़ज़लों में मिलने लगा, और बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता थिएटरों की मित्र-हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागिनियों ने ले ली। इस प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य-वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्रांगण में नये दूसरे-ही-दूसरे रूप से देखने पड़ लगे। उनके रूप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गयी, पर अरूप-भाग से वे मनुष्यमात्र की सम्पत्ति बन गये। अरूप-अंश, वर्णना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवीन्द्रनाथ भारतीय काव्य-साहित्य में इस कला के निपुण कलाकार हैं। उनका एक उदाहरण दूंगा—

"अचल आलोके रएछे दाँड़ाए,
किरण - वसन अंगे जड़ाए,
चरणेर तले पड़िछे गड़ाए,
छडाए विविध भंगे,
गन्ध तोमार घिरे चारि धार,
उड़िछे आकुल कुन्तल - भार,
निखिल गगन काँपिछे तोमार
परस-रस-तरंगे।

(अचल प्रकाश में तुम खड़ी हुई हो, किरणों की शुभ्र-वसना, चरणों से ज्योति का वस्त्र विविध भंगों से टूटता ढुलकता हुआ। सुरभि तुम्हारी चारो दिशाएँ घेरे हुए है। केशों का व्याकुल भार उड़ता हुआ तुम्हारे स्पर्श रस की तरंगों से अखिल आकाश प्रकम्पित हो रहा है।)

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मयी छवि पर मुग्ध हो जायगा। तुलसीदास के केवल-सौन्दर्य राम की तरह रवीन्द्रनाथ की इस सुन्दरी में जड़ता अणु-मात्र के लिए भी नहीं। यहाँ एक जगह रवीन्द्रनाथ का पश्चिम-स्नेह रूपमय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष होता है। जहाँ चरणों से ज्योति का वस्त्र टूटता हुआ गिरता है, वहाँ ध्यान पश्चिम की सम्राज्ञियों के पीछे लटकते हुए लम्वे वस्त्र के छोर की ओर जाता है।

सौन्दर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान-प्रदान में केवल पूर्व पश्चिम से प्रभावित हुआ, यह बात नहीं, सहृदयता का अमृत यहाँ से वहाँ भी अपनी मृत-संजीवनी का विशिष्ट परिचय दे रहा है। जिन-जिन प्रान्तों में अँगरेजी शासन का पहला प्रभाव पड़ा, इस नवीन साहित्य की जड़ वहाँ-वहाँ पहले जमी, और वहाँ के साहित्यिक इस कार्य में वहुत-कुछ प्रगति कर चुके। मेरा मतलब खास तौर से सुवर्ण बंगाल से है। बंगाल के अमर काव्य 'मेघनाद-वध' के रचयिता माइकेल मधुसूदनदत्त के सम्वन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियों के अध्ययन के पश्चात् की थी। फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाएँ जानते थे, और यूरोप में रहने के समय काव्य-शास्त्र में काफी प्रवेश कर लिया था। कुछ हो, माइकेल मधुसूदन की रचना में जितनी शक्ति मिलती है, उतना जीवन नहीं मिलता। रवीन्द्रनाथ द्वारा बंग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस कवियों का जीवन तथा इन्द्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केन्द्र से निकली और फैली।

हिन्दी में छायावादी कहलानेवाले कवियों से इसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रक्षकों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता की जड़ साहित्य के हृदय में पूर्ण रीति से जमाने में अकृतकार्य रहने पर भी अधिकांश आलोचकों के कहने के अनुसार, पद्य-साहित्य का बाजार आजकल इन्हीं के हाथ है। श्रेय अभी खड़ी वोली के मध्यकाल के कवियों को मेरे विचार से अधिक है, पर जहाँ प्राणों की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज्यादा ठहरते हैं। प्रसादजी की भावनाओं और पन्तजी के चित्रों में अभीप्सित नवीनता की कोमल

किरण बड़ी खूबसूरती से फूट निकली है।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जित और भी विराट् भावनाएँ मिलनी चाहिए। इतने ही से उसका दैन्य दूर नहीं होता, और न अभी उसकी दिगन्त पुष्टि ही हुई है। जैसा भी कारण हो, हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है। प्रयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रान्त आदि एक ऐसी प्रकृति की गोद में हैं, जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं मिलते। रवीन्द्रनाथ द्वारा अंकित सौन्दर्य का एक विराट् चित्र—

जेनो गो विवशा ह्येयेछे गोधूली,
पूरबे आँधार बेणी पड़े खुली,
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
सोनार आँचल तार।

(मानो गोधूलि विवश हो रही है, पूर्व और उसकी अन्धकारवेणी खुली पड़ती है, और पश्चिम की तरफ खुल-खुलकर उसका सोने का आँचल गिर रहा है।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा में स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"क्षुद्र रूप कोथा जाय बतासे उड़िया दुइ चारि पलकेर पर"

(छोटा रूप न-जाने कहाँ हवा में दो ही चार पल में उड़ जाता है।)

काव्य में साहित्य के हृदय को दिगन्त-व्याप्त करने के लिए विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक लघु-विराट् कल्पनाएँ संसार के सुन्दरतम रंगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस तरह काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुःखमय चित्रों को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता में होगी। जैसे—

कभी उड़ते पत्तों के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।

[**प्रबन्ध-पद्य** में संकलित]

आकाश की नील-नीलम-ताराओं से टँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य का शीतोष्ण शुचितर रश्मिपात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य शैल-शिखरों, समुद्र-रश्मियों, अरण्य-शीर्षों पर छायालोक पात करते प्रति पल बदलते हुए, दिन और रात, धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं के उठते-गिरते हुए बहुरंग पर्दे, क्षण-क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति परियों-सी पंख खोलकर कलियों में खिलती, केशर-परागों से युक्त प्रकाश में उड़ती, रँगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आयत दृगों में हँसती, झरनों में गाती, पुनः अज्ञात्तमत में अन्तर्धान होकर तादात्म्य प्राप्त करती हुई, हास्य और रोदन, वियोग और मिलन, मौन तथा वीक्षण के नव रसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्गारों से जीव-जन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए, यह ईश्वरीय यथार्थ नाटक है—एक ही सर की सरस सृष्टि सरस्वती।

चिरकाल से अनुकरणशील मनुष्य-समुदाय इसी की सार्थकता करता जा रहा है। सृष्टि की भिन्नता, भावों के मिश्रण और कला की गति-भंगियों के भीतर चल-कर एक इसी आदर्श की पुष्टि उसने की है। केवल सत्य के नाम और परिणाम भिन्न-भिन्न रख दिये हैं। कहीं वह प्रेम है, कहीं अनादि दर्शन, कहीं सामाजिकता, सुधार या परिवर्तन, कहीं प्रतिकूल वैराग्य और त्याग, कालिदास और भवभूति, शेक्सपियर और गेटे इन्हीं कारणों से पृथक-पृथक हैं।

परन्तु एक प्रतिकूल शक्ति भी है, इसीलिए मनुष्य और पशु में भेद है। आँखों की दिव्य ज्योति की तरफ न देखकर महिलाओं के अंगों की तरफ देखते हुए मुग्ध मनुष्य क्रमशः पतित होने लगे। इसी गिरी निगाह का परिणाम मनुष्येतर प्राणियों में प्रत्यक्ष होता है। बौद्धकाल के पहले से ही यह जाति गिरने लगी थी। अनेकानेक धर्म्याचार्य्यों तथा साहित्यिकों ने उठाने के प्रयत्न किये, पर असफल रहे; क्योंकि जाति ने जल की तरह क्रमशः निम्नतर भूमि से होकर ही बहना पसन्द किया। शंकर पर रामानुज और भवभूति पर कालिदास का जो आज देश के जन-समूह में आधिपत्य है, इसका यही कारण है। क्रमशः व्रजभाषा-साहित्य तक कृष्ण और गोपियों के दिव्य प्रेम की भावना सूर्य से च्युत पृथ्वी की तरह पंकिल हो गयी। हमारे पतन के नाटक का प्राकृत परिणाम यहीं तक नहीं, और कठिन पत्थर के रूप में बदल गया।

पहले बौद्धों के विरुद्ध वर्णाश्रम धर्म की चिरन्तन रक्षा के विचार से पुराणों तथा राम, कृष्ण आदि आदर्श-चरित्रों की कल्प-सृष्टि के साथ-साथ संस्कृत के बाँधों के भीतर सागर का उल्लेख करते हुए जो सरोवर इस जाति की भूमि पर लहराया गया था, वह अपनी ही कृत्रिमता के कारण सूखने लगा। उन भावों की अधिकांश जलाशयता पीड़ित द्विजेतर जनों के दुख की गर्म साँसों से सूख गयी। आज वही भूमि रेगिस्तान की तरह तप रही है।

वर्णाश्रम धर्म के इन्हीं कारणों से जीर्ण जातीय शक्ति का राज-प्रासाद मुसल-मानों के वज्र-प्रहारों से भू-लुण्ठित हो गया। इसके बाद शासन के साम्य-दर्शन का

प्रचार कर अँगरेजों ने इस टूटी इमारत के बचे हुए छोटे-बड़े पिण्डों से भी एक-एक ईंट अलग कर दी।

इस विवर्तन के साथ कितना इतिहास, कितनी संस्कृति, कितना त्याग और कितनी तपस्या है, ख़िज़ाँ के इस समय बहार के उन दिनों की कल्पना-जल्पना जगकर स्वप्न देखने की आदत या धार्मिक अफ़यून-सेवन का परिणाम पीनक कही जायगी। पुनः जहाँ तक इतिहास की गति है अथवा 1990 वर्ष पहले या चार-छः सौ साल और दूर अतीत तक, मुमकिन है, बहार न मिलकर मुरझाते हुए जातीय तथा धार्मिक पल्लवन का हेमन्त प्राप्त हो, और डाल पर कोयलों की जगह ताल के किनारे बगले मिलें।

इसलिए हमें आज से विचार करना है। विचार की शुद्धि तब हो सकती है जब वह हवा की तरह सबके हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सबकी आँखें ठण्डी कर दे। आज राष्ट्रभाषा के भीतर से जिस राष्ट्र का उत्थान अपेक्षित है, वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों या अपर किसी भारतीय जाति अथवा धर्म का राष्ट्र नहीं, उसके आराध्य राम या कृष्ण नहीं—विशेषतः उन रूपों से जिनका अधिकांश जनों में आज तक समादर रहा है। जिस प्रकृति ने हिन्दुओं के प्राचीन हाथीचिग्घाड़-सम्मेलन का एक-एक तार सहस्रों संघातों से कूट-कूटकर अलग कर दिया है, वही उसकी बनी रस्सी से स्वार्थ-मुखर स्वर-पशुओं के बाँधने की ओर पुनः पुनः इंगित भी कर रही है। अब इन कूटे हुए तारों में ब्राह्मण-तार और क्षत्रिय-तार चुन-चुनकर रस्सी बटना अस्वाभाविक है और मूर्खता भी। तारों की गुण-धर्म-समता को समझनेवाला ऐसा नहीं कर सकता। यह समय का व्यर्थ व्यय होगा। यही भावना राष्ट्रभाषा के सच्चे सेवक की होनी चाहिए। यहीं वह ठहरता और यहीं से चित्रण करता है।

अभिनय के व्यापक अर्थ में साहित्य के सभी विषय आ जाते हैं। भावना या किसी भी प्रकार की मानसिक सृष्टि हो, खून ही एक-एक बूँद उसकी गति पर ताल देती हुई देह के रंगस्थल पर अभिनय करती रहती है, बाहर शब्द शब्द, वाक्य वाक्य और विषय विषय। किसी जीवन के भिन्न-भावानुसार एक अभिनय की तरह साहित्य का भी जीवन उसकी पूर्ति के भावों से भरकर एक ही नाटक है।

जिस प्रकार मेघ-मुक्त होकर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही-सा निर्मल और दोषरहित रहता है, यदि हवा में उड़ते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूषित बीजों का मिश्रण छोड़ दें, उसी प्रकार एकमात्र मनुष्यता के आधार पर किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है—सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करनेवाला—मनुष्य-मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़कर दूसरी शुद्धि नहीं हो सकती।

इसी शुद्धि के स्नात, शिक्षा की अग्नि में पूर्व संस्कारों का हवन कर तेजस्वी, विश्व-प्रकृति के पुत्र प्रज्ञाचक्षु युवकों की हमारे साहित्य को आवश्यकता है। जनता इनकी रुचि के अनुसार आप तैयार होगी। इनकी रुचि ऋतु की तरह अपने ही प्रभाव में समाज को ढँक लेगी। तभी हमारे साहित्य का सर्वांग नाटक पूरा होगा, जनता युग के अनुकूल होगी। आज जिस प्रभाव से हमारा साहित्य, हमारा समाज

जीवन्मृत हो रहा है, आज की रात में वह जिन दिवा-संस्कारों के स्वप्न देख रहा है, वह प्रभाव दो हजार वर्ष से भी पहले डाला गया था, वे दिवस-संस्कार तभी के निर्मित हैं। हजार वर्ष से तो यहाँ रात-ही-रात है। समस्त पुराण, अधिकांश स्मृतियाँ तथा भास, कालिदास, श्रीहर्ष आदि-आदि कवि जिस संस्कृति के द्वारा देश को बौद्धों के विरुद्ध एक दूसरे जीवन से प्रबुद्ध कर गये हैं, हमारे साहित्यिक, हमारा समाज, हमारे वर्ण-धर्मवाले आज उसके स्वप्न देख रहे हैं। नवीन जागृति की क्रियाशीलता वहाँ कहाँ? वहाँ तो तमोवृत केवल संस्कार ही संस्कार हैं, जहाँ केवल मस्तिष्क-दौर्बल्य की सूचना प्राप्त होती है। जिन कवियों ने आज राम और कृष्ण पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने राम और कृष्ण के प्रचलित संस्कारो की ही पुष्टि की है, राम और कृष्ण को ठीक-ठीक समझकर नहीं लिखा। वे समझते भी नहीं। मुझे इसके पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं। जहाँ संस्कारों के पीछे कवि और लेखकों का ही मनोविज्ञान अन्धकार में डूब रहा हो, वहाँ जनता के लिए क्या कहा जाय? उसे तो मुक्ति बाद को मिलती है। किसी पुस्तक की पचास हजार प्रतियाँ बिक गयीं, इसके ये मानी नहीं कि उससे साहित्य के उद्धार को भी सहायता मिली। संस्कारों के वश समाज होता ही है। वह अपनी रुचि के अनुसार चलता है, पर साहित्य का सच्चा स्थान वहाँ है जहाँ रुचि बदलती है, पहले से पृथक् होकर भी सब तरह अच्छा, जोरदार, सहृदय, संस्कृत, वैज्ञानिक चित्र सामने रखती है। जनता या समाज के मन में संस्कारों के अलावा एक सत्ता और है जो सच और झूठ का निर्णय करती है। वही सत्ता ऐसे चित्र की तरफ खिंचती है, इसी प्रकार धीरे-धीरे नवीन प्रकाश अँधेरे के भीतर से फैलता है। साहित्य जाति में जागृति का युग पैदा कर देता है। तब चारों ओर से विशद विचारों के स्वाधीन चित्र देखने को मिलते हैं। यही साहित्य का व्यापक सच्चा नाटक है।

नाटक की व्यापकता पर जैसा कहा गया, वैसा ही प्रचलित नाटक के लिए भी कहा जा सकता है। केवल नाटक में वह सभी गुण सन्निहित होते हैं जो पूर्ण साहित्य के लिए आवश्यक हैं। काव्य, संगीत, साहित्य, नृत्य, कला-कौशल, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, समाज, राजनीति, धर्म आदि जितने विषय सभ्यता के अंग हो रहे हैं जिनके आधार पर बड़े-बड़े राष्ट्रों को सिर उठाकर देखने का गर्व है, वे सभी नाटक-समस्या की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। जितने भाव सम्पूर्ण विश्व पर बदलते हैं, समस्त संसार शीत-ताप, जल-वायु आदि से ऋतुओं के जितने दृश्य देखता है, जितने उपद्रव, झोंके आदि सहता है, उतने ही एक कण भी देखता और सहता है। अतः साहित्य के सर्वांग उत्कर्ष के कारण केवल नाटक-साहित्य में भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं। यह ठीक है कि वर्गीयता के समय नाटक अपने ही विभाग में रहेगा, पर यह निश्चित है कि उसमें सभी साहित्यिक गुणों की गणना हो जायगी।

यौवनोपगम के समय जिस तरह कण्ठ-स्वर बदल जाता है, उसी तरह नाटकों द्वारा जाति का सम्पूर्ण जीवन पुष्ट होता है। उस समय अपनी शक्ति, अपने सौन्दर्य, भाव, भाषा, चाल-चलन, आचार-विचार सभी नये अक्षरों से छपे हुए ग्रन्थों की तरह स्पष्ट तथा मनोहर होकर अपनी सत्ता से दूसरों को प्रभावित करते हैं। यह नवीनता एक ही तरफ की नहीं, पतझड़ के बाद के वसन्त की तरह सभी

तरफ की है; जाति को आत्मा के भीतर से संस्कृत कर देती है। तब बाल्य का स्वर पहचाननेवाले मनुष्य उस स्वर को एकाएक सुनकर नहीं समझ पाते कि यह उसी साहित्य का कण्ठ-स्वर है, जिसे वे कुछ दिन पहले तक सुन रहे थे; इन आँखों की अपराजिता ज्योति को देखकर वे नहीं समझ सकते कि ये वही आँखें हैं जो बाल्य के कोमल अक्षय सारल्य से सजी थीं— यह वही देह है जो दूसरे की सहायता से न चलकर स्वयं रास्ता पार करने को उद्यत है।

यह स्वर काव्य आदि के भीतर से तो कुछ हद तक हमारे साहित्य में सुन पड़ा, पर रंगमंच के ऊपर से बिलकुल नहीं सुन पड़ा। इसका एक कारण यह भी है कि जब तक किसी भाव का बहुत काफी प्रचार नहीं हो जाता, उसकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता। लोगों के कहने के अनुसार इधर दस-बारह साल से हिन्दी में नवीनता का प्रवाह है। इतने ही समय के अन्दर यह आशा करना कि नाटकों से नवीन भावों को सुनकर समझने के लिए जनता तैयार हो चुकी है, दुराशा-मात्र है। अभी तो पढ़े-लिखे भी बहुत कम लोग नवीनता को समझ सके हैं। इतना कहा जा सकता है कि क्षेत्र अब बहुत कुछ तैयार हो आया है।

आज तक जो नाटक हिन्दी के रंगमंच पर खेले गये हैं, वे किसी भी तरफ से साहित्य को उठानेवाले नहीं रहे। उनका उद्देश जनता की गिरी रुचि के अनुकूल रहना रहा है। वे जिन नाटक-लेखकों के लिखे हुए हैं, वे लेखक स्वयं ईश्वर, धर्म, समाज और साहित्य की सचाई तक नहीं पहुँचे हैं। आदर्श के पीछे अस्वाभाविक, ईश्वर के नाम पर अभूतपूर्व, धर्म के विचारों में न धृत होनेवाले, समाज को उठाने के चित्रों में कल्पित शक्ति से गिरानेवाले और साहित्य के विचार से एक सदी उसे पीछे ले जानेवाले चित्रण, भाव और भाषा का उनके नाटकों में समावेश होता आया है। इसीलिए इनके रंगमंचों पर मौसमी फूलों की तरह केवल दृश्यों की शोभा रहती है, साहित्य की सुगन्ध का कहीं नाम भी नहीं रहता। जगह-जगह ईश्वर के दर्शन होते हैं, मुग्धमन जनता तारीफ करती है, पैसे देती है। इतिहास तथा समाज के जिन नाटकों से जनता को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है, उसे अतीत और वर्तमान के सच्चे रूप देखने को मिलते हैं, एक सत्यफल की कल्पना होती है, उन नाटकों का कहीं छायापात भी नहीं हो पाता। कम्पनियाँ रुपयों के लिए नाटक लिखवाती हैं, कुछ और भी उनके उद्देश हैं जिनके शैथिल्य के भय से वे तीव्र ऐतिहासिक या सामाजिक नाटक नहीं लिखवातीं, उन्हें रुपये मिलते हैं, उनका नाटक-व्यवसाय सफल होता है। जहाँ यह व्यावसायिक बुद्धि काम करती है, वहाँ साहित्य नहीं रहता। इन नाटकों पर इतना ही दोष काफी नहीं कि इनसे साहित्य की वृद्धि नहीं हुई, बल्कि यह भी है कि इनसे जनता धार्मिक अज्ञान के कूप में और गहरे अन्धकार तक चली गयी है, उसके विचार इतने कलंकित हो गये हैं कि स्वप्न के दाग को मिटाकर उसे धवल जागृति के जीवन में ले आना दुष्कर हो गया है। इन नाटकों ने जो त्रुटियाँ चित्रण के सम्बन्ध में की हैं, वही संगीत के सम्बन्ध में भी हैं। इनके गीतों से संगीत का जो सत्य तत्त्व मन को ऊँचा उठाते हुए लोकोत्तरानन्द में लीन करता है, वही नष्ट हो गया है। बिहारी की कविता की तरह वासना के वशीभूत कर मनुष्यों को वे स्वर क्रमशः पतित करते रहते हैं।

हिन्दी में केवल 'प्रसादजी' के नाटक हैं जिन्हें आधुनिक महत्त्व प्राप्त है। पर उनमें काव्य के गुण अधिक और भाषा ऐसी है कि रंगमंच पर उनकी उतनी प्रभा नहीं फैल सकती जितनी एकान्त पाठ के समय। कुछ हो, मैं जिस भाषा को नाटक के लिए आदर्श मानता हूँ, उसका अभी तक हिन्दी में आविर्भाव नहीं हुआ। पण्डित गोविन्दवल्लभजी पन्त तथा 'उग्र'जी की भाषा काफी अच्छी है। दृश्य काव्य में इन्हें सफलता मिल सकती है। पर कथोपकथन के लिए उनकी भाषा भी वैसी तन्वंगी नहीं जो सहज सञ्चरित हो। पुनः नाटक के लिए जो प्रौढ़ता थोड़े शब्दों में व्यंजित की जाती है या मनोभाव के वर्णन के लिए निशाने पर तीर-सी चलती है अथवा चित्र को स्पष्ट करनेवाली ज्योति की तरह, किरणों की सहस्रों रेखा-तरंगों के साथ ही स्वच्छ, जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह उनमें नहीं। प्रथमोक्त में चित्र के फूलों पर किरनों-सी सुकुमार भाषा कविता का एक आकर्षण पैदा करती है, सुगन्ध की तरह आत्मा तक पैठकर अपने विशद अस्तित्व का परिचय नहीं देती, दूसरे में भावना सुन्दर है, पर अधिकांश वर्णन में बाल-प्रयास ही दृष्ट होता है। पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी भी कुछ हद तक सफल हुए हैं। कहीं-कहीं उनकी लपेट अच्छी लगती है। अगर कोई कलाजंग बाँधकर ही छोड़ दे तो उसे पूरा दाँव नहीं कहते। चलाना पड़ता है। चलने पर भी देखना पड़ता है, कैसा चला—जोर से गया या सचमुच पूरे घाट उतरा। किसी बात के कहने में यही सिद्धि कला की सिद्धि होती है। माखनलालजी में मुझे लपेट की कोशिश ज्यादा मिली। पुनः उनकी भी भाषा में नाटकीय दोष हैं। इसलिए उनका नाटक भी स्टेज पर नहीं चल सकता। गीत सभी के अच्छे हैं। आजकल हम लोग जिस तरह के गीत लिख रहे हैं, इस तरह के 'प्रसादजी' के नाटकों में ही प्रत्यक्ष होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रसाद'जी खड़ी बोली के मौलिक-साहित्य-निर्माण के चतुरंग प्रथम श्रेष्ठ साहित्यिक हैं। श्री सुमित्रानन्दन की 'ज्योत्स्ना' भी मैंने देखी है। वे जैसे प्रतिभाशाली सुकुमार कवि हैं, 'ज्योत्स्ना' उनके अनुरूप ही है। काव्य और विचार दोनों का उत्कृष्ट सामञ्जस्य इसमें है। दोष तो सभी में होते हैं; मुमकिन है, इसमें भी हों; पर मुझे 'ज्योत्स्ना' की धवल रूप-राशि की ओर प्रिय दृष्टि से देखते रहना ही पसन्द है। 'ज्योत्स्ना' स्वयं एकान्त दर्शन की चीज है। रंगमंच पर उसका उतरना रूपकमात्र है। इसलिए वह हिन्दीभाषियों के साथ तो रहेगी, पर रंगमंच पर दर्श नहीं दे सकती। क्योंकि मनुष्याकार झींगुर महाशय का रंगमंच पर आकर संस्कृत हिन्दी में अलापना मामूली मजाक नहीं। इन नाटकों से इतना हुआ कि एक-एक तरफ की पुष्टि हो गयी। आगे के स्वाभाविक नाटक लिखनेवालों को इनकी रूह से रंगमंच के लायक नाटक लिखने का सुभीता हो गया।

'पुराण, इतिहास और समाज' तीन मुख्य आधार नाटकों के लिए हैं। पौराणिक नाटकों की भाषा प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। प्राचीन युग का रूप तभी पूरा उतरता है। भाषा इतनी क्लिष्ट न हो कि जनता समझ न सके, पर ऐसी सीधी और शिथिल भी नहीं कि प्राचीनता का गम्भीर वातावरण नष्ट हो जाय। मेरा लिखा हुआ स्वच्छन्द छन्द ऐसे ही नाटकों के लिए उपयोगी है। इसी विचार से मैंने लिखा भी था। अवश्य काव्य लिखने के विचार से पहले मैंने उसे मिल्टन

की तरह क्लिष्ट-भाषापूर्ण कर दिया था, पर मेरा असली मतलब उसे पौराणिक नाटकों में लाना ही था। 'पञ्चवटी-प्रसंग' की अवतारणा का यही कारण है। इसका उदाहरण पेश करने के लिए मैंने तो अपने लिखे एक सामाजिक नाटक के एक पार्ट में इसका समावेश कर दिया था और वह पार्ट कलकत्ता-स्टेज पर मैंने खुद खेला था। मैंने गिरीशचन्द्र, डी. एल्. राय आदि के बीसियों बंगला-नाटक पब्लिक-स्टेज पर खेले हैं। अतः रंगमंच तथा नाटक के ज्ञान पर सविशेष लिखना व्यर्थ समझता हूँ। अनेकानेक कारणों से हिन्दी में मुझे दूसरी ओर से होकर चलना पड़ा था, नाटक-साहित्य को लेकर नहीं उतर सका। इधर कुछ दिनों से निश्चय कर रहा हूँ। नाटकीय सफलता मुझे कहाँ तक होती है, मेरे उतरने के बाद लोग स्वयं आलोचना करेंगे।

ऐतिहासिक नाटकों की भाषा जोरदार, थोड़े में अधिक भाव व्यञ्जित करनेवाली होनी चाहिए और सामाजिक नाटकों की प्रचलित, बामुहाविरा। चरित्रों की ऊहापोह सभी में रहती है। उनके विकास की ओर काफी ध्यान रखना चाहिए। वे दोनों प्रकार के होते हैं—ऊपर से नीचे गिरनेवाले, नीचे या बराबर जमीन से ऊपर चढ़नेवाले। मिश्र चरित्र भी होते हैं जो कभी भला और कभी बुरा करते हैं। यों चरित्रों की गणना नहीं हो सकती; पर नाटक में वे जिस रूप में आयें, उनका वैसे ही वैसे विकास होना चाहिए। भाषा सबकी एक-सी नहीं होती। हिन्दी में भाषा-चयन के लिए अनेक प्रकार की अड़चनें हैं, फिर भी उन्हें पार करना होगा। आदर्श एक रहता है, पर वह स्वाभाविक हो। भिन्न चरित्रों के भिन्न आदर्शों के मिश्रण से तैयार एक पूर्णादर्श ही—वह व्यक्त किया गया हो या न किया गया हो—उस नाटक का परिणाम है। कभी-कभी इंगितों द्वारा भाव स्पष्ट किये जाते हैं। गीत के औचित्य पर ध्यान रहना चाहिए। यह नहीं कि राजा सिंहासन पर बैठा हुआ गा रहा है। रंगमंच का पूरा ज्ञान हुए बिना दृश्यों की स्थापना ठीक-ठीक नहीं हो सकती। गीत, वाद्य आदि की भी कुछ समझ लेखक को रहनी चाहिए। नाटककार की साहित्य के सभी अंगों में थोड़ी-बहुत गति होनी चाहिए और समाज के लिए किस प्रकार की प्रकृति आवश्यक है इसका सच्चा अनुभव।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, जून, 1934। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

समालोचना या प्रोपेगैंडा ?

समालोचना के नाम से प्रोपेगेंडा के बादल सूरज को ढक रहे हैं। जब वे जल थे सूरज ही के ताप से भाप बनकर ऊपर उठे थे। पर बादल बनकर, नीचे उतरने के कारण, उसी सूरज को घेरने लगे। तब हवा ने, जिसके वे कभी ऊपर थे, वाष्प

बनकर बदला चुकाया—उन्हें उड़ा दिया, या प्रोपेगेंडिस्टों की तरह वे खुद बरस-कर मिट गये। नीचा दिखाने के लिए नीचे उतरने के कारण जल बन जाने पर भी फल-भोग चलता रहा। वे नीची-से-नीची जमीन से होकर बहे, अन्त में समुद्र से मिलकर खारे हो गये। तब लोगों ने पीकर उनका उपयोग करना भी छोड़ दिया। सूरज का प्रकाश फैलने से न रुका।

प्रोपेगेंडा तब होता है जब लोग सत्य और मिथ्या दोनों को बढ़ाते हैं या किसी दूसरे विरोधी सत्य पर पर्दा डालते हैं। झूठ का भी प्रभाव पड़ता है। स्वाधीन राष्ट्रों के राजनीतिक क्षेत्र में किसी उद्देश-विशेष पर निर्मित झूठे समाचार उत्तम कला की उक्ति से आदृत होते हैं। यों भी हम समाज, साहित्य, धर्म आदि में असत्य का अद्भुत प्रभाव प्रत्यक्ष देखते हैं। यह इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि झूठे समाचारों अथवा कल्पना के आधार पर साहित्य और इतिहास का भी निर्माण हो गया है। यह वृत्ति रोकी नहीं जा सकती। पर जो यथार्थ मनुष्य हैं, वे योग-दर्शनकार ऋषि पतंजलि की तरह, असत्य ही को नहीं, 'प्रमाण' को भी वृत्ति समझकर ज्ञान से बाहर भ्रम मानते हैं।

अभी 25 जून, 1934, के 'अभ्युदय' में 'पन्त, प्रसाद और निराला' शीर्षक एक प्रोपेगेंडा श्री ज्योतिः प्रसाद 'निर्मल' का किया हुआ प्रकाशित हुआ है। इसमें झूठ के शून्य पन्तजी की संख्या के बाद आकर जिस तरह दस-दस गुना बढ़ाये गये हैं, प्रसादजी की और मेरी संख्याओं के पहले आकर उसी तरह दस-दस गुना उन्हें घटाया गया है। लोगों को सत्य का विश्वास दिलाते हुए, आलोचक ने जिस कला का प्रदर्शन किया है उसी की यहाँ छान-बीन की जायेगी।

इस आलोचना या प्रोपेगेंडा में आलोचक का उद्देश पन्तजी को सर्वश्रेष्ठ साबित करना है, और इस आधार पर कि बाकी दोनों समझ में नहीं आते —यही मुख्य प्रमाण भी है।

आलोचना में तीनों को करीब-करीब बराबर जगह दी गयी है। पर तारीफ में विषमता है। 'गुण-दोषमय विश्व' में पन्तजी का हिस्सा सोलहो आने पवित्र है। इस प्रशंसा से ब्रह्म की प्रशंसा भी घटकर ठहरती है। देखिए—'यों तो संसार में ऐसा कोई नहीं जो अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न न होता हो—ईश्वर भी प्रशंसा का भूखा है, मनुष्यों की बात ही कैसी—परन्तु इनमें (पन्तजी में) हमने यह खास बात देखी कि इन्हें न तो प्रशंसा से अधिक प्रसन्नता होती है और न निन्दा से कोई दुःख।···द्वेष-भाव का इनमें नाम तक नहीं है। अपमान-निन्दा को यह सहन कर लेते हैं।' ऐसी बहुत-सी बातें हैं। प्रसादजी का हिस्सा पन्द्रह आने स्याह है, और मेरा पन्द्रह आने ग्यारह सही निन्नानवे बटे सौ पाई।

आलोचक का कहना है कि काव्य-क्षेत्र पर प्रभुत्व जमानेवालों ने प्रोपेगेंडिस्ट पाल रक्खे हैं। इशारा प्रसादजी, आदि पर है। पर उन्होंने यह नहीं लिखा कि प्रोपेगेंडिस्टों से भी निकट सम्बन्धवालों ने पन्तजी का प्रोपेगेंडा ही नहीं, घोर पक्षपात भी किया है; गद्य ही के नहीं पद्य के भी पुल बाँधे हैं। एक जगह, प्रसाद-जी के प्रोपेगेंडा पर लिखते हुए, उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि इसी कारण प्रसादजी गिर गये। वे शब्द इतने इतर हैं कि उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता। ऐसे

शब्दों का प्रयोग करते हुए लेखक को लज्जा नहीं आयी, पर प्रोपेगैंडा और अधिक प्रशंसा ही के कारण 'पल्लव' के कवि की वह शक्ति आज काव्य-साहित्य में लुप्त-सी हो रही है, यह लिखते हुए उनका हृदय हिल गया। लिखा इसके बिलकुल विपरीत। श्री शुकदेवबिहारीजी मिश्र जैसे उनके कई प्रशंसकों को मैं बतलाता हूँ, जो 'पल्लव' की कविताओं से 'गुंजन' की रचनाओं को गिरी हुई बतलाते हैं। मुझे विश्वास है, ऐसी ही राय प्रयाग के भी अधिक-संख्यक लोगों की होगी। वहीं के दो-एक व्यक्ति मुझसे यह कह भी चुके हैं। पर आलोचक को तो प्रोपेगैंडा से मतलब। इसी बहाने दूसरों को कुछ खरी-खोटी सुना दी जाय। प्रसादजी, चूँकि वह हिन्दू-संस्कृति के समर्थक हैं, उसका विकास दिखलाते हैं, इसलिए उन पर काम्युनलिज़्म का अपराध लगाया जाता है; यानी हिन्दू-संस्कृति का विकसित रूप सम्प्रदायवाद है! श्री विनोदशंकरजी व्यास के अधिकार से 'जागरण' का प्रकाशन प्रसादजी के प्रोपेगैंडा ही के लिए हुआ था। प्रमाण? कुछ नहीं, आलोचक ने सुना है!

मेरी इच्छा नहीं थी, इस कटु-प्रसंग में पड़ूँ। पर साहित्य के मरीजों की आलोचना की कड़वी दवा फायदा पहुँचा सकती है, इस विचार से कुछ आलोचनाएँ लिखूँगा। हम लोगों में पन्तजी ही की ज्यादा तारीफ हुई है, युवकों ने उन्हें अधिक अपनाया है। इसके दो कारण हैं, एक तो पन्तजी के काव्य की कोमलता और दूसरे नवयुवकों तथा उनके प्रशंसकों का काव्य-विषयक अज्ञान तथा सौन्दर्य की अदूरदर्शिता। पन्तजी को आलोचना के धक्के से चोट लगने और हिन्दी-साहित्य की क्षति होने का विचार मुझे लिखने से रोकता रहा। इसीलिए, इधर डेढ़-दो वर्षों के अन्दर कई प्रहार मिलने पर भी, मैंने चुपचाप अपमान बरदाश्त कर लिया। भिन्न-भिन्न पत्रों में यह सब जिस तरह से हुआ है, इसके उल्लेख की मैं आवश्यकता नहीं समझता। पन्तजी के सम्मान की कोई त्रुटि नहीं हुई; हम लोगों के जितने उल्लेख हुए हैं, उनमें वही ज्यादा चमके हैं। इस पर मुझे प्रसन्नता ही हुई है। मैंने अपने लेखों में भी उनके दागों की तरफ न देखकर सफाई ही की तरफ निगाह डाली है। 'ज्योत्स्ना' की 'विज्ञापिका' मैंने अपने अस्तित्व को भूलकर लिखी है। केवल 'पन्तजी और पल्लव' में उनकी उचित आलोचना मैंने की थी, पर तब जब 'पल्लव' के 'प्रवेश' में वह मेरे सम्बन्ध में गलतियाँ कर चुके थे। मैं 'पन्तजी और पल्लव' को पुस्तक-रूप में प्रकाशित नहीं करवाना चाहता था; पर जब 'पल्लव' के दूसरे संस्करण में मेरा हिस्सा ज्यों-का-त्यों प्रकाशित हुआ, तब 'प्रबन्ध-पद्म' में उस आलोचना को भी निकलवा देना मैंने उचित समझा। इस तरह मैं बराबर पन्तजी से बाजू बचाकर चला। हिन्दी-साहित्य के ज्ञाता इस बात से परिचित होंगे कि पन्तजी की सर्वश्रेष्ठता को मैंने स्वयं कम सहायता नहीं पहुँचायी। मुझे अगर वह वास्तव में सर्वश्रेष्ठ जँचते तो मैं उनका पहला समर्थक होता, क्योंकि ऐसे सर्वश्रेष्ठत्व का भार मस्तिष्क को और हलका करता है। दुःख है, जिस कला को केवल कृतियों द्वारा विकसित करने का मैंने निश्चय किया था, उसका उपयोग पन्तजी की रचनाओं पर आलोचना द्वारा भी मुझे करना होगा, और यदि ईश्वर की निष्करुणता के कारण वह पन्तजी के प्रशंसकों की समझ में आ गयी तो छायावाद साहित्य के एक उज्ज्वल रत्न का प्रकाश मन्द पड़ जायेगा।

पहले जब-जब मुझे नीचा दिखाया गया, मैं यह सोच-सोचकर चुप रहा कि मेरी आलोचना की चोट भक्तों से पहले उनके भगवान् पर होती है। पर अब मेरी भी इच्छा तमाशा देखने की है; ज़रा देखूँ पन्तजी के प्रशंसकों की कलाबाजी कितनी ऊँची उड़ान लेती है।

'अभ्युदय' के आलोचक ने लिखा है—'निष्पक्ष भाव से जिसने भी उसे ('पन्तजी और पल्लव' आलोचना को) पढ़ा, उसने यही कहा कि इस तरह बाल की खाल सभी निकाल सकते हैं।···पन्तजी ने हिन्दी को जो रचनाएँ भेंट की हैं, वे उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं—केवल 'गुंजन' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी अधिकांश कविताएँ नयी हैं।···सचमुच इनकी कविता भावपूर्ण होते हुए भी सार्थक होती है, सन्निपातिनी नहीं।' इस 'सन्निपात' शब्द के साथ मेरा ही सम्बन्ध स्थापित हुआ है। 'विशाल भारत' में इसके प्रमाण हैं।

अब देखना है कि पन्तजी की, उनकी उम्र के तीसवें साल के इधर-उधर की लिखी हुई, कविता कितनी भावपूर्ण और सार्थक है। 'गुंजन' का 18वाँ पद्य लीजिए—

'झर गयी कली, झर गयी कली !
'चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गयी चली !
आयी लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने,
वह चंचल-सुख से गयी छली !'
आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी ?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं,
सब खेलीं, हिलीं, रहीं सँभली !
निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव नव लहरों से मिलना था,
निज सुख-दुख सहज बदलना था,
रे गेह छोड़ वह बह निकली !
है लेन देन ही जग-जीवन,
अपना पर सब का अपनापन,
खो निज आतमा का अक्षय धन,
लहरों में भ्रमित, गयी निगली !'

इसका अर्थ साफ है, पर लिख दूँगा तो और अच्छा होगा :—

'कली झड़ गयी, कली झड़ गयी! वह चंचल सरिता के तट पर खिली, उसकी सुरभि से सहज वासित सरला सुबह ही को तो अभी हँसी है। पर रे ! कूदकर

वह सलिल में चली गयी !'

प्रश्न यह है, यह कूदकर चली कैसे गयी ? यह अधखिली कली है, अभी उसका पूरा विकास नहीं हुआ। आगे कवि खुद कहता है—'निज वृन्त पर उसे खिलना था।' डण्ठल महाशय जब तक उसे मजबूती से पकड़े हुए हैं तब तक इसका कूद जाना कदापि सम्भव नहीं, फिर अधखिली कली का, जिसकी पकड़ और मजबूत है ! क्या इच्छामात्र से अधखिली कली इसी तरह कूद जा सकती है ?

आगे की पंक्तियों का अर्थ है—'लहरी चूमने, अधरों पर मधुर अधर रखने, फेनिल मोती से मुँह भरने आयी। रे, वह (कली) चंचल सुख से छली गयी।'

कवि अब कहता है कि इस चंचल सुख की आशा से वह छली गयी, यानी सुख देखकर कूद पड़ी। यह सार्थकता है कि सुख देखा और कली ने लांग जम्प (Long jump) भरा। फिर, कली और लहर दोनों औरतें हैं। औरत को चूमने और औरत के अधरों पर अधर रखने में औरत को कौन-सा प्राकृतिक लोभ है, जिसके लिए कली कूद गयी ? पुन: जब कली युवती-रूप में सजीव (Personified) की गयी है, तब 'फेनिल मोती से मुँह भरने' में कौन-सी सार्थकता हुई ? क्या किसी स्त्री का मोतियों से मुँह भी भरा जाता है ?

इसके बाद, आप लोग देख लीजिए, दस लाइनों में केवल उपदेश और दार्शनिकता आयी है कि उसे वैसा न करना था, यानी घर ही पर रहना था। बाद की दो लाइनों में कहा है कि इस प्रकार, अपनी आत्मा का अक्षय धन खोकर, वह लहरों में चक्कर काटती रही और अन्त में निगल ली गयी। अधखिली कली और फूल तो क्या, कली भी पानी में डूबती नहीं।

अब ज़रा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ऐसा ही एक भाव देखिए—

'श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फुटिबे फूल।
खेला-छले काछे जासिया लहरी
चकिते चूमिया पलाए जाबे;
शरम - विकला कुसुम - रमणी
फिराबे आनन शिहरी अमनि,
आबेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे।
भेसे गिये शेषे काँदिबे हाय
किनारा कोथाय पाबे !'

मतलब यह है—'मेरे दोनों तट श्यामल हैं। बीच-बीच उनमें फूल खिलेंगे। (इनमें से किसी एक के पास) लहर खेलने के बहाने आकर, एकाएक चूमकर भाग जायेगी। तब लाज से विह्वल होकर, कुसुम-कामिनी—अधखिली कली—काँपकर, उसी वक्त मुँह फेर लेगी; अन्त में मारे आवेश के अवश होकर वह खुलकर गिर जायेगी। बहती हुई अन्त में रोयेगी। हाय, उसे किनारा कहाँ मिलेगा !'

सोचिए, कोई डाल नदी की लहरों को छूती हुई है। डाल के एक गुच्छे में एक खिला फूल है और एक अधखिली कली। इसी पर सार्थक कल्पना है। लहर मानो

खेलने के छल से फूल के पास आती है—खेलने का छल इसलिए कि लहर का मत-लब दूसरे न ताड़ पायें। फिर एकाएक फूल को चूमकर भग जाती है। देखिए, फूल पुरुष है और लहर स्त्री। डाल में भी इस तरह झोंका लगता है जिससे अध-खिली कली की कल्पना होती है। झोंके से डाल हिल जाती है, कली में भी क्रियाएँ होती हैं। इस पर कहा गया है कि लहर जब फूल को चूमकर चली गयी तब कली यह देखकर लाज से विह्वल हो गयी। काँपकर उसने मुँह फेर लिया, और मारे आवेश के विवश होकर वह खुलकर गिर गयी। देखते हैं, खुलकर गिरने से पहले कितनी क्रियाएँ होती हैं—कितने कारण आते हैं? फिर, यह रूप की ऐसी परि-पूर्ण कला अरूप में कितना सुन्दर स्थान प्राप्त करती है। कवि दुख और सहानु-भूति के भीतर से अरूपता का दृश्य दिखाता है। कहता है, बहती हुई वह रोयेगी, उसे किनारा कहाँ मिलेगा। ऐसी सुन्दरी अभिमानिनी लहरों पर बहती-बहती अदृश्य हो जाती है। यह कला का परिणाम हुआ। 'हाय' और 'कोथाय' के पतन और उत्थान से रवीन्द्रनाथ छन्द में भी लहर बना देते हैं—बहाने के लिए। यह पद्य रवीन्द्रनाथ के जीवन से सम्बन्ध रखता है। नदी के रूपक से तरुण कवि रवीन्द्र-नाथ स्वयं ऐसा-ऐसा होगा यह कह रहे हैं। इसीलिए बँगला में क्रियाएँ भविष्यकाल की आयी हैं। यह बहुत बड़ी और संसार की एक शक्तिमयी उत्तम कविताओं में मानी जाती है। कवीन्द्र की यह प्राथमिक रचनाओं में से है।

अब आप लोग दोनों का मिलान करके देखिए, कौन कैसी है? आलोचक महाशय अवश्य कहेंगे, यह भाव खींचतान करके मिलाया गया है।

प्रसादजी के बाद मेरा अंश है। कुछ उद्धरण देकर विचार करूँगा। लिखा है:—

'एक दिन मुंशीजी (नवजादिकलालजी श्रीवास्तव, सम्पादक 'चाँद') ने मुझसे कहा कि 'मतवाला' में निरालाजी की रचना हमने खास-तौर से छापी, श्री महादेव-प्रसाद सेठ उसका विरोध करते थे। वह कहते थे कि ये कविताएँ समझ में भी आती हैं या छपती ही हैं। मैंने कहा कि हाँ मेरी समझ में ये कविताएँ आती हैं, लेकिन यदि मैं आपको समझाऊँ तो आपकी समझ में न आयेंगी। यद्यपि मैं स्वयं भी उन्हें नहीं समझता था, परन्तु मैंने यह खयाल किया कि यह एक नवयुवक साहित्यिक हैं, इन्हें प्रोत्साहन देना बहुत अच्छा है।'

यह सोलहो आने झूठ है। मुझे विश्वास नहीं, मुंशीजी ऐसा कहेंगे। 'मत-वाला' सम्पादक, श्री महादेवप्रसादजी सेठ, ने 'मतवाला' के दूसरे साल के पहले अंक में मेरे सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला है। पुनः, 'मतवाला' के निकलने के पहले से महादेव बाबू मेरे पद्य के प्रशंसक रहे हैं। शिवपूजनजी से लिखकर मेरी 'अधिवास' कविता 'माधुरी' के लिए उन्होंने भेजवायी थी। 'माधुरी' ने इसे सम्मानवाला स्थान (मुखपृष्ठ) दिया था। 'मतवाला' का मोटो मेरा लिखा हुआ था। 'मतवाला' द्वारा प्रोत्साहित होने की मुझे लालसा न थी। तब मैं 'समन्वय' का कार्यकारी सम्पादक था। 'पन्तजी और पल्लव' में मैंने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है। उसकी दो पंक्तियाँ देखिए—'हिन्दी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम मित्र हुए 'मतवाला' के सुयोग्य सम्पादक, श्री महादेवप्रसादजी सेठ और श्री शिव-

पूजन सहायजी (हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक)। श्री सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलायी पड़ा और वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए।' पुनः मुझको हिन्दी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है श्री बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' 'के शब्दों में' छिपे हुए हीरे, श्री महादेवप्रसादजी सेठ, को और उनके पत्र 'मतवाला' को। 'मतवाला' के निकलने से पहले मैंने 'अनामिका' लिखी थी। उसे महादेव बाबू ही ने प्रकाशित किया था। उन्हींने उसकी भूमिका तथा यह इतनी बड़ी बात लिखी थी—

'अदाए खास से ग़ालिब हुआ है नुक़्त:सरा,
सेलाए आम है यारान - नुक़्तदां के लिए।'

यह सब छपा साहित्य है, 'अभ्युदय' के आलोचक का जैसा सुना हुआ नहीं—

'पुरा कवीनां गणाना प्रसंगे
कणिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास:।
अद्यापि तत्तुल्यकवेर भावात्
'अनामिका' सार्थवती बभूव।'

लेखक का कहना है—'यहाँ हमने जो बातें लिखी हैं, वे निष्पक्ष होकर। जो हमारी आदत से वाकिफ हैं, वे यह जानते हैं कि हमें न ऊधो का लेना न माधो का देना।' मुझे तो बहुत दिनों से ऐसा विश्वास है। आपको याद दिला दूँ—आपके इस 'हम' से मिलनेवालों में जो जितने और जिस हिसाब से आपके निकट हैं, वे भी उतने ही और उसी हिसाब से निष्पक्ष और सत्यवादी होंगे। आपके 'हम' का ऐसा ही अर्थ मेरी समझ में आया।

आपने और भी लिखा है—' 'भावों की भिड़न्त' लिखकर इनके 'बादल-राग', आदि, कविताओं का रवीन्द्रबाबू की कविता से ज्यों का त्यों साम्य दिखलाया था, उसके प्रकाशित होने पर बड़ा दुःखप्रद भण्डाफोड़ हुआ।' मालूम होना चाहिए कि 'बादल-राग' शीर्षक मेरी छः रचनाओं में किसी का भाव बाहर से नहीं लिया गया। ये छहों कविताएँ 'परिमल' में हैं। 'भावों की भिड़न्त' से पहले 'मतवाला' में मेरा पत्र प्रकाशित हुआ था। उसमें, जहाँ तक याद मुझे है, मैंने लिखा था कि मेरी अब तक की प्रकाशित 70-80 कविताओं में 3-4 ऐसी हैं, जिन्हें मैंने रविबाबू की कविता से लेकर लिखा है, यह देखने के लिए कि वे कैसी चमकती हैं। इसका बहुत बड़ा इतिहास है। मुंशी नवजादिकलालजी से प्रयाग के कोई सज्जन पूछें। मैंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रकाश डाला है, वह जानते हैं। अस्तु, मेरा पत्र पहले प्रकाशित हुआ था। इसी पत्र की दो कविताएँ 'भावों की भिड़न्त' में थीं। यह पत्र 'मतवाला' के दूसरे साल के प्रारम्भ में छपा था।

भाव लेने के सम्बन्ध में अन्यत्र मैंने लिखा है। भाव प्रायः सभी कवि ग्रहण करते हैं। तुलसीदास, कालिदास और रवीन्द्रनाथ ने भी दूसरी जगहों से भाव लिये हैं। यहाँ भाव लेने पर भी व्यक्तिगत विशेषताएँ कवियों ने स्पष्ट की हैं। इससे प्रायः कला अधिक पुष्ट होती है। दोष होता है उस समय जब भाव ग्रहण करके भी कवि कला विकसित नहीं कर पाता, कली को बहाने की जगह डुबाकर

कला और पर्यवेक्षण का गला घोंट देता है।

इस भावापहरण पर मैंने 'परिमल' की भूमिका में लिखा है—'मेरी तमाम रचनाओं में दो-चार जगह दूसरों के भाव, मुमकिन है, आ गये हों; पर अधिकांश कल्पना, 95 फीसदी, मेरी अपनी है।' यह भी शायद मुश्किल होने की वजह से निष्पक्ष आलोचक की समझ में नहीं आया। जो कुछ आया, वह यह है—" 'परिमल' और 'अप्सरा' इनकी कृति हैं, जो दुरूहता के कारण विशेष रुचिकर नहीं हैं। यह भी गुरुडम के पक्षपाती हैं। एक उत्तेजिक व्यक्ति हैं। स्वर्गीय श्री पद्मसिंह शर्मा इन्हें 'अहम्मन्यता की मूर्ति' उपाधि से भूषित करते थे," आदि। दो एक अच्छी बातें भी हैं, पर यह नमक इस तैयार दाल को और स्वाददार करने के लिए है। श्री पद्मसिंहजी जब हिन्दुस्तानी एकेडमी में आये थे, तब उन्होंने मुझे बुलाया था। संवाद पाकर मैं श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ लूकरगंज से दारागंज उनसे मिलने के लिए गया था। तभी श्री लक्ष्मीधरजी वाजपेयी के उनके निवास-स्थान पर मैंने पहले पहल दर्शन किये थे, उन्हें याद होगा श्री पद्मसिंहजी अपने डेरे पर नहीं मिले। दोपहर हो जाने के कारण वहाँ से चलकर हम लोगों ने गंगा-स्नान किया। यह मामूली अहम्मन्यता न थी।

आलोचकजी से प्रश्न है, छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि की कविता कैसी भाव-पूर्ण रही ?—सन्निपातिनी हुई या नहीं ?

['अभ्युदय', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 16 जुलाई, 1934। असंकलित]

आरोप के रूप

गत 16 जुलाई के 'अभ्युदय' में प्रमाणों द्वारा मुझे साबित करना पड़ा था कि 25 जून के 'अभ्युदय' में मुझ पर होनेवाले आक्षेप मिथ्या हैं। आक्षेपकारी ने दम नहीं लिया। 23 जुलाईवाले अंक में कई निष्प्रमाण आक्षेप उन्होंने पुनः कर दिये हैं। इन्हें मैं जानता हूँ, झूठ हैं।

लेखक लिखते हैं—'मैं यह दावे के साथ कहता हूँ और बार-बार कहता हूँ कि मैंने जो यह लिखा था कि एक दिन मुंशीजी (श्री नवजादिकलाल श्रीवास्तव, सम्पादक, 'चाँद') ने मुझसे कहा···'

पूछने पर मुंशीजी लिखते हैं—" 'अभ्युदय' में छपा हुआ निर्मलजी का लेख पढ़ा। उन्होंने मेरा कहा हुआ जो कुछ उद्धृत किया है, वह आपादमस्तक मिथ्या है। लेख छपने से पूर्व मुझसे और निर्मलजी से आपके सम्बन्ध में कभी कोई बात-चीत नहीं हुई।"

'एक दिन मुंशीजी ने मुझसे कहा' के साथ मुंशीजी का लिखा हुआ मिलाइए।

आक्षेप जो हो रहे हैं, उनके उदात्त स्वर के लिए क्या कहना है। लिखा है—'यह बातें सोलहो आने झूठी नहीं बल्कि सवा सोलह आना सत्य हैं।' कितनी ऊँची आवाज है। मुंशीजी के पत्र का जिन्हें विश्वास न हो वे मेरे पास आकर देख जायँ और उनके हस्ताक्षर मिलाकर तब विश्वास करें। पत्र में और बहुत-सी बातें हैं, जो अभी नहीं, धीरे-धीरे, समय आया तो जाहिर की जायँगी।

आक्षेपकारी ने लिखा है—'रायबहादुर मिश्रजी की यह कभी सम्मति नहीं हो सकती कि 'गुंजन' 'पल्लव' से गिरा हुआ काव्य है। क्या निरालाजी के पास अपने पक्ष के समर्थन में कोई प्रमाण भी है? केवल जबानी जमाखर्च से 'गुंजन' निकृष्ट काव्य नहीं हो सकता।'

मैं जो कुछ भी लिखूं, उसके लिए प्रमाण आवश्यक है, पर आप जो कुछ लिखें, वह निष्प्रमाण भी सिद्ध है! इस बार भी, दो पृष्ठ के आक्षेपों में एक भी आक्षेप सप्रमाण नहीं। खैर। 'मिश्रबन्धु-विनोद' का चतुर्थ भाग, अभी महीने-भर हुआ, प्रकाशित हुआ है। 'गुंजन' साहित्य की गत 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' प्रतियोगिता में आया था। श्री श्यामबिहारीजी मिश्र निर्णायकों में से थे। मतलब यह कि 'गुंजन' मिश्रबन्धुओं के यहाँ आ चुका है। इस 'मिश्रबन्धु-विनोद' के 332वें पृष्ठ में लिखा है—'सुमित्रानन्दन पन्त ने केवल 'पल्लव' में साहित्यिक गौरव का चमकता हुआ उदाहरण दिखलाया है।' क्या आक्षेपकारी बतला सकते हैं कि 'केवल पल्लव' के क्या मानी हैं? सविशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो श्री शुकदेवबिहारीजी मिश्र से मिलकर बातें कर लें। हम लोगों से उन्होंने ऐसा ही कहा है, प्रमाण भी दिया जा सकता है।

आक्षेपकारी, पन्तजी के प्रोपेगेंडिस्ट लिखते हैं—'जिस 'कली' कविता का निरालाजी ने बेबुनियाद अर्थ करने की कृपा की है वह अर्थ उसी प्रकार का है, जैसा आपने 'वर्तमान धर्म' का भाष्य करते समय 'माधुरी' के पृष्ठों में किया था।' इन पंक्तियों के लेखक को चाहिए कि वह मेरे अर्थ का उद्धरण देते हुए 'कली' पर किया हुआ अपना विशद अर्थ लिखें। रविबाबू की पंक्तियाँ और मेरा किया हुआ उनका अर्थ साथ-साथ रहना चाहिए। इस तरह लोगों को समझने की सुविधा होगी कि पन्तजी की पंक्तियों का पहले विकृत अर्थ किया गया था।

मुझ पर एक आक्षेप यह भी है—'पन्तजी की नवप्रकाशित 'ज्योत्स्ना' में जो 'विज्ञप्ति' आपने लिखी है, वह भी जबरदस्ती।···यदि निरालाजी यह चाहते हैं कि वह अमुक लेखक की पुस्तक की भूमिका लिखें तो बेचारा लेखक, यदि शील-वान और संकोची हो, कैसे इंकार कर सकता है?' निस्सन्देह, बहुत पुष्ट तर्क है। पर कहिए तो पन्तजी ही से इसका प्रमाण दिलाया जाय कि पहले मैंने विज्ञप्ति लिखने से इन्कार किया था। पन्तजी से मैंने कहा था, 'जब आप भी पाँच सवारों में एक हैं, मुझसे भूमिका के तौर पर कुछ न लिखाइए, इससे आपकी इज्जत घटेगी। मैं होता तो न लिखाता। मैं समर्पण करना अच्छा समझता हूँ, भूमिका लिखाना बुरा।' पन्तजी इन्कार इसलिए नहीं कर सकते थे कि उस समय श्री दुलारेलालजी भार्गव भी थे, वह गवाह हैं। यह जरूर है कि पन्तजी का मुझसे कुछ लिखाना उनकी सहृदयता का सूचक है। लोगों को मेरा 'टोन' अच्छा नहीं

लगा, शायद इसलिए कि मैंने गुलाब के नीचे काँटों का जिक्र कर दिया था। पर 'लीडर' और 'अभ्युदय' में जो आलोचनाएँ निकली हैं, उनमें तो काँटे ही ऊपर हो रहे हैं। केवड़ा के जैसे सूँघते ही नाक छिदती है। मैंने तो उन्हें गुलाब के नीचे रक्खा था। इन आलोचनाओं का उन साहित्यिकों पर शायद अच्छा असर पड़ा है।

आलोचक ने लिखा है—'क्या यह सत्य नहीं है कि श्री निरालाजी ने 'प्रभा' में 'भावों की भिड़न्त' लेख छपने की सूचना पाकर उसे रुकवाने के लिए कानपुर का धावा किया था? क्या यह सत्य नहीं है कि 'प्रभा' के उस फार्म के छप जाने के कारण वहाँ से निरालाजी निराश होकर लौटे थे? यदि निरालाजी में हिम्मत हो तो वह उक्त बातों की सत्यता जाहिर करें।···मजा यह कि निरालाजी मुंशी-जी से पूछकर नहीं बल्कि चुपचाप गये थे। मुंशीजी ने तो मुझसे यहाँ तक कहा कि यदि मैं जानता कि निरालाजी कानपुर जा रहे हैं तो उन्हें रोक देता।' भगवन्! मैं कलकत्ते से आक्षेपवाली 'प्रभा' के निकल जाने के बाद रवाना हुआ था। जब मैंने स्वयं अपनी कविताओं के सम्बन्ध में पत्र प्रकाशित करा दिया तब 'प्रभा' में रुकवाने से मुझे लाभ क्या होता? कलकत्ते से चलने का कारण यह था कि उसी साल, 1924 ई. में, एक सेटलमेण्ट (Settlement) अवध में हुआ था। मेरी भी थोड़ी-सी जमींदारी हक़वाली जमीन और बागात हैं, इनका रेकार्ड दुरुस्त करवाना था। इनका मैं ही मालिक था और हूँ। हम लोग बीघापुर स्टेशन उतरने के लिए पहले कानपुर जाते हैं, फिर वहाँ से बीघापुर। प्रयाग से भी रास्ता है, पर जब ऊँचाहार और डलमऊ दो जगह गाड़ी बदलनी पड़ती थी। (अब डलमऊ-ऊँचाहारवाली लाइन बन्द हो गयी है) देर हो जाती थी, हैरानी ऊपर से होती थी। अस्तु, कानपुर से गाँव जाकर गाँव से मैं कानपुर गया था। विद्यार्थीजी के समय तक मैं बराबर नवीनजी से कानपुर जाने पर मिलता रहा हूँ। मुमकिन है, यह नवीनजी से मिलने का पहला मौका रहा हो। कानपुर मैं खासतौर पर इस उद्देश से गया था कि आचार्य द्विवेदीजी उस समय जुही में थे, उनके दर्शन करने थे। गाँव आने पर मैं दो-एक बार द्विवेदीजी के दर्शन करने जाया करता था। मुंशीजी को मेरे चलने की खबर नहीं हुई, यह बिलकुल गलत है। मैं 40) चालीस रुपये मुंशीजी ही से खर्च लेकर चला था। यह रकम अब भी 'मतवाला' के कैशबुक में दर्ज होगी। उस समय महादेव बाबू मिर्जापुर में थे। 'प्रभा' तब कमर्श्यल प्रेस, जुही में छपती थी। द्विवेदीजी बगल ही में रहते थे। नवीनजी के साथ एक ही एक्के में मैं द्विवेदीजी के आवास को गया था। इसी यात्रा में इससे पहले भी मैं एक बार जा चुका था। नवीनजी ने बादवाली 'प्रभा' में मेरी तारीफ में एक नोट लिखा था जिसे प्रेस में ले जाकर उन्होंने मुझे दिखाया था। नोट केवल प्रशंसात्मक था, इसलिए मैंने नवीनजी से निकाल देने का अनुरोध किया था। नवीनजी से यह मालूम कर कि सम्पादकीय मैटर भी बढ़ रहा है, मैंने उस नोट को निकाल देने पर और जोर दिया था। इस प्रकार आक्षेप के बादवाले अंक में तारीफ निकाली थी। ज़रा नवीनजी से भी पूछा जाय। इन दोनों बातों में से वे किसे सच कहते हैं। इसके प्रमाण की कोई गुंजायश रही नहीं, नवीनजी का कहना कहना है। फिर भी मैं यह

प्रमाण दे दूँगा कि आक्षेपवाली 'प्रभा' के निकलने के बाद मैं कलकत्ते से चला था।

जो यह लिखा है—'क्या यह सत्य नहीं है कि श्री निरालाजी ने अपनी तथा अपनी कविताओं की तारीफ में स्वयं लेख लिखा था, और मुंशीजी को दबाकर और परेशान करके उनके नाम से छपाया था?' इसका उत्तर मुंशीजी से लिखाया जाना चाहिए। मैं आपसे पूछता हूँ आप ऐसा किस आधार पर लिख रहे हैं?

इस बार भी मुझ पर अनेक प्रकार के आक्षेप हुए हैं। मुख्य-मुख्य जो थे, उनके मैंने उत्तर दे दिये। मेरी भी समझ में नहीं आ रहा कि मेरा इतना साहित्य जहाँ न समझा हुआ पड़ा है, वहाँ लोग मेरे सम्बन्ध में ऊँची-ऊँची आवाजें कैसे लगा देते हैं! डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे भारत के सर्वश्रेष्ठ (मुमकिन, एशिया के भी हों) भाषा-तत्ववेत्ता को कैसे मालूम हो गया कि मैंने हिन्दी में युग-प्रवर्तन किया है और श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी जो मेरे साहित्य के सबसे कम समझदार हैं, डॉ. चटर्जी की इस बात का समर्थन कैसे कर देते हैं, और वहाँ जहाँ हिन्दी और बंगला के बडे-बड़े लोग एकत्र हो रहे हों—जब हिन्दी साहित्य-सम्मेलन बंगीय साहित्य-परिषद द्वारा आमन्त्रित होकर गया हो? मैं मानता हूँ छोटों को इसी प्रकार बनाकर वे मजाक करते हैं, हँसते हैं। पर श्री बनारसी-दासजी ही से पूछा जाय, मैंने अपनी क्षुद्रता का ज्ञान वहाँ भी रक्खा था—मैंने अपने अधूरे भाषण में यह श्रेय नहीं लिया, बल्कि जांरा जुग-परिवर्तन कोरे छेन कहकर गुप्तजी, प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, पन्तजी, आदि, जो जो इसके लिए उम्मेद-वार खड़े हो सकते हैं, उन्हें बाँट दिया था। पर बंगाली विद्वानों को इतने पर भी शायद सन्तोष नहीं हुआ। बाद को धन्यवाद देनेवाले सज्जन ने यहाँ तक कह डाला कि युग-प्रवर्तन करनेवाली किरणों का कलकत्ते ही से फूटकर निकलना सम्भव है। सब लोग सुनकर कान फटकारते चले आये थे। मैं आप लोगों को एक बहुत जरूरी सूचना देता हूँ। अभी तो मेरा साहित्य एक बटे दस ही समझा गया है, जैसा आलोचक ने लिखा है। इतने में यह हाल है। जब समझने के लिए भग्नांश बाकी न रहेगा तब बड़ी खराब हालत हिन्दी की हो जायगी, विशेषतः हिन्दी के कवि और लेखकों की। क्योंकि मेरे साहित्य की समझ से भी हिन्दी जाननेवाले बंगालियों की संख्या कम है। अगर दोनों तरफ कुछ प्रसार हुआ और बंगाली जैसे प्रान्तीय भाववाले होते हैं, आपकी खड़ी बोली के लिए बड़ा खतरा हो जायगा। वे लोग कहेंगे, हिन्दी में युगप्रवर्तक बंगाल ही का मनुष्य हुआ। हिन्दी के लोग जानते हैं मेरी जन्मभूमि बंगाल है। इसका एक प्रमाण भी मैं दे चुका हूँ कि ऐसा कहा गया था। इसलिए जिन्हें युक्त-प्रान्त की नाक की कुछ भी चिन्ता हो वे सचेष्ट हो जायँ।

'वर्तमान-धर्म' की टीका श्री शालिग्रामजी शास्त्री की समझ में नहीं आयी तो जाने दीजिए। शास्त्रीजी हिन्दू हैं ही। उनसे कहिए, चूहे पर हाथी के आकारवाले गणेशजी को चढ़ा दें। तब देखा जाय, कौन-कौन समझते हैं और कौन-कौन नहीं समझते।

पन्तजी का प्रसंग छूट रहा है। ये दो पंक्तियाँ आलोचक समझा दें—

'जलद-पट से दिखला मुख चन्द्र,
पलक पल-पल चपला के मार।'

'जलद है पट, शायद घूँघट, उसे हटाकर मुख-चन्द्र (मुखमण्डल रूपी चन्द्र) दिखाकर प्रतिपल चपला के पलक मारकर' यह चपला कहाँ है ? चन्द्र में ? नहीं ! तो पलक कहाँ है ?—जलद-पट में ? कैसी सूरत बनती है, ज़रा अच्छी तरह समझाइए। मालूम हो कि आलोचक से मैंने भी कुछ समझाने के लिए प्रार्थना की है। केवल उनकी सत्योक्तियों के उत्तर देते रहना ही [पर्याप्त] नहीं।

['अभ्युदय', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 6 अगस्त, 1934। असंकलित]

श्री 'चकोरी'जी की कविता

हिन्दी की, अभिराम अलग-अलग रंगोंवाली, मधु और सौरभ से भरी, सुघर काव्य की वासन्तिका, दूर दिशाओं तक फैले नीले आकाश के नीचे, सोते से उठी वयस्का कुमारियों की आँखों में जैसे, युगपद, भीतर और बाहर की विपुल विश्व-विभूतियों में विकास पाती जा रही है। एक ही शुभ समय के धारा-प्रवाह में दिव्य जिन कलियों ने पहले-पहल आँख खोलकर पलटती पारिपार्श्विक स्थिति को देखकर समझा और अपने काव्य के नैसर्गिक सौन्दर्य, रंग और गन्धों से दर्शकों को चकित, प्रसन्न और उद्वेल कर दिया, उनमें श्रीमती तोरणदेवी शुक्ल 'लली', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्रीमती महादेवी वर्मा एम. ए., श्रीमती रामेश्वरी देवी 'चकोरी', श्रीमती तारादेवी पाण्डेय आदि के नाम मुख्य हैं। हिन्दी के नवीन युग-विकास को युवकों की तुलना में कम शक्ति इनसे नहीं प्राप्त हुई। कालिदास कला-विषय पर पति के मुकाबिले उन्हें, "प्रिय शिष्या ललिते कला-विधौ" इस उक्ति से शायद प्राधान्य देना नहीं चाहते और यह उस समय की शायद अधिक रसिकता रही हो; पर मुझे दोनों सम, बल्कि ललित कलाविधि में देवियाँ समधिक कुशल देख पड़ती हैं। अवश्य यहाँ इसका विकास समय-सापेक्ष है। वैज्ञानिक उक्ति उपाध्याय 'हरिऔध'जी की इस विषय में मुझे अच्छी लगती है—

नर है पीवर धीर-वीर संयत श्रमकारी,
है मृदु-तन उपराममयी तरलित-उर नारी।

'चकोरी'जी का हाथ बहुत कम उम्र में काव्य-लेखन में सधा, शायद हिन्दी की किसी भी प्रतिभा का इतना जल्द स्फुरण नहीं हुआ, यहाँ आने पर उनके प्रशंसकों तथा परिजनों से मुझे ज्ञात हुआ। पहले उनकी बेले की खुशबू-सी कोमल और शरत् की ज्योत्स्ना-रात-सी मादक केवल रचना की ओर मेरा मन गया था। तब उनका शुभ विवाह न हुआ था। तारीफ करते हुए अपने एक मित्र से मुझे मालूम

हुआ कि वह मेरे बिलकुल पड़ोस—एक ही जिले की अमुक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कुल की दुहिता हैं। क्रमशः लखनऊ रहने के कारण, 'चकोरी'जी के प्रिय, हिन्दी के सुलेखक और कवि 'अरुण'जी से मेरी जान-पहिचान और घनिष्ठता हुई। मुझे उनके काव्य के अतिरिक्त कवि-जीवन का भी प्रकाश मिला। तब भी तारा, नलिनी आदि हिन्दी में न खुली-खिली थीं; शायद उनके विकास की गन्ध उनके हृदय में भर रही थी और यदि वह भीनी-भीनी बहती भी रही, तो मुझे उसका पता न था।

खड़ी बोली के काव्य का मनुष्यावास-योग्य जीवन नहीं बन पाया। अभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों से भिन्न-भिन्न कवियों के मस्तिष्क में उपदेवताओं की तरह वह चक्कर काट रही है, जैसे उन आवर्तों से सहस्र-सहस्र शरीर निर्मित हो रहे हों; प्राण और आत्मा से युक्त सुखद संलाप भी होते जाते हैं। पर ये अभी कवियों के भाव-संसार में जितने पूर्ण और संस्कृत हैं, खड़ी बोली के प्राकृत विश्व में उतने नहीं। साधारण जनता इस जीवन से अभी बहुत पीछे है। शिक्षितों के यहाँ भी अधिकांश में प्रान्तीय बोलियाँ घरेलू व्यवहार में प्रचलित हैं। कहीं-कहीं खड़ी बोली बोली जाती है, पर इसका साहित्यिक महत्त्व बहुत परिमित है। इसलिए, सृष्टि की प्राथमिक दशा की तरह, खड़ी बोली की कविता अभी केवल शक्ति-राशि या आकारहीन स्वर है। यह इसीलिए इस समय कवियों को शक्ति द्वारा दम्य नहीं हो रही, बल्कि उन्हीं को अपनी शक्ति से कभी-कभी विपत्ति में डाल देती है। दो-एक देवियों को मैं जानता हूँ, कुछ ही अच्छे पद्य लिखने के बाद उन्हें क्लिष्ट होकर इस संसार से प्रयाण कर जाना पड़ा। कुछ बहुत बुरी तरह घायल हो गयीं, 'चकोरी' और 'तारा' इन्हीं में हैं। और भी कई कोकिलाएँ हृदय-व्याधि के कारण सुरीली आवाज सुनाने को अभी-अभी अशक्त हो जाती हैं। कवियों में भी यह व्याधि है। श्री सुमित्रानन्दनजी पन्त को हृद्रोग से दो-ढाई साल तक लिखना बन्द रखना पड़ा था। प्रसादजी भी पीड़ित रहते थे। मुझे भी इसका यथेष्ट परिज्ञान हो चुका है। अस्तु, बीमारी के कारण 'चकोरी'जी का प्रफुल्ल, पूरे चाँदवाली रात का मनोविकास न हो सका। पर हँसी के जो फूल व्यथा से रँगे जाकर आत्मा की सुरभि लेकर आये, वे उनकी स्मृति को अक्षय रखेंगे। यह भी आशा है कि अच्छी होकर नये उत्साह से काव्य के खुले उत्स द्वारा वह अपने बन्धु-बान्धवों को पुनः स्निग्ध करेंगी—समधिक शक्ति तथा मार्जन का मनोरम परिचय देंगी। मैंने इतना यह इसलिए भी लिखा कि 'चकोरी'जी के उत्कर्ष के जो साधन अध्ययन और काव्य-पाठ आदि से थे, वे बीमारी के कारण सिद्ध-रूप न पा सके और काव्य में उनका मुखर विकास वयस्कता में परिणमित होने के बदले सुकुमार तारुण्य में स्थायी हो सका। यह दूसरों को कैसा भी लगे, मुझे तो काव्य की दृष्टि से बड़ा सुन्दर और पूर्ण मालूम देता है—

भवसागर के तट पर अजान, सुनती हूँ वह कलरव महान।
एकाकी हूँ, कोई न संग, उठती है रह-रह भय-तरंग।
केवल यौवन का भार लिये, बैठी हूँ सूना प्यार लिये।

जिस हृदय में काव्य के चरण-चिह्न अंकित रहते हैं, यह वही हृदय है। विश्व

में स्वजन-परिजनों से परिवृत्त भी मनुष्य भाव-जगत में अकेला, निस्संग रहता है। वहीं, नवजीवनोन्मेष में तरुणी कवयित्री अपना असहाय अकेलापन प्रत्यक्ष करती है। वह पार नहीं जा सकी, इसीलिए उसका हृदय शून्य है, प्रेमसिक्त नहीं हो सका। उसका प्रेम पार्थिव पंकिलता नहीं। 'केवल यौवन का भार लिये' वह बैठी है। इस पंक्ति में जितना सौन्दर्य है, उतना ही दुःख। यौवन के भार से सौन्दर्य व्यंजित है, पर है वह भार! इसीलिए तरुणी कवयित्री पार नहीं जा सकी, बैठी है।

इस पद्य में अनेक प्रकार के आवर्त्तों के बाद है—

प्राची में अरुण मुस्कराया;
लहरों ने प्रणय-गान गाया!
मेरा नाविक बह गया कहीं;
जीवन सूना रह गया वहीं।
फिर बिखरा दी संचित उमंग;
ले गयी उसे भी जल-तरंग।

पहले भावों में जो तरह-तरह के रंग देख पड़ते हैं, उनकी तह तक पहुँचने पर बड़ा मनोरंजन होता है। कहीं-कहीं श्रीमती महादेवीजी की तरह, 'चकोरी'जी भी गाती हैं और अपने स्वर के आरोह-अवरोह में दूर से दूर चली जाती हैं, समझते चलने पर समालोचक पाठक को बड़ा सुन्दर काव्य-मिश्र मनस्तत्त्व प्राप्त होता है। उठान, उड़ान और ऊहापोह तरह-तरह के रत्नों से परिचित कराती रहती हैं। 'चकोरी'जी की यह कविता सुन्दर बन पड़ी है; पर उनकी परिस्थिति का ज्ञाता आलोचक ही इस 'एक घूंट' के अमृत के अर्थ कर सकता है। 'अरुण' 'चकोरी'जी के पति का उपनाम है। 'प्राची में अरुण मुस्कराया', इस पंक्ति में 'अरुण' की मुस्कान की ओर बड़ी सूक्ष्म व्यंजना जान पड़ती है और इसी मुस्कान को कवयित्री ने अपना अरुण प्राणाधार माना है। पहले जहाँ उन्होंने लिखा है—

अर्पण कर प्रेम पराग मुझे,
नाविक ने दिया सुहाग मुझे।

वहाँ इस नाविक-रूप से भी उनका पति है। वह उनको नाव पर बैठाकर ले चलता है। पर वह नाव डूब जाती है। तब प्राची में 'अरुण' मुस्कराता है, लहरें प्रलय-गीत गाने लगती हैं। नाविक कहीं बह जाता है—कितना सुन्दर है यह! अब पति का शरीर नहीं—आत्मा, जो पूर्ण है, अरुण की मुस्कान के रूप से, देख पड़ती है। कवयित्री का ध्यान वहीं लगा हुआ है। पर चूँकि उसका जीवन है, इसलिए वह शून्य है—अभी मुस्कान से एकात्मता प्राप्त नहीं हुई। संचित उमंगें समुद्र-जल की तरंग में कहीं बह गयी हैं।

मैंने हो पथ-दर्शक-विहीन
कर दिया सिन्धु में आत्मलीन!
कितना अथाह! कितना अपार!
ले चली मुझे भी एक धार!
छूटें भव-बन्धन, चाह नहीं;
हो जाय प्रलय, परवाह नहीं!

जाती हूँ अब उस पार वहाँ,
है मेरा प्राणाधार जहाँ !

वास्तव में दुनिया में अपना कोई प्रदर्शक नहीं—'जहाँ में हाली किसी का अपने सिवा भरोसा न कीजियेगा; य' भेद है अपनी जिन्दगी का कि इसकी चर्चा न कीजियेगा।' इसलिए सिन्धु में मज्जित होना स्वाभाविक है। वहाँ मज्जित कवयित्री संसार-दुःख से भी मुक्ति पाने की इच्छा, बहती हुई, नहीं कर रही। उसे केवल इतना आत्मविश्वास है कि वह उस पार जा रही है, जहाँ उसका प्राणाधार (प्राणों का भी कारण, आत्मा) है। यह उसी मुस्कान में मिलने की व्यंजना है। तब देह न रहेगी, प्रिय से एकात्मता हो जायगी।

अदृश्य-प्रियता 'चकोरी'जी में भी आधुनिक अपर श्रेष्ठ कवियों जैसी है—

छिपकर धीरे से प्रियतम,
चुपचाप हृदय में आओ;
मेरी वह भावुक वीणा
सोती है, उसे जगाओ।

हृदय की वीणा अरुण प्रिय के स्पर्श से झंकृत होगी, तभी उत्तम संगीत काव्य की लड़ियों में गुँथकर निकलेगा। कितना अच्छा भाव है—

निर्झरिणी के अन्तस्थल में
किसका सौन्दर्य झलकता है?
अलसायी-सी मृदु लहरों से
किसका अनुराग छलकता है?
उस अस्फुट-सी कल-कल-ध्वनि में
छिप कौन गान गाता अधीर,
जिसको सुन मचल-मचल पड़ता
चंचल विमुग्ध सुरभित समीर?

इन पंक्तियों से 'चकोरी'जी की अरूप-प्रियता स्पष्ट होती है।

उनके काव्य में एक स्वर प्रायः बजता मिलता है, वह है—'दर्द'। 'करुणा' कह सकते हैं, पर दर्द अधिक उपयुक्त है। करुणा में दुःख की अधिकता-मात्र दर्शित होती है। अवश्य कुछ ने इसमें सब-सब रसों की सिद्धि देखी है, पर 'दर्द' में दुःख के दलों पर शृंगार की रंगीनी भी है। 'चकोरी'जी की भाषा ऐसी ही बन गयी है। वेदना के तार उनके सुख-समय भी बजते रहते हैं। ओस की बूँद जैसे प्रभात की किरणों से चमकती हो—इधर-उधर के रंग भी जैसे उसमें फलित हुए हों।

छन्द और सवैया लिखने में 'चकोरी'जी हिन्दी की कवयित्रियों में सबसे आगे हैं। दो-चार सुप्रसिद्ध कवियों को छोड़कर खड़ी बोली में इतने चुस्त छन्द किसी के नहीं। 'उजड़ी वाटिका से' कवयित्री के प्रश्न—

वह वल्लरियाँ लिये पल्लवों को
निज अंक में नित्य झुलातीं न क्यों?

मदमत्त हो स्वागत में ऊषा के
विहगावली गान सुनातीं न क्यों ?
सुमनावलियाँ मुसकाती हुई
भ्रमरों को बुला बहलाती न क्यों ?
मदिरा-सी पिये, अलसाती हुई
तितली अब चित्त चुराती न क्यों ?
चरणों में महावर प्रात ही से
अब ऊषा सखी है सजाती न क्यों ?
रवि सोने से माँग न क्यों भरता
निशा काजल आ के लगाती न क्यों ?
पहिने हरे रंग की सारी नयी
सजी फूलों से तू इतराती न क्यों ?
सब साज श्रृंगार कहाँ को गये
तू व्यथा की कथा हा ! सुनाती न क्यों ?

कितने सुन्दर चित्र और मनोभाव अंकित हैं। कहीं-कहीं भाषा का व्यतिक्रम है, पर वह भी उतना ही शोभन लगता है। 'न' की जगह 'नहीं' लेना चाहती है। पर 'न' की यह खूबसूरती और मादकता तब न रह जायगी। कविता में भाषा-स्वातन्त्र्य गद्य से अधिक लिया गया है और विभिन्न भाषाओं में आज भी लिया जाता है। उर्दू में पद्य की भाषा भी गद्य की-सी मँजी हुई शुद्ध होती है; पर यह सार्वभौम नियम नहीं। उर्दू की कविता कुछ गिने-गिनाये वृत्तों में रहती है। अभी Verse libre (मुक्त छन्द) की उसमें सृष्टि नहीं हुई और विश्व-भर के छन्दों को अपनाने की शक्ति भी उसमें नहीं, न लाने का कोई प्रयत्न किया गया; कुछ प्रचलित वृत्त जो थे, उनमें चक्कर काटती हुई भाषा मँज गयी है, तो यह आदर्श न हो गया।

'पावस' पर 'चकोरी'जी की कविता—

कहीं श्याम चँदोवा तना नभ में,
हरी फर्श बिछा दी धरा ने अहा !
तरु-पल्लवों ने हरी शाल ली ओढ़,
हर रंग से गया विश्व नहा !
सजे वल्लरियों ने हरे परिधान,
कोई हरे तोरण बाँध रहा;
मलयानिल ने यह पावस - आगम,
का सबसे जा सन्देशा कहा।
अली - गायकों की जुड़ी मण्डली है,
कहीं नृत्य मयूर दिखा रहे हैं;
तितली फिरतीं बनी अप्सरा - सी,
जिन्हें पुष्प सुरा - सी पिला रहे हैं।

तरु तन्मय होकर झूमते हैं,
पिक गान मनोहर गा रहे हैं;
वक - पाँति कहीं उड़ी जा रही है,
हलके कहीं बादल छा रहे हैं।

"सूर्योदय' पर एक छन्द—

लाल-लाल आँखें हुईं रवि की, उन्हें विलोक
कालिमा कुटिल का समस्त तेज धो गया;
छूटे तेज-पुञ्ज के कराल वाण, निशिराज
सहित समाज समरांगण में सो गया;
छुटे अलि बन्दि-से, सँयोगी बने चक्रवाक,
निशि का अँधेरा पल-भर में ही खो गया;
स्वर्ण युग छा गया उषा का नभ-मण्डल में
विश्व को 'चकोरी' सुप्रभात प्राप्त हो गया।

इन वर्णनों में 'चकोरी'जी ने भावों के अनुकूल पुष्ट भाषा का प्रयोग किया है। देश-विषय पर भी उनकी रचनाएँ हैं। वे भी सुघर हुई हैं ! यह प्रसिद्ध तथा निर्विवाद है कि हिन्दी साहित्य की वर्तमान कवयित्रियों में उनका अपना स्थान है, जो उत्तरोत्तर स्थायी होगा। ईश्वर उन्हें पुष्ट स्वास्थ्य तथा प्रबल कांक्षा से सदैव जाग्रत रखें। उनसे देवियों के आदर्श का प्रशस्त पथ हिन्दी-भाषियों में परिचित होगा और उनके कण्ठ का स्वर घर-घर सहस्रों वीणापाणियों द्वारा झंकृत होगा, जो भविष्य में चलकर हिन्दी की संस्कृत कहलायेगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1934। **संग्रह** में संकलित]

मेरे गीत और कला

बाजार के बनियों पर, बैल जोतकर गाड़ी ले जानेवाले अनाज के व्यापारियों का तो प्रभाव पड़ता है, पर गोन लादकर घोड़ी पर जानेवाले हुसेन का नहीं। जब किसी काव्य की दो ही पंक्तियों के उद्धरण पर मारे सहृदयता के आलोचक बेहोश होने लगते हैं, तब बाहोश पाठक बिना मिहनत के पूँजी का हिसाब मालूम कर लेते हैं। वे देखते हैं, यह अकेली 'कला-कला' की रट गलार हुशकानेवाली 'गला-गला' की सार्थकता भी नहीं रखती।

विज्ञजन जानते हैं, 'प्रसिद्धि' का भीतरी अर्थ यशोविस्तार नहीं, विषय पर अच्छी सिद्धि पाना है; अवश्य उपसर्ग के धात्वर्थ के लिए **'बलादन्यत्र नीयते'** कहा है, पर विचार करने पर 'उपसर्ग' और 'बलात्' अपने ही रूपों में अस्वाभाविक

मालूम होते हैं। यदि यशोविस्तार पर निगाह रखकर निर्णय किया गया तो धोके की जितनी गुंजाइश है, उतनी 'प्रसिद्धि' के विवेचन में नहीं; कारण, बगीचे के प्रशंसा-प्राप्त फूल से, सम्भव है, उपवन का न जाना हुआ फूल और बड़ा, और सुन्दर एवं और सुगन्ध हो। इसलिए फूल के खुल जाने पर खुशबू के खोलने की जरूरत नहीं, जो कहा गया है, यह समझदारों के लिए है, नहीं तो राजा के लड़के की इत्र चाट जानेवाली बात मशहूर है।

ज्यों-ज्यों मैं 'प्रसिद्धि' की सच्ची साधना के विचार से अपने सम्बन्ध में चुप रहा, त्यों-त्यों उड़ने की शक्ति प्राप्त करते ही, आलोचक शायरी की शमा के चारों ओर समा बाँधते रहे; नतीजे की याद न रही। मेरी इच्छा न थी कि पूरी जलने से पहले अपनी शमा लेकर निकलूँ; मेरा ख्याल है कि अब भी वह पूरी-पूरी नहीं जली, यानी हजार-दो हजार बत्तियों की ताकत एक साथ उसमें नहीं आयी, फिर भी जितनी रोशनी आयी है, मैं सोचता हूँ कि अगर दिखा दूँ तो यह जो बेले को चमेली और चमेली को गन्धराज कहना कसरत पर है, और साड़ी के रंग पर जो सर के बल हो रहे हैं लोग—रंग भी जो कहीं-कहीं भद्दे ढंग से, बेमेल दाग की तरह लगा हुआ है, न रहें, नामों की जानकारी के साथ रंगों की अस्लियत, मिलावट और अकेलापन मालूम हो जाय और न होती हुई सबसे बड़ी बात यह हो कि साड़ी देखनेवालों की साड़ी पहननेवाली से भी चार आँखें हो जायँ।

मैं तारीफवाली बाहरी बातों में पहले से पीछे रहा; किताबों का गेट-अप साधारण, तस्वीर नदारद, छपाई मामूली। मेरी तस्वीर तो मेरे साथवालों के बहुत बाद निकली है। वह भी वैसी भड़कीली नहीं; निकली भी पत्रिकाओं में, मेरी पुस्तकों में नहीं। इस वक्त भी कितने सम्पादक तस्वीर माँगकर निराश होते हैं। पर हर तरह बचता हुआ भी बदनामी में पहले रहा, जिन-जिन लोगों ने अपना काँवला भूलकर मुझे पीला बतलाया है, उनकी कार्यावली की लम्बी तालिका न पेश करूँगा, हालाँकि लेखक न होकर, अगर इस लेख का मैं पाठक होता तो सप्रमाण उस कार्यावली का पाठ ही मेरे लिए सविशेष आनन्ददायक ठहरता। यह मानी हुई बात है कि जब भ्रम एक के पास न होगा, तब दूसरे के पास अवश्य होगा, क्योंकि स्वामीदयानन्दजी सरस्वती के मतानुसार अनादि तीन हैं, जिनमें भ्रम मजे में आता है, नहीं तो तीन की गिनती बन्द हो जाय। इस तरह जब वह मेरे पास जगह न पा सका, तब दूसरों के सर चढ़कर मेरी ओर मुँह करके बोला। इसके प्रतिकूल मुझे ऐसे मित्र भी मिले, जिन्होंने मेरी तारीफ की। इस स्तुति और निन्दा के मार्ग से चलता हुआ वर्तमान काव्यालोचना का रूप वास्तव में पुच्छ-विषाण-हीन नहीं रह पाया। मैं जहाँ तक समझता हूँ, पहले पहल मेरे मित्र हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान् और आलोचक पं. नन्ददुलारेजी वाजपेयी ने वर्तमान कवियों की वृहत्त्रयी निकाली और 'भारत' में एक लम्बी आलोचना लिखी। उनकी आलोचना का दूसरी जगह उद्धरण किया गया। इसके बाद उनके इस पेड़ पर चढ़कर 'फल खात न वारा' बहुतों ने किया; कुछ ने नयी बात पैदा की—श्रीमती महादेवी-जी को जोड़कर वर्तमान काव्य के चारों पैर बराबर कर दिये। पं. बनारसीदास-जी कब पीछे रहनेवाले थे?—उन्होंने नयी सूझ पैदा की, खोज-खाजकर एक पूँछ

की कसर पूरी कर दी, अब साबित कर रहे हैं कि काव्य के चतुष्पद तत्त्वों में उनकी पूँछ का ही महत्त्व सबसे ज्यादा है। यह है खड़ी बोली के काव्यालोचन का सच्चा रूप, जो कला की पहचान से अब तक तैयार हो पाया है।

में खड़ी बोली का वाल्मीकि नहीं, न 'वाल्मीकि की प्रिये दास यह कैसे तुझको भाया' मेरी पंक्ति है; पर 'भयो सिद्ध करि उलटा जापू' अगर किसी पर खप सकता है तो हिन्दी के इतिहास में एकमात्र मुझ पर। कबीर उल्टवाँसी के कारण विशेषता रखते हैं, पर वहाँ छन्दों का साम्य है, उल्टवाँसी नहीं; यहाँ छन्द और भाव, दोनों की उल्टी गंगा बहती है।

यह सब उलटापलट मैंने जान-बूझकर नहीं किया, और यह उलटापलट है भी नहीं, इससे सीधा और प्राणों के पास तक पहुँचता रास्ता छन्दों के इतिहास में दूसरा नहीं।—वेद इसीलिए वेद हैं। यह उलटापलट उसके लिए कहा जा सकता था, जिसकी मातृभाषा हिन्दी न हुई होती। मेरी बैसवाड़ी, माता-पिता की दी वाग्विभूति, जिससे सभी रसों के स्रोत मेरे जीवन में फूटकर निकले हैं, साहित्यिकों में प्रसिद्ध है। मैंने भाषण भी इस भाषा में किये हैं। भाषा के उत्थान-पतन पर विचार करते हुए मैंने देखा, वेदों से ब्रजभाषा तक भाषा के पतन का एक मनोहर इतिहास तैयार होता है। बदलती हुई भाषा क्रमशः सुखानुशयी होती गयी है। "**तदानाशंसे विजयाय सञ्जय**" पूर्ण पराधीनता के पूर्व मुहूर्त की भाषा बोलती है। यहाँ एक दूसरे विचार पर भी ध्यान देना उचित होगा। जिस तरह वैदिक और संस्कृत में 'कं, खं, गं' का रूप है और इसके अनुरूप जातीय जीवन, जो अपभ्रष्ट भाषाओं के आधार पर दुर्बल होता हुआ, एक प्रकार निस्तेज हो गया, उसी तरह फारसी में 'क़, ख़, ग़' का रूप है, जो वैदिक और 'संस्कृत' के पूर्ण प्रतिकूल है, जिसके अनुरूप मुसलमानों का जीवन है। पड़ोसी के कमजोर होने पर दूसरा पड़ोसी शहजोर होगा; यह प्राकृतिक नियम है। हम देखते हैं, क्रमशः पराजय होते-होते हिन्दुओं पर एक दिन मुसलमानों का पूरा आधिपत्य हो जाता है। इसे कहना चाहिए कि यह अपभ्रष्ट वैदिक या संस्कृत पर फारसी की विजय है। इसके बाद, इन दोनों पर, हिन्दोस्तान आये हुए पड़ोसी अँगरेज विजयी होते हैं। यहाँ भी महत्त्व में हम भाषा का विचार कर सकते हैं। अँगरेजी भाव और साहित्य में अधिक पुष्ट मालूम देगी, मैं संक्षेप में विचार रहा हूँ; जो लोग इसकी प्रतिकूलता करेंगे, यहाँ के दर्शन और साहित्य की उच्चता के प्रमाण देंगे, उन्हें मालूम होना चाहिए कि दर्शनों का संस्कृत-जीवन है, ऐसा ही साहित्य का भी, पर प्रकृति ने देश का अपभ्रष्ट जीवन तैयार कर दिया था, और तब भी, जब कालिदास की कला का देश ने चमत्कार देखा,-- श्रीहर्ष का समय तो पूर्ण पतन का पूर्व मुहूर्त है, इसलिए यह संस्कृत और ये काव्य जातीय जीवन के नहीं कहे जा सकते, शंकर से लेकर बाद के समस्त भाष्यकार अपभ्रष्ट-भाषा-काल के हैं; संस्कृत के द्वारा उन्होंने द्विग्विजय ही किया है, अपने मत की प्रतिष्ठामात्र की है, जाति की जीवनीशक्ति का वर्द्धन नहीं— उस समय की भाषा का उद्धार नहीं, और यह सम्भव भी न था, कारण अनेक प्रादेशिक भाषाएँ थीं; उनका लक्ष्य उन्नयन अवश्य था; पर अनेकानेक भेदोपभेद तथा प्राकृतिक विवर्तन के कारण

अपभ्रष्ट भाषाएँ उल्टा चलकर संस्कृत नहीं बन सकीं; फलतः हार होती गयी, जीवन दुर्बलतर होता रहा। अँगरेजी फारसी की तरह प्राणों की भाषा थी। साहित्य उत्कर्ष पर था, जिसके वल पर मेकाले ने भारतीय साहित्य पर मजाक किया, पण्डितों को मालूम होगा। अस्तु, व्रजभाषा के उच्चारण और भाव-रूप पर, मैंने देखा, उर्दू सवार है, उसी तरह जैसे हारे हुए पर जीता हुआ रहता है। जितने कवि-सम्मेलन देखे, जहाँ उर्दू और व्रजभाषावाले एकत्र हुए थे, उर्दूवालों को ही वाजी मारते देखा। इसका कारण यह पाया कि जिस जगह ठहरकर वे बोलते हैं, वह जीतनेवालों का घर है—व्रजभाषा के मुकाबले; व्रजभाषावाले बड़ा जोर मारकर कहीं वहाँ तक पहुँचते हैं, देखिए, भूषण के कवित्तों में गँवार की तरह चिल्ला रहे हैं या देव के छन्दों में मारे शृंगार के दुहरे हुए जा रहे हैं। एक दफा डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी महाशय ने मुझसे पूछा, मेरे एक बंगाली मित्र हैं, वे उर्दू में कविता लिखते हैं, कहते हैं, हिन्दी में भाव के प्रकाशन में दिक्कत होती है, यह क्या बात है ? मैंने कहा, बंगला की तरह उर्दू में दीर्घ को बहर की लपेट में ह्रस्व कर लेने की गुंजाइश है, हिन्दी में नहीं, हिन्दी में जहाँ कहीं ऐसा है, वहाँ चाहे सब ह्रस्व हों या सब दीर्घ, कोई हानि नहीं; 'गड गड गड गड' हो या 'गड्ड गड्ड गड्ड गड्ड' अथवा 'गाडा गाडा गाडा गाडा' मजे में करते जाइए, बस अक्षर गिने रहिए। अस्तु, दो-चार बार उर्दूवालों के बीच मुझे भी पढ़ने का मौका मिला है। जहाँ धड़ाधड़ मुक्त छन्द के गोले निकलने शुरू हुए कि भाइयों की समझ में आ गया कि हाँ कुछ पढ़ा जा रहा है— यह 'गड्ड गड्ड गड्ड गड्ड' नहीं है। बन्दिशवालों के बन्द मुक्त छन्द की होड़ में नहीं टिक सकते। यह यह मशीनगन है, जो उर्दूवालों के पास भी नहीं, हालाँकि इकबाल तक वे लोग पहुँच चुके हैं। भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतन्त्र हैं। इसका फल जीवन में क्या होता है, हिन्दी में समझदार होते तो अब तक व्यापक रूप से मालूम कर चुके होते। ले-देकर दो-चार जानकार हैं। प्रमाण मैं इतने दे चुका हूँ, इतने बार पढ़ चुका हूँ कि और आवश्यकता उनकी साहित्यिकता पर ही शंका होगी। मैंने पढ़ने और गाने, दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं। पहला वर्ण-वृत्त में है, दूसरा मात्रा-वृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छन्द जा नहीं सकता। गाना भी जो मैंने सिखाया है, वह हिन्दी का पुराना राग नहीं कि कविजी कवि-सम्मेलन में शाम के वक्त भैरवी में कविता पढ़ने लगे। तबले के सामने बैठा दीजिए तो भैरवी भी भूल जाय। मेरा गाना भी कविता का ही गाना है। गीत तो मैंने अलग लिखे हैं।

प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति-सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि प्राणशक्ति उस भाषा में है। ब्रजभाषा के सन्तों और त्यागी रहीम-जैसे वीरों का विचार पूर्वोक्त प्रकरण में नहीं किया गया; ब्रजभाषा को उस समय जो व्यापक राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ था—अपर प्रादेशिक भाषाओं पर उसका प्रभाव पड़ा था, इसका भी नहीं; कारण, वह विषय भिन्न था। यहाँ, जातीय साहित्य के प्राणों

की चर्चा करते हुए, यह कहना पड़ता है कि व्रजभाषा में भाषाजन्य जातीय जीवन था, जो बुद्ध के बाद के संस्कृत-कवि और दार्शनिकों में नहीं। इसलिए, यह निर्विवाद है कि व्रजभाषा के बाद की जो भाषा होगी, उसमें व्रजभाषा के कुछ चिह्न जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर अवश्य होंगे। खड़ी बोली का उत्थान व्रजभाषा के पश्चात् होता है। इसलिए व्रजभाषा के कुछ जीवन-चिह्न उसमें रहने जरूरी हैं। हम देखते हैं कि व्रजभाषा में 'श स' दोनों 'स' बन गये हैं, 'ष' 'ख' हो गया है, 'ण, न' 'न' में ही आ गये हैं, बहुत जगह 'व' 'ब' बन गया है। खड़ी बोली में शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान रहने पर भी वर्णों को यह अशुद्धि ही जैसे अच्छी लगती है; इसकी विशेषता हम अच्छी तरह देख लेते हैं जब कोई उर्दू मिली चलती जबान लिखता है, बस 'वश' की जगह, बेबस 'विवश' की जगह, किरन 'किरण' की जगह आते हैं। चौदह-पन्द्रह वर्ष पहले 'सरस्वती' में किसी सज्जन ने एक छोटा-सा नोट लिखा था। उसमें 'श, ष, स' की जगह 'स' और 'ण, न' की जगह 'न' से काम लेने का प्रस्ताव किया था। आज भी खड़ी बोली का शुद्ध रूप बहुतों को खटकता है और अब तो शायद साहित्य-सम्मेलन भी देवकीनन्दन-युग में प्रवेश करने के लिए प्रयत्न पर है। कुछ हो, यह मालूम हो जाता है कि वर्णों में 'श, ण, व' खड़ी बोली के प्राणों को खटकते हैं। कला-विषय में इस तरह वर्णों के विचार से श्रीगणेश करता हूँ।

कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह—देह की क्षीणता-पीनता में तरंग-सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुतर होकर लीन होती हुई—जैसे, केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से, न डाल से, न पौदे से; जड़ से लेकर, तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग-रेणु-गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी हैं, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण; और, जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढके हुए अपने सौन्दर्यतत्त्व के भीतर रखती है—पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्यकला आवश्यक अशोभन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है। तने, डाल, पत्ते और फूल के रंगों के भेद और उनके चढ़ाव-उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन-धारा है; इसकी त्रुटि कला के एक अंश की त्रुटि होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्थूलरूप से समझ में आ जाता है। एक केन्द्र से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य-विषय की असंख्य कलाएँ हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है। विवेचन के समय कला का प्रकार देखा जाता है; यहीं मालूम होता है, कला किस रूप की है, कैसी गति लिये हुए, कहाँ पहुँची हुई। यदि वह अधूरी रह गयी तो मानवांग निर्णय में काना, लँगड़ा, नकटा आदि जैसे पहले के परिचय के अनुसार समझ लिये जाते हैं, वैसे ही कला भी विषय के विवेचन में आ जायगी। पर जिसे मालूम नहीं कि भौंरे के इतने पैर होते हैं उसके सामने दस पैरवाला भौंरे के आकार का एक कीड़ा बनाकर रख देने पर वह उसे भौंरा ही समझेगा, और धोके में आकर या धोका देने के लिए

उस चित्र के नीचे अगर 'भौंरा' लिख भी दिया चित्रकार ने, तब तो वह दर्शक निःसंशय उसे 'भौंरा' मानेगा, एक दफा, दूसरे के इनकार करने पर, उससे लड़ भी जायगा। हिन्दी में कला के विवेचन में प्रायः यही हाल है। अधिकांश तो उत्प्रेक्षा और रूपक को ही कला समझते हैं। पिछले प्रकरण में मैं दिखा चुका हूँ कि 'श, ण, व' व्रजभाषा के जीवन के अनुरूप नहीं, खड़ी बोली के जीवन में भी उनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। पर, अब वर्ण-विचार द्वारा काव्यकला का रूप-निर्णय करता हुआ कहता हूँ कि खड़ी बोली के कोमल कवि और किन्हीं-किन्हीं के विचारों में सर्वश्रेष्ठ कवि श्री सुमित्रानन्दनजी पन्त के वर्णसौन्दर्य के मुख्य आधार यही श, ण, व और ल हैं।

उदाहरण—

"कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल ?"
"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारदहासिनि।"
"मृगेक्षिणि ! सार्थक नाम !"
"काँटों से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली,"
"वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन,"

पहले में 'ण', दूसरे में 'श', तीसरे में 'क्ष' और 'ण', चौथे में 'ल', पाँचवें में 'व' और 'ण' अन्य वर्णों से ज्यादा बोलते हैं, जैसे इन्हीं वर्णों से उच्चारण-सौन्दर्य स्पष्ट होता हो। 'र' आदि अन्य वर्णों का भी सहारा पन्तजी ने लिया है, और इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली का सुन्दर रूप से ठाट बाँधा है। उनके उच्चारण में संगीत बड़ा मधुर झंकृत होता है। पर यह कला कालिदास की है। वहाँ इसका रूप कैसा बन पड़ा है, संस्कृत के पाठक समझते हैं। मैं बहुत पहले लिख चुका हूँ, जिसे जैसा बनना है, उसके संस्कार उसी रूप से चलकर और दृढ़ होते हैं। पूर्ण मौलिकता नहीं हो सकती। केवल कमी और वेशी का तारतम्य रहता है।

"गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः"

कालिदास का एक 'ण' सब वर्णों से ज्यादा बोल रहा है।

"प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामन"

सारा उच्चारण संगीत 'प्रांसु' के 'शु', 'वामन' के 'व' पर है।

"मन्दं-मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।"

'श्चा' ही बोल रहा है दोनों जगह।

"सुगन्धि-निःश्वास-विवृद्ध-तृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोल-दृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती।

इसमें, कहे हुए 'श, ण, व, ल' चारों का उच्चारण देखिए, क्या सफाई है। वर्ण-विचार से पन्तजी का स्कूल हिन्दी का 'श-ण-व-ल' स्कूल कहा जा सकता है।

'श-ण-व-ल' के उच्चारण से शरीर की जैसी बनावट होती है, 'स-म-ब-ल' के उच्चारण से उसके बिलकुल विपरीत। पर देखना यह है कि जो जीवन 'व्रज-भाषा' से आ रहा है वह 'श-ण-व-ल' के अनुकूल आता है या 'स-म-ब-ल' के। 'स-म-ब-ल' वाले एक कवि संस्कृत में हैं, जयदेव। मालूम हो कि जयदेव बंगाली थे; इसलिए 'व' के उच्चारण की व्यक्तिगत रूप से उन्हें कसम थी, यों दूसरे प्रान्त में यथास्थान आया 'व' 'ब' न बनकर 'व' ही रहे तो इससे जयदेव का वर्ण-विज्ञान न बदलेगा।

"उन्मद-मदन-मनोरथ-पथिक-वधू-जन-जनित-विलापे,
अलिकुल-संकुल-कुसुम-समूह-निराकुल-बकुल-कलापे।"

'स-म-ल' ही बोल रहे हैं। 'श-ण-व-ल' का पता नहीं। जयदेव आज इतने ऊँचे उठ गये हैं कि लोग तारीफ करने को विवश हैं। पर आज की तरह यदि 'श-ण-व-ल' का अभाव सौन्दर्य की कमी का कारण माना जाता तो संगीत-विशारद जयदेव, कोमल-कान्त-पदावली, वाग्बन्ध के जन्मदाता जयदेव, सौन्दर्य-बोध में किसी श्रेष्ठ कवि से घटकर न रहनेवाले जयदेव क्या सोचते, यह सोचा जा सकता है। श, ण और व के प्रयोग जयदेव में भी हैं, पर ये वर्ण इनकी रचना में दबे हुए हैं।

"धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

कैसी सुन्दरता है; पर कालिदासवाले वर्ण नहीं। इसी तरह—

"वदसि यदि किञ्चिदपि दन्तरुचि-कौमुदी
हरति दरतिमिरमतिघोरम्—अयिप्रिये"

यहाँ भी वर्ण-संगीत कालिदास का नहीं, पर झपताल में जो भाव-सौन्दर्य व्यक्त है, वह जयदेव में ही प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। अब मैं अपने काव्य के वर्णाधार लिखता हूँ। मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में वर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूँ कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप-सौन्दर्य पर ध्यान रक्खा है, बल्कि कहना चाहिए, ऐसा स्वभावतः हुआ, नहीं तो मुक्त छन्द न लिखा जा सकता, वहाँ कृत्रिमता नहीं चल सकती। मैं यथोचित नम्रता के साथ सूचित करता हूँ कि पाठक और हिन्दी के विज्ञ आलोचक, मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, इसके अलावा अपनी तरफ से कुछ न सोचें। मेरा विचार केवल कला का विवेचन है। मैं पन्तजी का उल्लेख न करता। पर करने पर विवेचन और साफ समझ में आवेगा, इसलिए करता हूँ। जो लोग उन्हें और अच्छी तरह समझ सके हों, इसे पढ़कर उन्हें समझाने का मौका रहेगा। फिर मैं दून की नहीं हाँक रहा, कारण पर, प्रमाण पर चल रहा हूँ। वे भी सप्रमाण लिखेंगे। मैं आज तक कला-विषय में क्यों चुप था, यह लिख चुका हूँ। अस्तु, लोग उद्धृत कर चुके हैं—

"दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी-सी धीरे धीरे धीरे।"—

देखिए, अगर 'श-ण-व-ल' कहीं हो। फिर खड़ी बोली का उच्चारण भी मिलाइए, अनुकूल है या प्रतिकूल। अभी यह केवल वर्ण-विचार है। कला बहुत

आगे है। एक और उदाहरण जो उद्धृत किया गया है दूसरे आलोचकों से—

"वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी-भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता !"

इसमें भी कालिदास के वर्ण खोजिए। खड़ी बोली का जीवन भी मिलाइए। मुहावरा, अनुप्रास और चित्र देखिए, पर यह भी कला नहीं, पर देखिए। मुझे आवेश नहीं। यह मेरा सीधा ढंग है। इस तरह शायद विषय ज्यादा साफ कर पाऊँगा। जयदेव के बाद अपना उद्धरण देने का यह मतलब नहीं कि मैं जयदेव से प्रभावित हुआ। केवल भिन्नवर्ण-सौन्दर्य दिखलाने के लिए जयदेव को लिया, जिससे 'श-ण-व-ल' का प्रभाव मिटे और भाव, भाषा, चित्रण, सौन्दर्य आदि से समन्वित कला का विचार रह जाय।

संस्कृत में कालिदास अकेले, 'श-ण-व-ल' स्कूल में हैं। शब्दों से रूप-चित्रण कालिदास का जितना अच्छा होता है, उतना चुस्त बैठता हुआ दूसरे का नहीं, इसीलिए **'उपमा कालिदासस्य'** कहा है। कोमलता और सौन्दर्य-विषय की प्राथमिक कला कालिदास की तरह की—जो कुछ संस्कृत-साहित्य मैंने देखा है और थोड़ा-थोड़ा करीब-करीब सभी अच्छे कवियों को देखा है—उनमें नहीं। पर जहाँ भावजन्य सौन्दर्य है, जो और मधुर—हृदय के और पास तक पहुँचा हुआ है, वहाँ कालिदास उठ नहीं पाते। प्रसाद और सौन्दर्य में मेघदूत का एक श्रेष्ठ माना गया श्लोक प्रमाण में रखता हूँ—

"तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥"

विरही यक्ष मेघ से अपनी पत्नी की तारीफ में कहता है—"वह नाजनी है, जवान भी; उसके पतले नोकदार दाँत हैं (ज़रा बड़े; यह भाग्य और पति के दीर्घायु होने का सूचक है—कहा गया है), पके बिम्बाफल की ललाई उसके होठों में है, कमर पतली है, डरी हिरनी की निगाह से देखती है, नाभि गहरी है, नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलती है, स्तनों से ज़रा झुकी रहती है, वहाँ वह युवति-विषय में विधाता की आदि-सृष्टि-सी हो रही है।" यह कालिदास का एक अच्छा माना गया चित्र है। भाव खोजिए, पता नहीं, रूप रूप है। 'विधाता की आदि-सृष्टि' में भी रूप ही सामने आता है। एक दूसरा रूप पेश करता हूँ। 'चौरपंचाशिका' का है—

"अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोमराजीम्।

सुप्तोत्थितां मदनविह्वलितालसाङ्गी
विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि ।।"

पहले वर्ण-संगीत देखिए, कालिदास की 'श्यामा शिखरिदशना' की दशा नहीं। क्या स्वस्थ रूप है संस्कृत का ! तीन-तीन बार दोनों को पढ़िए, उच्चारण में कौन साफ उतरता है, आप मालूम हो जायगा। कवयित्री राजकुमारी नवयौवना विद्या का प्रेमी, उसी के महल में पकड़ा गया कवि सुन्दर, फाँसी से पहले, प्रथानुसार वर लेता है कि विद्या के महल से उतरता हुआ, प्रति सोपान पर एक-एक श्लोक पढ़ेगा। यह पहला श्लोक है—"इस समय भी मैं स्वर्ण-चम्पक-माला-सी गोरी, खिले-कमल-नेत्रवाली कोमल रोओं की, सोकर उठी हुई, मदन से विह्वल हुए अलस अंगोंवाली प्रमाद (शंका, भय, संशय, मद, नशा आदि) से गलित जैसे (रहित, झरती हुई, डूबी भी प्रमाद का अर्थ मद या नशा लेने पर), विद्या की याद करता हूँ।" कालिदास ने यक्ष की पत्नी में निम्ननाभि और श्रोणी-भार आदि अश्लील वर्णन तो किये ही हैं, पर उस समय को देखकर यह सब छोड़ देने पर भी, उनकी धाता की आदि-सृष्टि-जैसी यक्ष-प्रिया भी प्रमादगलिता विद्या की बराबरी नहीं कर सकती। कारण, धाता की 'आदि-सृष्टि' में अंगयष्टि ही सामने आती है, यक्ष-प्रिया का कोई भाव-रूप नहीं; यहाँ प्रमाद-गलिता विद्या भाव-रूप में बदल गयी है। 'प्रमाद-गलितां' में जितना अर्थ-चमत्कार है, जितनी तरह के अर्थ होते हैं, उतनी तरह 'सृष्टिराद्येव धातुः' में नहीं लायी जा सकतीं। लाने की कोशिश जबरदस्ती कहलायगी। सहृदय विज्ञजन देखें। यह श्रेष्ठता केवल भाव के कारण है। यहाँ भी उत्कृष्ट कला नहीं। एक साधारण बात है। यों तो 'कला' का अर्थ है अंश, एक टुकड़ा; चाँद सोलह कलाओं से मिलकर पूरा पूनो का चाँद बनता है; कलाओं या टुकड़ों से मिला हुआ है, इसलिए 'सकल' है। पर मैं कला को पूर्ण अर्थ में लेता हूँ; किस तरह, यह लिख चुका हूँ।

यहाँ कुछ बिगड़े काव्य के उदाहरण देता हूँ—

(1) "लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।"

—कबीर

अर्थ साफ है। इसकी, इधर पाँच-छः महीने के अन्दर, कई जगह तारीफ हुई है। छायावाद के एक आलोचक मित्र ने इसे पेश कर कहा है कि ऐसी श्रेष्ठ उक्ति छायावाद में नहीं। पहले यह कह देना ठीक होगा कि उक्ति की उच्चता का विचार ही ठीक होता है, कोई ईश्वर पर लिखे या प्रिया पर। कबीर की प्रिया लाल की लाली से चारों तरफ लाल है, देखती है; लाली देखने जाती है तो वह भी लाल हो जाती है—पक जाती, गोट की तरह। पर, जाती कैसे है ?—'लाली देखन मैं गयी' यह पूर्वोक्ति का विरोध है; जबकि 'जित देखौं तित लाल' है, तब चलने की गुंजाइश कहाँ ?—वह तो वहाँ भी ठहरी हुई लाली देख सकती थी। दूसरा दोष यह कि लाल की लाली देखने क्यों गयी, जबकि लाल को वह जानती है—लाल प्रिय है या लाली ? कोई मेरा प्रियजन मेरे यहाँ आवेगा तो मुझसे मिलेगा या मेरे लोटे से ?

(2) "अंगद तुही बालि कर बालक ।
उपज्यो बंस-अनल कुलघालक ।।
गर्भ न खस्यो व्यर्थ तुम जाये ।
निज मुख तापस दूत कहाये ।।
अब कहु कुशल बालि कहँ अहई ।
बिहँसि बचन तब अंगद कहई ।।
दिन दस गये बालि पहँ जाई ।
बूझेउ कुसल सखा उर लाई ।।"

—तुलसीदास

अर्थ स्पष्ट है। रावण को बालि का राम द्वारा निहत होना मालूम हो चुका है। दूसरी, तीसरी, चौथी पंक्ति स्पष्ट कर देती है। 'रहा बालि बानर मैं जाना' इस उद्धरण के पहले ही रावण कह चुका है। 'अंगद तुही बालि कर बालक ?' इसकी ध्वनि में दूसरी, तीसरी और चौथी पंक्ति का भाव निहित है। जब रावण कहता है, "अंगद, तू ही बालि का बालक है ?" तब एक साथ ध्वनि के अर्थ खुल पड़ते हैं, "जिसने तेरे बाप को मारा, उसी का दूत बनकर तू आया ? —तूने अपने कुल की मर्यादा नष्ट कर दी," आदि-आदि। अंगद जो पहले लंका में रह चुका है, मन्दोदरी का मातृ-स्नेह प्राप्त कर चुका है। ('अंगद कहा जाहुँ मैं पारा, जिय संशय कछु फिरती बारा' में आया संशय प्रकट करते यह सब आता है) यह मतलब भी 'तुही बालि कर बालक' की ध्वनि में छिपा है। ध्वन्यात्मक काव्य में ध्वनि का मर्म यदि कवि स्वयं जाहिर करे तो यह कमजोरी कही जाती है; विशेषत: कवित्व चौपट होता है। "**दिङ् नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्ताव-लेपान्**"—यहाँ कालिदास सीधे तो मेघ से कहते हैं कि रास्ते में दिग्गजों की मोटी सूँड़ के अवलेप छोड़ते जाना; पर दूसरे मतलब में वे दिङ्नाग नाम के कवि-पण्डित की खबर लेते हैं—कहते हैं—'रास्ते में, दिङ्नागों के हाथ के खींचे भद्दे चित्र, लीपा-पोती छोड़ते जाना'— यह अर्थ छिपा हुआ है, इसी से सौन्दर्य बढ़ गया है। पाँचवीं पंक्ति में रावण कहता है "**अब कहु कुसल बालि कहँ अहई,**" यह पहली पंक्ति का विरोध है; अब जैसे रावण को बालि का हत होना भूल गया ! यह अंगद को चिढ़ाने का उद्देश नहीं, न कवित्वपूर्ण प्रसंगान्तर है, यह अंगद के जवाब के लिए बाँधा ठाट है, जिसके अनुसार अंगद कहता है, दस रोज बाद दोस्त के पास चलकर उसे गले लगाकर खैरियत पूछना। अस्तु, इस तरह, पहली ध्वनि-पूर्ण अच्छी चौपाई का भेद खोलकर गोसाईंजी ने यहाँ का सारा भाव-सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। पढ़कर भी देख लीजिए, पहली ही लाइन साफ बोलती है। फिर जिस तरह अत्याचार किया गया है, उसी तरह पढ़नेवाले के शरीर, मन और जीवन पर अकवित्व का बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) "बजा दीर्घ साँसों की भेरी;
सजा सटे कुच कलशाकार,
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार,

बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल - चितवन के बन्दनवार,
मदन, तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत-उत्सुक-दृग-द्वार।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

और तो जो कुछ बना-बिगड़ा, उसका जिक्र नहीं, यह बताइए कि पलक-पावड़े बिछाने के बाद सतत-उत्सुक दृग-द्वार कैसे खोले जायँगे ?

(4) "अंग-भंगि में व्योम-मरोर,
भोंहों में तारों के झौंर
नचा नाचती हो भरपूर
तुम किरणों की बना हिंडोर।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

यह वीचि या लहर से कहते हैं पन्तजी। पहले तो, कोई औरत भौंहों में तारों के झौंर नचावे तो क्या खूबसूरती निकलती है, मुलाहजा करें; फिर यह बतावें कि हिंडोर में भरपूर कैसे नाचा जाता है—यह भी कि लहर किरनों की हिंडोर बनाती भी है।

(5) "झर-झर बिछते मृदु सुमन-शयन
जिन पर छन कम्पित पत्रों से
लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

हालाँकि सादगी में ठीक है; पर ज़रा अक्ल की निगाह से भी देखें, जब झर-झर कर फूलों की सेजें बिछ गयीं, तब काँपते पत्रों से (पातों से) चाँदनी उन पर जहाँ-तहाँ कुछ लिखने लगी; भला सेज या बिस्तरे पर भी कुछ लिखा जाता है ? लिखती भी 'पत्रों से' है। यह जरूर है कि पत्ते ब्राड निब-जैसे होते हैं, पर बहुत से पत्रों से अगर अकेली ज्योत्स्ना एक साथ लिखेगी तो वह लिखेगी कैसे ? हाथ कितने हैं ?

सादगी के भीतर ही पन्तजी की शब्द-लालित्यवाली कला खुलती है। जहाँ वज्र की गरज के साथ काव्य में बिजली कौंधती है, वहाँ पन्तजी नहीं, कला के व्यापक वृहत रूप में भी नहीं। उनकी खूबसूरती यहाँ है—

"कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
पिघल बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !"

पहली बात यह कि इसमें 'शपाशप' नहीं। यह शब्दों के साथ चित्र और भाव के समन्वय से हुई उत्कृष्ट रचना है। 'पीड़ित' पकड़ने के अर्थ में आयेगा, जैसे 'पाणि पीडन'।

इस तरह की एक मेरी खींची तस्वीर—

"आवृत - सरसी - उर - सरसिज उठे;
केसर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण शस्य-अञ्चल पृथ्वी का लहराया—
सखि, वसन्त आया !"

वसन्त की प्रकृति खींची गयी है—"सरसी के हृदय के ढके हुए कमल उठ आये; कली के केशर के केश छुट गये; पृथ्वी का स्वर्णशस्यांचल लहराने लगा; सखि, वसन्त आ गया !" सरसी, कली और पृथ्वी Personified (स्त्री-रूप में निर्वाचित) हैं; पहले तीनों का अलग-अलग सौन्दर्य देखिए। सरसी के हृदय के ढके हुए कमल उठ आये (अश्लीलता-वर्जित इंगित है,—स्पष्ट है—सरसी नव-यौवना हो गयी), कली के केशर के केश छुट गये (स्पष्ट है कि कली खुल गयी,—यह यौवन का स्पष्टीकरण है, पुन: कली के रेणु-मिश्रित बाल देख पड़ते हैं, उसका मुँह मधु की ओर है, संसार की ओर वह पीठ किये हुए है, यह उसकी पवित्रता की छवि है), पृथ्वी का सोने-सा चमकता शस्यांचल लहराने लगा। इन तीनों मूर्तियों के सौन्दर्योपकरण अलग-अलग हैं। अब, सरसी, कली और पृथ्वी को निकालकर इन्हीं उपकरणों से बनी एक वसन्त-प्रकृति-स्त्री को देखिए, पूरा रूप बन जायगा—एक जगह कमल-कुच हैं, दूसरी जगह केशर-केश और शस्य-अंचल लहराता हुआ।—पुन: दर्शनीय यह है कि कुचों का जिस तरह केशों से नीचे उत्पत्ति स्थान है, यहाँ भी वैसा ही प्रदर्शित यह है—कमल सरसी में हैं। कली के केशर-केश ऊपर, स्थल पर; और नीची से नीची होती हुई क्षेत्र-भूमि में शस्यांचल लहरा रहा है।—यह कला है। पर यह भी उच्च कोटि की नहीं। ऊपर उद्धृत किया हुआ पन्तजी का पद्य भाव-सौन्दर्य में 'मेघदूत' और 'चौर-पंचाशिका' के आलोचित श्लोकों के न्याय से मेरे इस पद्य से बढ़ा हुआ है। कारण, ओस के ढुलककर इंगित करने में बहुत-सी बातें हैं, समाप्ति भी पद्य की यथास्थान हुई है—अज्ञात अदृश्य में। पन्तजी की भाषा सरल होकर कदाचित् अधिक सुन्दर, प्राणों के अधिक पास है। कारीगरी और छन्द में दूसरी के मुकाबले नहीं; यह छन्द हिन्दी के लिए बिलकुल नया है; जोरदार भी ज्यादा है। अस्तु, उत्कृष्ट कला और दूर है।

हिन्दी में 'जुही की कली' मेरी पहली रचना है। हिन्दी के विभिन्न पाठकों तथा आलोचकों को यह पसन्द आयी है। पर 'वीणा' में छोड़कर अन्यत्र दूसरे आलोचकों द्वारा इसका पूर्ण सौन्दर्य-प्रदर्शन नहीं किया गया। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्तिरूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके। मेरी छोटी रचनाएँ (Lyrics) और गीत (Songs) प्राय: ऐसे ही हैं। इनकी कला इनके सम्पूर्ण रूप में है, खण्ड में नहीं। सूक्तियाँ—उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्राय: नहीं; केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ। जैसा प्रेमचन्दजी ने लिखा है—असफल लेखक आलोचक बन बैठा। साधक जिस तरह विभूति में आकर इष्ट से अलग हो जाता है, कवि उसी तरह उपदेश करता हुआ कविता की दृष्टि से पतित हो जाता है। फिर भी नीतियाँ, सूक्तियाँ, उपदेश कविता में प्रचलित हैं, कवि लिखते हैं।

'जुही की कली' का उद्धरण देकर मैं यह दिखलाने की चेष्टा करूँगा कि ठीक-ठीक चित्रण होने पर उपदेश किस तरह उसके भीतर छिपे रहते हैं और कला का विकसित रूप स्वयं किस तरह उपदेश बन जाता है। पुनः ऐसी रचनाओं का खण्डोद्धरण आलोचक का अधूरा सौन्दर्यदर्शन और कवि पर की गयी कृपारूपिणी अकृपा है।

जुही की कली

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्रांक में।
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूरदेश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आयी याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आयी याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आयी याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित् गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ।

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी
जैसे हिंडोल

इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बङ्किम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गाल;

चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रंग प्यारे संग।"

अर्थ और कला

विजन वन की वल्लरी पर, सुहाग से भरी हुई, स्नेह के स्वप्न में डूबी, निर्मल-कोमल-देहवाली तरुणी जुही की कली आँखें मूँदे हुए, शिथिल, पत्रांक में सो रही थी। सौन्दर्य की कल्पना प्रासाद से नहीं, वन से शुरू होती है। फिर भी सौन्दर्य के उपकरण प्रासादवालों से अधिक कोमल हैं या नहीं, यह विचार्य है। यहाँ दो उपकरण आये हैं। एक—'विजन-वन-वल्लरी', एक—'पत्रांक'। प्रेम की प्रतिमा तरुणी प्रासाद या रम्यगृह में रहती है; जुही की कली विजन-वन-वल्लरी पर है। यह भी एक ऊँचा स्थान है। तरुणी पलँग पर सोती है, कली पत्रांक में सोयी हुई है। दो पत्तों के बीच का स्थान देखिए; स्प्रिंगदार जो मोड़ा जा सकता है,—ऐसे पलँग पर जुही की कली है। पाठक सोच सकते हैं कि प्रासाद की युवती के पलँग से तरुणी जुही की कली का पत्रांक अधिक सुन्दर है या नहीं और 'पलँग' या 'पर्यंक' से 'पत्रांक' का कैसा शब्द-साम्य है। सोते समय तरुणी आँखें मूँद लेती है; इसके दल बन्द हैं, जिससे आँखें मूँदकर सोने का अनुमान सार्थक है। बाकी जितने विशेषण जुही की कली के रूप तथा भाव-सौन्दर्य के लिए आये हैं, वे सब एक तरुणी प्रेमिका पर घट सकते हैं। मतलब यह है कि जुही की कली का Personification (स्त्री-रूप में निर्वचन) अच्छी तरह मिला लीजिए और आगे भी मिलाते चलिए। बहुत-से आलोचकों ने इतने ही उद्धरण से इसकी आलोचना पूरी की है। इतने में केवल स्थान और पत्रांक पर सोती तरुणी कली का रूप-वर्णन है। वह वसन्त की रात थी। अब समय का वर्णन आया है। तरुण और तरुणी के प्रेम-आलाप का कौन-सा समय अधिक उपयुक्त है, यह परिणत पाठक जानते हैं। विरह से विधुरा प्रिया का साथ छोड़कर पवन, जिसे मलयानिल कहते हैं, किसी दूर देश में था। कविता बंगाल में लिखी गयी थी। वहाँ मलय-पवन बहता है। यहाँ, युक्तप्रान्त में नहीं। पर बंगला-साहित्य की ऐसी हवा यहाँवालों को लगी कि ये भी मलय-पवन बहाने लगे। इस रचना में जुही वसन्त में खिली है। वसन्त में जुही युक्त-प्रान्त में नहीं खिलती, ग्रीष्म-वर्षा में खिलती है। बंगाल में ऋतु कुछ पहले आती है। वहाँ जेठ-भर में आम खत्म हो जाते हैं और यहाँ आषाढ़ से पकना शुरू होता है। अस्तु इस जगह द्रष्टव्य यह है कि जुही की कली अभी खिली भी नहीं—प्रिय से उसका सम्मेल नहीं हुआ, फिर भी उसके लिए 'विरह-विधुर' प्रयोग आया है। यहीं, पहले कहा हुआ वह उपदेश-रूप चित्रण-सौन्दर्य में छिपा दिया गया है। इससे अर्थ-गाम्भीर्य बढ़ गया है। यहाँ 'विरह-विधुर-प्रिया' द्वारा कली के अनन्त यौवन की व्यंजना होती है। यह दर्शन इस प्राकृतिक सत्य पर अवलम्बित है कि कली हर साल खिलती है और पवन से मिलती है। पवन उसका ऐसा प्रिय है जो

हमेशा उसके पास नहीं रह सकता, वह उससे मिलकर चला जाता है—ठहर नहीं सकता। वह स्वभाव से परदेशी है। कली भी उसके चले जाने पर अपने अदृश्य तत्व में लीन हो जाती है, समय पर फिर उससे मिलती है। पवन के चले जाने के बाद वियोग-शृंगार सुदृढ़ होता है, फिर मिलन, जो बड़े परिचय का है। यह वियोग-भाव आगे थोड़े में प्रदर्शित है। पवन जब आता है, एक साल तक भिन्न-भिन्न देशों में भ्रमण करने के बाद, तब कली को जैसी वह देख गया था, वैसी ही पूर्णयौवना देखता है। इस तरह कली का अनन्त यौवन व्यंजित हुआ। पर 'विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़' इस शब्द-बन्ध से वियोग के भाव-चित्र द्वारा काव्य को महत्त्व मिला है, दर्शन गौण हो गया है—इसके भीतर डाल दिया गया है। यदि "विश्व में शाश्वत रे यौवन !" इस तरह की कोई पंक्ति यहाँ होती तो चित्रण-सौन्दर्य की अपेक्षा दर्शन-उपदेश प्रबल होता। पर रचना जैसी कहानी की तरह चली है वैसी ही जा रही है। वियोग के साथ मिलन की ही बातें याद आती हैं, जो आगे वर्णित हैं। बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात (पहलेवाली) याद आयी, चाँदनी की धुली हुई आधी रात (मिलन का समय, सुन्दरता) याद आयी, कान्ता की कम्पित कमनीय गात याद आयी। प्रिय से मिलते समय कान्ता का कम्पित होना स्वभाव और सौन्दर्य है। यह स्वाभाविकता पवन से मिलते समय कली में और स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। फिर क्या ? पवन उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन कुंज-लता-पुंजों को पार कर (पवन की गति जल्द-जल्द स्थानों को पार करना सूचित करती है। यहाँ वेग का वर्णन खुलासा नहीं किया गया, उसकी आकांक्षा और गति आप स्पष्ट होती है),जहाँ उसने खिली कली के साथ केलि की थी, (वहाँ) पहुँचा। कली सोती थी, (फिर) प्रिय का आगमन, कहो, वह कैसे जाने ?—(युवती के प्रति सहानुभूति)। नायक ने कपोल चूमे, वल्लरी की लड़ी हिंडोल की तरह डोल उठी। यहाँ भी सुप्त सौन्दर्य पर उपदेश के स्वर से कुछ नहीं कहा गया। पर कली की शय्या जो चूमने पर हिंडोल की तरह डोल उठी, कली का सुप्त-सौन्दर्य और उस पर परिचय की पड़ी पवन की दृष्टि पाठक अच्छी तरह देखें। इस पर भी उसने आँखें नहीं खोलीं, चूक के लिए, प्रिय के आने पर भी सोती रहने के लिए क्षमा नहीं माँगी, नींद से अलसायी हुई तिर्यक बड़ी-बड़ी आँखें मूँदे रही। छोटी-सी जुही की कली के बन्द दलों में बड़ी-बड़ी आँखों का दर्शन—जैसे मुँदी आयत आँखें ही देख पड़ती हैं, रूप-भर में आँखों को महत्त्व देता है; आँखों के लिए आँखें ही सबसे अधिक प्रिय हैं, अथवा यौवन की मदिरा पिये वह मतवाली थी, यह कौन कहे ? उस निर्दय नायक ने अत्यन्त निष्ठुरता की कि झोंकों की झड़ियों से सारी सुन्दर सुकुमार देह झकझोर डाली, गोरे गाल, कपोल मसल दिये। यह प्रेम का सहृदय उत्पात या आवेश है। कली के प्रति सहानुभूति नायक को 'निर्दय' कहने में सूचित है। मेरे आदरणीय एक साहित्यिक ने मौरावाँ में 'मसल दिये' पर मजाक किया था। मैंने उसी समय उन्हें उत्तर भी दिया था। 'कपोल' हाथ या पैरों से नहीं मसले जाते, कपोल कपोल से ही मसले जाते हैं नायिका के, नायक द्वारा; बच्चे के कपोल गुरु-जन द्वारा हाथ से ही भले मसल दिये जाते हों। युवती चौंक पड़ी,—चारों ओर चकित चितवन फेरकर, सेज के पास प्रिय को देख, नम्रमुखी (लज्जिता होने के

कारण हवा से झूमती हुई कली झुक जाती है, जिससे उसके नम्रमुख होने का चित्र बनता है) हँसी — प्रिय के संग रंग खेलकर (अनेक प्रकार की रंगरलियाँ करके) खिल गयी। यहाँ, जुही की कली में, कला सुप्ति से जागरण में आती है—यह उसका क्रम-परिणाम है। अभी-अभी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में एक नेता ने उसे साहित्य कहा है जो मानव-जाति को उठाता हो। यहाँ जुही की कली में जो कला है, वह ऐसी ही है या नहीं, देख लीजिए। सुप्ति में प्रिय नहीं है, आत्म-विस्मरण भी है, फिर भी, चूँकि जीवन है, इसलिए रूप है। कहानी के तौर पर बिना उपदेश-वाक्य के, रचना किस तरह की गयी है, कई भंग लेती हुई, फिर भी सिलसिलेवार, यह अनावश्यक होने पर भी गद्य में स्पष्ट किया गया है। गद्य में पद्य के ही शब्द अधिकांश मैंने रक्खे हैं, नहीं तो कुछ तीखापन आ जाता है। कली की सुप्ति—आत्म-विस्मृति—मन के अन्धकार के बाद है जागरण—आत्म-परिचय—प्रिय-साक्षात्कार—मन का प्रकाश—खिलना। कली सोते से जगी हुई, प्रिय से मिली हुई, खिली हुई पूर्ण मुक्ति के रूप में, सर्वोच्च दार्शनिक व्याख्या-सी सामने आती है या नहीं, देखें। कोई आलोचक यदि इसका एक अंश उद्धृत करके सन्तुष्ट रहें और दूसरों को सन्तोष दें तो इसके साथ न्याय होता है या अन्याय, यह भी समझें। मैं इसे ही परिणति कहता हूँ और उत्कृष्ट कला का एक उदाहरण "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की काव्य में उतारी हुई यह तस्वीर है या नहीं, परीक्षा करें। यहाँ सुप्ति तम और प्रिय-परिचय ज्योति है। रचना में केवल अलंकार, रस या ध्वनि नहीं, उनका समन्वय है। इस तरह एक कला पूर्ण हुई है।

चूँकि पन्तजी को मैंने कला के विवेचन में साथ लिया था, इसलिए दो-एक पन्तजी के प्रशंसक असन्तुष्ट हो गये हैं। मैं लिख चुका हूँ, मेरा उद्देश केवल कला का स्पष्टीकरण है, पन्तजी की बुराई नहीं। पर जो लोग इन पंक्तियों पर ध्यान न देकर उन्हें गिराने का मुझे कलंक देना चाहते हैं, उनकी मैं परवा नहीं करता; वे कितने गहरे हैं, मैं थाह ले चुका हूँ। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को क्षति न पहुँचायी होती तो आज मैं स्वयम् अपनी कला के विवेचन में लेखनी न लेता। कलंक मुझे बहुत मिल चुका है; पर गर्द सूर्य तक नहीं पहुँचती, नीचे ही वालों पर रहती है। यह आलोचना शुरू करने से पहले मैंने पन्तजी और हिन्दी—दोनों के मुखों की ओर एक-एक बार देखा। अन्त में हिन्दी का मुख देखना ही मुझे अच्छा लगा। मेरे प्रति बड़े-बड़े अधिकांश साहित्यिकों की विमुखता का यही कारण है—मैंने सदैव हिन्दी का मुख देखा है।

'गुञ्जन' में पन्तजी की 'चाँदनी' कविता है, 79वें पृष्ठ से शुरू होती है। जिस कवि की 'गुञ्जन' की प्रति मेरे पास है उसमें उसने V. good (अति उत्तम) लिख रखा है। कविता काफी लम्बी है। थोड़े उद्धरण से इसके ढंग का विवेचन करूँगा। इस कविता में यह ढंग सर्वत्र है। पाठक पुस्तक में पूरी कविता पढ़कर मिला लेंगे।

चाँदनी

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद - हासिनि,
मृदु - करतल पर शशि - मुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि !

× × ×

वह सोयी सरित - पुलिन पर साँसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु - लघु लहरों पर मिलता मृदु - मृदु उर - स्पन्दन।
अपनी छाया में छिपकर वह खड़ी शिखर पर सुन्दर,
है नाच रही शत - शत छबि सागर की लहर - लहर पर।

× × ×

वह शशि - किरणों से उतरी चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोयी अपनी ही छबि से सुन्दर।

× × ×

वह है, वह नहीं, अनिर्वच, जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना - सी वह, जिसमें अचेत जीवाशय।"

मतलब पहले का—"नीले आकाश के शत-दल (कमल) पर शुभ्र या शारद हँसी हँसनेवाली (शायद चाँदनी), अपनी कोमल हथेली पर शशि-मुख रखकर, चुपचाप, एकटक देखती हुई अकेली बैठी है।"

बीच में दो बन्द छोड़कर चौथे का मैंने उद्धरण दिया है। वे दोनों बन्द पहले-वाले की ही तारीफ में आये हैं। चौथा बन्द यह है—

"वह नदी के तट पर सोयी हुई है। साँसों में हवा स्तब्ध है (रुकी है जैसे)। केवल लघु-लघु लहरों पर उसके हृदय का मृदु-मृदु स्पन्दन मिलता है।"

पहले यह देखिए कि पहले बन्द से या पहले भाव से दूसरे भाव का सम्बन्ध क्या है। कुछ न मिलेगा। वहाँ बैठी है, यहाँ सोयी है। पहले में एक आलंकारिक वर्णन है, दूसरे में एक है। उद्धृत तीसरे बन्द में देखिए (दूसरा और तीसरा सिलसिलेवार हैं), वह सुन्दर, अपनी छाया में छिपकर, शिखर पर खड़ी है—कैसा सम्बन्ध परस्पर मिलता जा रहा है! उद्धृत चौथे में, वह कवि के आँगन पर शशि-किरणों से उतरी हुई है। अन्त में वह है और वह है भी नहीं, यानी उपदेशात्मक दर्शन-शास्त्र। पहले कला का विवेचन मैं लिख चुका हूँ। उसके अनुसार यह कविता नहीं आती। फूल का कलावाला रूप मिलाइए। तने से डालें भिन्न होकर भी जुड़ी हैं, इसी तरह डालों में पत्ते, पत्तों से फूल, फूलों से खुशबू। खुशबू अपने तत्त्व में सारे पेड़ को ढके हुए है। तने का रूखापन, डालों की थोड़ी-थोड़ी हरियाली, पत्तों की पूरी, फूलों का एक या अनेक रंगों—केशर, पराग आदि से विकसित रूप, सुगन्ध सारे पेड़ की उच्चतम विकास को स्पष्ट करती हुई, उसी में उसे ढके हुए—यह कला है। यह बात पन्तजी की इस कविता में नहीं। हर बन्द अपना राग अलग अलाप रहा है। इनकी अधिकांश रचनाएँ ऐसी हैं। सब जगह एक-एक उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा काव्य को कला में परिगणित कराने के लिए है, और इसे ही उनके आलोचकों ने अपूर्व कला समझ लिया है। उनकी

दो-एक रचनाएँ सम्बद्ध हैं, पर वे भी उत्तम श्रेणी की नहीं बन सकीं, उनमें विषय की विशदता वैसी नहीं, जैसी अलंकारों की चमक-दमक है। मैं लिख चुका हूँ, केवल रस, अलंकार या ध्वनि कला नहीं। अगर है तो कला के खण्डार्थ में है, पूर्णार्थ में नहीं। खण्डार्थ में पन्तजी की कला बहुत ही बन पड़ी है। उसके प्रशंसकों की दृष्टि इन्हीं खण्डरूपों में बँध गयी है। यह विस्तत होकर वृहत् विवेचन में नहीं जा सकी। वे प्रशंसक इस प्रकार की कला के देखने के आदी भी न थे। पहले से छन्द, दोहे, चौपाइयों की जो परिपाटी थी, वह इस कला के अनुरूप न थी।

पन्तजी के उद्धृत बन्दों के सम्बन्ध भाव को छोड़कर एक-एक की आलोचना करके देखा जाय, उनका रूप कहाँ तक ठीक है। इससे उनकी सौन्दर्य-दर्शन-कला का कुछ हद तक भेद मालूम होगा। पहले बन्द का मतलब है—"नीले आकाश के शतदल पर वह शारदहासिनी मृदु करतल पर शशि-मुख धारण कर, नीरव, अनिमिष एकाकिनी बैठी है।"—इसके लिए पहले तो यहाँ के साहित्यिक यह एतराज करेंगे कि रात को शतदल-कमल का ऐसा उल्लेख शास्त्र-विरुद्ध है, दूसरे, अच्छी तरह देखने पर शारदहासिनी का नीले नभ के शतदल पर बैठना ठीक नहीं जँचता; कोई कल्पना ऐसी भले ही करे और इसे सच भी माने, पर असलियत कुछ और है; मालूम होता है—शशि-मुखवाली शारदहासिनी के सिर पर नीला शतदल उलट दिया गया है, क्योंकि आकाश की नीलिमा चाँद और चाँदनी के ऊपर मालूम देती है, पाठक-साहित्यिक किसी चाँदनी-रात में चाहें तो यह सत्य प्रत्यक्ष कर लें। इस तरह का एक भाव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का याद आ रहा है—

"हेरो गगनेर नील शतदल खानि मेलिल नीरव वाणी
अरुण पक्ष प्रसारि सकौतुके सोनार भ्रमर आसिल ताहार बुके
कोथा होते नाहीं जानी !"

अर्थ : "देखो, आकाश के नीचे शतदल ने अपनी नीरव भाषा फैला दी; अरुण पंख फैलाकर, सकौतुक, न जाने कहाँ से सोने का भौंरा उसके हृदय पर आ गया!"

इस पद्य के अन्यान्य उच्चतर सम्बन्धों की चर्चा यहाँ न करूँगा। उतनी जगह नहीं। केवल प्रतिपाद्य विषय पर विचार करना है। यहाँ नभ का नील शतदल अपनी नीरव भाषा खोलता यानी खुलता है, प्रातःकाल, रात्रि के समय नहीं; पुनः, ऊपर दूसरा कोई चित्र न रहने के कारण आकाश केवल खुला हुआ शतदल मालूम देता है, इसके बाद सोने का भौंरा—सूर्य उसके हृदय पर कहीं से उड़कर आ जाता है। सूर्य भौंरे की तरह आकाश शतदल के एक बगल बैठता है, फिर धीरे-धीरे बीच हृदय पर आ जाता है। इसमें पन्तजी की जैसी अस्वाभाविकता नहीं मालूम देती। कारण, आकाश का कमल पहले रिक्त दिखलाया गया है।—केवल नील-नील मालूम देता है, फिर सूर्य भौंरे की तरह कहीं से उड़कर आ जाता है। पुनः सूर्य चन्द्र से बहुत ऊँचे भी है। उनका नभ के शतदल पर बैठना सार्थक मालूम देता है, दिन का समय तो है ही।

पन्तजी के उद्धृत दूसरे बन्द का मतलब—"वह सरित-पुलिन (नदी के तट) पर सोयी है। साँसों में स्तब्ध समीरण। केवल लघु-लघु लहरों पर मृदु-मृदु उर-

स्पन्दन मिलता है।'' बिना अर्थ की खींचतान किये 'सरित-पुलिन पर' का अर्थ है 'नदी के तट पर'। स्वभावत: शंका होती है कि वह नदी के तट पर सोयी है तो उसके 'शशि-मुख' का अब क्या हाल है, वह तो आकाश पर ही है। पुन:, सोयी तो वह नदी के तट पर है, पर उसकी हृदय की धड़कन है लहरों में! —यह है पन्तजी की बिगड़ी कला। यह किसी लक्षणा या व्यञ्जना से सार्थक नहीं हो सकती। कहीं-कहीं उनके चित्र सुन्दर हैं। पर इस उद्धरण में सर्वत्र ऐसा ही तमाशा है।

'परिमल' में मेरी 'निवेदन' शीर्षक एक रचना है। इसका उद्धरण आज तक किसी ने नहीं दिया। यहाँ इसी का विवेचन करता हूँ—

"एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में,
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन-जल में।
जब कहीं झड़ जायँगे वे,
कह न पायेगी
वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनायेगी?
दाग़ जब मिट जायगा
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा?
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन
गगन-तम-सा प्रभा-पल में,
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में।
फिर किधर को हम बहेंगे,
तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा
तुम किसे दोगे?
हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते?
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन,
मगन बह जावगे पल में
परम-प्रिय सँग अतल जल में?"

इसमें मुक्त प्रेम (Free love) की तस्वीर है। प्रिया के लिए प्रियतम की उक्ति है इस रचना में साद्यन्त। प्रियतम किस दृष्टि से प्रिया को देखता है, यह दिखाया है। वह कहता है—"एक दिन तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में रोदन थम जायगा। (यह वाक्य इतना छोटा है कि साधारणजन पहली ही पंक्ति में घबरा जाते हैं— समझ नहीं पाते कि किसका रोदन थम जायगा। यह भेद 'वह हमारी मौन भाषा क्या सुनायेगी' के पास खुलता है। वहाँ मालूम होता है कि रोदन प्रिय का है और अञ्चल प्रिया का। अञ्चलवाली स्त्री होती है, यह मानी बात है। 'प्रेम-अञ्चल' के प्रयोग से बाहर साड़ी का अञ्चल भी सिद्ध है और भीतर प्रेम का अञ्चल भी।

प्रेम अञ्चल में एक दिन रोदन थम जायगा, अर्थात् प्रिय कहता है—मैं फिर रोने न आऊँगा—तुम्हारा-मेरा सदा के लिए वियोग हो जायगा। मिलने के समय प्रिय की सुख-विह्वलता के आँसू भाव-रूप से प्रिया के प्रेम के अञ्चल को सिक्त करते हैं और प्राकृत रूप से साड़ी के अञ्चल को।) सींचे नयन-जल में लिपटकर कुछ कण-कनक स्मृति बन जायँगे। [प्रिय प्रिया से कहता है—सींचे नयन-जल में यानी अञ्चल में जिस जगह मेरे आँसू पड़े हैं, वहाँ लिपटकर कुछ कण जो सोने-से हैं, मेरी स्मृति बन जायँगे; अर्थात् मैं जुदा हो जाऊँगा, मेरी यह स्मृति रह जायगी ! भीतर, प्रेम के अञ्चल में, कनक-कण-सी कथाएँ हैं (कण सोने के नहीं लिपटते, मिट्टी के ही लिपटते हैं; पर 'कण-कनक' द्वारा कणों की जो बहुमूल्यता है, वह प्रेमजन्य है; इसलिए भीतर प्रेम के अञ्चल में जो कनक-कण लगे हैं वे प्रिया-प्रियतम के संसार की रेणु-रूपिणी कथाएँ हैं, जिनकी याद प्रिया जुदाई के बाद किया करती है।), बाहर वासनाञ्चल में प्राकृत संसार की रेणु; पर चूँकि प्रियतम के आँसुओं से आ लगे हैं, इसलिए कनक-जैसे हैं, और भीतर और बाहर के ये चिह्न प्रिय की स्मृति हैं।]

जब कहीं वे (कण) झड़ जायँगे, तब वह हमारी मौन भाषा (जो आँसुओं से भीगे अञ्चल में कणों से लिपटकर स्मृति है) (कुछ) कह न पायेगी (मूक, अक्षम वह)—क्या सुनायेगी ? (कुछ भी शब्द-रूप से नहीं सुना सकती जिस तरह इस समय मैं सुना रहा हूँ। यह प्रसंग भीतर के अञ्चल के लिए यों आयेगा कि कथाएँ विस्मृति में बदलती जायँगी। इसका स्पष्टीकरण आगे और अच्छा है।) जब दाग़ मिट जायगा, (तब) राग (जो हम-तुमने साथ गाया था—प्रेम) स्वप्न ही तो कहलायेगा ? (यहाँ प्राकृतिक सत्य का भी घटाव देखते चलिए। अञ्चल से कणों का कुछ दिनों बाद झड़ जाना और फिर दाग़ का भी मिट जाना स्वाभाविक है: साड़ी के धोने पर—क्रिया-क्रिया से, हृदय की स्पन्दन-शीलता से नयी स्मृतियों के आने और पुरानी के जाने पर। इस प्रकार अपनी छाप वह मिटा रहा है। अब उसका प्रकृत प्रेम दाग़ के मिट जाने पर केवल स्वप्न-रूप रह गया है अस्पष्ट !) फिर, तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में, वह निर्धन स्वप्न भी मिट जायगा जैसे प्रभा-पल में आकाश का तम। (स्वप्न निर्धन है। 'निर्धन' शब्द की ताकत और सार्थकता देखिए, जो कुछ स्मृतिधन रूप था, वह मिट गया है, केवल स्वप्न है; स्वप्न के पास कौन-सा धन अस्तित्व के लिए है ?—वह खुद बेजड़ बेज़र है; वह भी प्रभा-क्षण में, प्रभा की पलकों में आकाश के अँधेरे की तरह मिट जायगा। प्रभा स्त्री-रूप में निर्वाचित (Personified) है। प्रभा की पलकों में आकाश का अँधेरा नहीं, उसकी प्रेमिका में भी अब पहले का कोई स्वप्न नहीं—कैसा साफ हो गया है। रूप निष्कलंक, निर्विषय, देखियेगा। प्रिया के आँचल से प्रिय का प्रेम आँसू, कण, स्मृति, दाग़, स्वप्न बनता हुआ, सूक्ष्मतर होता हुआ, कैसे मिट गया, प्रिया का पहलेवाला निर्मल रूप कैसी स्वाभाविक प्रगति से तैयार हुआ, कैसा क्रम-विकास वर्णन में कला होती गयी, द्रष्टव्य है।)

फिर, न-जाने, किस तरफ हम बहेंगे, किस तरफ तुम होगे। (संसार की सागर से कल्पना प्राचीन है। छुटकर वह कहता है, न-जाने किधर हम बहेंगे,

किधर तुम होगे। 'होगे' पुंलिग होने पर भी प्रेमिका से वातचीत में ऐसा ही आता है। इसमें कुछ उर्दू की छाया भी है।) कौन जाने, फिर तुम किसे सहारा दोगे। (बहते में प्रेमिका यहाँ सहारा देती है—बाँह पकड़कर तैरती है। इस तैराक प्रेमिका का यहाँवाला रूप और भाव-सौन्दर्य देखियेगा जो उसके प्रियतम द्वारा वर्णित है।) अगर हम बहते हुए मिले (जब तुम दोनों एक साथ बहते होगे) तो क्या तुम कहोगे कि हाँ, हम तुम्हें पहचानते हैं, या प्रिय, अपरिचित चितवन खोलकर, पल में, अपने परम प्रिय के साथ, स्नेह-मग्न, अतल जल में बह जाओगे? (यह है अपरिचित चितवन, जो कभी किसी के लिए परम परिचित थी, ऐसी परिस्थिति में, क्या असर पैदा करती है, समझदारों के मन में यह समझने की है। पहले जिस तरह प्रेमिका निष्कलंक होकर प्रभा-सी सामने आयी थी, अब उसी तरह, दूसरे को सहारा देकर बहती हुई, अपरिचित चितवन से पहले के प्रिय को देखकर, मग्न, सम्बद्ध, अतल-अगाध जल में अछोर की ओर बहती जा रही है। इस तरह दो सम्बद्ध रूपों की कला अपार अदृश्य की ओर बह गयी है। प्रथम प्रिय शृंगार की सहानुभूति के लिए अपरिचित चितवन आपको दे रहा है।)

हिन्दी-काव्य की पंक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्तवाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गायी नहीं जाती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खण्ड में इस तरह की रचनाएँ हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्तवाली रचनाएँ 'परिमल' के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गायी जा सकती हैं। पर संगीत अँगरेजी ढंग का है। इस गति को मैं 'मुक्त-गीत' कहता हूँ।

'बादल-राग'-शीर्षक से छः रचनाएँ इसी मुक्त-गीत में हैं। दूसरी का उद्धरण देता हूँ—

"ऐ निर्बन्ध!—अन्ध-तम-अगम-अनर्गल – बादल!
ऐ स्वच्छन्द!— मन्द-चञ्चल-समीर-रथ पर उच्छृंखल!
ऐ उद्दाम! अपार कामनाओं के प्राण! बाधा-रहित विराट!
ऐ विप्लव के प्लावन! सावन-घोर गगन के ऐ सम्राट्!
ऐ अटूट पर टूट छूट पड़नेवाले—उन्माद!
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़नेवाले—अपवाद!
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न!
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड! आतंक जमानेवाले!
कम्पित जंगम— नीड़ विहङ्गम,
ऐ न व्यथा पानेवाले!
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर!"

पहला सीधा अर्थ बादल के लिए है—"हे बन्धनविहीन! दुर्गम घोर अन्धकार में मुक्त—बादल! हे स्वतन्त्र! मन्द और तीव्र गति से चलते हुए

समीर के रथ पर बैठे उच्छृंखल ! हे उद्दाम ! संसार की अपार आशाओं के जीवन ! हे अवाध—विराट ! —बाढ़ बहानेवाले ! सावन से घोर हुए गगन के सम्राट् ! न टूटनेवाले संसार पर छूटकर टूट पड़नेवाले ऐ उन्माद-जैसे ! —विश्व के वैभव को लूट-लूटकर लड़नेवाले अपवादरूप ! सौन्दर्य को बिखेरकर, मुख फेरकर कली को ऐ कठिन पीड़ा देनेवाले ! पत्र, पुष्प, पौदे, वन और उपवन को छिन्न-भिन्न कर वज्र की गर्जना से ऐ आतंक जमानेवाले प्रचण्ड ! सचल जीव और नीड़ों के पक्षी काँप रहे हैं, फिर भी उनके लिए व्यथा न पानेवाले ऐ विप्लव (अतिवृष्टि, प्लावन) के नये बादल ! भय के भ्रमपूर्ण आँगन पर गरजो।"

यह सीधा अर्थ है। पर उद्देश यह अर्थ नहीं। अन्तिम पंक्ति का 'विप्लव' सारा ठाट बदल देता है। व्यंग्यार्थ सामने आ जाता है। 'विप्लव', एक ऐसा शब्द है जो मूल में वाच्यार्थ के अनुकूल जलराशि का अर्थ रखता हुआ, पहले के हुए प्रयोग के अनुसार अर्थात् दूसरे अर्थ से युगान्तर—क्रान्ति (Revolution) की याद दिलाता है। यह युगान्तर साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक जिस तरफ भी चाहें, फेर सकते हैं। 'विप्लव' शब्द के साथ जो भाव जगता है, वह अन्य शब्दों की लक्षणा-शक्ति से पूरे वाक्य को दूसरे सार्थक रूप (Secondary Meaning) में बदल देता है; बाद को सारा पद्य पूर्णार्थ व्यंग्य में बदल जाता है।

"भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !"—

इसमें आये 'भय' के विषय जीव-वस्तुओं का वर्णन पहले हो चुका है, यानी बादल जिन पर अत्याचार करता है, उनके नाम गिनाये जा चुके हैं। यहाँ 'विप्लव' की लाक्षणिकता के फूटते ही सारे शब्द-पद लाक्षणिक हो उठते हैं और उनसे पैदा हुआ व्यंग्यार्थ स्पष्ट प्रतीयमान होने लगता है।

भय के = जहाँ हृत्कम्प होता है अर्थात् जहाँ पाप है उसके;
मायामय = भ्रमपूर्ण, अस्तित्वरहित, पाप छायामय है—भ्रमविशेष, सत्य नहीं;
आँगन पर = मध्य गृह पर, उसके केन्द्र पर;
गरजो = निर्भय शब्द करो, उसे मिटाने के लिए;
विप्लव के = युगान्तर के, परिवर्तन के;
नव जलधर = नये जीवनवाले, नयी जानवाले ऐ बादल-रूप !
पूरा वाक्य = ऐ युगान्तर के नवीन जीवनवाले ! पाप के केन्द्र पर निर्भय होकर शब्द करो—बोलो—गरजो।

इसके बाद शुरू से सारी पंक्तियाँ इस अर्थ के अनुकूल आ जायँगी। देखिए— "विना आँखों के दुर्गम अँधेरे में (अँधेरे के आँखें इसलिए नहीं कि वह पाप है, उसमें सत्य, प्रज्ञा-चक्षु नहीं। दुर्गम इसलिए है कि वहाँ जाते त्रास होता है।) विना रुकावट के विचरनेवाले ऐ बादल रूप ! ऐ स्वतन्त्र ! मन्द और चंचल भाव-रूप समीर-रथ पर ऐ उच्छृंखल ! —(वायु भीतरी होकर भाव का रूप प्राप्त करती हैं; इसी से 'जिधर हवा बही, उधर रुख किया' लोकोक्ति है, जिसका अर्थ है— भाव की जैसी धारा रही, वैसे हम रहे या चले) ऐ साहसी ! अपार, अनन्त

आशाओं के जीवन !—(अनेक भविष्य आशाओं को उससे जीवन मिलता है—वे पुष्ट होकर फलवती होती हैं।) हे मुक्त ! हे विशाल ! हे युगान्तर की—भिन्न भावनाओं की बाढ़ बहा देनेवाले ! सावन के-से समाच्छन्न मनोनभ के ऐ सम्राट् ! न टूटनेवाले (भाव, विषय) पर छूटकर टूट पड़नेवाले (आक्रमण करनेवाले) ऐ उन्मादरूप ! विश्व के वैभव को (जो ऐश्वर्य ऐश्वर्य के भाव से गिरकर कलुषित हो चुका है, उसे) लूट-लूटकर लड़नेवाले ऐ अपवाद-रूप !—(नासमझ बदनाम करते हैं, इसलिए) श्री (जिस खूबसूरती में पाप है; पाप से, बुरे कार्यों से जो सौन्दर्य गढ़ा गया है, उसे) बिखेरकर, चेहरा फेरकर उच्चता और सुन्दरता पर इतरानेवाली कलीस्वरूपा किसी को निष्ठुर होकर पीड़ित करनेवाले पत्र-पुष्प-पौदे-वन-उपवन-जैसे प्राचीन विरोधी वस्तु-विषयों को (भाव-रूप से) छिन्न-भिन्न कर वज्र की जैसी गर्जना से ऐ प्रचण्ड ! (न माननेवाले स्वार्थपरों पर) अपनी सत्ता का भय पैदा करनेवाले !—चलते-फिरते और नीड़-विहंगम-रूप, घर में रहनेवाले जन काँप रहे हैं—फिर भी उनके लिए व्यथा न पानेवाले—सहानुभूति न रखनेवाले (कारण, वे इस नवीन सत्ता को स्वीकृत नहीं करते) ऐ ! भय के—उनके इस पाप-कम्प के भ्रमपूर्ण केन्द्र पर युग-प्रवर्तन के नवीन जीवनवाले ! गम्भीर ध्वनि करो !"

समझने के लिए कुछ विद्वत्ता की तो आवश्यकता है ही। जो जन काव्य के लक्षणों से परिचित हैं, उन्हें असुविधा न होगी। यहाँ भी यह बीस पंक्तियों का पद्य एक ही भाव रखता है। फिर भी, किस तरह बादल के भीतर से चलता है, पाठक समझें। क्या कोई ऐसे पद्य के लिए कह सकता है कि इसके एक टुकड़े का उद्धरण काव्य और सौन्दर्य का बोध कराने के लिए काफी होगा ? युगान्तर की भिन्न-भिन्न धाराओं की तरफ विज्ञ काव्य-मर्मज्ञ इसे घटाकर देखेंगे तो इसे पूरा उतरता हुआ ही पायेंगे। बुराई के खिलाफ बगावत का ढंग यहाँ कला है। विकसित रूप स्पष्ट कर दिया गया है।

"मौन रही हार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार।
कण-कण कर कंकण, मृदु किण-किण-रव किंकिणी,
रणन-रणन नूपुर, उर-लाज, लौट रंकिनी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार—
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार।
'शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ ?'—
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार।—
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार।"

यह मेरे गीतों में एक प्रसिद्ध हुआ गीत है। यह कुछ दिन पति-सहवास में रह चुकी एक तरुणी की, आधी रात के समय, पति-सहशयन के लिए जाते की वर्णना है।—मन में हारकर मौन रह गयी। (क्योंकि) उसके सारे श्रृंगार (बज-बजकर) कह रहे हैं कि यह प्रिय-पथ पर (प्रिय के पास) जा रही है।

"कंकण कण-क्रण कर रहे हैं, किंकिणी मृदु किण-किण, नूपुर रणन-रणन; हृदय की लज्जा से रंकिनी-सी होकर वह लौट पड़ती है, तब पायल और मुखर होकर बोलने लगते हैं।

(जब पायलों के शब्द से, लौटती हुई वह खड़ी हो जाती है, क्योंकि लौटते हुए, पायल जैसे और जोर से बोलते हों, तब हृदय में वाद्य होता है)—'अगर उन्होंने यह आवाज सुनी हो तो अब कहाँ लौटकर जाऊँ ? उन चरणों को छोड़कर मैं और कहाँ शरण पाऊँगी ?'—सजे हृदय के (भीतर से श्रृंगार से सजे हृदय के) इस स्वर के सब तार बजे !"

बाहर और भीतर दोनों जगह श्रृंगार का वाद्य होता है। बाहरवाले से भीतर-वाला मधुर है, प्रिय-भावना के अनुकूल। यह प्रदर्शन यहाँ कला है। गीत ऐसी जगह समाप्त किया गया है कि वह पति के पास गयी, यह आप पाठक और श्रोता सोच लेते हैं। पहलेवाले वाद्य से जो लाज हुई थी, वह श्रृंगार के दैहिक सम्बन्ध की कल्पना से। वाद्य बाहर के हैं, दैहिक सम्बन्ध भी बाहरी सम्बन्ध है। फिर भीतर हृदय के तार झंकृत होते हैं, जहाँ पति का यथार्थ प्रिय भाव—आत्मिक प्रेम बज उठता है। इसलिए लौट जाने पर अधर्म होगा, क्योंकि पति को आहट मालूम हो चुकी है—उसकी ऐसी धारणा है। धर्म के विचार से, नित्य-सम्बन्ध की भावना से, उसकी लज्जा दूर हो जाती है, वह मानवी से देवी बनकर पति के पास जाती है। सारे पद्य का सम्बन्ध और कला का विकास यहाँ भी द्रष्टव्य है।

"जागो, जीवन-धनिके !
विश्व-पण्य-प्रिय वणिके !
दुःख-भार भारत तम-केवल,
वीर्य-सूर्य के ढके सकल दल,
खोलो उषा-पटल निज कर अयि
छविमयि दिन-मणिके !
गहकर अकल-तूलि रँग-रँगकर
बहु जीवनोपाय, भर दो घर;
भारति, भारत को फिर दो वर
ज्ञान - विपणि - खनि के !
दिवस-मास-ऋतुं-अयन-वर्ष भर
अयुत-वर्ण युग-योग निरन्तर
बहते छोड़ शेष सब तुम पर
लव - निमेष - कणिके !"

यह गीत भारत की ऐश्वर्य-शक्ति पर लिखा गया है। मतलब गीत से ही हासिल होगा—"प्राणों की धनिके ! (जीवन-जीवन में धनिका-रूपिणी अधिष्ठात्री लक्ष्मी के लिए सम्बोधन है) जागो (अपनी परिस्थिति का विचार कर चारों ओर देखो। इस तरह यह भाव प्रत्येक मनुष्य के लिए भी लागू हो सकता है।)—ऐ संसार-भर की (बिकनेवाली) वस्तुओं से प्रेम करनेवाली वणिके ! (भारत की दृष्टि भारत के भीतर के व्यवसाय में ही नहीं, बाहर भी जाय, समस्त संसार में

फैले, यह भाव यहाँ व्यंजित है ।)

"इस समय भारत दुःख का भार हो रहा है । उसमें केवल अन्धकार-ही-अन्धकार है । उसके वीर्यरूपी सूर्य के समस्त दल—समस्त कलाएँ—छिप गये हैं ।' अयि दिन की मणि मस्तक पर लगाये हुए छविमयि, उसके उषा के द्वार अपने हाथ से खोल दो । (उषा से अर्थ वाणिज्य के उषःकाल से है । जिस तरह एक गृहदेवी द्वार खोलती है, यहाँ लक्ष्मी उसी तरह सूर्य की मणि मस्तक पर लगाये वाणिज्य की उषा का द्वार खोलती है । उषा की ललाई में द्वार का रूप है । खुलते ही दिन-मणिका देख पड़ती है । फिर प्रकाश से जैसे श्री का प्रकाश आता है ।)

"हाथ में अकल-तूलिका ('अकल' शब्द ब्रह्म का विशेषण है; इस तरह मतलब है सब रूप और गुणों से पूर्ण) लेकर जीवन के अनेकानेक उपायों को रँगकर जीवन-निर्वाह के उपायों की तस्वीरें खींचकर, बताकर कि इस-इस तरह जीवन की सार्थकता करो, घर भर दो (भारत को पूर्ण कर दो) । हे भारति, (यहाँ 'भारती' का अर्थ सरस्वती करने से ठीक न होगा, कारण, 'भारती' का 'भर तनोधि' से बना धातुगत अर्थ यहाँ है; सिद्धि में इसके बाद भी एक पेंच है; खैर, अर्थ वही भरनेवाली है, जिसमें लक्ष्मीवाला भाव ही पुष्ट है । यहाँ 'भारती' के सरस्वती-अर्थ की भी सार्थकता की जा सकती है; पर मेरा मतलब लिखते समय धातुगत अर्थ से था ।) भारत को फिर, खान, बाजार और ज्ञान का वर दो (जिससे वह यह सब समझे ।)

"हे लवनिमेष-कणिका-मात्र में अवसित तुम ! (कवि लक्ष्मी की अणिमाशक्ति से छोटे स्वरूप का बयान कर उसी में आयी सारी महत्ता दिखलाना चाहता है) दिन, मास, ऋतु, अयन और वर्ष को भरकर अनेक रंगोंवाले युग (अनेक भाव और कृत्यों से रञ्जित युग) सदा अपने शेष चिह्न तुम पर छोड़कर बहते हैं (चले जाते हैं ।)" इसका भावार्थ है अनेकानेक काल की कहानियाँ, शक्तियाँ एक लत, एक निमेष, एक कण में प्राप्त हो सकती हैं, वे सब यहाँ निहित हैं; इसलिए भारत की लक्ष्मी-शक्ति का लघुरूप हो जाने पर भी, समस्त विराट् रूप, समय के वहाँ निहित हैं,—उनके ऐश्वर्य से वह लक्ष्मी-शक्ति युक्त है । वह प्रबुद्ध हो—जागे ।

यहाँ लक्ष्मी के विराट् रूप से चलकर उनके लवरूप में विराट् को अवसित जो करती है, वह कला है ।

'तप रे मधुर-मधुर मन !' पन्तजी के 'गुंजन' का पहला गीत है । जब यह छपा था, इसे पढ़कर, इसके भाव से असहमत होने के कारण मैंने इस तरह के एक दूसरे गीत की रचना की थी । इसका मित्र-मण्डली में तो मैंने उल्लेख किया है पर साहित्य में नहीं । पन्तजी के पहले के दो बन्दों से तीसरा बन्द मुझे चुस्त लगता है । वह यह है—

"तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !"—

इस गीत का आशय इसकी चौथी पंक्ति में साफ है—ऐ निर्धन (रिक्त जन) ! (तू) मूर्तिमान् बन (मूर्तियों से, एक या अनेक सुन्दर मूर्तियों से धनी हो !) इसके ऊपर की, पहली पंक्ति के बाद की दो पंक्तियाँ भी इसी भाव की पुष्टि करती हैं, जहाँ गन्धहीनता से गन्धयुक्त होने, अरूपता में स्वरूप भरने की बात है। (जहाँ तक स्मरण है, पहले जब यह छपा था, 'स्वरूप' की जगह 'सुरूप' था।) दर्शन-शास्त्र के अनुसार यह अभाव से भाव में आना है। अभाव-रूप—शून्यरूप भी ब्रह्म है। रूप की दुनिया यहीं समाप्त होती है, अर्थात् रूप की इसी अनन्तता, शून्यता या पूर्णता में परिणति होती है। दर्शन-शास्त्र के अनुसार यह ऊर्ध्व गति है और साहित्य-शास्त्र के अनुसार विकास। दोनों का यह शेष है—दोनों की अनन्त में स्थिति। पन्तजी यहाँ से उतरकर रूप के लोक में जाते हैं। वहाँ, वहाँ के संसार में, अपनापन स्थापित करने के लिए कहते हैं, जैसा उनकी पहले की एक पंक्ति से सूचित है—"स्थापित कर जग में अपनापन।" यद्यपि इस तरह का आना-जाना, चढ़ना-उतरना साहित्य में जारी रहता है, फिर भी, पन्तजी के कहने का ढंग यहाँ ऐसा है कि उससे गन्धहीनता, अरूपता आदि ब्रह्मभाव के विशेषण—अमर्यादित होते हैं, उनके प्रति कवि की अवज्ञा, शब्दों के उच्चारण और भाव के प्रकाशन की धारा से सूचित होती है। इसे कला का पतन कहते हैं। यद्यपि पहले जग में अपनापन स्थापित करने की बात कही गयी है, फिर भी वह ऐसी कृत्रिम है कि सांसारिकता और कवि के गुरु भाव की व्यंजना वहाँ प्रधान हो गयी है, अपनापन गति रहित होकर कमजोर ! कारण, कहने का ढंग जैसा होना चाहिए था, नहीं हुआ। दर्शन के साथ साहित्य, भावप्रकाशन, प्रतिपाद्य विषय कमजोर पड़ गया है। इसका प्रमाण—जब निर्धन को मूर्तिमान् होने के लिए कहा जायगा और इस प्रकार गन्धहीन को गन्धयुक्त बनने के लिए, तब कवि का लक्ष्य मूर्तिमान् होना, गन्धयुक्त होना है, साबित होगा, और तब भाव-प्रकाशन के अनुसार चलनेवाली भाषा उसी शब्द पर जोर देगी, जो लक्ष्य है, जिससे प्रतिपाद्य विषय साफ होता है। यहाँ गन्धयुक्त होना प्रतिपाद्य है, इसलिए उच्चारण का बल 'गन्ध-हीन' शब्द पर नहीं, 'गन्ध-युक्त' पर है। 'ही' खासतौर से जोर देने के लिए आती है। पर 'तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन' में 'ही' उलट गयी है। 'गन्ध-युक्त' होने, अरूप में 'स्वरूप' भरने, 'मूर्तिमान्' होने में बन्धन साबित किया जा रहा है; मुक्ति तो गन्धहीनता, अरूपता और निर्धनता की जगह है। उक्त पंक्ति का रूप ऐसा होना चाहिए—बन्धन ही तेरी मधुर-मुक्ति है। पर जिस तरह 'ही' का प्रयोग उलटा है, उसी तरह सूक्ष्म विचार से सारा भाव। जैसे शब्द अस्थान-प्रयोग-दोष से दुष्ट है, वैसे ही प्रकाशन-दोष से दुष्ट भाव।

ऐसे बन्धन और ऐसी मुक्ति के भी आचार्य कवि श्री रवीन्द्रनाथ हैं।—**"वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय"** उनके इस काव्य-दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य है। इस भाव पर उनके अनेक पद्य हैं। इसके अनेक रूप उन्होंने खींचे हैं। यह रवीन्द्रनाथ के दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। मुझे यह विशिष्टाद्वैतवाद का सुन्दर काव्य-रूप रवीन्द्रनाथ द्वारा तैयार हुआ मालूम देता है। इसके प्रकाशन में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा और शब्द-शक्ति जो काम करती है, वह तारीफ के लायक है।

पन्तजी के सम्बन्ध में जो कुछ भी इस निबन्ध में मैंने लिखा है, वे मेरे ही विचार हैं; वे दूसरों के भी हों, दूसरे उनका समर्थन करें, यह मैं नहीं चाहता। केवल इतना ही चाहता हूँ कि मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वह दूसरों की धारणा में आ जाय, फिर अगर उनकी धारणा न बदली तो वह साहित्य की धारणा होगी, सत्य होगा, जो मेरा नहीं, सबका है; अगर बदली और अपना समझा हुआ सत्य वे मुझे समझाना चाहेंगे तो मैं नम्र भाव से समझने के लिए तैयार रहूँगा। अपने दोषों के लिए मैं पहले लिख चुका हूँ; युक्तियों के साथ अगर कोई बतलायेंगे तो समझने की मैं यथाशक्ति चेष्टा करूँगा और सत्य मालूम देने पर मान लेने में मुझे आपत्ति न होगी। मेरा कवि काठ नहीं, जिसके झुकने पर मुझे टूटने का डर हो।

पन्तजी की यह रचना पढ़ने के बाद दर्शन-सत्य के अनुसार, जिसमें कला विकसित होकर रूप में आकर भी गिरी नहीं, मैंने यह गीत लिखा है—

"रे अपलक मन !
पर-कृति में धन-आपूरण।
दर्पण बन तू मसृण सुचिक्कण,
रूपहीन, सब - रूप - बिम्ब - धन,
जल ज्यों निर्मल-तट छाया-घन,
किरणों का दर्शन।
सोच न कर, सब मिला, मिल रहा,
भर निज घर, सब खिला, खिल रहा,
तेरे ही दृग रूप-तिल रहा,
खोज, न कर मर्षण।
दृष्टि अरूप; रूप लोचन युग,
बाँध, बाँध, कवि बाँध पलक-भुज,
शून्य सार कर, कर तज भूरुज,
घन का वन-वर्षण।"

"रे निष्पलक (अपलक स्थिति में चिन्ता करना जाहिर होता है, इसलिए इस शब्द का यहाँ भीतरी मतलब है, 'चिन्तायुक्त') मन ! श्रेष्ठ कृति में धन का पूर्ण भाव है, (जो कृति श्रेष्ठ है, उसमें धनत्व भी है—यह पन्तजी के 'मूर्तिमान् बन निर्धन !' पर है।)

"तू उज्ज्वल ऐसा चिकना आईना बन, जो रूपहीन होकर सब रूपों को बिम्बित करनेवाला हो। (ऐसा अरूप आईना बन जा कि सब रूप उसमें बिम्बित हो," अक्लेद होने पर मनुष्य देह-बुद्धि से भी रहित हो जाता है, यह सन्तों की अनुभूति और शास्त्रों की उक्ति है।) जल की तरह निर्मल हो, जिस पर तट की छाया पड़ी हुई (प्रति-फलित) है। (इस प्रकार यहाँ अरूपता, शून्यता भी उत्तम है और धनत्व भी है। अरूपता, शून्यता ब्रह्मभाव श्रेष्ठ है, यह आप व्यंजित है।) किरणों का दर्शन बन। (किरणों से प्रकाश की अरूपता का भाव है; उन्हीं के भीतर हम एक-दूसरे को देखते हैं, मिलते-जुलते वार्तालाप करते हैं। किरणों का दर्शन बन अर्थात् अरूप होकर रूप-लोक में रह; अरूप होने पर यह रूप लोक इसी तरह

तेरे (ज्ञान के) भीतर रहेगा।)

"तू चिन्ता न कर। सब मिला है और मिल रहा है। अपना घर (अभ्यन्तर) भर (विकास की बातों से पूर्ण कर); सब खिला हुआ है और खिल रहा है। तेरी ही आँखों में रूप का तिल है। (यहाँ भी अरूपता का रूप गोल शून्याकार तिल में देता है। जहाँ समस्त रूप बिम्बित होते हैं, जो समस्त रूपों का धन है।) खोज, बैठा न रह। (आँख के तिल की तरह कैसे अरूप होगा, इसकी तलाश कर, विकास की बातों से कैसे तू अपने को पूर्ण करेगा, खोज।)

"दृष्टि अरूप है और दोनों आँखें रूप। हे कवि, तू पलकों की भुजाओं से बाँध, बाँध। (दोनों आँखों के रूप बताकर दक्षिण और वाम द्वारा सृष्टि के 'नर और नारी' रूप की ओर इंगित करता है। पहले एक अरूप के लिए कहा कि वह दृष्टि है, फिर रूपसृष्टि के लिए कहा—दो हैं, वे आँखें हैं। दोनों आँखों में एक ही दृष्टि है। फिर कवि को चार पलकों की भुजाओं से बाँधने के लिए कहा। इस तरह, दोनों रूप हाथ बाँधकर अपनी एक ही अरूप सत्ता का ध्यान कर रहे हैं और अरूप और रूप दोनों, कवि में रहकर, उसे भी इस भाव की विभूति से सुन्दर कर रहे हैं—वह भी अरूप सत्ता का ध्यान करता हुआ-सा बन जाता है। पलकें बन्द कर लेने के कारण, और यही रूप में रहने की कला और भावदृष्टि से, बाहरवालों—देखनेवालों की आँखों में, श्रेष्ठता होती है, यह दिखाया गया है।) (इस प्रकार) शून्य को सार कर (अरूपता को मूर्तिमत्ता में परिवर्तित कर उत्तम बना), ऐसा करके भूरुज का त्याग कर ('रुज' यहाँ 'रोग' के लिए व्रजभाषा से आया शब्द है। भूरुज = पृथ्वीगत व्याधि, संसार का रोग)। (इस तरह यह बादल का वन में बरसना है शून्य, वाष्परूप बादल वन में बरसता है तो शून्य सार बनता है—बरसने की सार्थकता होती है, समुद्र में बरसता है या मरुभूमि में तो ऐसी निरर्थकता होती है।)"

मुझे अनेक उदाहरण अपनी कला के देने थे। इतने से बहुत थोड़े भावों की व्याख्या हुई है। पर 'माधुरी' का वर्ष समाप्त हो रहा है, इसलिए इस लेख को मैं भी यहीं से समाप्त करता हूँ।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, के मार्च, जून और जुलाई, 1936 के अंकों में तीन किस्तों में प्रकाशित। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

समालोचक

गत 19 अप्रैल के दैनिक 'भारत' में मेरी आलोचना पर श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी का छपा हुआ लेख पाठकों ने पढ़ा होगा। अवश्य लेख ऐसा नहीं कि कोई स्वल्पमात्र

समय उसके लिए व्यय करे। पर, हिन्दी के पाठकों की अभी मानसिक स्थिति ऐसी नहीं हुई कि उन पर पूरा-पूरा विश्वास आलोचित व्यक्ति कर सके। वे असलियत पर न पहुँचकर, आक्षेपों के साथ हो जाते हैं। अवश्य ऐसे विद्वान भी अब हिन्दी पत्र-पाठकों में हैं, जो लेख पढ़कर सत्यासत्य मालूम कर लेते हैं। पर इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकांश जन भ्रम में ही रह जाते हैं। इसी विचार ने मुझे जवाब लिखने को विवश किया। एक कारण और भी है। मैंने वर्तमान आलोचकों की अक्षमता का जो उल्लेख किया था, यहाँ उसके प्रमाण पेश करने को मिल रहे हैं।

मेरी आलोचना से श्री शान्तिप्रियजी ने यह उद्धरण दिया है—

"ज्यों-ज्यों मैं 'प्रसिद्धि' की सच्ची साधना के विचार से अपने सम्बन्ध में चुप रहा, त्यों-त्यों उड़ने की शक्ति प्राप्त करते ही, आलोचक शायरी की शमा के चारों ओर समाँ बाँधते रहे; नतीजे की याद न रही। मेरी इच्छा न थी कि पूरी जलने से पहले अपनी शमा लेकर निकलूँ; मेरा ख्याल है कि अब भी वह पूरी-पूरी नहीं जली, यानी हजार-दो हजार बत्तियों की ताकत एकसाथ उनमें नहीं आयी, फिर भी जितनी रोशनी आयी है, मैं सोचता हूँ कि अगर दिखा दूँ तो वह (मैंने 'यह' लिखा है 'माधुरी' में—निराला) जो बेले को चमेली और चमेली को गन्धराज कहना कसरत पर है, और साड़ी के रंग पर जो सिर के बल हो रहे हैं लोग —रंग भी जो कहीं-कहीं भद्दे ढंग से, बेमेल, लगा हुआ है, न रहे, नामों की जानकारी के साथ रंगों की असलियत, मिलावट और अकेलापन मालूम हो जाय और न होती हुई सबसे बड़ी बात यह हो कि साड़ी देखनेवालों की साड़ी पहननेवालों से भी चार आँखें हो जायँ।"

इस पर शान्तिप्रियजी की समालोचना—"इस उद्धरण में निरालाजी की वाक्य-शृंखला का भी एक नमूना पाठकों के सामने है। पाठक स्वयं देखें, वाक्य की पूर्ति कहाँ, किस प्रकार, किस खूबी से होती है।"

यह है आलोचना ! आलोचना में पाठकों का देखना काम नहीं आलोचक का दिखाना काम है। आलोचक को चाहिए था कि यहाँ कहाँ-कहाँ गल्तियाँ हैं, व्याकरण के नियम बतलाते हुए वे सिद्ध करते। जिस तरह लिखा गया है, यह पाठकों को बरगलाना और अपनी कमजोरी पर परदा डालना है। ऐसे आलोचक मेरे पहले के पहचाने हुए थे। तभी उस आलोचना में मैं निवेदन कर चुका हूँ—"···मैं दून की नहीं हाँक रहा, कारण पर, प्रमाण पर, चल रहा हूँ। वे (पन्तजी के समझदार आलोचक) भी सप्रमाण लिखेंगे।" पर फल प्रत्यक्ष है; देखिए, कैसा सप्रमाण लिखा गया है।

जहाँ व्याकरण का साधारण ज्ञान अपेक्षित है, जिससे वाक्यों की शृंखला जोड़कर मतलब समझ लिया जाता है, वहाँ तो यह हाल है कि लिख दिया— पाठक देखें, पर जहाँ बड़े-बड़े भाव एक-दूसरे से जुड़ते-बिछुड़ते हैं वहाँ इन्होंने कैसी सांकेतिकता दिखलायी होगी, क्या हिन्दी के समझदार कुछ अनुमान लड़ा सकते हैं।

मैंने कई बार सोचा तो ख्याल आया कि मुमकिन 'न रहे' के पास पहुँचकर समालोचक शान्तिप्रियजी भी न रहे हों—हिसाब न लगा सके हों कि 'रहे' का

कर्ता कौन है, और अगर लगाया भी हो तो 'रंग' को सोचकर धोखा खाया हो। इस तरह धोखा खाकर औरों को भी धोखा खा जाने के लिए बुलाया है।

आलोचकजी को मालूम हो कि 'रहे' का कर्ता 'यह' है जिसे उन्होंने 'वह' लिखा है। 'यह' क्या है, इसकी विशेषता बाद के दो वाग्बन्ध जाहिर करते हैं। "जो वेले को चमेली और चमेली को गन्धराज कहना कसरत पर है" और "साड़ी के रंग पर जो सिर के बल हो रहे हैं लोग" 'यह' न 'रहे'। अब आलोचक महोदय फिर एक बार इस वाक्य को पढ़ें। जिस तरह साहित्य को भावों के भीतर से श्रेष्ठ विभूतियाँ दी जाती हैं, उसी तरह भाषा के भीतर से भी। भाषा का सम्बन्ध व्याकरण से है। साहित्यिकों को व्याकरण के अंग भी पूरे करने पड़ते हैं। इस उद्धरण का बादवाला वाक्य वाक्य-प्रकरण का एक बड़ा उदाहरण भी हो सकता है।

इस उद्धरण पर आलोचकजी के और भी आक्षेप— "इस उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि अब निरालाजी को अपने काव्य-साहित्य की टीका और अपनी प्रतिभा के प्रकाशन की आवश्यकता जान पड़ती है। इतने दिनों तक वे इस प्रयत्न से विरत रहे, उनकी यह विरक्ति हिन्दी के दुर्भाग्य की सूचना थी या सौभाग्य की?"

इस प्रसंग पर होनेवाली मेरी विरक्ति अगर हिन्दी के सौभाग्य की ही सूचिका हुई होती तो आप जैसों के इस तरह ये जगह-जगह विसूचिका के लक्षण न प्रकट हुए होते। मैंने उस आलोचना में लिख भी दिया है कि 'हुसेन' और उनकी 'लादन घोड़ी' के सच्चे रूप की पहचान कराने के लिए अपनी कविता की आलोचना कर रहा हूँ। पहले मैं आदमी को समझदार आदमी ही समझता हूँ, पर जब वह साबित कर चुका होता है कि नादान है, और शेखी पर आकर भूल जाता है, तब समझाने लगता हूँ। कवि अपने काव्य की आप व्याख्या करे, यह मुझे अभिप्रेत नहीं। पर जहाँ आप जैसे समझदार उसे मिलें, और 'उधो' को 'माधो' और 'माधो' को 'राधो' करना शुरू करें वहाँ तो मर्म समझाना मैं फर्ज समझता हूँ। इसे मैं आत्म-विज्ञापन नहीं मानता। आपका सच्चा रूप क्या है, आप कैसे आलोचक हैं, यह अभी यहीं बतलाता हूँ। इसी से मालूम हो जायगा कि मैं क्यों अपनी कला की आप व्याख्या कर रहा हूँ, आप लोगों के भरोसे न रहा और यह हिन्दी का सौभाग्य है या दुर्भाग्य।

आलोचक प्रवर शान्तिप्रियजी का आक्षेप—"...निरालाजी के इस लेख ('माधुरी' में प्रकाशित—निराला) को देखकर, उनकी आलोचना-शैली के अल्प अध्ययन के फलस्वरूप, उनके एक अन्य लेख का स्मरण भी आ गया। वह लेख कलकत्ते के अस्तंगत मासिक पत्र 'सरोज' में 'सौन्दर्य-दर्शन और कवि-कौशल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इन दोनों लेखों के कुछ उद्धरण देकर यहाँ निराला-जी के आलोचनात्मक स्वरूप का एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है जिसके द्वारा उनकी विचार-शृंखला और भाव की अतलस्पर्शिता का थोड़े में बहुत परिचय उपलब्ध हो सकता है।" आपका भी हो रहा है और होगा।

मैं भी थोड़े ही में अधिक करके मर्म समझाना चाहता हूँ।

'सरोज' से मेरे किये अर्थ का जो उद्धरण दिया है शान्तिप्रियजी ने, उसका

एक अंश—

"किरणों को हिंडोर की 'जोतियाँ' बतला उनमें वीचि की चंचल बालिकाओं को झुलाने से सौन्दर्य कितना आकर्षक हो रहा है !"—

लिखने के ढंग से मालूम हो रहा है कि यहाँ अर्थ नहीं किया जा रहा, यह लेखक अपनी तरफ से लिख रहा है; यह हिन्दी की रूप-सृष्टि पर गयी एक सहृदय दृष्टि है जिसे अंग्रेजी में 'एप्रिसिएशन' कहते हैं। लेकिन कोई इसे आलोचना और पन्तजी की पंक्तियों का किया अर्थ ही समझे तो वे इसका यह अंश—"झुलाने में सौन्दर्य कितना आकर्षक हो रहा है"—याद रखें, और फिर ये पंक्तियाँ देखें—

"अंग-भंगि में व्योम-मरोर,
भौंहों में तारों के झौंर,
नचा नाचती हो भरपूर
तुम किरणों की बना हिंडोर।"

इसमें है कहीं झूलने की गुंजाइश ?—यहाँ तो किरणों की हिंडोर पर लहर भरपूर नाच रही है। क्या हिंडोर पर नाचा भी जाता है ? इसलिए, बिगड़े पद्यों के उदाहरण में इसे पेश कर मैंने 'माधुरी' वाली आलोचना में पूछा है—"फिर यह बतावें कि हिंडोर पर कैसे नाचा जाता है – यह भी कि लहर किरणों की हिंडोर बनाती भी है।" मालूम हो कि यहाँ मैं आलोचना कर रहा हूँ। वहाँ अर्थ भी नहीं किया, 'सौन्दर्य-दर्शन' के अनुसार बिगड़े भाव को सुधारकर सौन्दर्य में परिणत किया है। 'झुलाने' का प्रयोग इसीलिए वहाँ आया है; अन्यथा इसकी पन्तजी की पंक्ति में गुंजाइश नहीं यह दिखा चुका हूँ।

अब इस प्रसंग पर मुझ पर फिर हुए आक्षेप देखिए—"इन दोनों परस्पर विरोधी विचारों को देखकर ज्ञात होता है किअपनी 'माधुरी' वाली आलोचना में निरालाजी किसी कारणवश पन्तजी की उन पंक्तियों पर फिलहाल सदय नहीं हैं, अन्यथा, जो अर्थ पहले था अब बदल कैसे गया।" फिर अनुमान आया है कि निरालाजी के विमुख होने का कारण होगा। भीतर-भीतर किस प्रकार की मनो-वृत्ति चल रही है पन्त-भक्त की !—मैं पूछता हूँ—हिंडोर पर कैसे नाचा जाता है, यह प्रश्न पन्तजी की पंक्ति से उठता है या मैं अपनी तरफ से कल्पना करता हूँ—इसमें बाहर से कुछ और सोच लेने की जगह कहाँ ? फिर अर्थ बदल कहाँ गया ?—आलोचक प्रवर शान्तिप्रिय क्यों नहीं बतलाते कि इसके अर्थ में 'झूलना' क्रिया आ सकती है ?

और आक्षेप देखिए—"इस परस्पर विरोधी विचार का कारण यही ज्ञात होता है कि निरालाजी का आलोचक-अंश किसी एक 'मूड' पर स्थिर नहीं, वे अपनी मनोवृत्ति के अनुसार परिवर्तनशील हैं।"

पन्त की रुई धुनकनेवाली धनुही लेकर तीरन्दाज बने फिरते थे शान्तिप्रिय द्विवेदी। कायदे का एक भी तीर है या सब तुक्के हैं, वे भी देखें और 'भारत' के पाठक भी। इतनी ही पूँजी लेकर एक परिश्रम से लिखी आलोचना को 'सचिन्त्य' कहने चले थे ! – क्या चिन्ताशीलता है।

जहाँ आलोचना का यह रूप है वहाँ अपने भावों का अर्थ व्यक्त करना मेरे

लिए कर्तव्य है या नहीं, और हिन्दी के लिए सौभाग्य की या दुर्भाग्य की [बात], हिन्दी के मर्मज्ञ पाठक सोचें।

['भारत', दैनिक, इलाहाबाद, 9 मई, 1936। असंकलित]

नवीन कवि, 'प्रदीप'

आज जितने कवियों का प्रकाश हिन्दी में फैला हुआ है, उनमें 'प्रदीप' का अत्यन्त उज्ज्वल और स्निग्ध है। हिन्दी के हृदय से 'प्रदीप' की दीपक-रागिनी कोयल और पपीहे के स्वर को भी परास्त कर चुकी है, यह युक्तप्रान्त के अधिकांश श्रोताओं को मालूम हो चुका है। इधर 3-4 साल से यहाँ के अनेक कवि-सम्मेलन 'प्रदीप' की रचना और रागिनी से, नवीन आभा से, उद्भासित हो चुके हैं। लोगों को अच्छी तरह मालूम हो चुका है, नवीन क्या है—वह प्राचीन को छोड़कर भी लिये हुए आगे कहाँ तक पहुँचा है। मैं काव्य के जिन गुणों के लिए विरोधियों से वर्षों विवाद करता रहा हूँ, 'प्रदीप' ने अपनी रचना-कुशलता और आवृत्ति से क्षणमात्र में उस धारा की पुष्टि कर दिखायी है। केवल आलोचकों को अच्छी तरह मनन करके देख लेना है। जिस 'श-ण-व-ल'-स्कूल के लिए मैं अपने मित्रों से कह चुका हूँ कि इसकी वर्ण-मैत्री हिन्दी के प्राणों से मैत्री नहीं करती—वह कृत्रिम है,—मैं लिख भी चुका हूँ कुछ उसके विरोध में, वह स्कूल कितना सफल है—उसके प्रवर्तक और अनुसरणकारी कितनी सफलता से आवृत्ति कर सकते हैं, 'प्रदीप' को सामने, साथ, करके देख लें, यद्यपि उन्हें यही उत्तर पठन और लेखन-कौशल से 'प्रदीप' के पहले भी बार-बार मिल चुका है, और बार-बार उनका हठ और परास्त मौन न मानने की ओर ही उन्हें बरगलाता रहा है। आवृत्ति के सम्मुख समर में यदि वे न आना चाहें तो घर बैठकर भी, काव्य-विचारण-प्रणाली से, 'प्रदीप' के काव्य के साथ अपने काव्य की धारा की जाँच कर लें कि कौन प्राणों के अधिक निकट है, किस वर्ण-मैत्री से हिन्दी का कण्ठ-स्वर अधिक मिलता है, किसमें भाव, रस, अलंकार और ध्वनि की उष्णता और अकृत्रिमता है। यह मैं किसी प्रचार (Challenge) के विचार से नहीं लिख रहा, केवल सत्य के लिए—जिसे मैंने अपना पूर्ण यौवन अर्पित किया है, लिख रहा हूँ।

नवयुवक 'प्रदीप' के साथ काव्य की इस धारा को मैं इसलिए रख रहा हूँ कि इसी से मुझे काव्य का कल्याण मालूम देता है। इस धारा के हिन्दी में अनेक कवि और हैं, लेकिन, चूँकि उनके प्रमुख यदा-कदा मुझ पर लेख और समालोचनाएँ लिख चुके हैं, इसलिए उनका जिक्र, साहित्यिक दृष्टि से विधेय होने पर भी, मैं नहीं कर रहा, नहीं किया और शायद करूँगा भी नहीं, जब तक कोई साहित्यिक प्रश्न न

होगा। काव्य जब असली जगह से निकलता है, तब, केवल जातीय नहीं—सामूहिक,—भिन्न भाषा-भाषियों के कण्ठों से भी साफ अदा होता है, यानी उसका स्वर समस्त विश्व के स्वरों से मैत्री कर सकता है। कोई मनुष्य, वह कहीं का हो, उस स्वर को सुनकर यह न कहेगा कि इसमें कर्णकटुता है—यह आत्मा में अस्वाभाविकता पैदा करता है। यही स्वर पढ़ते वक्त विकृत नहीं होता। 'श-ण-व-ल'-स्कूल-वाले यहीं अण्टाचित हैं। पढ़ते वक्त कभी नक्की स्वरों में बोलते हैं, कभी गला बैठाकर। कभी खाँसी आने लगती है, कभी घिग्घी बँध जाती है। मैंने आज तक एक कविता सहज स्वर से पढ़ते हुए 'श-ण-व-ल'-स्कूल के किसी प्रवर्तक को भी नहीं देखा-सुना। जब पढ़ने लगे, कभी पिनपिनाये, कभी 'स' की जगह 'म' निकला। बात तो यह नहीं कि जितने बेसुरे होते हैं, 'श-ण-व-ल'-स्कूल में नाम लिखाते हैं, 'प्रदीप' को मैंने इसलिए उदाहरण के रूप में रक्खा है। 'प्रदीप' को मैं तब तक नहीं जानता था, जब तक वह आधुनिक 'प्रदीप' की तरह प्रकाशित नहीं हुए। वह या और लोग—जिन्होंने मुझ पर लिखा है, मेरे अनुयायी हैं, यह कहना प्रतिभा का अपमान करना है। और, अगर किसी को ऐसे न्याय के बिना सन्तोष ही न होता हो, तो उसे और वैसे विचार के लोगों को कहना चाहिए कि जितने श्रेष्ठ कवि संसार में हो गये हैं, हैं और आगे होंगे, वे सब 'निराला' के अनुयायी थे, हैं और होंगे। सही बात यह है कि भाषा जब स्वाभाविक रूप से निकलेगी, इसी रूप से निकलेगी,—उसका पठन स्वाभाविक और आनन्दप्रद होगा। यह किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं। 'प्रदीप' स्वयं इस सम्पत्ति के अधिकारी होकर आये हैं। मैं उन्हें विगत युद्ध के फल के तौर पर रख रहा हूँ।

लोगों ने मुझ पर अनेक तरह के मन्तव्य जाहिर किये हैं। मैं भी लिखकर-पढ़कर और कुछ आलोचना कर अपनी पुष्ट-से-पुष्ट सफाई दे चुका हूँ। लेकिन मैंने देखा है, अधिकांशतः फल उलटा हुआ है। अभी-अभी मेरे एक आलोचक ने लिखा है, अगर निराला ने आलोचनाएँ न लिखी होतीं तो इतनी ही प्रतिभा, अध्ययन और रचनाओं से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि मान लिये गये होते। वास्तव में मेरे आलोचक-मित्र मुझ पर सदय हैं। पर उन्होंने मुझे जितने स्थूल रूप से देखा है, हिन्दी की कविता को उतने ही सूक्ष्म रूप से देखते तो मेरे और उनके लिए लाभ की गुंजाइश अधिक होती। कुछ ऐसे भी अपोगण्ड हैं, जिन्होंने हिन्दी और अँगरेजी में मेरे मर जाने का प्रचार किया है, कुछ ऐसे प्रोग्रेसिव, जिन्हें मेरी चीजों में चारों ओर प्रतिक्रिया ही देख पड़ी है। ऐसे मनुष्यों को, मैं आधुनिक से आधुनिक और उच्च से उच्च जो साहित्य मुझे मिला है उससे, देख चुका हूँ, और जानता हूँ, किराये के टट्टू की चाल उससे अधिक नहीं होती। काव्य की जिस प्रणाली की चर्चा कर रहा था, उससे आयी हुई चीजें किसी भी भाषा की चीजों के मुकाबले फीकी नहीं पड़ेंगी। उर्दू की इस देश में बड़ी तारीफ है, लेकिन हम लोग कृतियों से और आवृत्ति से जो उत्तर दे चुके हैं, वे और वैसे अभी किसी उर्दू के कवि पण्डित से नहीं मिले। उर्दू कहाँ है, इसके विवेचन का यह समय नहीं। मुख्य बात स्वाभाविक उच्चारण-धारा की है, जहाँ से उर्दूवाले हिन्दीवालों का मजाक करते हैं, फिर भी जहाँ के बहुतों पर आश्चर्य की दृष्टि डाल चुके हैं—'प्रदीप' ऐसे ही एक हिन्दी के कवि हैं।

काव्य शब्दमय है। शब्द का आकाश से सम्बन्ध है। यह सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। शब्द का परिष्कार आकाश का साफ होना है—यह आकाश मन का आकाश है। प्रकृति में भी यह सबसे सूक्ष्म है। शब्दों का ही समन्वय भिन्न-भिन्न अर्थ से काव्य में होता है। जब यह निर्दोष होता है, तब पढ़ा भी अच्छी तरह जा सकता है, और अपर हृदयों पर इसका प्रभाव भी यथोत्पादित पड़ता है। संसार की प्रकृति को आनन्द देने की यहीं और यही कुंजी है। 'श-ण-व-ल'-वाले यहीं से च्युत हैं।

प्रदीप की कुछ रचनाएँ

(1) स्नेह की बाट

स्नेह की यह बाट री सखि, स्नेह की यह बाट !
अबल हम, यात्रा हमारी परिधिहीन विराट !
प्राण - सा पतवार कम्पित !
पाल जर्जर, दीप झम्पित !
अगम तमसावृत निशा भी
प्रबल झञ्झा से प्रकम्पित !
पोत हलका जीर्ण, सम्मुख अतल जल का पाट
री सखि, स्नेह की यह बाट !
स्वप्न तज, उठ जाग री सखि !
ध्वनित सैन्धव राग री सखि !
प्रणय की दुखमय डगर पर—
हर जगह है त्याग री सखि !
नियति डमरू डिमडिमाती खोल नयन-कपाट !
री सखि, स्नेह की यह बाट !
दो घड़ी हँस बोल लें हम !
खेल लें, कल्लोल लें हम !
प्रेम - पादप के तले अलि !
दो घड़ी हिंडोल लें हम !
कौन जाने दो घड़ी का हो हमारा ठाट !
री सखि, स्नेह की यह बाट !
आज सखि, मधुमास आया !
नयन में उल्लास छाया !
आज तो हम सिक्त कर लें !
स्नेह-सर में स्निग्ध काया !
अश्रु से सिंचित हमारा हो मिलन का घाट !
री सखि, स्नेह की यह बाट !
मैं मधुप मधुमत्त आली !
तुम बनो मकरन्द - प्याली !

हम मना लें आज अन्तिम—
बार जीवन में दिवाली !
तुम बनो अभिसारिका, टुक भिक्षु मैं सम्राट !
री सखि, स्नेह की यह बाट !
दूर जलनिधि का किनारा !
दूर अपना देश प्यारा !
दृष्टि से ओझल हुआ सखि,
ध्येय - ध्रुवतारा हमारा !
हम पथिक निर्वाण पथ के दूर अपना हाट !
री सखि, स्नेह की यह बाट !

(2) प्रवासी

आज मत जाओ, प्रवासी !
यह मधुर रस - प्राण राका
मत करो श्रीहत अमा-सी !
कर रहा स्मर अमर प्रवचन,
सुन हुए जग-जन मगन-मन,
गगन के अगणन नयन से
झर रहा अनुराग अमरण,
लसित वसुमति रस सजी-सी
बनी शशधर - चरणदासी !
यामिनी छायी मधुरतम,
यह प्रणय का पर्व, प्रियतम,
मिलन के अनुपम निमिष में,
तुम चले किस ओर, निर्मम !
छा रही ज्योत्स्ना निमज्जित
आज मधु की पूर्णमासी !
जब जगत् रतिरास तन्मय,
स्नेह सर में स्नात मधुमय
तब, सदय, क्यों सज रहे हैं
ये बिदा के साज असमय,
मान लो, टुक ठहर जाओ,
शाप - सी हर लो उदासी !

(3) मुरलिका के प्रति

मुरलिके, छेड़ सुरीली तान !
सुना सुना, अयि मादक अधरे,
विश्व विमोहन गान !

प्रात जगा सोयी विभावरी,
खगकुल ने छेड़ी असावरी,
तू ध्वनि विरहित पड़ी बावरी,
उठ, अब सत्वर तू भी सजधज
कर ले स्वर - सन्धान !

उठ प्रसुप्ति का क्रोड़ छोड़ री,
युग-युग का गुरु मौन तोड़ री,
क्षण-भर अलसित तन मरोड़ री
अँगड़ाई ले रोम - रोम से
फूटें नाद महान !

निज सुर में कोमल स्वर भर भर
रुचिर रागिनी के विमान पर
विचर-विचर री सजनी सत्वर,
नाच उठें तब स्वरलहरी पर
नियति प्रकृति के प्राण !

तेरे शाश्वत स्वर का कम्पन
भर दे निखिल सृष्टि में जीवन
व्याकुल को कर दे मुकुलित-मन
ओ निराश मानव के मुख पर
अंकित मृदु मुसकान !

सखि, कर ऐसा सुखमय अभिनय,
सुना रागिनी मनहर मधुमय,
निखिल जगत् होवे ज्योतिर्मय,
फिर तन्मय हो तेरी लय में
होवे अन्तर्धान !

(4) कहो, कौन ?

तुम हो कहो, कौन ?
अब तो खुलो, प्राण,
मुंद कर रहो यों न।

मेरे गगन में घिरी थी सघन रात
तुमने किरन तूलि से रँग दिया प्रात,
मुकुलित किये स्पर्श से म्लान जलजात,
मैं था चकित, तुम चपल-कर पुलक-गात

मैं कुछ उठा पूछ, तुम हँस हुए मौन !
जीवन-डगर पर गया मैं दिशा भूल,
तब एक तुम ही रहे संग अनुकूल

जग से मुझे प्राप्त पग-पग हुए शूल,
तुमने सदा, पर, समर्पित किये फूल,
जब मैं थका, बन बहे तुम मलय पौन ।

तुमने निकट से सुनाये सदा गान,
भ्रम था कि तुम दूर के दूत अनजान,
इतने दिनों बाद मुझको हुआ ज्ञान—
मेरी परिधि की तुम्हीं हो मुखर तान,—
ध्वनिमय तुम्हीं ने किया है हृदय मौन !

मैंने विवेचकों के देखने और समझने के लिए 'प्रदीप' की कई पूर्ण रचनाएँ उद्धृत कर दी हैं । अपनी ओर से उनकी आलोचना इसलिए नहीं करूँगा कि उनका सौन्दर्य यों ही समझदारों की दृष्टि में और बढ़ेगा । वे मेरी पहली बातों का भी मिलान करके देखेंगे। खड़ी बोली की कविता को रोटीवाद में जलकर देखनेवालों के लिए अवश्य यहाँ बहुत कुछ न मिलेगा, यद्यपि हम लोगों ने इस वाद पर भी बहुत कुछ लिखा है और तब लिखा है, जब हिन्दी-साहित्य में रोटीवाद, समाजवाद और इस तरह के विभिन्न वादों का प्रचलन न हुआ था । कुछ हो, रोटीवाद भी यदि गाता है, आनन्द मनाता है, तो वे रोटीवाद की बातों से भरे गीत अवश्य नहीं, वे केवल काव्य की पंक्तियाँ हैं । वंशी की आवाज को कोई रोटीवाद के भिन्न स्वर में नहीं बदल सकता । इस तरह, 'प्रदीप' की कविता किसी रोटीवाद में प्रसन्नता ला सकती है या नहीं, देखना यह है ।

'प्रदीप' गुजराती ब्राह्मण हैं। यहाँ 7-8 साल से हैं । प्रयाग के क्रिश्चियन कालेज से एफ़्. ए. पास करके, लखनऊ-विश्वविद्यालय में बी. ए. में भर्ती हुए । इस समय शिक्षकों के ट्रेनिंग-कालेज में हैं, यानी आगे शिक्षक होंगे । इससे बढ़कर दुर्भाग्य हमारे लिए और क्या होगा कि हमारे अच्छे-से-अच्छे कवि इस प्रकार रोटी के प्रश्न में पड़कर अपनी असलियत से हाथ खींच रहे हैं, या हाथ खींचने को विवश हो रहे हैं । 'प्रदीप' की आर्थिक अवस्था उतनी अच्छी नहीं, जितनी अच्छी उनके हृदय की अवस्था है । हिन्दी के श्रीमान् जितने उलझे हैं, उतने सुलझे नहीं । इसलिए 'प्रदीप' का भविष्य ईश्वर उज्ज्वल करे । 'प्रदीप' का स्वर ईश्वरदत्त है । उन्होंने स्वर की शिक्षा नहीं पायी । पर इतना अच्छा स्वर मैंने हिन्दी में दूसरा नहीं सुना । इसीलिए स्वाभाविक कवि और खड़ी बोली की सच्ची कविता कैसी हो सकती है, इसकी जाँच के लिए लोगों को आहूत किया था । यदि 'प्रदीप' की संगीत-शिक्षा की व्यवस्था शान्ति-निकेतन में कर देने के लिए हिन्दी के कोई धनी प्रेमी अग्रसर होते, और उनके आर्थिक प्रश्न को कुछ दिनों के लिए हाथ में लेते, तो निःसन्देह 'प्रदीप' से हिन्दी को एक से एक श्रेष्ठ उपहार मिलते होते । आशा है, प्रचार-पन्थी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी इधर ध्यान देगा, क्योंकि उसके लिए यह साधारण प्रचार नहीं । पण्डित रामचन्द्र दुबे आपका नाम है ।

यह मध्य भारत बड़नगर, उज्जैन के रहनेवाले, 21-22 साल के नवयुवक हैं ।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1938 । असंकलित]

जैसे आधुनिक लड़ाई के लिए नये अस्त्र बने, अँगरेजी के रोमैण्टिकयुग के बाद से अब तक कविता के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए, इसी तरह खड़ी बोली के काव्य में। पूरी गाथा के लिए एक छोटे निबन्ध में जगह नहीं। छायावाद युग की परिणति के साथ देश में राजनैतिक और सामाजिक चेतना ने पल्टा लिया। काव्य पर नया रंग चढ़ा। सभी प्रान्तीय साहित्य का स्वर बदला। नयी चीज अपने समय में लोगों को कम पसन्द आयी। बंगाल में रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र के रहते पोस्टवार और समाजवादी साहित्य का प्रवर्तन हुआ और विरोध के होते हुए वह तरुणों में प्रसार पाता रहा। इसके लम्बे विवेचन की आवश्यकता नहीं। संसार के साहित्य की छाया सभी साहित्यों पर पड़ती है। हमारी भी पड़ती होती, मगर पराधीनता घातक है, फिर भी कुछ आदान रहता है।

हमारे राजनीति के विद्वान् कवियों ने देखा, देश में जैसे रहने की जगह नहीं; तरह-तरह के वाद—जैसे साम्राज्यवाद, पूंजीवाद आदि समाज को निगले जा रहे हैं, सुख के तराने सूखे जा रहे हैं; भजन व्यर्थ है, भोजन नहीं मिलता; मिहनत करने पर भी पेट नहीं भरता; विपन्नता बढ़ती जा रही है; भाषा में बड़ा सिंगार है; शृंगार करवट बदलना चाहता है; ललकार दूसरी ऐंठ लाना चाहती है। कवियों ने ठाट बदला। अंचल उसमें प्रमुख हैं। काम लगन से किया है। उनकी मुखालफत होती है, बुद्धदेव की हुई, राशिद की हुई। काम जारी है। तीखी लल-कार से अंचल ने कहा—

आज तो संघर्ष को मैं प्यार करता।
आज मैं विद्रोह की हुंकार भरता।
हो रहा प्रतिपल सजग,
पीड़ित न अब यह वक्ष होता।
अब न मैं चीत्कार सुनकर,
शून्य गृह में बैठ रोता।

चाल अरबी घोड़े की है, तलवार तेज चलने के लिए छोटे खाँडे में आ गयी है। प्रगतिशील अंचल की गति बहुत तेज है, शब्दों में फँसती-फँसाती नहीं—

बढ़ते आते,
हम देखो बढ़ते ही आते।
पहचान सकोगे तुम कैसे,
हम महाशक्ति के विश्वासी।
हम घिसी व्यवस्था के दुश्मन,
हम नूतन जग के विन्यासी।

'हालका हासिर जीवने कि एल फसलेर हाल ?'

विष्णु दे की सीधी रचनाओं-सी भी गौरव की सृष्टि अंचल में नहीं, वह लह-राता और उड़ जाता है, जैसे बढ़कर बढ़ा लेता हो—

मग की पाषाणी बाधाएँ
चट्टानें पारद-सी गलतीं।
जब हम बनजारों की टोली
जय के उपकरणों-सी चलती।

अंचल समर सेन की तरह आधुनिक हैं। एक ही उम्र प्राय:।

'मड़केर कलरोल, नूतन शिशुर कान्ना,
चिर काल बेला भूमिर, समुद्रे शेषहीन संगम।'

समर सेन की तरह अंचल का भी—

आज खुले कुन्तल लेकर ही
चलो प्रलय के गीत कहें।
चलो विपथगा के प्यासे,
हम महाकाल की आँच सहें।

बहुत सुन्दर है। समालोचक प्रोफेसर नन्ददुलारे वाजपेयी को—छायावादी कवियों के पीछे, जैसे अंचल के पीछे—आँच सहनी पड़ी।

राशिद की तरह—

'खारे युगीलाँ ही सही,
दोस्त से दस्तो गरेबाँ ही सही।
यह भी कुछ शबनम नहीं,
पीला नहीं, रेशम नहीं।'

या विष्णु दे की तरह—

'चोरा बालि डाकि दूरदिगन्ते,
कोथाय पुरुषकार?'

भाषा का लदाव अंचल ने छोड़ दिया है। स्वच्छ झरना है, उज्ज्वल, तेज। जैसे उधर जो गहरी है, इधर वह गतिशील।

शृंगार भी अंचल का ऐसा ही है—

ये जग-शतदल का सुकुमारी
कलियाँ सोयीं प्यारी-प्यारी।

किरण शंकर का जैसा—

उतरोल निबिड रजनी।
खोलो रक्त लाज-आवरण
लज्जा-अपमान-शंका छाडो।
हे ललिता, फिराओ नयन।

क्लीफोर्ड डाइमेण्ट की भाषा—

'I cut quick circles with the stick;
It whistles in the April air
An eager song, a bugle call,
A signal for the running feet,
For rising flyes flashing sun,
And windy tree with surging crest.'

अंचल—

सुनकर निशि में सोता कोई, उठता चौंक अतीत किसी का।
वह व्याकुल संगीत किसी का जैसे पास दौड़ता आता।
व्याकुल तीव्र तृषा उकसाता और शून्य का पथ भर जाता।
होता मन अपुनीत किसी का।

तोल की विषमता जाने दें। क्या तोड़ है अंचल में? सीधा पकड़ना। हिन्दी को अंग्रेजी के मुकाबले रखा है।

अंचल की कविता में भी रोमांस है मगर आधुनिक ढंग का। सामाजिक चेतना संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आयी है, पर पूँजीवाद और रूढ़िवाद के खिलाफ सभी हैं, अंचल की रचना में भी यह है। जो लोग प्रसाद, पन्त, महादेवी की भाषा की नाप लेकर अंचल आदि आधुनिक कवियों की जाँच करेंगे, वे धोखा खायेंगे। क्योंकि उनका हिसाब दूसरा है। बंगला के बड़े-बड़े आलोचक रवीन्द्रनाथ की कविता की छाँव में साँस लेकर आधुनिक कवियों की मुद्दत से उपेक्षा कर रहे हैं। फिर भी साहित्य गतिशील है। तरुण बड़ों की ऐसी आलोचना की ओर ध्यान नहीं देते। यह भी है कि पुराना नये का साथ नहीं कर सकता। उसकी तैयार हुई रुचि पुराने ढर्रे को लिये हुए बढ़ नहीं पाती। जाँच अधूरी होती है। कुछ कहते हैं, यह वाद कामयाब न होगा। पर वे भूल जाते हैं कि वाद के रूप में अधिक दिन तक साहित्य में कुछ भी नहीं रहा। महाकाव्य लिखने की धारा बहुत पहले से साहित्य के नये प्रगमनों में मन्द होकर लुप्त हो चुकी है, परन्तु प्रायः लोग पूछते हैं, आपने महाकाव्य लिखा है? हम गहरे नहीं पैठते।

देशभक्ति को लीजिए; पहले देश के नाम से उद्बोधन होता था, प्रोत्साहन चलता था, लोग उससे जीवन पाते थे; अब साहित्यिक उसको थोड़ा समझते हैं; वे वाद के नाम से जो कुछ लिखते हैं, वही देशभक्ति है; देश को उन्हीं की आवश्यकता है। अंचल में ऐसी देशभक्ति भरी है—

भूखे थे भूचाल युगों के,
भूखे थे तूफान भयंकर।
सर्वनाश की यह तस्वीरें
जो भूखी अकुलातीं घर-घर।

ऐसा कवि राजनीति या गांधीवाद छोड़ गया है। उसके मूल सिद्धान्तों की जैसी उसकी भाषा नहीं। भाव में तीखी चोट है। समझौता नहीं।

आधुनिकों की भाषा का सुधार भी अंचल में मिलता है। पहले के वाक्यों को सही समझनेवाले, उनके न्यास को स्थायी समझकर सदा के लिए अपनी आत्मा रख देनेवाले ऐसी भाषा से ऊबेंगे, नाराज होंगे, क्योंकि मन में यह सीधे घर नहीं करती। छायावाद के युग में जो रूप भाषा का था, वह बदल चुका है, यह साधारण पाठक को मालूम है जो कालिज हो आया है। बंगला में अँगरेजी की तरह, ऐसा प्रवर्तन आधुनिक पद्यों में और है। हिन्दी-उर्दू में भी आ गया है। हिन्दी ने इधर खासी निर्भीकता की। इसमें अंचल का भी हाथ है—

चिर नपुंसक बन्धनों में बँध हुआ जीना असम्भव।

और—

आँसुओं की स्याह महफिल अब न गीली आँच करती।

भाषा की सफाई और कढ़ाई का एक और उदाहरण—

कुछ न पूछो हृदय के उन्माद की,
कुछ न पूछो गन्ध अन्ध प्रमाद की।
रूप की नव तरुण ज्वाला जल उठी,
कुछ न पूछो प्रणय-मधुर विषाद की।

काव्य के साथ सफाई खूब आयी है। भाषा का ढाँचा नया, बिलकुल आधुनिक—

आज जीवन मृत्युहीन अनन्त है,
आज पापिन वेदना का अन्त है।
किरण मुखर उषा-कदम्ब-पराग से
हेम-विकसित मद-प्रगल्भ दिगन्त है।

यौवन की मादकता—

चीर दूंगा विश्व के तूफान को,
आज उन्मुख हूँ क्षितिज के पान को,
बस न पूछो प्राण, सीमाहीन हूँ,
दलित कर दूंगा गगन के मान को।

इस कवि में गांधीवाद की बू नहीं। वह राजनीति, वह संस्कृति इस ऐसे कवि से छूट गयी। 'परिमल' देखने पर इनकी प्राक्कथा मालूम होगी।

है यही आज तन्मयता, टूट पड़ें सप्तर्षि शिरा से हम,
मानवता के मस्तक पर, जल-जल उठें चन्द्रलेखा-से हम।

डाइलन थामस ने जैसे लिखा है—

'The force that drives the water through the rocks
Drives my red blood.'

इसी की जैसे दूसरी रेखा है—

आज फेंक दूं सब आग्रह, प्रतिदान भँवर ने याद किया।

अंचल ने 'फ्री वर्स' सफल लिखा है। पढ़ना भी अच्छा है, मुक्त छन्द का—

देखता हूँ जब मैं
मानव घिनौना और भूखा चला जा रहा।
फीका लाश की तरह, पत्थर
हाँ पत्थर
तब मेरे इस छिन्न-भिन्न टूटे साज से
जीवन का दहकता निकलता है मारू राग।

कुछ लोग इस तरह की पंक्तियों का मजाक करते हैं। कल एक पत्र आया है। लिखा है, इस सम्मेलन में छिछोरापन और कोसनेवाली या वीभत्स रचनाएँ न पढ़ी जायँगी। जब भी कम बन पड़ता है, फिर भी मैं उपदेश नहीं देता, न किसी

की मानता हूँ रूढ़ि की बन्दिश। प्रचार मेरे साहित्य में नहीं। आधुनिक धारा के सम्बन्ध में सुनकर खामोश रहा। पढ़ने से इतर मालूम होता है। वीभत्स सौन्दर्य की दूसरी तरफ है। इसको आधुनिक साहित्य में जगह मिली—

हड्डियों का निचोड़।
पाप की प्रतिमा—कुत्तों से बदतर।

समसामयिक ज्योतिरिन्द्रनाथ मैत्र ने बंगला में लिखा है—

कुष्टेर सारि
अन्ध खञ्ज, बधिरेरा गलागलि—
(कोढ़ की कतार, अन्धे, लँगड़े, बहरे, गले-गले।)

यह जन गीत नहीं, जनता से साहित्यिक सम्पर्क है। गहरी आलोचना की जा सकती है। किताबें दो-तीन युग के साहित्य पर लिखी जा सकती हैं। आधुनिक युग का दान वैसा ही एसकेप (पलायन) कहा जा सकता है। मगर वैसी ही ऊँची निगाह भी उनकी कही जा सकती है। अंचल का काव्य ऐसा है। बाद की पीढ़ी से मुझको खुशी है।

[‘देशदूत’, साप्ताहिक, प्रयाग, 9 सितम्बर, 1945। **चयन** में संकलित (‘कवि अंचल’ शीर्षक से)[

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

ईसवी सन् 1928 का शरत्काल; ज्वार और बाजरे के पेड़ों की बाढ़ प्रायः पूरी हो चुकी है। कोई-कोई पेड़ गभुवारे; बाली और भुट्टे फुनगी के पत्तों में छिपे हुए। किसी-किसी ने सुन्दरी बहू की तरह थोड़ा-सा घूंघट उठाकर पृथ्वी पर परिचय की दृष्टि डाली है। वर्षा का वेग मन्द; शीत के आगमन की सूचना मजे में मिल रही है। सारी प्रकृति एक स्तब्धता धारण किये हुए। बरसाती नदियों का पानी काफी घट गया है। किनारों के घास फूले हुए हवा में झूम-झूम जाते हैं। बागों में घास कमर तक, कहीं-कहीं छाती तक आ गयी है, मँजूर और जनेवा की सुगन्ध धरमपुर और शिमले की याद दिलाती है। किसान बड़ी लगन से हल चला रहे हैं। रबी की फसल बोने का समय आ गया है। सुबह की साधारण ओस-पड़ी घास से आती स्निग्धता फूलित रंग-बिरंगी किरनें, चिड़ियों की चहक, जंगली फूलों की सुगन्ध, हल की मूठ पकड़े पाटे लगाते किसानों की तेजी, मन की एक नयी आँख खोल देती, दिल में एक दूसरी ला देती है। शाम की स्तब्धता शरत् की शुभ शान्ति का चित्र खींच देती है। मृत्यु के बाद के नये जीवन की तरह काम की नयी सूरत सामने आती है। इस स्तब्धता से जैसे कुल विरोध दबकर मर जाता है और रचना

की नवीनता अपनी जीवनदायिनी कला से चपल हो उठती है। गाँव में हूँ, एकाएक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का हिन्दू विश्वविद्यालय से पत्र मिला—हमारे यहाँ हिन्दी परिषद् में रहस्यवाद और छायावाद पर व्याख्यान दीजिए। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इस परिषद के उपसभापति, पं. अयोध्यासिंह उपाध्यायजी सभापति और श्री सोहन-लाल द्विवेदी सेक्रेट्री थे। एक ही भाषण मैंने अब तक दिया था, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता में। सभापति महामना मालवीयजी थे। श्री जे. एल. बनर्जी के हिन्दी-विरोधी धारा-प्रवाह अंग्रेजी भाषण के जवाब में बोला था। पूज्य मालवीय-जी, जनमण्डली तथा मित्रों से तारीफ पा चुका था, डर छूट चुका था। मैंने वाजपेयी जी का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

उन दिनों छायावाद की जोरों से मुखालिफ़त थी, आज के प्रगतिवाद की जैसी। प्रगतिवाद संघबद्ध साहित्यिक प्रचेष्टा है, छायावाद इनेगिने साहित्यिकों का प्रयत्न था। हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र, अध्यापक तथा काशी के साहित्यिक इस व्याख्यान के सुनने के लिए बड़े उत्सुक हुए। हर निगाह में, मुझे आग्रह दिखा। काशी चलकर मैं वाजपेयी के यहाँ ठहरा। वाजपेयीजी आर्य-भवन में रहते थे। पहले दो-एक बार उन्हें देख चुका था, खत-किताबत जारी हो चुकी थी, अब नजदीक से अच्छी तरह देखने का मौका मिला। गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, साधारण कद स्वस्थ देह, स्वच्छ खादी के वस्त्र, स्वाभाविक प्रसन्नता, पास रहने-वालों को खुश कर देनेवाली शालीनता तथा संयत भाषा, हृदय पर मधुर मुहर छोड़ती हुई, जो प्रायः नहीं मिटती। आर्य-भवन हिन्दू विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े छात्रावासों से दूर एकान्त में है, हरियाली के बीच में, एक तरफ अमरूदों का बगीचा, एक तरफ खेत जो उस समय बाजरे से लहरा रहा था। सामने, कुछ ही दूर चलने पर सड़क, आगे महिलाओं का छात्रावास। वाजपेयीजी उस समय एम. ए. फाइनल में थे। और भी कई लड़के आर्य-भवन में रहते थे। दूसरे खुले दिलवाले लड़कों से मालूम हुआ, आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल छायावाद की कविता और उनके कवियों का मजाक उड़ाते हैं, यह विद्यार्थियों को पसन्द नहीं, इसके जवाब में यह व्याख्यान का ठाठ बाँधा गया है, शुक्लजी को वे खासतौर से इसका प्रति-पादन सुनाना चाहते हैं। लड़कों की मण्डली में खूब ताश खेले। कभी-कभी छः-छः घण्टे पार कर दिये। दो-तीन रोज पहले गया था। प्रसादजी से मिला। उन्होंने व्याख्यान के दिन मुझे अपने यहाँ से ले चलने के लिए वाजपेयीजी से कहा। बात तै हो गयी। मैं प्रसादजी के यहाँ चला आया। प्रसादजी ने राय कृष्णदासजी की मोटर मँगा ली और अपनी मण्डली लेकर यथा-समय चले। उस दिन उन्होंने इत्र से मुझे खूब सुवासित किया। मैंने व्याख्यान के नोट लिख लिये थे जो ऐन वक्त पर काम न दे सके, क्योंकि मैं भाव में ऐसा डूबा था कि कागज पर निगाह डालता था तो कुछ दिखायी न पड़ता था। अच्छी उपस्थिति थी। पूज्य उपाध्यायजी सभापति के आसन पर समासीन थे, वाजपेयीजी और सोहनलालजी कार्रवाई में उनकी मदद कर रहे थे। छात्र-छात्राओं की अच्छी संख्या थी। सिर्फ पं. रामचन्द्र शुक्ल न आये थे। मेरा भाषण लड़कों को पसन्द आया। मैं उसे साधारण रूप से सफल हुई वक्तृता समझता हूँ। मुझे याद है, जब भी बोलते वक्त सभा की सामा-

जिकता का ख्याल न था, मैंने कहा था, तीसरे दर्जे का विद्यार्थी एम. ए. का कोर्स क्या समझेगा ? रहस्यवाद और छायावाद की मूल धाराओं को समझने के लिए अध्ययन और मनन की आवश्यकता है—यह काव्य का ज्ञान-काण्ड है। इस बात से उपाध्यायजी नाराज हो गये और भाषण के बीच में आवश्यक कार्य की आड़ लेकर चले गये। उनके जाने पर वाजपेयीजी सभापति के आसन पर बैठे। वाजपेयी-जी ने अपने भाषण में छायावाद को विद्रोहात्मक काव्यधारा बताया और नूतनतर उत्थान के रूप में उसकी व्याख्या की, जो विद्यार्थियों को पसन्द आयी। सभा भले-भले समाप्त हुई।

एम. ए. का इम्तहान देकर वाजपेयीजी गाँव आये। मैं गाँव में ही था। कभी वे मेरे गाँव आते थे, कभी मैं उनके गाँव जाता था। एक दिन निश्चय हुआ, यहाँ एक पुस्तकालय कायम किया जाय। चूँकि वाजपेयीजी का गाँव बड़ा है इसलिए उसी गाँव के लिए निश्चय हुआ। यह इरादा पहले मैं पक्का कर चुका था, वाजपेयी-जी के चाचा पं. रामेश्वरजी वाजपेयी (श्री आनन्द मोहन वाजपेयी एम. ए. के पिता) से सभा हुई। स्थानीय सभासदों की सहानुभूति और सम्मति मिली। मैं शुरू से अदूरदर्शी था। आदर्शप्रियता में पड़कर कुछ किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ और रुपये दिये, एक सज्जन ने भवन बनने तक अपनी बैठक में पुस्तकालय के लिए जगह दी। काम जारी हो गया। लेकिन स्थानीय लोगों की वैसी सहानुभूति न मिली।

पुस्तकालय द्वारा आसपास की जनता के लिए व्याख्यानों की योजना हुई जिसमें अनेक उपयुक्त विषयों पर मेरे और वाजपेयीजी के व्याख्यान हुआ करते थे। उनसे अच्छी जागृति आसपास की जनता में हो गयी थी।

इन्हीं दिनों बातचीत करने पर मुझे मालूम हुआ, वाजपेयीजी साहित्य को ही अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं। एक दिन इसी आधार पर यह तै हुआ कि आचार्य द्विवेदीजी के यहाँ चला जाय। द्विवेदीजी का गाँव दौलतपुर वाजपेयी-जी के गाँव, मगरायर से 17-18 मील पड़ता है। बैलगाड़ी पर चढ़कर हम लोग आचार्य द्विवेदीजी के दर्शनों के लिए चले। मुझ पर पहले द्विवेदीजी की बड़ी कृपा थी, बाद को मेरे 'मतवाला' में चले जाने से और असमर्थित साहित्य की सृष्टि करने से, असन्तुष्ट हो गये थे लेकिन फिर भी उनके हृदय में मेरे लिए स्नेह था। हम लोग कुछ चक्कर काटते आचार्य द्विवेदीजी के यहाँ, दौलतपुर पहुँचे।

उन्होंने वाजपेयीजी को बुलाया और पूछताछ करने लगे। ऐसे ढंग से प्रश्न करते थे कि सुनकर बड़ा आनन्द आता था। एक-एक करके उन्होंने वाजपेयीजी के घर की कुल बातें मालूम कर लीं और इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सम्पन्न हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी में और जो कुछ हो, बातचीत में विपन्नता बिलकुल नहीं जाहिर होती, विद्यार्थी जीवन से ही 'न दैन्यं न पलायनम्' के वे प्रतीक हैं। फिर साहित्यिक बातचीत चली। वाजपेयीजी का सवा पाव का दिया जवाब, ध्वनि के साथ द्विवेदीजी को सवा सेर जँचता रहा। मैं बैठा आनन्द लेता रहा। द्विवेदीजी हिन्दी में काम करने के प्रसंग पर जो कुछ कहते थे वह प्राचीन व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम होने पर भी सन् 1929 ई. के शिक्षित व्यक्ति के लिए अग्राह्य हो तो

खुशी की बात ही कहना चाहिए। 1920 ई. में द्विवेदीजी ने मेरे लिए भी कई प्रयत्न किये थे, पर उनकी शिक्षा का निर्वाह मेरी शक्ति से बाहर की बात थी। पहर रात रहते हम लोग गाड़ी पर बैठकर गाँव चल दिये।

विश्वविद्यालय खुलने पर वाजपेयीजी काशी चले गये और आचार्य श्यामसुन्दरदासजी से मिलकर उनकी आज्ञा से रिसर्च करने लगे। एक वर्ष तक रिसर्च करने के बाद पं. वेंकटेशनारायणजी तिवारी के 'भारत' के सम्पादन कार्य से अलग होने पर वाजपेयीजी अर्द्ध-साप्ताहिक 'भारत' के सम्पादक हुए।

वाजपेयीजी नयी आलोचना-शैली को जीवन देते हुए उसे इस तरह आगे बढ़ाते हैं कि हिन्दी के ऊपर मौलिक साहित्य के उज्जीवन की तरह आलोचना अपने सच्चे अस्तित्व को आँखों से देखती है, अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होकर साँस लेती है। वाजपेयीजी की समीक्षा मुख्यत: मनोवैज्ञानिक विवेचन पर आधारित है। इस विवेचन में न केवल रचयिता की मनोवृति की, बल्कि उसकी रचना के साहित्यिक सौष्ठव की भी परीक्षा हो जाती है। वाजपेयीजी की समीक्षा में साहित्य की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रेरक शक्तियों की भी उपेक्षा नहीं है।

'भारत' में हिन्दी कवियों की बृहत्त्रयी उन्हीं की निकाली हुई है। इस लेख का उद्धरण दूसरी जगह किया गया और आज भी विद्वान आलोचक इसका समर्थन करते हैं।

प्रेमचन्द और मैथिलीशरण की भी उन्होंने आलोचना की। हिन्दी में एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ, पूरे एक आन्दोलन की-सी सृष्टि हो गयी। पर आलोचक वाजपेयी अचल रहे। प्रेमचन्दजी से वाद-विवाद चला। इसमें भी वाजपेयीजी अपने विचार में दृढ़ रहे। प्रेमचन्दजी बहुत उदार थे। उन्होंने वाजपेयीजी की सत्यता मान ली। अब उनके अन्तिम दिन थे—-रोग-शैया पर पड़े हुए थे, मैं वाजपेयीजी के साथ मिलने गया था, उस समय भी उन्होंने वाजपेयीजी की आलोचना की प्रशंसा की थी।

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक अत्यन्त योग्यतापूर्वक 'भारत' द्वारा हिन्दी की सेवा करने के बाद इस पत्र से आपका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ। यहाँ से चलकर, आप कुछ दिनों तक आचार्य श्यामसुन्दरदासजी के सहायक की हैसियत से 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' के परिवर्धित संस्करण में काम करते हैं। फिर 'सूरसागर' का कई साल तक 'नागरी प्रचारिणी सभा' में रहकर सम्पादन करते हैं। यह काम पूरा कर 'गीता प्रेस' जाते हैं और वहाँ रामचरित मानस का सम्पादन करते हैं। ये काम ऐसे हैं जिनसे वाजपेयीजी के नवीन और प्राचीन साहित्य के ज्ञान पर पूरा प्रकाश पड़ता है। 1928 ई. मे 1941 ई. तक उन्होंने अनेकानेक सार-गर्भ लेख लिखे हैं, जिनसे हिन्दी-साहित्य के भण्डार में मूल्यवान रत्न आये हैं। साधारण और साहित्यिक जनों का आदर और विश्वास उन पर बढ़ा है। 'गीतिका' (निराला), 'कामायनी' (प्रसाद), 'काव्य और कला' (प्रसाद) तथा 'अपराजिता' (अंचल) पुस्तकों की भूमिका और इन पर लेख लिखे। उनकी लिखी 'जयशंकर प्रसाद', 'सूर सन्दर्भ' पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हिन्दी-साहित्य—बीसवीं शताब्दी' पुस्तक में द्विवेदीजी से प्रारम्भ कर अब तक के प्रमुख

साहित्यिकों पर निबन्ध हैं। इनसे इस काल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। 'साहित्य—एक अनुशीलन' में साहित्य सम्बन्धी विचारात्मक लेख हैं। उनके और भी साहित्यिक उद्बोधन के कार्य हैं। यह सब देखने पर उनकी विशाल ज्ञानराशि और हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन दोनों विभागों में साधिकार प्रवेश का निर्णय हो जाता है। आपने 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की प्रस्तावना जिस योग्यता से लिखी है उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। वाजपेयीजी अकेले व्यक्ति अपने समय के हैं, जिन पर हिन्दी को सस्नेह गर्वानुभव है। उनके इन्हीं गुणों और कार्यों के कारण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य विभाग का उन्हें सभापति चुनकर सम्मानित किया। उनका निर्मित आदर्श और उनका ऊँचा दिया ज्ञान हिन्दी भाषियों को उठानेवाला है। वाजपेयीजी ने भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। इस अध्ययन की छाप उनकी आलोचनाओं में सब जगह है। राजनीतिक विचारों में वे आरम्भ से ही गांधीवादी रहे हैं, यद्यपि आध्यात्मिक मान्यताओं में वे गांधीजी के आदर्शवाद की अपेक्षा विशुद्ध भारतीय या हिन्दू आदर्शवाद की ओर अधिक झुके हैं। राजनीतिक विचारों में भी वाजपेयीजी गांधीजी के अन्धभक्त नहीं हैं। साहित्य में आप स्वच्छता और सप्राणता के हामी हैं। प्रणाली और उद्देश्य दोनों में शिष्टता और स्वास्थ्य चाहते हैं। साहित्य का वे समाज के प्रगतिशील उत्थान में सक्रिय योग आवश्यक समझते हैं।

[**चाबुक** में संकलित]

●●●

टिप्पणियाँ

नवीन साहित्य और प्राचीन विचार

इस समय हिन्दी-साहित्य की धारा जिस तरह देश, काल तथा समय के अनुसार संसार की अन्य साहित्यिक धाराओं की गति से अपनी गति मिलाकर बह रही है, उसे देखते हुए हिन्दी-साहित्य की प्रगति तथा उन्नति के सम्बन्ध में किसी विचार-शील निरीक्षक को किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। परन्तु प्राचीन साहित्य के प्रेमी इसे साहित्य का विपथगामी होना ही कहते हैं। वे इस विचार को अपनी अदूरदर्शिता मानने के लिए तैयार नहीं, बल्कि इस विषय पर अपने प्राचीनत्व के अधिकार का आवश्यकता से अधिक दुरुपयोग कर रहे हैं। बहुत से लोग ऐसे भी हैं, जो साहित्य के असंस्कृत होने के विचार रखते हैं। पर वे शायद यह नहीं जानते कि विजातीय भावों के मिश्रण से ही संस्कार हो सकता है। यदि किसी सृष्टि को प्रगतिशील रखना है, तो उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए विजातीय भावों का उसमें समावेश करना अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीं विरोधी गुणों से उसमें शक्ति का संचार होता है। मनुष्य से लेकर सारी सृष्टि में ऐसी विजातीयता लक्षित होती है। गधे और घोड़े के संयोग से उत्पन्न खच्चर भार-वहन में दोनों से निपुण है। इसी तरह विभिन्न गोत्रों के विवाह से उत्पन्न बालक अधिक बलवान्, मेधावी, कर्तव्यनिष्ठ तथा दीर्घजीवी होते हैं। यह विचार हम एक बार प्रकट कर चुके हैं। यह भाव-मिश्रण साहित्य के लिए भी आवश्यक है, नहीं तो कुछ काल तक एक ही संस्कार और एक ही प्रकार के विचारों की नेमि में चक्कर काटता हुआ साहित्य भी निर्जीव हो जाता है। कारण, जिन भावों की वह पुनरावृत्तियाँ किया करता है, मनुष्य-समाज के कल्याण के लिए फिर उनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। हम देखते हैं, हमारे देश के जिन प्रान्तों की भाषाएँ कुछ समृद्ध तथा पुष्ट मानी जा रही हैं, उनमें विजातीय भावों का प्रवेश ही उनकी उन्नति का कारण हुआ है। उन्हीं भावों से उनके अपने भाव भी सहस्र रूपों तथा रंगों से चमक उठे हैं, जैसे एक ही सूर्य की किरणों से इन्द्रधनुष के तमाम मनोहर रंग। फ़रासीसी साहित्य पर विजातीय जर्मन-संगीतों का जो मार्मिक प्रभाव पड़ा, रूस की स्वाधीन जन-वृत्ति का जो विकास हुआ, रोमाँ रोलाँ उसके मूर्तिमान महापुरुष हैं। विजातीय उच्च साहित्य के संग का फल कैसा होता है, यह हम ईट्स और रवीन्द्र-नाथ को देखकर समझ सकते हैं। विजातीय भावों के मिश्रण का दूसरा कारण एक यह भी है कि हर देश के मनुष्यों को अपर देश की संस्कृति तथा सभ्यता का

पूरा-पूरा ज्ञान रखना चाहिए। जिस तरह एक पेड़ की वृद्धि तथा ह्रास के लिए उसकी पारिपार्श्विक परिस्थिति उत्तरदायी है, जिस तरह वह अपने चारों ओर की प्रकृति से अपने जीवन के उपादान ग्रहण करता, उनके जीवन के उपकरण छोड़ता है, उसी तरह साहित्य भी। अन्यथा किसी एकदेशीय साहित्य से बहुत बड़ी उन्नति, बहुत बड़े लाभ की सम्भावना नहीं। इसके अतिरिक्त एक युग-धर्म भी हुआ करता है। वह अपनी विशेषता लेकर आता और उसी को अपने समय के लिए महत्त्व देता है। अब यह युग सार्वभौम साहित्य का, सब साहित्यों के संकलन-संगठन का है। अब किसी साहित्य की किसी जाति के आचरणों को, अपने प्रतिकूल होने पर भी, हमें किसी को निन्दनीय कहने का अधिकार नहीं। कारण, उन्हीं आचार-व्यवहारों के भीतर से उस साहित्य में उतने ही बड़े-बड़े मनीषी, प्रतिभाशाली वैज्ञानिक, ज्योतिषी, महापुरुष हो गये हैं, जितने बड़े किसी के उच्च-से-उच्च साहित्य में हो सकते हैं। अतएव किसी साहित्य से किसी प्रकार के भावों का लेना या किसी प्रकार के प्रकाशन-ढंग का ग्रहण करना हमारे साहित्य के लिए अनर्थकर नहीं हो सकता, जबकि विस्तृत संसार की एकता की तरह मानवीय कुल-सम्बन्धों को लेकर हम भी संसार के तमाम मनुष्यों के साथ एक ही हो रहे हैं। यदि हमारे साहित्य को इन तमाम भावों की आवश्यकता न होती, तो सात समुद्र पार से यह अँगरेज-जाति यहाँ अपने राज्य की सुदृढ़ संस्थापना भी न कर पाती। इस छोटी-सी अँगरेज-जाति के अन्दर वह कौन-सा पौरुष उसके साहित्य ने भर दिया है, जिसके प्रबल प्रताप की सीमा को सूर्य भी नहीं पार कर पाते, क्या इसके जानने की, इससे कुछ लेने की हमारे साहित्य को बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं? क्या यह बात प्राचीन साहित्यिक आधुनिक शिक्षा-मन्दिर में उच्च स्वर से कह सकते हैं? क्या उन लोगों ने यहाँ के साहित्य का निरादर किया है? यदि आज वे लोग न होते, तो यहाँ के साहित्य का इतना उत्कर्ष भी देखने को शायद ही मिलता। हिन्दी के नवीन साहित्य में अब जो रचनाएँ हो रही हैं, यानी जिस प्रकार की रचना के चित्र मिलते हैं, ऐसी और इससे उत्तमोत्तम रचनाएँ अँगरेजी-साहित्य में 16वीं शताब्दी में हो रही थीं। इससे हम समझ सकते हैं कि साहित्यिक प्रगति में हम कितने पीछे हैं और कितना अधिक, सदियों का मार्ग अभी हमें तय करना है। अवश्य हम यह नहीं कहते कि हमारे साहित्य का उत्कर्ष उन्हें कुछ देने के लायक नहीं; नहीं, हम अपने वर्तमान साहित्य के प्रसंग पर लिख रहे हैं। फैंसी सृष्टि हिन्दी में अब होने लगी है, जहाँ कल्पना प्रबल और स्वाभाविकता अल्प है। पर योरप में अब कल्पना का काल नहीं रहा। बहुत कुछ तो वहाँ के विज्ञान ने कवित्व को हानि पहुँचायी, रहा-सहा कवित्व व्यवसाय की गृद्ध-दृष्टि तथा जीवन-संग्राम की जटिलता ने ले लिया। शेक्सपियर और बर्नार्ड शॉ में हम इसके प्रमाण प्रत्यक्ष कर लेते हैं। एक में है कवित्व, मनोभावों की विशद वर्णना, नायिकाओं का आन्तरिक अनुराग, निवाह, विलास आदि और दूसरे में स्वाभाविक स्वच्छन्दता, सहज सारल्य, दिन के प्रकाश ही की तरह बहती हुई निरलंकार भाषा तथा चित्रण। यह समय भाषा-साहित्य में तब आता है, जब जाति अत्यन्त कर्मठ होती है। जिस तरह अनेक सुखमय मनोहर चित्रों से सजा हुआ प्रथम यौवन कर्म-

काल का पहला चरण है, पश्चात्, उसके स्वप्नों के प्रभात का सब स्वर्ण दुपहर की धूप से गल जाता, एक दूसरी ही प्रखरता आती है, उसी तरह हिन्दी का यह अभी प्रभात-काल ही है, और अँगरेजी-साहित्य में कर्म की प्रखरता का काल। इस प्रभात में हम जिन कोकिलाओं की कूक सुन रहे हैं, उससे आशु मध्याह्न की सूचना हमें मिल रही है। बंग-साहित्य में बंकिमचन्द्र की रचना प्रथम प्रकार की थी। उसके बाद ही उपन्यास की दुनिया बिलकुल ही बदल गयी। फिर वह स्वरूप-वर्णना नहीं रही। वह अगाध प्रेम जाता रहा, प्रेम का स्थान पात्र और अपात्र सभी ने ग्रहण कर लिया। जो चरित्र-चित्रण होने लगे, उनमें कवित्व का कहीं पता न रह गया। उनके बाद उपन्यास-साहित्य में शरच्चन्द्र का स्थान आता है। पर दोनों में अपार अन्तर है! वह सब ठाट ही बदल गया। न वह 'जीवन-प्रभात' रहा, न वह 'चन्द्रशेखर'; शरच्चन्द्र की लेखनी में बंकिमचन्द्र का वह कवित्व कहाँ? पर कवित्वहीन होने पर भी कितनी प्रबल भाषा, कितनी प्रखर चित्रण-शक्ति है! साहित्य के कर्मयुग का तत्काल स्मरण करा देती है। ग़ालिब का कवित्व अकबर में कहाँ! पर कमाल वही हासिल है। हिन्दी के आधुनिक युग में जो रचनाएँ होती हैं, वे स्वप्न की परियों का शृंगार, हमारे ही साहित्य की विभूति हैं, उसे आगे चलकर और ऐश्वर्ययुक्त करनेवाली, प्राचीन परिपाटी से न मिलने पर भी इन रचनाओं का एक उद्गम-स्थल अवश्य है, और एक साहित्यिक लक्ष्य भी, जो किसी कलुषित भावना को प्रश्रय नहीं देता, किन्तु शुद्ध साहित्य की ही सेवा जिसका धर्म है। उसके सांगोपांग तमाम सम्बन्धों पर विचार करके हमारे वयोवृद्ध मान्य साहित्यिक कुछ काल के लिए धैर्य धारण करें, और यह धैर्य उनके लिए एक प्रकार की मृत्यु भी है। पर हमें आशा है, वे अपने उत्तराधिकारियों को यह अधिकार साहित्य के कल्याण के लिए दे देंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

चित्रण-कला

कविता, उपन्यास और नाटक, साहित्य के मुख्य तीनों अंगों की चित्रण कलाएँ अलग-अलग हैं। पर बहुत जगह, पात्रों के कुल-शील के अनुसार, एक ही प्रकार की भाषा तथा चित्रण रहता है। परन्तु फिर भी भाषा के भीतर के अनेक भेद होते हैं। इसी तरह लक्ष्य के भी भेद हैं। पर विकास सब जगह एक ही है। जिस तरफ से लेखक अपने पात्र को ले जाना चाहता है, उस तरफ के विकास के क्रम पर उसका सर्वाधिक ध्यान रहता है। प्रकाशन की कोई बात छूट न जाय, उसका क्रम कैसा हो, उच्च-से-उच्च तथा निम्न-से-निम्न उसके सोपान कौन-कौन से हैं,

इनकी शिक्षा ही कला की शिक्षा कहलाती है।

कविता लिखने के समय जब चित्र के चन्द्र को अधिक प्रकाशमान करना पड़ता है, तब भाषा के शब्दों को यथाशक्ति प्रांजल कर देने की आवश्यकता है। शब्दों के सूर्य की किरणें चित्र को और द्युतिमान् कर देती हैं। प्राचीन गौरव के प्रति लोगों की श्रद्धा आकर्षित करने का विचार हो, तो कविता की भाषा खुले हुए पुष्प की तरह पूर्ण-विकच होनी चाहिए। परन्तु ग्राम्य चित्रों या अशिक्षित जनों के मनोभावों का चित्रण करने के समय भाषा बहावदार, स्वच्छ, सरल लिखनी चाहिए। प्राकृतिक वर्णन में सहज तथा सालंकार, दोनों प्रकार की भाषाएँ आती हैं। काव्य-पात्रों की भाषा आलंकारिक होने पर भी मुहावरेदार, सरल, जहाँ तक हो सके, होनी चाहिए। पुनश्च भाषा के नियमों की पाबन्दी न रखनेवाले यदि कुशल कलाकार हैं, यदि उन्हें विकास का अच्छा ज्ञान है, तो वे किसी भी प्रकार की भाषा का प्रयोग, जहाँ चाहें, कर सकते हैं। अधिकांश महाकवियों ने उल्लिखित प्रकार ही भाषा के प्रचलन में रक्खे हैं। कविता के यों तो अनेक भाग किये गये हैं, पर मुख्य दो ही भाग हैं। एक बाह्य प्रकृति का चित्रण है, जिसमें नामवाचक संज्ञाओं का उपयोग विशेष रूप से रहता है; दूसरा आभ्यन्तर प्रकृति का वर्णन, जिसमें भाववाचक शब्द प्रायः आया करते हैं। नामवाचक संज्ञाओं के सौन्दर्याधार चित्र हैं, और भाववाचक संज्ञाओं की भावना। जिस तरह दोनों संज्ञाओं के गुण-भेद तथा रूप-भेद दृष्टिगोचर होते हैं, उसी तरह उनके आधार काव्य में भी। नाम-वाचक संज्ञाओं के चित्र ही हैं, जहाँ किरणों से स्वर्ग की अप्सराएँ उतर-उतर नील-स्फटिक-जल झील में तैरती, कल-कल-शब्द में अनेक प्रकार के रसालाप, कौतुक, क्रीड़ाएँ करती हैं; जहाँ कलियों के चटकने के साथ ही हरितवसना किसी रूपवती वन्य बालिका की एकाएक चितवन देख पड़ती है; ओस के कणों में आँसू; सन्ध्या की किरणों में किसी प्रासाद की विरहिणी के खुले हुए, चमकते हुए, सुनहले बाल; और भाववाचक संज्ञाओं में हम भावना को ही प्रत्यक्ष करते हैं, कहीं चित्रों में घनीभूत और कहीं निराकार; "सजनी, भल करि पेखन न भेल" यहाँ अच्छी तरह न देख पाने का दुःख ही जाहिर है, "कहाँ है उत्कण्ठा का पार" इसमें क्षोभ। पर कभी-कभी चित्र भी भावों को प्रधान कर लेते हैं, और भावना चित्रों को। वहाँ चित्रों की भंगिमा (Posture) में भाव का विकास दिखलाया जाता है, और भावों में तदनुकूल चित्र, और ये प्रयोग प्रायः रूपकोपमा के रूप से ही आते हैं। जब तक चित्र चित्रों ही की हद में रहते हैं, एक सुन्दर नयनाभिराम मूर्ति को अंकित करने के अतिरिक्त उनका दूसरा अभिप्राय नहीं रहता या भाव मानवीय शोक तथा हर्षोच्छ्वास की ही व्यंजना कर शान्त हैं, तब तक काव्य की वह सृष्टि अन्तिम सोपान तक पहुँची हुई भी नहीं कही जाती—पार कर जाना तो और दूर की बात है। ब्रजभाषा-काल के शृंगारी कवियों के चित्र तथा भावनाएँ इसी हद तक रह गयी हैं। इसीलिए उनमें वह रस नहीं, जो कबीर, तुलसी, मीर और ग़ालिब में है, जो मौलाना रुम, उमर और गेटे में है। चित्रों तथा भावनाओं के भीतर से चिरन्तन सत्य में पहुँचना, अपार सौन्दर्य में भावना तथा चित्रों की कृतियों को मिला देना कविता की पूर्णता कहलाती है। यहाँ भी कुछ भेद हैं। भक्त

कवि यह कार्य पवित्र भावना तथा निष्कलुष मूर्तियों का आश्रय लेकर करते हैं और केवल-कवि विलास तथा शृंगार के अनेकानेक उपकरण लेकर। कविता की पवित्रता का दावा इन्हें भी रहता है। वेश्याओं में अपार सौन्दर्य का स्रोत खोलकर उसे इन्हीं लोगों ने सौन्दर्य के अपार महासागर से मिलाया है। रहस्यवादी केवल-कवि और आध्यात्मिक कवि में इन उपकरणों का ही भेद है। प्रांजल, पुष्पित, मार्जित, सरल, मधुर, मुहावरेदार; इस तरह से भाषाएँ भी अनेक प्रकार की हैं, जो आवश्यक वर्णना-स्थलों पर आया करती हैं।

उपन्यास में एक या दो नायक तथा दो-एक नायिकाओं का होना आवश्यक है, यद्यपि बिना नायक के भी उच्च-से-उच्च तथा श्रेष्ठ उपन्यास मौजूद हैं। उपन्यास में उन नायक-नायिकाओं पर ही चित्रण की प्रधान-दृष्टि रहना आवश्यक है। जिस स्थिति से उन चित्रों को उठाकर जिस स्थिति तक पहुँचाने का विचार लेखक के मन में हो, वहाँ तक जितने भी चित्र उन नायक-नायिकाओं के बनते तथा बदलते जायँ, उनमें हर एक जब अपने स्थान पर प्रातःकाल के खुले हुए कमल की तरह, अपनी पूर्णता के समस्त दल खोल रहा हो, साथ ही उनकी घटनाएँ, मोतियों की माला की तरह, एक दूसरे दाने से समान सटी हुई, एक ही उज्ज्वलता में चमक रही हों। भिन्न-भिन्न घटनाओं के घूर्णित चक्र में एक ही गति, एक ही आवर्तन, एक ही परिधि की रेखा होनी चाहिए। साज के तारों की तरह उपन्यास के पात्रों के तार तमाम स्वरों में अलग-अलग मिले हुए भी बोलवाले तार से सामंजस्य रखकर बजते हैं। जहाँ यह साम्य नहीं, वहाँ उपन्यास के हर परिच्छेद के पात्र टूटे हुए तारों के यन्त्र की तरह कर्कश झंकार करते, वैषम्य पैदा कर देते हैं। भाषा भी पात्रों की शिक्षा के अनुकूल होनी चाहिए।

यही मार्ग नाटकों के लिए भी। सिर्फ दृश्य काव्य होने से नाटकों में प्रकाशन कुछ और तीव्र, और भंगिमाएँ भावोद्दीपक होती हैं। उपन्यास में जितना ही छिपाकर खोलने का प्रचलन है, नाटक में उतना ही भाव के प्रकाशन का।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

नारी और कवि

संसार के कवियों ने अनेक रूपों में नारियों को प्रत्यक्ष किया है। साहित्य के इस दर्शन के पतन का परिणाम नायिकाभेद [के] वीभत्स चित्रों में दिखलायी पड़ता है। बड़े-बड़े कवियों की दृष्टि में सब सृष्टियों का सार जैसे प्रकृति ने नारी के रूप में भर दिया हो, जैसे प्रकृति स्वयं अपनी अमर शक्ति तथा अनन्त चमत्कारों को लेकर नारी के रूप में खड़ी हुई हो—

"I saw her upon a nearer view,
A Spirit, yet a woman too !"

—Wordsworth

(मैंने उसे नजदीक से देखा, वह केवल ज्योति थी, साथ ही एक नारी भी।)

नारियों में इस प्रकार ज्योति श्री मूर्ति प्रत्यक्ष करने का परिचय प्राय: सब जगह के चित्रण में मिलता है। शकुन्तला के 'या सृष्टि: स्रष्टुराद्या' से लेकर आज-कल की कविताओं तक—

"अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्यर्यों की सन्धान।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

यहाँ केवल सुन्दरता ही मूर्ति के साँचे में ढाल दी गयी है। रवीन्द्रनाथ की 'जीवन-देवता' तथा 'अन्तर्यामी' आदि कविताओं में नारियों के अनेक उच्चतम सुन्दर विकसित चित्र मिलते हैं, बल्कि कवि को नारी-मूर्ति ही कविता के क्षेत्र पर गतिशील करती है—

"अचल आलोके रयेछ दाँड़ाये,
किरण - वसन अंगे जड़ाये,
चरणेर तले परिछे गड़ाये
छड़ाये विविध भंगे।
गंध तोमार घिरि चारि धार,
उड़िछे आकुल - कुंतल - भार,
निखिल गगन काँपिछे तोमार
परस - रस - तरंगे।"

(अचल आलोक में तुम खड़ी हो, किरणों का वस्त्र अंग से लपेटे हुए, चरणों के नीचे विविध तरंग-भंगों से किरणों की धारा गलती-फैलती-बहती है। सुगन्ध तुम्हारे चारों पार्श्वों को घेर रही है, व्याकुल बाल बिखर-बिखर उड़ रहे हैं। तुम्हारे स्पर्श के रस की तरंगों से निखिल संसार काँप रहा है।)

रवीन्द्रनाथ की खींची हुई यह नारी-मूर्ति नारीत्व के चरम विकास पर पहुँची हुई है। अंगों के गठन में केवल ज्योति ही घनीभूत हो गयी है, और कोई जड़ता नहीं; अंगराग, गति, चंचलता, पलकों का गिरना, सौन्दर्य, स्नेह, विलास, सबकुछ है।

भक्त तथा श्रृंगारी कवियों ने व्रज की गोपिकाओं में बड़ी कुशलता से पावन भावना भर दी है। प्रगाढ़ प्रेम के चित्रों में वहाँ नारी-मूर्ति खींची गयी है। राधिका को इस तरह चित्रित किया है कि वह श्रृंगारमयी जीवनदात्री नारियों की अधिष्ठात्री बन गयी हैं। प्रेम का परिपाक हो जाने के कारण व्रजेश्वरी की गति, भंगिमाएँ, कटाक्ष तथा आलाप आदि नारी-प्रकृति को श्रृंगार के चरम विकास तक पहुँचा देते हैं। प्रेम के उपासक, कृष्ण के भक्त कवियों ने गोपियों के प्रेम के व्यक्त करने में भाषा, छन्द तथा भावों को भी नारी-मूर्ति के साथ चिरकाल के लिए श्रृंगार-सिद्ध कर दिया है। 'त्वमसि मम भव-जलधि-रत्नम्' के द्वारा उन

कवियों ने भी नारी ही को संसार की उत्तम सृष्टि माना है। नारियों के भीतर ही इन लोगों ने अपनी साधना प्रत्यक्ष की, और किसी अंश में भी इस श्रृंगार के साहित्य को वेदान्त-साहित्य के उपलब्ध ज्ञान के मुकाबले में न्यून नहीं रक्खा। इसके सर्वप्रथम आचार्य शुकदेव हैं, जिनके चरित्र का मुकाबला भारत का महर्षि-इतिहास नहीं कर सकता। जैसे शुकदेव की सच्चरित्रता का फल ही श्रृंगार का उत्कर्ष बन गया हो, और उनकी तमाम साधना रासलीला की वर्णना में बदल रही हो।

"Like a high-born maiden
In a palace tower,
Soothing her love-laden
Soul in secreat hour
With music sweet as love, which
Overflows her bower."

—Shelley

शेली की नारी प्रेमोज्ज्वल श्रृंगार की कला के कुल अलंकारों से युक्त है। नारियों के इस उत्कर्ष के चित्रण का कितना बड़ा प्रभाव समाज पर पड़ता है, साहित्य के भीतर से प्रत्येक देश के समाज के उत्कर्ष का विचार करने पर यह पता लग जाता है। साहित्य में नारियों के उच्चतम विकास की जितनी ही अधिक सृष्टि होती है, समाज की स्त्रियों में सुधार, आचरण आदि में शुद्धता, मार्जन, गुण, सूक्ष्मदर्शिता तथा चारुता आती है।

कवियों के मानस-पट पर एक और प्रकार की नारी-मूर्ति का चित्रण देख पड़ता है। यह चित्रण शराब, कबाब, साज तथा संगीत के आधार पर हुआ है, और बाहरी चक्र सामाजिक दृष्टि से इस चित्रण का परिणाम बहुत बुरा कहलाने पर भी भाषा और भावों के भीतर से साहित्यिक उत्कर्ष का विचार करने पर उतना ही ऊँचा पहुँचा हुआ जान पड़ता है। "मय तो पीता हूँ, अब ईमान रहे या न रहे" सुनकर इस पंक्ति की प्रबल मादक ध्वनि में सहृदय श्रोता अनायास आत्म-विसर्जन कर देते हैं। उमर ख़य्याम की रुबाइयों में, एक ही आधार में, त्याग और प्रेम, दृढ़ता तथा भय, उज्ज्वलता तथा लघुता, मार्जन तथा सौन्दर्य की श्रृंगारमयी नारी-मूर्ति अंकित देख पड़ती है।

समाज के लिए महाकवि वर्ड्स्वर्थ की नारी ही यथार्थतः तमाम कामनाओं की सिद्धि कल्याणी-मूर्ति से आँखों के सामने आती है—

"A lovely apparition, sent
To be a moment's ornament;
Her eyes as stars of twilight fair
Liketwilight's, too, her dusky hair;
× × ×
A countenance in which did meet
Sweet records, promises as sweet."

(वह एक स्वर्गीय ज्योति-चित्र-सी एक क्षण की अलंकार-सी रचकर भेजी गयी थी। उसकी आँखें ऐसी सुन्दर जैसे नक्षत्रों की चमक, वैसे ही उसके धूसर बाल, मुख में मधुर लक्षण मिले हुए, प्रतिज्ञाओं ही की तरह मधुर।)

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

शेली और रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ इस समय संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इस समय आप योरप में हैं। अभी पेरिस में आपकी 70वीं वर्ष-गाँठ का जलसा बड़े धूमधाम से मनाया गया। आप यौवन के प्रथमोन्मेष में ही शिक्षा के लिए योरप गये थे। तब से अब तक कई बार जा चुके हैं। पूर्व के विद्वानों में रवीन्द्रनाथ ही एक ऐसे महापुरुष हैं, जिनका पश्चिम के प्रायः सभी शिक्षित समुदाय पर प्रभाव है। उसका कारण बहुत कुछ यह भी है कि रवीन्द्रनाथ पश्चिम की संस्कृति की आत्मा तक पैठ सके हैं और प्राणों को प्रसन्न करने का बीजमन्त्र उन्हें मालूम हो चुका है। वे अपने स्वर के तार को इस प्रकार झंकृत कर सकते हैं, जिसकी एक ही ध्वनि में पूर्व और पश्चिम की महिमा की रागिनी बड़ी ही मधुर बज उठती है। वे ब्राह्म-समाजी हैं। अतएव उनकी कृतियों में ब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाले महान् भाव तमाम संकीर्णता के वातावरण को पार कर इस तरह महाकाश में परिव्याप्त हो जाते हैं कि उन्हें अपना कहते हुए किसी को भी संकोच नहीं होता। कारण, आत्मा के रूप से वह सूक्ष्मतम ब्रह्म ही अखिल लोक में व्याप्त है। यह है पूर्व की आत्मा की बात। चित्रण में रवीन्द्रनाथ अपनी तूलिका को पश्चिमी रंगों की प्यालियों में डुबो लेते हैं। इससे देह पश्चिम की देह की तरह मार्जित होती है, और आत्मा पूर्व की तरह। उसमें पूर्व की आत्मा की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। फिर वह सजीव कृति कितनी सुन्दर हो जाती है, रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि तथा सफलता ही इसके प्रमाण हैं। हम कह चुके हैं, यौवन के आरम्भ में ही रवीन्द्रनाथ पश्चिम गये थे। उसका प्रभाव उनकी उस समय की प्राथमिक रचना 'चित्रांगदा' पर भी पड़ा है। 'चित्रांगदा' के शरीर से जो परमाणु निकलते हैं, वे किसी भारतीय स्त्री में नहीं मिल सकते। अब तक किसी भी भारतीय कवि ने अपनी नायिका को इस प्रकार चित्रित नहीं किया। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ की 'चित्रांगदा' के चरित्र की स्वर्गीय सुप्रसिद्ध नाटककार डी. एल्. राय ने बड़ी कड़ी आलोचना की थी। डी. एल्. राय भारतीय स्त्री-चरित्र का बहुत ही ऊँचा आदर्श चित्रित करते थे। वे रवीन्द्रनाथ की चित्रित की हुई चित्रांगदा की अदम्य काम-वासना को देखकर क्षुब्ध हो गये, और बड़े तीखेपन से इस कृति की आलोचना की। पर इससे कवि को क्या? कवि अपनी

रुचि के अनुसार ही चित्र खींचता है। अस्तु। तब से अब तक प्रेम के सहस्त्रों लावण्यमय उज्ज्वल चित्र रवीन्द्रनाथ ने खींचे हैं, और सभी पश्चिम के रंग में रँगे हुए हैं—

"तुमि चेये मोर आँखि परे,
धीरे पात्र लयेछे करे,
हेसे करियाछ पान चुम्बन-भरा
सरस बिम्बाधरे।"

(मेरी आँखों की ओर हेरकर धीरे से तुमने प्याला हाथ में ले लिया, और चुम्बनों से भरे सरस बिम्बाधरों से हँसकर उसे पी गये।)

यह भारतीय स्त्री नहीं। यह इस नायिका का रात्रि का चित्र है। इसी पद्य में और इसी नायिका का प्रभात का चित्र दिखलाते हुए रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

"आजि निर्मल वाय शान्त ऊषाय
निर्जन नदी - तीरे
स्नान अवसाने शुभ्रवसना
चलियाछ धीरे-धीरे।
तुमि वाम करे लये साजि
कत तुलेछ पुष्पराजि
दूरे देवालय-तले ऊषार रागिनी
बाँशिते उठेछे बाजि।
एइ निर्मल वाय शान्त ऊषाय
जाह्नवी-तीरे आजि।
देवी तव सींथिमूले लेखा
नव अरुण सिन्दुर रेखा
तव बाम बाहु बेड़ि शंखवलय
तरुण इन्दुलेखा।
ए की मंगलमयी मूरति विकाशि
प्रभाते दितेछे देखा।

प्राते कखन देवीर वेशे
तुमि सुमुखे उदिले हेसे।
आमि संभ्रम भरे रसेछि दाँड़ाये
दूरे अवनत शिरे
आजि निर्मल वाय शान्त ऊषाय
निर्जन नदी-तीरे।"

(आज शान्त ऊषःकाल की निर्मल वायु में निर्जन नदी के तट पर स्नान के पश्चात् शुभ्रवसना धीरे-धीरे जा रही हो, बायें हाथ में 'सेजी' लिये हुए न-जाने कितने फूल तोड़े। दूर देव-मन्दिर में, शहनाई में, ऊषा की रागिनी बजने लगी। देवि, तुम्हारी माँग में नयी अरुण सिन्दूर-रेखा लिखी हुई है। यह कैसी मंगलमयी

मूर्ति विकसित हो, प्रभात में दीख पड़ती है ? न-जाने कब (जो तुम रात की थीं) प्रात में देवी के वेश में सामने आ उदित हुईं ! मैं सम्मानपूर्वक दूर सिर झुकाये हुए खड़ा हूँ।)

यह उसी स्त्री की दूसरी मूर्ति है। इसका रंग पश्चिमी है। पहला तो निर्भ्रान्त ही है। दूसरे में पूजा के भावों पर भी पश्चिमी तूलिका चल रही है।

रवीन्द्रनाथ के योरपीय चरित्र-लेखकों ने उनके जीवन का एक काल ऐसा निश्चित किया है, जिस समय उन पर अँगरेज कवि शेली का प्रभाव पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं भी लिखा है कि बंगाल में उनके बाल्यकाल में जितने प्रसिद्ध बंगाली साहित्य-सेवी थे, सब शेक्सपियर, बायरन, मिल्टन, स्कॉट आदि के नामों से सूचित किये जाते थे, उस समय इनके दिल में भी इस तरह की एक पदवी के ग्रहण करने की लालसा प्रबल हुई। कुछ ही कविताओं के निकलने पर लोग इन्हें बंगला के शेली कहकर पुकारने लगे। बंकिमचन्द्र ने स्वयं भी इस शब्द से इनकी सम्वर्धना की थी, उस समय आर. सी. दत्त भी थे। बंकिमचन्द्र ने अपनी माला इन्हें पहना दी थी। यह तरुण रवीन्द्रनाथ थे। रवीन्द्रनाथ ने बाद के जीवन में ब्रौनिं और कालरिज की भी तारीफ की है। बहुत-से ऐसे भी रवीन्द्रनाथ के प्रिय कवि हैं, जिन्हें दूसरे लोग पसन्द ही नहीं करते। हमारा अनुमान है, अँगरेज़ी-साहित्य का अध्ययन और अँगरेज़ी-सभ्यता-प्रियता का रवीन्द्रनाथ की कविता पर बहुत बड़ा असर पड़ा है जिससे भारतीय काव्य-संसार में एक नयी संस्कृति देख पड़ी। रवीन्द्रनाथ एक महाकवि होने के साथ-साथ काव्य-साहित्य के एक पारदर्शी पाठक भी हैं। संस्कृत, बंगला, वैष्णव कवि और अँगरेज़ी में अनुवादित प्रायः सभी देशों के बड़े-बड़े कवियों से रवीन्द्रनाथ परिचित हैं और अच्छी तरह। उन पर मुसलमान सूफी कवियों का भी प्रभाव पड़ा है। इस तरह उन्होंने अपने काव्य-संस्कारों को दृढ़ किया। बहुत जगह एक-एक पंक्ति के छोटे-छोटे भावों को लेकर उन्होंने विस्तारपूर्वक लिखा है, इस तरह कई जगह शेली के भाव मिलते हैं, और और कवियों से भी उन्होंने खास तत्त्वों का ग्रहण किया है, भाषा के विचार से अँगरेज़ी-साहित्य में शेली की भाषा को जो स्थान प्राप्त है, वही रवीन्द्रनाथ को बंगला में। हाँ, रवीन्द्रनाथ के काव्य का परिमाण शेली में नहीं। उसे साहित्य की सेवा के लिए बहुत ही थोड़ा समय मिला था। चमत्कार में दोनों पूर्ण हैं। शेली 18वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही जो चमत्कार दिखा चुका था, रवीन्द्रनाथ भारत में 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से दिखा रहे हैं।

शेली भारतीय दर्शन नहीं जानता था। उसने रंग द्वारा, अपने जिज्ञासु मन के ही प्राप्त उत्तर द्वारा कविता के प्राणों में चमक पैदा की है, काव्य की आत्मा का तत्त्व हासिल किया है। पर रवीन्द्रनाथ के लिए ये सब साधन सुलभ थे। चित्रों के खींचने में शेली को अपने पूर्ववर्ती कवियों से थोड़ी-बहुत सहायता मिली होगी, पर नैपुण्य और शैली उसकी अपनी है। रवीन्द्रनाथ को ये दोनों पथ प्रशस्त मिलते हैं। उस समय के समाज, पार्लामेण्ट और बड़े-बड़े आदमियों के स्वभावों को जिस तरह शेली अपने शब्दों की शिखाओं से झुलसा देता है, उसी तरह रवीन्द्रनाथ भी अपनी पराधीन जाति को। लण्डन की तरह नरक को एक बड़ा-सा शहर बतलाकर शेली

ने अकर्मण्य, निर्दय धार्मिकों की जैसी दशा चित्रित की है, बीबियों को जैसा बनाया है, कानूनदाँओं, विचारकों की जैसी प्रकृति खींची है, वह सब आज भारतवर्ष में प्रत्यक्ष हो रहा है—

> "Hell is a city much like London—
> A populous and a smoky city;
> There are all sorts of people undone,
> There is little or no fun done;
> Small justice shown, and still less pity."

लण्डन की तरह नरक में भी टैक्स देना पड़ता है, शराब, रोटी, मांस, चाय, बीयर और चीज़ पर, जिससे राजभक्त लोगों की तोंद मोटी होती है—

> "Taxes too, on wine and bread,
> And meat and Beer and tea, and cheese,
> From which those patriots pure are fed."

यहीं की तरह राजनीतिज्ञ, वकील और पुजारी लोग नरक लोक में भी हैं, जो दूसरों का तिरस्कार करने "बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा' के लिए, फ़ीस के लिए और जलती आग में परमात्मा के प्यार के लिए—

> "Statesmen damn themselves to be
> Cursed; and lawyers damn their souls
> To the auction of a fee;
> Churchmen damn themselves to see
> God's Sweet love in burning coals."

इसी तरह रवीन्द्रनाथ भी देशवासियों के मानसिक दौर्बल्य पर चोट करते हैं—

> "सभापति थाकुन वासाय,
> काटान बेला ताशे पाशाय,
> नेई बा होलो नाना भाषाय,
> अहा, उहू, ओहो।"

महाकवि की कल्पना है कि वे मर गये हैं, इसलिए सभा हुई है; अब कहते हैं, सभापति अपने मकान में बैठे रहें, ताश और पासे में वक्त काटें, तरह-तरह की भाषाओं में 'अहा, उहू, ओहो' नहीं हुआ तो क्या।

> "माथाय छोट बहरे बड़ बंगाली सन्तान"—

सिर के छोटे और चौड़ाई के बड़े बंगालियों की सन्तानों को रवीन्द्रनाथ ने भी बहुत बनाया है। बंगाल में रवीन्द्रनाथ के द्वेष का एक यह भी कारण है। अँगरेज़ी के उच्चारण में जो संगीत शेली और कीट्स की कविताओं में मिलता है, वही रवीन्द्रनाथ की बंगला की कविताओं में है। शेली ने द्वीप में समुद्र-कन्या की कल्पना की है, रवीन्द्रनाथ ने पृथ्वी में। शेली इस कल्पना को इतने ही पर समाप्त कर देता है, रवीन्द्रनाथ इसका एक अच्छे पद्य में, 50 से ऊपर पंक्तियों में, वर्णन करते हैं। प्रकाशन-ढंग में तो इतना साम्य है कि किसी को भी यह कहते हुए

संकोच न होगा कि शेली को रवीन्द्रनाथ हृदय से प्यार करते हैं। शेली Skylark पर प्रासाद की कुमारी की कल्पना करता है, तो रवीन्द्रनाथ मेघ-माला पर--

"ओगो प्रासादेर शिखरे आजिके
के दिएछे केश एलाये—
कवरी एलाये ?"

['सुधा,' मासिक, लखनऊ, मई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

साहित्य की वर्तमान स्थिति

एक समय था, जब देवतों के चित्र ही चित्रशाला की शोभा बढ़ाने के लिए हमारे देश में अधिक उपयोगी समझे जाते थे। पहले देवतों के चित्र चित्रशाला में भी दिव्य थे, इस पर हमें कोई संशय नहीं। पर उसका यह परिणाम तो अपनी आँखों ही हमने देख लिया कि पुरी के जगन्नाथजी के कटे हाथों और अनेक वर्णों की बिन्दियों से सज्जित गोल आँखोंवाले चित्रों के सामने इस देश के लोग माइकेल एंजेलो की मूर्तियों के फोटो और अवनीन्द्रनाथ की तस्वीरों को किसी मूल्य का भी नहीं समझते ! इससे देव-चित्रों की दशा तथा अन्धविश्वास के प्रत्यक्ष उदाहरण हमारी दृष्टि के सामने आ जाते हैं। हम देव-चित्र उसे ही मानते हैं, जिसके खींचने में, सौष्ठव और भावों में, देव-कला का विकास हुआ हो, न कि उसे, जिसे रातको एकाएक देखकर बालक डर जायँ। जिस चित्र के प्रति अपने ही आप श्रद्धा नहीं होती, वहाँ क्रियात्मक रूप से श्रद्धा लाने का फल यह होता है कि एक दिन शैतान को भी मनुष्य देवता समझकर मस्तक झुका देता है। बालकों के भविष्य-निर्माण की जो दोहाई इस तरह के चित्रों के प्रदर्शन से दी जाती है, हमारा विश्वास है, उससे उलटा ही परिणाम प्राप्त होता है। बालकों का सौन्दर्य-ज्ञान जड़-समेत नष्ट हो जाता है; फिर चित्र में बदशक्ल तस्वीरों के रहने के कारण उनके द्वारा जो सृष्टि होती है, वह बदसूरत हुआ करती है।

ऐसा ही हाल हमारे साहित्य का इस परवर्ती काल में हो गया था, और बहुत अंशों में अब भी है। चित्रों में जिस तरह अब कला का प्रदर्शन ही मुख्य है, और उनके प्रसार में जीव-जन्तु भी आ गये हैं, और यथार्थ चित्रण में अपने परिचय के साथ वे मनुष्यों की सहानुभूति के अधिकारी हैं, उसी तरह साहित्य में भी अब सार्वभौमिक प्रसार है, और नगण्य जीवों में भी प्राप्त करने लायक बहुत कुछ सामग्री साहित्यिकों को मिलती देख पड़ती है। पहले यह बात थी ही नहीं, यह हम नहीं कहते, पर यह जरूर है कि पहले जितनी उदारता थी, इधर उतनी ही अनुदारता का साहित्य में साम्राज्य था, और है। हिन्दी की साहित्यिक सीमा बहुत ही

छोटी है, और कॉलेजों के अधिकांश अध्यापक साहित्य के मुक्त आकाश में उड़ने की शिक्षा विद्यार्थियों को नहीं देते, वे घोंसले में ही उन्हें बैठा हुआ देखना चाहते हैं, जिस तरह कि स्वयं बैठे हैं। जिस साहित्य का सम्बन्ध सार्वभौमिक नहीं, एक दायरे में बँधा हुआ जो अपनी ही पुरानी तान छेड़ता रहता है, अपने ही वाद्य के स्वर में मुग्ध रहता है, और दूसरे देशों से पैदा हुए स्वरों और वाद्यों से सहयोग नहीं करता, उससे कुछ लेने के लायक और उसे भी कुछ देने के लायक अपने साहित्य में कुछ है या नहीं, इसकी छान-बीन नहीं करता, वह संसार की साहित्यिक मण्डली में बैठने का अधिकारी नहीं। हिन्दी में अभी यह बात बहुत थोड़ी है। प्राचीन रूढ़ियाँ जिस तरह भारत के अन्यान्य देशों के साथ सम्मिश्रण की बाधक हैं, उसी तरह हमारा साहित्यिक ज्ञान भी है। प्राय: अधिकांश अध्यापक पुरानी लकीर के फकीर हैं, और जो कुछ नये हैं भी, वे नवीन संस्कृति के अनुकूल नहीं। नवीन सभ्यता में सभी अवगुण नहीं, उसमें गुण भी बहुत हैं। उसके मार्जन में एक खास झलक है, जिससे मनुष्य की आत्मा प्रात:काल के शिशिर से धुले हुए फूल की तरह निर्मल हो जाती है; पर हमारे अध्यापक उसके चित्र से अनभिज्ञ हैं। इसीलिए उनके पढ़ाये जो विद्यार्थी निकलते हैं, उनके मस्तिष्क में प्राचीन संकीर्णता की शिक्षा भरी रहती है। वे हिन्दी के मैदान में बहुत बड़ा साहित्यिक उद्देश, बहुत बड़ी नवीन मौलिक प्रतिभा लेकर नहीं आते। उन्हीं नायिकाभेदों और अलंकारों के कोठों में चक्कर काटकर रह जाते हैं। पर तेली के बैल की तरह आँखों में जो पट्टी बाँध दी जाती है, वह जिन्दगी-भर नहीं खुलती, और वे अपने पूर्व संस्कारों के चक्र के चारों ओर चक्कर काटकर अपनी साहित्य-सेवा समाप्त कर देनेवाले होते हैं। इस पढ़ाई के दोष के कारण उनकी हिन्दी भी उतनी मार्जित नहीं होती, जितनी भाषा के क्रम-विकास के विचार से होनी चाहिए, और काव्य की शिक्षा में हिन्दी के वर्तमान अधिकारियों की सूझ के कारण वे भी व्रजभाषा की मधुरता का स्वाद लेते-लेते ऐसे उद्भट कवि हो-होकर निकलते हैं कि उनकी रचनाएँ देखकर दया आती है। यदि ऐसा न होता, तो अब तक हिन्दी के प्रकाण्ड अध्यापक के विद्यार्थी हिन्दी में कुछ काम भी कर दिखाते। पर काम करनेवाले जितने हैं, उन्हें सौभाग्य से कॉलेजों में अध्यापकों के हाथ से तैयार होने का दुर्योग नहीं मिला। यह हिन्दी के अध्यापकों के लिए कम लज्जा की बात नहीं। जिन नायिकाओं के भेद सदियों पहले निर्मित हुए थे, अब संसार की प्रगति में पड़कर उनसे दूसरी-ही-दूसरी तरह की नायिकाएँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। पर हमारे साहित्य में अब भी उन्हीं पहली नायिकाओं की छान-बीन हो रही है। अभी तक बिहारी और देव की लड़ाई का वह क्रम एक प्रकार जारी ही है, और वह पार्टीबन्दी भी ज्यों-की-त्यों ही चली आ रही है। इसके मानी यह हैं कि इन भलेमानसों को इसके अतिरिक्त और कुछ आता ही नहीं, ये साहित्य को इससे बड़ी विभूति कुछ दे ही नहीं सकते। अलंकारों के न्यास में जो नये-नये तरीके रखकर साहित्य में अलंकारों की नयी प्रभा दिखलायी जा सकती है, उसकी तरफ कितने अध्यापक ध्यान देते हैं, और खंजन-नयनों में किसने वहाँ रूप की आग भर दी और यौवन का वसन्त ला दिया? फल यह हुआ है कि अलंकारों का पिष्टपेषण करते-करते उनकी रही-सही चमक भी अब के प्राचीन

परिपाटी के साहित्य-महारथियों ने गायब कर दी। नवीन युग के तरुण प्रभात के स्वागत के लिए कोई भी तैयार नहीं देख पड़ता। सबकी आँखों में पुराने मोह का आलस्य भरा हुआ है, नवीन जागृति की किरणें नहीं। हिन्दी की दुर्दशा पर तमाम प्रान्तों के लोग मखौल उड़ाते हैं, पर इनके कान में जूँ नहीं रेंगती। हाँ, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने की आवाज उठाने के लिए कहिए, तो ये सबसे ज्यादा चिल्लाने के लिए तैयार हैं, राष्ट्र-भाषा की योग्यता भरने के लिए कहिए, कलेजा तीन हाथ बैठ जायगा, जैसे कोई ग़मी हो गयी हो। लिखते-लिखते लिखते भी हैं, तो पद्माकर और मतिराम की मध्या-धीरा में कौन ज्यादा धीरा और विशेष रूप से पतिपरायणा मध्या है। किसी-किसी पत्रिका में तो चार सौ वर्ष के अज्ञात कवि के छन्द को मुख-पृष्ठ पर छापकर "यू. पी.-पन" की रक्षा की जाती है, और उसके सम्पादक इस "यू. पी.-पन" के प्रचार करने में संकोच भी नहीं करते, जैसे उस चार सौ वर्ष की पुरानी यू. पी. को भविष्य के और चार सौ वर्ष तक कायम रखकर हिन्दी का कोई बड़ा उपकार करना चाहते हों। सच्ची बात जो इस तथ्य के भीतर झलक जाती है, उसे छिपा रखना चाहते हैं। कुछ दिन हुए, महात्माजी ने यू. पी. के हिन्दी लिखनेवालों की निन्दा की थी; उन्हें शुद्ध भाषा लिखने का ज्ञान नहीं, ऐसा लांछन लगाया था। पर हमारे यू. पी. वालों को इससे शर्म नहीं आयी। किसी पत्र ने आज तक उस पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं की, और करें भी कैसे ? पहले तो, हिम्मत का सर्वथा अभाव; दूसरे, किस दृष्टि से महात्माजी ने ऐसा लिखा, उसका ज्ञान नहीं; तीसरे "यू. पी.-पन" की रक्षा भी तो करनी है। अब इतनी बातों का असम्भव उत्तर बेचारे दे भी कैसे सकते हैं; मुँह में पुरानी परिपाटी के चने भरकर नयी शहनाई का बजाना कुछ आसान तो है नहीं, बेचारे पुराने चने ही भरे हुए रह गये। अभी राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर निकला है—"Whyshould we not choose Bengali, which is as easy to learn as Hindi, and much richer in literature." इस वाक्य को हमारे विद्वान् साहित्यिक लोग ज़रा आँखें फाड़कर देखें, और इस प्रकार के साहित्यिक अपकर्ष के कारण की भी तलाश करें। क्या इन सब लांछनों के लगाने की जड़ में हमारे साहित्यिकों की ही अधम मनोवृत्ति नहीं, जिसके कारण साहित्य नवीन प्रकाश की ओर नहीं अग्रसर हो पाता, और जनता को साहित्य का नवीन, मार्जित, परिष्कृत और उज्ज्वल चित्र देखने को नहीं मिलता ?

['सुधा,' मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

विचार के लिएसाहित्य के अनेक रूप हैं। पर इस समय देश की नवीन वाणी जिस रूप को जाग्रत करना चाहती है, वह अपनी व्याप्ति में एक ही महत् विश्वरूप है, देश और काल से निरवच्छिन्न। भारतवर्ष की व्यापक साहित्यिकता, जहाँ अंकुश कोई नहीं, केवल चन्द्र की तरह उज्ज्वश भाव-राशि की पीयूष-वृष्टि है—एक दूसरे के हृदय के स्नेह का स्रोत, शब्दों का श्रवण-सुखद कलरव अधिकांश मनुष्यों को अभिप्रेत नहीं। उनके विचार से यह पराधीन देश के लिए धोखा है। जहाँ पराधीनता का बदला, दूसरों को पराधीन कर, ज्ञात या अज्ञात भाव से, लिया जाता है, वहाँ पराधीन करनेवाले घातक बीज सूक्ष्म रूप से मौजूद रहते हैं। यह उच्च सभ्यता के अनुकूल नहीं। "देश को स्वतन्त्र कर लें, फिर विश्व-मैत्री पर सोचा जायगा; अभी देश ही स्वतन्त्र नहीं हुआ, विश्व-बन्धुत्व की आवाज उठाने लगे, देश की सेवा ज़रा मुश्किल है न, विश्व-मैत्री से क्या बिगड़ता है," आदि-आदि आक्षेप ज़हर से खाली नहीं; इन भावनाओं के रहते देश-सेवा भी विधिपूर्वक नहीं हो पाती। कारण, इस ज़हर का प्रभाव देश के लिए घातक होगा।

पर निरंकुश साहित्यिक और साहित्य, देश, समाज, स्वधर्म, परधर्म तथा विश्व के लिए समान रूप से उपयोगी है। यहाँ जिस तरह "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" था, वैसे ही, योरप में भी, कास्मोपलिटन हुए। पर देश-सेवकों की संख्या अधिक होने के कारण स्वार्थ का बोलबाला ज्यादा रहा। विश्ववाद के कुछ चुने हुए लोग केवल अपने व्यक्तित्व का प्रकाश दिखाकर बुझ गये। साधारण लोग उनके चरण-चिह्नों तक भी नहीं पहुँच सके।

संसार की अशान्ति अनेक प्रकार से वदन-व्यादान करती, बढ़ती, फैलती हुई इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण को पूरा कर चुकी। पर समाज की भावना अब भी हजार शताब्दी पीछे है।

हमारे देश में एकमात्र त्याग के द्वारा अमृतत्व प्राप्त करने की शिक्षा आदि कवि के मर्यादा-पुरषोत्तम श्रीरामचन्द्र के चरित्र से लेकर आधुनिक 'बादशाह राम' (स्वामी रामतीर्थ) के जीवन तक परिमित देख पड़ती है। महात्मा गांधी इस त्याग के शिखर पर खड़े हुए संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य हैं। सन्त-साहित्य भारतवर्ष में इसीलिए अपराजित है। यह विश्व-मैत्री का सच्चा सिद्धान्त है।

पर इससे गृहस्थों को क्या ? गृहस्थों का धर्म त्यागियों के धर्म से बिलकुल पृथक् है। यदि त्यागी ज्ञान के द्वारा समस्त संसार को एक ही दृष्टि से प्रत्यक्ष कर सकते हैं, तो गृहस्थ सहानुभूति, हमदर्दी, ममता तथा अपनाव के द्वारा। गृहस्थ और त्यागियों के आश्रम अलग-अलग हैं, पर ज्ञान पर दोनों का समान अधिकार है।

यह समानअधिकार नहीं रहा। त्यागियों की गृहस्थों पर विजय हुई। कारण, गृहस्थों के हृदय के कमल में कामना के कीट पैदा हो गये। प्रार्थी बनकर उन्होंने त्यागियों के मुकाबले में सिर झुका दिया। परलोक-रहस्य का भी गृहस्थों पर बहुत

बड़ा प्रभाव पड़ा, जैसे हर स्वाभाविक गृहस्थ-दर्शक-नट पर सिनेमा के नटों का प्रभाव पड़ गया हो। वे परलोक के छाया-चित्रों पर विश्वास करने लगे।

इस तरह सन्त-साहित्य का गृहस्थों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। पर मौखरिये की रागिनी से मुग्ध सर्प को ज़रा देर के श्रवण-सुख के पश्चात् चिरकाल की स्वतन्त्रता खो देनी पड़ी। उसकी टोकरी में रहकर उसके इच्छानुसार सर्प को नाचते रहना पड़ा। यह पराधीनता अब संसार के सभी उत्कृष्ट देशों को खलती जा रही है। इस धार्मिक पाश से छुटकारे की आवाज बुलन्द हो रही है। ईसाई गिर्जे से नफरत करने लगे, मुसलमानों ने मसजिदें ढहा दीं, चीनियों ने चोटियाँ काट डालीं। पर हमारे देश में शिखा (चोटी) का झण्डा उसी तरह फहरा रहा है। इस झण्डे के नीचे जितनी बुराइयाँ हुईं, सब उसी तरह ज़ी रही हैं।

अस्तु, सन्त-साहित्य की श्रेष्ठता पर आक्षेप नहीं, आक्षेप है गृहस्थों के धर्म पर। यदि ज्ञान-रहित कर्मों की कवायद ही गृहस्थों के हक में है, तो इससे उन्हें कोई फायदा नहीं पहुँच सकता। और, यह जानी हुई बात है कि 'भरत' के नाम के जप से किसी का भरण-पोषण नहीं हो सकता, इसके लिए काम करना चाहिए। उसी तरह केवल आग में घी जलाकर वायु-शोधन करते रहना मूर्खता ही है; कारण, पहले के इतना अब यहाँ दूध-घी नहीं होता। जहाँ आदमियों को घी-दूध न मिलता हो, वहाँ वायु-शुद्धि से रक्त-शुद्धि अवश्य ही अधिक महत्त्व रखती है, और जबकि बागीचा लगा लेने से, धूप आदि के जलाने से भी वायु-शुद्धि हो सकती है।

खैर, जिस साहित्य की जरूरत पर हम लिख रहे हैं, वह नियमों के पुनर्वर्तन की तरह मस्तिष्क को खाली कर, शरीर पर अधिकार करनेवाला कुछ नहीं। वह मस्तिष्क की उपज है। मस्तिष्क ही उसका स्थान है, और वही मस्तिष्क, जिसे किसी भी प्रकार की शृंखला ने जकड़ नहीं रक्खा।

साहित्य का मार्जन, शालीनता, स्नेह, भावना उसकी उच्चता के प्रमाण हैं। मस्तिष्क में जितनी रोशनी रहेगी, वह उतना स्वच्छ रहेगा, और जितने विचार-रहित कर्म रहेंगे, उतना ही बोझीला। नवीन साहित्य का उद्देश केवल प्रकाश है, जो अनेक रेखाओं से अनेक कार्यों पर पड़ता हो, और प्रत्येक जीवनोपाय को सरल तथा सुगम करता हो। इससे भी उच्च रहकर वह संसार के लोगों को एक ही पदार्थ तथा ज्ञान के सूत्र से बाँध सकता है, और सन्तों के जितने परित्यक्त विषय रहे हैं, उनमें भी सत्य तथा शिव को प्रत्यक्ष कर उनका चित्र अंकित कर सकता है। इस तरह गृहस्थ को अपने ही पैरों खड़े होने की जमीन मिलती है, और साहित्य की श्रेष्ठ आकांक्षा की पूर्ति। उपाध्यायजी ने जैसा लिखा है—

"जो उदारता-सुधा परम रुचि से पी लेगी,
वह क्यों प्रतिद्वन्दिता-सुरा-प्रेमिका बनेगी ?"

इस आर्य-नारी की तरह हमारा साहित्यिक ध्येय जब बृहत् होगा, सार्वभौमिक होगा, तब हम आप ही क़तरे में दरिया प्रत्यक्ष करेंगे।

देश की जिस स्थिति के सुधार के लिए आवाज उठ रही है, उसमें हम यदि कहें, इसका कारण विशाल साहित्य का अभाव है, जिससे पारस्परिक मैत्री दृढ़ नहीं है, तो कदाचित् और स्पष्ट होगा, और उस साहित्य की व्यापकता में देश भी आ जायगा,

जबकि देश संसार से कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। साथ ही हमें स्मरण रखना चाहिए, विशालता कभी क्षुद्रता से धोखा नहीं खा सकती।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

शेली और रवीन्द्रनाथ का दर्शन

भारतवर्ष और योरप में दर्शन के अनेक प्रकार हैं। दोनों जगहों के दर्शनकारों की इधर पचास साल से यथेष्ट आलोचना की जा चुकी हैं, अनेक प्रकार के साम्य और वैषम्य दिखलाये जा चुके हैं। पर भारतवर्ष के त्यागी तत्त्ववेत्ता विद्वान संन्यासियों ने योरप के दर्शन को जटिल उधेड़बुन में पड़ा हुआ अपरिणामदर्शी बतलाया है।

भारत और योरप में दर्शन की जो परिभाषाएँ हैं, उनमें बड़ा अन्तर है। भारत में दर्शन के मानी साक्षात्कार है, सत्य को देखना, केवल विश्वास करना नहीं; पर योरप में ज्ञान की तलाश दर्शन कहलाती है। जहाँ ज्ञान की तलाश है, वहाँ साक्षात्कार नहीं, और जहाँ साक्षात्कार है, वहाँ तलाश नहीं; इस तरह भी दोनों में अन्तर देख पड़ता है।

रवीन्द्रनाथ भारत में पैदा होने के कारण भारतीय दर्शन के विद्यार्थी पहले हैं, पश्चात् पश्चिमी दर्शन के ज्ञाता। रवीन्द्रनाथ अपने ब्राह्मसमाज के अनुसार उपनिषद्दर्शन के माननेवाले हैं। पर उन्होंने अपनी कविता में भारतीय उपनिषद्-दर्शन और पश्चिमी कवियों के प्यार को मिलाकर काव्यमय अपना एक नया ही दर्शन तैयार किया है, जो रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श से मिला हुआ कभी रूपमय है और कभी अरूप; कभी अनेक प्रकार की भंगिमाओं के भीतर से अभीष्ट देवता की पूजा करता है, कभी केवल शून्य "Endless blue" है—

"धूप आपनारे मिलाइते चाहे गन्धे,
गन्ध से चाहे धूपरे रहिते जुड़े।
सुर आपनारे धरा दिते चाहे छन्दे,
छन्द फिरिया छुटे जेते चाय सुरे।
भाव पेते चाय रूपेर माझारे अंग,
रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा।
असीम से चाहे सीमार निविड़ संग,
सीमा चाय होते असीमेर माझे हारा।
प्रलय-सृजने ना जानि ए कार युक्ति,
भाव होते रूपे अविराम जावा-आसा,
बंध फिरिछे खुँजिया आपन मुक्ति,
मुक्ति मागिछे बान्धनेर माझे वासा।"

"धूप अपने को गन्ध में मिलाना चाहती है, गन्ध धूप के साथ मिल रहना। स्वर अपने को छन्द में पकड़ाई देना चाहता है, छन्द लौटकर स्वर में भग जाना। भाव रूप के भीतर स्वरूप-प्राप्ति चाहता है, रूप भाव के भीतर छूट। असीम सीमा का गहरा साथ चाहता है, सीमा असीम में खो जाना। प्रलय और सृष्टि में न जाने यह किसकी युक्ति है कि भाव से रूप में अविराम आना-जाना लगा हुआ है, बन्धन अपनी मुक्ति खोजता फिरता है, और मुक्ति बन्धन में वास-प्राप्ति चाहती है।"

यह अनुलोम-विलोम विचार है, जैसे यहाँ ब्रह्म से रूप और रूप से ब्रह्म तक उतरा-चढ़ा गया है। रामायण इसका प्रामाणिक ग्रन्थ है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही राम के रूप में अवतरित होते हुए लिखा है, और फिर लीला के पश्चात् अपने स्थान को प्रत्यावर्तन करना। इसी भावना को रवीन्द्रनाथ काव्यमय कर देते हैं। पर उनकी दार्शनिकता इस तरह की नहीं। वे योरप के कवियों की तरह प्रेम-दर्शन के भी कवि हैं। कहीं-कहीं मार्जित उपनिषद्भाव लाते हैं।

शेली में प्रेम ही की प्रधानता है, साथ-साथ एक अज्ञात सत्य की जिज्ञासा, कविता में उसी की झलक। शेली की कविता में स्वप्नमय कल्पना-चित्र ही रंगीन पंखों से पक्षी की तरह अज्ञात की ओर उड़ जाते हैं, संसार को स्वर्ग बना देते हैं!

"A Sensitive plant in a garden grew,
And the young winds fed it with silver dew,
And it opened its fan-like leaves to the light,
And closed them beneath the kisses of night,
And the spring arose of the garden fair,
And the spirit of love fell everywhere."

"एक होशमन्द पौधा बगीचे में उगा। युवती हवा इसे चाँदी की ओस पिलाने लगी। इसने पंखों-से अपने पत्रों को प्रकाश की ओर खोल दिया, और उन्हें रात्रि के चुम्बन के नीचे बन्द कर लिया। उस सुन्दर बगीचे में वसन्त आया। सर्वत्र प्यार की शक्ति फैली।"

इस प्यार की शक्ति से शेली को तमाम प्रकृति चेतन देख पड़ती है। यह शेली के दर्शन की आत्मा है। "Love's Philosophy" (प्रेम-दर्शन) में भी दो आत्माओं का मेल ही उसका कहना है। अन्यत्र जहाँ कहीं एक दार्शनिक की तरह थोड़ा-सा उसने लिखा है, वहाँ सत्यानुभूति, जो काव्य की आत्मा के रूप से प्रायः उसमें देख पड़ती है, दब गयी है, और केवल युक्ति का प्राबल्य हो गया है। जैसे—

"I will be wise,
And just, and free, and mild, if in me lies Such power."

"मैं बुद्धिमान्, न्यायशील, स्वतन्त्र और नम्र हूँगा, अगर मुझमें ऐसी शक्ति है।"

यहाँ 'अगर' शक्ति के अस्तित्व पर सन्देह करता है, जिससे कविता में वे प्राण नहीं, जो पहली पंक्तियों में हैं, जहाँ वह सभी को सजीव तथा चेतन देखता

है। 'अगर' की जगह 'जबकि' करने से जोर तो आता है, पर रूप युक्ति ही का रहता है। शेली का दर्शन बहुत जगह काल्पनिक है, पर काव्य सब जगह दर्शन की चेतन-सत्ता से प्रफुल्ल। प्यार का शेली की कविता में बड़ा महत्त्व है—

"Whose eyes have I gazed fondly on
And loved mankind the more ?"

यहाँ अपनी प्रेयसी को लक्ष्य करके कवि कहता है—"किसकी आँखों को अनुरक्ति से मैं देखता रहा, जिससे मनुष्यों को मैं और भी प्यार कर सका ?" अन्यत्र जहाँ जीवन के गूढ़ रहस्यों पर शेली ने लिखा है, वहाँ दर्शन की अपेक्षा काव्य ही प्रधान है, इसलिए सुन्दर है, अथवा दर्शन को काव्य के द्वारा जाहिर करने की शेली ने चेष्टा की है। रवीन्द्रनाथ भी इस प्यार को ग्रहण करते हैं। अनेक भावनाओं में, अनेक छन्दों के आवर्त में, तरह-तरह केरूप ग्रहण कर उनका प्यार, साहित्य के पृष्ठों में, आया है—

"तोमार सौन्दर्य होक मानव सुन्दर
प्रेमे तव विश्व होक आलो।
तोमारे हेरिया जेन मुगुध अन्तर
मानुषे मानुष बासे भालो।"

"तुम्हारे सौन्दर्य से मनुष्य सुन्दर हो, तुम्हारे प्रेम से विश्व प्रभामय, तुम्हें देखकर अन्तर-मुग्ध की तरह मनुष्य को मनुष्य प्यार करे।"

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

कविता में चित्र और भाव

काव्योद्यान में मुख्यत: दो तरह के पुष्प हैं; एक, सीज़नल फ़्लावर की तरह, अनेक रंगों की चमक और सजधज से आँखों में तृप्ति, सुख, चकाचौंध भर देते, दूसरे सिर्फ सफेद सादगी रखने पर भी सुगन्ध से चित्त को चुरा लेते हैं। पहले प्रकार के पुष्प चित्र हैं, दूसरे प्रकार के भाव। दोनों अपरापर इन्द्रियों से एक ही मन को प्रसन्न करते हैं, अत: दोनों में कौन काव्य के ऊँचे स्थान पर है, हम नहीं कह सकते।

एक प्रकार की मिश्रित कविता और है, मिश्र-रागिनी की तरह, जिसके हृदय में भाव भी है, और आँखों में सौन्दर्य का जादू भी। इस प्रकार की रचनाएँ बहुत ऊँचे-दर्जे के कवि कर सकते हैं। ब्रौनिंग और मैत्थू आर्नल्ड-जैसे कवियों को भी इस प्रकार की रचनाओं में साफल्य नहीं मिला। वे काव्य-समुद्र के अतल-स्पर्श तक पहुँचे अवश्य हैं, पर मुक्ता-प्राप्ति उमर, शेली, रवीन्द्रनाथ-जैसे कवियों को हुई

है। उमर खैयाम ने एक जगह भाव-चित्र के मिश्रित रूप पर लिखा है, जिसका हम यहाँ हिन्दी-रूप पाठकों के अवलोकनार्थ रखते हैं—

"जागो, जागो; रात बीत गयी; तरुणी-प्रभात ने आँखों की किरणों के तीरों से रात्रि को बेध डाला है।"

कवि बड़ी खूबी से संसार को प्रकाशाभिमुख कर रहा है। यहाँ भावना भी है, एक किशोरी का ज्योतिर्मय चित्र भी।

प्रभात पर कल्पना करते हुए रवीन्द्रनाथ ने एक जगह चित्र और भावना का निहायत आला चमत्कार दिखलाया है—

"चपल भ्रमर, हे कालो काजल आँखी,
खने खने एसे चले जाव थाकि थाकी।
हृदय-कमल टुटिया सकल बन्ध
बातासे-बातासे मेलि देय तार गन्ध
तोमारे पाठाय डाकी,
हे कालो काजल आँखी!"

"चपल-भ्रमर! हे काले काजल नेत्र! क्षण-क्षण में आ रह-रहकर चले जाते हो। हृदय-कमल समस्त बन्धनों को तोड़ वायु-वायु में अपना गन्ध फैला देता, तुम्हें बुला भेजता है।"

फिर—

"गियाछे आँधार गोपने काँदार राति,
निखिल भुवन हेरो कि आशाय माति
आछे अंजलि पाति।
हेरो गगनेर नील शतदल खानि
मेलिल नीरव वाणी।
अरुण पक्ष प्रसारि सकौतुके
सोनार भ्रमर आसिल ताहार बुके
कोथा होते नाहीं जानी॥
चपल भ्रमर, हे कालो काजल आँखी,
एखनो तोमार समय आसेल ना की?
मोर रजनीर भेंगेछे तिमिर बाँध
पावनिकि संवाद?
जेगे उठा प्राणे उथलिछे व्याकुलता,
दिके - दिके आजि पावनि किसे वारता?
शोनोनि कि गाहे पाखी?
हे कालो काजल आँखी!"

"अन्धकार, निर्जन में रोने की रात बीत गयी। देखो, संसार किस आशा में अंजलि फैला रहा है! आकाश के नील शतदल को भी देखो, उसकी नीरव भाषा खुल गयी। सकौतुक अरुण पंख फैला, कहाँ से, नहीं मालूम, सोने का भौंरा उसके हृदय पर आ गया। हे चपल-भ्रमर, कज्जल-कृष्ण नयन! क्या तुम्हारा समय अब

भी नहीं आया ? मेरी रात के तिमिर का बाँध टूट गया है, क्या तुम्हें संवाद नहीं मिला ? मेरे जगे हुए प्राणों में व्याकुलता की तरंगें छलक रही हैं, तमाम दिशाओं में क्या तुम्हें वह संवाद नहीं मिला ? क्या तुमने नहीं सुना—चिड़ियाँ क्या गाती हैं ?"

यह कविता का सर्वोत्तम सौन्दर्य है । इन पंक्तियों में कवि ने अपना जीवन ही गूँथ दिया है। आकाश के कमल पर सोने का भ्रमर आ गया है, पर कवि की प्रिया, भौंरे-सी आँखें, अभी नहीं आयीं । उनसे वह अपने प्रभात-जीवन की तमाम बातें कह जाता है । पक्षियों के गाने में उसी की स्तुति, प्रशंसा है । रात के तिमिर का बाँध टूट गया, जीवन में प्रभात का प्रकाश है, पक्षियों के मिस तमाम संसार के लोग सभी दिशाओं में उसकी स्तुति करते हैं, पर हाय, उसकी प्यारी वे, न-जाने कौन, भौंरे-सी चंचल आँखें नहीं आयीं; यह भावना और रूप का सार्थक निबाह है । अन्त में, प्रभात के जीवन का परिणाम कवि के भीतर से कितना मधुर, कवित्वपूर्ण प्रकट होता है—

"एल ए आमार मन बिलाबार बेला,
खेलिब एबार सब हाराबार खेला,
जा किछु दिवार राखिब ना आर ढाकी,
हे कालो काजल आँखी !"

"यह मेरा मन लुटा देने का समय आया । अब सब खो देने का खेल खेलूँगा, जो कुछ देना है, अब ढक नहीं रक्खूँगा—ऐ काजल की काली आँखें !"

आँखों को लक्ष्य कर काव्य के स्वप्न-चमत्कार के भीतर से प्रकाश के पथ पर चलता हुआ कवि सर्वस्व दान कर रिक्त हो जाता है ।

भावनामय एक चित्र हिन्दी के सुकवि सेवक का—

"सर-सरिता लौं सब सेवक थलनि जल
सरसि गये ते फेरि सरसन लागे री;
कामना-लता के दल वीर विरहागिनी तें
झरसि गये ते फेरि झरसन लागे री।
जोर जब जागे नये बीजुरी से डोरे लाल
दरसि गये ते फेरि दरसन लागे री;
देखि घनस्याम घनस्याम-से घुमड़ि नैन
बरसि गये ते फेरि बरसन लागे री।"

सेवक का "जोर जब जागे" ज़रा भावना को कलुषित कर देता है, यों लाल डोरों में हमारे प्राचीन साहित्य-प्रेमियों को 'ज़ोर' भले ही दिखलायी पड़ता हो, और बिजली का साम्य ।

"आजु रजनि हम भागे पोहायनु
पेखनु प्रिय - मुख - चन्दा।"

वैष्णव कवि के इस कीर्तन में भाव और रूप, दोनों निर्मल हैं ।

केवल भाव-प्रधान जो कविता होती है, उसमें रूप नहीं होता । भावना की ही चाँदनी रहती है । अधिकांश मनोवज्ञानिक तथा आध्यात्मिक कविताएँ इसी

तरह की होती हैं। वेदान्त के भाव इसी तरह के हैं, पर रूप न रहने के कारण बहुत-से समीक्षक उन पंक्तियों को कविता नहीं मानते।

"तुम मुझे भुला दो मन से,
मैं इसे भूल जाऊँगी,
पर वंचित मुझे न रखना
अपनी सेवा से पावन।"

—सुमित्रानन्दन पन्त

केवल एक भाव की अभिव्यक्ति है, जो सीधे प्राणों में चोट करती है। जहाँ सिर्फ चित्र है, वहाँ कविता की मूर्तिमात्र रहती है—

"तैरे जहाँईजहाँ वह बाल
तहाँ तहाँ ताल में होय त्रिवेनी।"

—पद्माकर

"All touch, all eye, all ear,
The Spirit felt the Fairy's burning Speech."

—Shelley.

रूपसी-सी अप्सरा को दिखाकर भी शेली केवल एक ज्योति-स्पर्श करा जाता है, जो रूप का बहुत ही सूक्ष्म अनुभव है।

मैत्थू आर्नल्ड ने "Consolation" में लिखा है—

"Two young fair lovers,
Where the warm June-wind
Fresh from the Summer-fields
Plays fondly round them,
Stand, traced in joy."

चारों तरफ क्रीड़ा करती हुई ग्रीष्म-समतल की गर्म हवा में पुलकित दो युवक-युवती खड़े हैं। वह तीसरे दर्जे का चित्र है। यद्यपि कवि आर्नल्ड का उद्देश विशद है, तथापि अभिव्यक्ति अनुकूल नहीं हुई। जहाँ दोनों आनन्द से खड़े हैं, वहाँ पाठक को जान पड़ता है, दोनों के प्रेम का तार कट गया है, वह अपने आनन्द में मस्त है, वह अपने में। प्रेमियों के जिस योगसूत्र की काव्य में आवश्यकता थी, वह नहीं रहा। यहाँ दोनों पाजिटिव हैं। पर प्रकृति-गत यह निगेटिव-पाजिटिव का जोड़ा है, जिसके प्रदर्शन में "Consolation" पर लिखनेवाले आर्नल्ड गलती कर गये हैं, खूबी नहीं दिखला सके। यदि वहाँ एक ही आनन्दपूर्वक खड़ा रहता, तो भी इतने अंश की ऐसी ही छटा रहती। दो के रहने के मानी ही हैं शृंगार की पुष्टि, पर चित्र में वैसे रूप की नहीं।

"नव कुसुमों में छिप-छिपकर
जब तुम मधुपान करोगे,
फूली न समाऊँगी मैं
उस सुख से हे जीवनधन!"

—सुमित्रानन्दन पन्त

यह दो प्रेमियों का यथार्थ आदान-प्रदान है। यहाँ तार कटता नहीं, "Consolation" की यथार्थ झलक, निहायत सुन्दर चित्र है। प्रियतम की तृप्ति से ही प्रेमिका प्रसन्न होती है। एक जगह मद्यपान है, दूसरी जगह प्रसन्नता; सिलसिला बँधा हुआ है। पर यदि दोनों एक ही जगह रहकर अलग-अलग मधु पीते और प्रसन्न होते रहते, तो प्रेम की कविता में हास्य-रस की ही अवतारणा हुई होती। आर्नल्ड के चित्र में दोनों मन-ही-मन संयुक्त, आनन्दपूर्वक खड़े हैं। "Traced" को यौगिक कार्य में किसी तरह लाकर अर्थ-शुद्धि कर ली जा सकती है, पर चित्र फिर भी सुन्दर नहीं बन पाता।

कविता-कुमारी की समाराधना कर सिद्ध हुए संसार के बड़े-बड़े साहित्यिक किसी भी बड़े वीर, बड़े सन्त तथा बड़े राजनीतिक से बड़ा महत्त्व रखते हैं। इन्हीं निर्मल चित्रों तथा भावनाओं से धुली हुई आत्माएँ संसार के प्रत्येक प्रदेश के मनुष्यों से साम्य तथा मैत्री-स्थापना का अपार प्रेम भरकर सरिताओं की तरह दिगन्त-विस्तृत हो गयी हैं। मनुष्यों की सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, ममता और करुणा ने सहस्त्रों धाराओं में फूटकर अपने हृदय के अमृत से मनुष्यों को सिक्त कर दिया है। वहाँ जाति, वर्ण और धर्म का विचार नहीं रहा।

हर्ष की बात है, हिन्दी की आँखों में भी अब साहित्य की नयी किरण देख पड़ती है, और उसके कुछ साहित्यिक उच्च साहित्य के निर्माण के लिए, खासतौर से काव्य-साहित्य में, प्रशंसनीय प्रगति दिखला रहे हैं। इसके लिए मानसिक जितना ही प्रसार किया जायगा, साहित्य का उतना ही कल्याण है। पश्चिम के कवियों ने अपर देशों से अपार सहानुभूति प्रकट की है। उनकी आत्माएँ उन्हीं के देश में बँधी नहीं रह गयीं। जो लोग इस तरह की भावना को देश के लिए घातक समझते हैं, वे वास्तव में गलती करते हैं। कारण, प्रसार ही जीवन है। यदि देश की आत्मा तमाम विश्व में व्याप्त हो जायगी, तो वह कभी मर नहीं सकती। सहयोग ही जीवन है। वर्तमान प्रतिरोध में भी प्रकारान्तर से सहयोग ही है। नहीं तो प्रतिरोध किससे? काव्य की भूमि अनन्त प्रसार से ही महान् कल्पवृक्ष को उगा सकती है, जिससे राष्ट्र की सब कामनाएँ सफल होती हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

तुलसी-कृत रामायण की व्यापकता

इस श्रावण की शुक्ला-सप्तमी से महाकवि भक्तराज तुलसीदास गोस्वामी के तिरोधान के 307 वर्ष बीत चुके। कवि और काव्य की दृष्टि से गोस्वामीजी और उनकी अमर रचना रामायण का कितना ऊँचा स्थान है, इस पर एक उक्ति यथेष्ट

है—महात्मा गांधी रामायण को संसार का सर्वश्रेष्ठ काव्य कहते हैं । जिन देश-वासियों की भाषा में यह अमर ग्रन्थ लिखा गया है, उनकी दृष्टि में तो इसके मुकाबले कोई दूसरा ग्रन्थ जँच ही नहीं सकता । पर भिन्न भाषा-भाषियों ने भी, जिन्हें कभी रामायण के पाठ का अवसर तथा सुयोग प्राप्त हुआ है, मुक्त-कण्ठ से इसकी उपयोगिता की प्रशंसा की है। भाषा और भावों के भीतर से यथार्थ हिन्दुत्व के जितने अच्छे चित्र, उदार, सुन्दर और मनोहर, रामायण में मिलते हैं, उतने और कहीं भी नहीं मिलते। जैसे दीर्घकालीन तपस्या के प्रभाव से गोस्वामीजी हिन्दुओं की संस्कृत में मिल गये हों, और इसके बाद इसकी रचना की हो। इतने दिनों की लिखी हुई होने पर भी, सहस्रों बार पढ़ी जाने पर भी, हिन्दी भाषी पाठकों के निकट रामायण नित्य नवीन और नित्य मधुर है, उससे कभी उनका जी नहीं ऊबता, उसकी कथाओं में आज भी वे अपने पारिवारिक जीवन का दैनिक सत्य प्रत्यक्ष करते हैं । आज वेदों का ज्ञान हिन्दी-भाषियों में नहीं रहा, पर रामायण का ज्ञान है । वे वैदिक भूमि से किसी कम दृढ़ भूमि पर नहीं ठहरे । यहाँ भी उन्हें सब शिक्षाएँ, मनुष्य को मनुष्य, देवता और ईश्वर कर देनेवाली कुल बातें, ललित चित्रण के भीतर से, मिलती हैं। जिस किसी तरफ से विचार कीजिए, जैसे राम की सदा प्रसन्नता, सीता की पवित्रता, भरत की गुरुता, लक्ष्मण की ओज, शत्रुघ्न की शूरता, महावीर का महावीर्य, और-और साधुओं, महात्माओं की तपस्या, लोकपावनता आदि सहस्रों निर्मल धाराओं की परिसमाप्ति समुद्र की तरह, रामायण में परिणाम प्राप्त कर, उसे अधिक महत्त्वमयी कर रही है।

भारतवर्ष में आज तक जितने भी धार्मिक वादों का प्रवर्तन हुआ है, उन सबका सहृदय उल्लेख रामायण में है; रामायण की कथा जैसे उन्हीं के सत्यों को साबित कर रही हो, निर्विरोध, उच्च-नीच-भेद-ज्ञान-रहित, केवल क्रम-परिणति पर लक्ष्य रखती हुई । यहाँ हम लीला के भीतर से ब्रह्म तक निर्विवाद चले जा सकते हैं, और ब्रह्म से लीला में उतर सकते हैं । अद्वैत और द्वैत के बीच विशिष्टताद्वैत का आनन्द भी हमें मिलता है । पृथ्वी दुराचारों के भार से व्याकुल है । देवता सन्त्रस्त हैं । सब ब्रह्मा के पास जाते हैं । शिव भी वहीं साथ हैं । श्रीभगवान् की खोज होती है । शिव कहते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना;
प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।
देश-काल दिसि बिदिसिहु माहीं;
कहौ सो कहाँ, जहाँ प्रभु नाहीं ?"

यह रामायण के नायक भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का आदि रूप है, और यही हिन्दू-दर्शनों का सर्वश्रेष्ठ निष्कर्ष, सच्चिदानन्द रूप । रामायण की बुनियाद में भी इसी तरह—राम की बुनियाद की तरह—अखण्ड ब्रह्म है—

"रघुपति-महिमा अगुण अबाधा;
बरनब सोइ वर वारि अगाधा।"

जो जलमय है, वही वीचिमय । इस आधार पर लीला का श्रीगणेश होता है ॥ लीला में प्रकृत चित्रण का समावेश है। भावों को विभु तक उठाये रहने के

अभिप्राय से गोस्वामीजी बार-बार श्रीरामचन्द्रजी को प्रभु और श्री जानकीजी को आदिशक्ति कहकर सम्बोधित करते जाते हैं। साधारण जनों को तत्त्व में आनन्द नहीं आता, वे लीला देखना चाहते हैं। लीला के भीतर यदि उन्हें तत्त्व दिया जाय, तो निस्सन्देह यह सर्वोत्तम उपाय होगा। गोस्वामीजी ने ऐसा ही किया है। लीला में दिव्य शक्ति का प्रभाव है, जिससे पतन का भय नहीं, और उसके साथ-साथ तत्त्व-ज्ञान।

हिन्दुओं के तमाम कृत्य इसी दिव्य शक्ति के परिवर्धन के निमित्त हैं, जिससे मेधा पुष्ट होती है, और मनुष्य को तत्त्व की प्राप्ति होती है। दिव्य गुण-समूहों से अलंकृत होने के कारण रामायण हिन्दुओं का सर्वोत्तम धर्म-ग्रन्थ बन गया, और हर मनुष्य को, जिसके जैसे विचार हैं, जो जैसे फल की आकांक्षा रखता है, वैसी-ही-वैसी खूराक मिलती जाती है।

जिस रहस्यवाद और छायावाद के पीछे आजकल के नवीन और प्राचीन दल प्रचण्ड ताण्डव कर रहे हैं, रामायण उसी की पोषक है। यदि पूछा जाय, जब नारद को मोह हुआ, वह स्वयंवर में विष्णु से रूप माँगकर गये, विष्णु के साथ उस राजकुमारी का विवाह हो गया, नारद को अपने रूप का पता लगा, और उन्होंने विष्णु को कठोर शाप दे दिया—

"तब हरि माया दूर निवारी;
नहिं तहँ रमा, न राजकुमारी।"

यह क्या हुआ?—यह है क्या?—कहाँ गयी वह राजकुमारी?—वह छाया तथा उसका रहस्य?—छायावाद तथा रहस्यवाद?—तो शायद ही कोई पण्डितजी इसका समीचीन उत्तर दे सकें। यों वह तुलसीदासजी को साहित्य-सम्राट् मानने के लिए तैयार हैं, बल्कि कहिए, अपने कुटुम्ब का साबित कर दें, पर कहिए, वह छायावादी थे, रहस्यवादी थे, बिगड़ जायँगे। पूर्वोक्त प्रकार के प्रश्नों के उत्तर माँगिए, सारी विद्वत्ता का भूत उतर जायगा। पूछिए, बालि और सुग्रीव की माता पुरुष से औरत कैसे बन गयी, उनके पास कोई उत्तर नहीं। अस्तु, ऐसे अक्ल के दुश्मनों को क्या कहा जाय, रामायण ओत-प्रोत रहस्यवाद और छायावाद है। एक-एक कथा में रहस्य का समुद्र उमड़ रहा है, एक-एक छाया-रूप में महान सत्य अशरीर, ज्योतिर्मय। हिन्दी में जितनी ही रामायण की आलोचना हो, जनता को कल्याण की प्राप्ति होगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

हिन्दी-साहित्य में उपन्यास (क)

हिन्दी में, भाषा और भावों के बाग में, अभी पतझड़ का ही समय है। जिन डालियों में नये पल्लव, नवीन युग के वसन्त की सूचना के रूप से, निकले भी हैं, उन्हें सत्समालोचन के अभाव के कुहरे ने अन्धकार में डाल रक्खा है, और यह निस्सन्देह अवश्य है कि अभी साहित्य की पृथ्वी पर ऊषा की अस्पष्ट छाया ही पड़ी है, प्रभात का स्नेह-प्रकाश नहीं फैला, अर्थात् यह अभी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का बाल्यकाल है, जहाँ असंयत प्रलाप ही शृंखलित परिचय तथा आलाप की जगह सुन पड़ता है, बालहाथों की अधूरी रचनाएँ रचयिता की मानसिक स्थिति का बयान करती हैं; अभी प्रकृति के विशाल बाग के खुले हुए विविध रंगों के पुष्पों की तरह जीवन, समाज तथा परिस्थितियों के अम्लान-कान्ति कला की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए अपने समय तथा ऋतु के गौरव के रूप से दिगन्त को सुरभित करनेवाले पुष्प नहीं खुले। उन चित्रों में बाल्य की अस्पष्टता ही अधिक है, सफलता का प्रकाश कम।

सृष्टि का सबसे बड़ा कारण परिस्थितियों का रूपान्तर है, अथवा युग का प्रवर्तन। हिन्दी में युग-प्रवर्तन को अपनी तमाम शक्तियों से इष्ट मन्त्र की तरह जपकर बुलानेवाले, उसकी प्रतिष्ठा करनेवाले उपन्यासकार हैं ही नहीं। यह भी एक मुख्य कारण है कि उपन्यास की पृथ्वी पर पतझड़ के बाद जो वसन्त की हवा बहती है उसका स्पर्श भी नहीं मिल रहा, फिर नये रंग, नये चित्र, नयी भरी-पूरी पुष्प-पल्लवमयी शोभा तो बड़ी दूर की बात है। समाज जिस धारा में पहले से बहता आ रहा था, उपन्यासकार अपने को उसी धारा में बहाकर समाज की अवस्था का चित्रण करते हैं। फल यह होता है कि चित्रकारों से चित्रों की ही शक्ति महान् हो जाती है। अत: वे डरे हुए चित्रकार प्राय: असफल ही होते हैं, कारण, पूर्व-आदर्श की महत्ता तक स्वयं उसके चित्रित करनेवाले उपन्यासकार ही नहीं पहुँचे हुए होते। अत: डरे हुए हाथों खिंचे चित्र कहीं-कहीं बहुत बुरी तरह बिगड़ जाते हैं। जब किसी बहती हुई धारा के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहरकर कोई उपन्यासकार कोई नवीन रचना-प्रयत्न करता है, तब वहाँ उसकी प्रकृति में ही उसकी रचना विशिष्ट शक्ति को लेकर प्रकट होती है, इसलिए वहाँ कलाकार का महत्त्व कला से अधिक रहता है, और इसलिए कला भी प्रौढ़ हाथों से विकसित होने की आख्या तथा प्रसिद्धि प्राप्त करती है। हिन्दी में एक तो नवीन परिवर्तन कोई ऐसा हुआ नहीं, दूसरे शिक्षा के अभाव के कारण खेत भी ऊपर ही पड़ा रहा, यद्यपि प्रकृति उस पर नियमानुसार ही वर्षा करती रही; अधिकांश जंगली वृक्षों तथा बबूलों की ही उपज उस पर हुई, कुछ प्रसून भी खुले, जिन्हें जंगली काँटों ने रूँध रक्खा।

हिन्दी के जो सबसे बड़े औपन्यासिक हैं, उन्होंने भी पूर्व-कथन के अनुसार युग-प्रवर्तन करनेवाली रचनाएँ नहीं दीं, युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं—प्राय: आदर्श का पल्ला नहीं छोड़ा। यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की

पुष्टि अपने उल्लंघनों तथा उच्छृंखलताओं के वशीभूत होकर कर जाते हैं, फिर भी रचना में उनके आदर्शवाद की ही विजय रहती है; उनके सितार में वही बोल ज्यादा स्पष्ट सुन पड़ता है। हिन्दी के और-और उपन्यासकारों की हम कोई भी चर्चा नहीं करेंगे। कारण, उनकी रचना में खूबियों की जगह कमजोरियों के ही बीमार चित्र अधिक मिलते हैं। कहीं भाषा रो रही है; कहीं अन्धे भाव को रास्ता नहीं सूझता; कहीं अकारण ही सफे-के-सफे रँग डाले हैं, कहीं चित्र ही की नाक काट ली है। किसी-किसी महालेखक की भाषा तो स्थूलांगी, कुरूपा स्त्री की तरह, देख पड़ती है, जो अपनी जगह से ज़रा भी नहीं हिलना चाहती, और उसी को देख-कर भक्त लोग मुग्ध हो रहे हैं। इस रुचि से हिन्दी की रुचि का भी पता चल जाता है। समाज की पूर्वोक्त रुचि के भीतर पलने के कारण अच्छे उपन्यास को भी एक ही जगह सफलता मिली है—ग्राम्य चित्रों के अंकण में, ग्रामीणों के साधारण चित्रों को असाधारण स्वाभाविकता के साथ खोलने में और मनुष्यमन की छान-बीन में। इतनी ही विभूति हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का ऐश्वर्य है। समाज की अनुकूल धारा में रहकर जो कुछ रत्न हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में आये, वे यही हैं। इनमें लेखनी की तूलिका से, हिन्दी-संसार की स्थिति और भारतीय मनों के विभिन्न परिचय, साहित्य के पृष्ठों में, सफल चित्रों के रूप से, अंकित हुए हैं।

पर यह समाज के ऊँचे अंग का चित्रण नहीं। जब तक चित्रकार स्वयं उसकी उच्चता के शिखर पर पहुँचकर उसकी श्री तथा शोभा में स्वयं आत्म-विस्मृत नहीं हो जाता, अपने वायुमण्डल को तदनुकूल नहीं बना लेता, उसी में अपने जीवन को नहीं घेर लेता, उसी की आत्मा में अपने को नहीं डुबा देता, केवल दर्शक की तरह दूर रहकर, एक दूसरे वायुमण्डल में साँस लेकर, तटस्थ रहकर, उसके चित्रों को सफलता से खींचना चाहता है, तब तक प्रायः सफलता नहीं होती। भीतर एक दूसरी ही सभ्यता रहेगी, और साहित्य में एक दूसरी सभ्यता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर, प्राणों तक पहुँचकर उत्कर्ष प्राप्त करना आकाश पर दीवार उठाना है। इसीलिए हिन्दी के उपन्यासों में और प्रायः सब जगह, अधिकांश चित्र, नवीन सभ्यता, नवीन प्रकाश के प्रदर्शन में असफल ही रहे हैं। अँगरेजी के अनेक भारतीय लेखक, जिन्हें विलायत में ही शिक्षा मिली है, अँगरेजी कविता तथा उपन्यासों के लिखने में प्रायः असफल ही रहे हैं, इसका कारण यही है। उनके हृदय के स्वर से अँगरेजी सभ्यता का स्वर नहीं मिला। कृत्रिमता जाति के प्राणों को नहीं हिला सकती।

जिस बृहत्तर भारत की आवाज उठायी जाती है, खासकर बंगाल के ब्राह्म-समाज में, उसका नक्शा उनके दिलों में इसी आधार पर खिंचा हुआ है। जो लोग कुछ तह तक पहुँचकर चित्रों को तोल सकते हैं, वे जानते हैं कि इस आवाज के अनुकूल चलना अभी भारत के अधिकांश जन-समूह के लिए असम्भव है। पर यह है एक बड़ी सुन्दर धारणा अवश्य, और सत्य का आश्रय लेकर प्रतिष्ठित हुई जान पड़ती है। भारत के लिए यह नयी बात नहीं। शकुन्तला जंगल में रहती है। पर कालिदास की लेखनी से जिस शकुन्तला का चित्र अंकित होता है, वह सभ्य-से-सभ्य मनुष्य के हृदय पर अधिकार कर सकती है। वजह वही, कालिदास सभ्यता

के अन्तिम सोपान तक पहुँचकर वहाँ अपनी सत्ता को मिलाना जानते थे। आज हिन्दोस्तान के वे गौरव के दिन नहीं रहे, इसलिए सिर उठाते वक्त सिर पर रक्खा हुआ सदियों की दासता का बोझ नीचे दबा देता है, और दुर्बल मनुष्य, शक्ति के अभाव के कारण, शक्तिवालों की बराबरी नहीं कर पाता—सिर झुका लेता है—वे कमजोरियाँ फिर उस समुदाय पर सवार हो जाती हैं। इसलिए उन औपन्यासिकों की रचनाएँ भी उन्हीं की तरह सिर के दुर्वह भार की ही सूचना देती रहती है। आँख उठाकर देखने के अभाव से उनके कल्पित चित्र भी नेत्र-हीन होते हैं, लक्ष्य-भ्रष्ट और पतित।

राजनीति के मैदान में, जिस तरह बड़ी-बड़ी लड़ाइयों के लिए सिर उठाना आवश्यक है, उसी तरह साहित्य के मैदान में भी है, और चूँकि अभी इस लड़ाई का हमारे साहित्य में कहीं भी नज्जारा नहीं देख पड़ता, इसलिए साहित्य के मुख्य चित्रण-अंग उपन्यासों की भी दुर्दशा है। "वह रोटी पकाती थी, बर्तन मलती थी, धुएँ में परेशान हो रही थी" आदि चित्र समाज के ऊँचे अंग के चित्र नहीं और इन देवियों में अपार भारतीयता का प्रदर्शन कर आदर्श की पराकाष्ठा पर काष्ठ की तरह निश्चल बैठे हुए हिन्दू-समाज को हिला देना भी हमारा उद्देश्य नहीं। कारण, हम किसी का घोंसला नहीं छीनते। हाँ, कहेंगे, घोंसलेवाले हमें घोंसलेवाले ही दीखते हैं, और उनके चित्र वर्तमान उन्नत समाज के मुकाबले वैसे ही अधम।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

हिन्दी-साहित्य में उपन्यास (ख)

हिन्दी में भाषा और भावों के बाग में, अभी पतझड़ का ही समय है, जिन डालियों में, नये पल्लव, नवीन वसन्त की सूचना के रूप में निकले भी हैं, उन्हें सत्समालोचन के अभाव के कुहरे ने अन्धकार में डाल रक्खा है और यह भी निस्सन्देह है कि, अभी साहित्य की पृथ्वी पर उषा की अस्पष्ट छाया ही पड़ी है—प्रभात का स्नेहप्रकाश नहीं फैला; अर्थात्—यह अभी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का बाल्यकाल है, जहाँ असंयत प्रलाप ही शृंखलित परिचय तथा आलाप की जगह, सुन पड़ता है। बाल-हाथों की अधूरी रचनाएँ ही हैं जो रचयिता की मानसिक स्थिति का बयान करती हैं; अभी प्रकृति के विशाल बाग के खुले हुए विविध रंगों के पुष्पों की तरह, समाज तथा परिस्थितियों के अम्लान, कला-कान्ति की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए, अपने समय तथा ऋतु के गौरव के रूप से दिगन्त को सुरभित करनेवाले प्रसून नहीं खुले, उन चित्रों में बाल्य की अस्पष्टता ही अधिक है, सफलता का प्रकाश कम।

सृष्टि का सबसे बड़ा कारण परिस्थितियों का रूपान्तर है अथवा युग का प्रवर्तन। हिन्दी में युग के प्रवर्तन को अपनी तमाम शक्तियों से इष्टमन्त्र की तरह जपकर बुलानेवाले, उसकी प्रतिष्ठा करनेवाले उपन्यासकार हैं ही नहीं। उपन्यास की पृथ्वी पर पतझड़ के पश्चात् जो वसन्त की हवा बहती है, उसका स्पर्श ही अभी नहीं मिल रहा है, फिर, नये रंग नये चित्र, नयी भरी-पूरी पुष्प-पल्लवमयी शोभा तो बड़ी दूर की बात है। समाज जिस धारा में पहले से बहता हुआ आ रहा था, उपन्यासकार उसी धारा में बहते हुए समाज की अवस्था का अपने अधूरे प्रयत्नों से, अधूरी भाषा से, चित्रण करते आये, फल यह हुआ कि हर जगह चित्रकारों से उनके उन चित्रों की ही शक्ति महान् रही है, अतः डरे हुए दुर्बल चित्रकारों के प्रयत्न प्रायः असफल ही रहे हैं; कारण, पूर्व आदर्श की महत्ता तक न वर्तमान समाज ही पहुँचा हुआ है और न उसके चित्रित करनेवाले चित्रकार। स्वप्न की अस्पष्ट रेखा की तरह उसके खींचे हुए प्राचीन बड़े आदर्श के चित्र वर्तमान जागृति के प्रकाश में छाया-मूर्तियों में ही रह गये हैं, जिनके साहित्यिक अस्तित्व से अनस्तित्व ही प्रबल है। जब तक किसी बहते प्रवाह के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहरकर कोई उपन्यास नयी-नयी रचनाओं के चित्र नहीं दिखलाता, तब तक न तो उसे साहित्यिक-शक्ति ही प्राप्त होती है और न समाज को नवीन प्रवहमान जीवन; तभी रचना विशेष शक्ति तथा सौन्दर्य से पुष्ट होकर नवीनता का आवाहन करती है, कला भी साहित्य को नवीन ऐश्वर्य से अलंकृत करती है, कलाकार कला से अधिक महत्त्व प्राप्त करता है, अथवा वह कला का अधिकारी समझा जाता है, न कि किसी प्रवाह के साथ बहनेवाला, केवल एक अनुसरणकारी। हिन्दी में एक तो नवीन परिवर्तन कोई ऐसा हुआ ही नहीं, दूसरे शिक्षा के अभाव के कारण खेत भी ऊसर ही पड़ा रहा, यद्यपि प्रकृति उस पर नियमानुसार ही वर्षा करती रही। वहाँ अधिकांश जंगली वृक्षों तक बबूलों की ही उपज हुई, कुछ प्रसून भी खिले, जिन्हें जंगली काँटों ने ही रूँध रक्खा।

प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े औपन्यासिक हैं; पर पूर्वकथन के अनुसार, युग को नये साँचे में ढाल देनेवाली रचनाएँ उन्होंने नहीं दीं, युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं। प्रायः आदर्श को नहीं छोड़ा। यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की पुष्टि अपने उल्लंघनों तथा उच्छृंखलताओं के भीतर से कर जाते हैं, तथापि रचना में उनके आदर्शवाद की ही विजय रहती है, उनके सितार में वही बोल विशेष रूप से स्पष्ट सुन पड़ता है। हिन्दी के और-और उपन्यासकारों की मैं कोई चर्चा नहीं करूँगा; कारण उनमें खूबियों की जगह कमजोरियों के ही बीमार चित्र अधिक मिलते हैं। कहीं भाषा रो रही है, तो कहीं अन्धे भाव को रास्ता नहीं सूझता; कहीं अकारण ही सफे-के-सफे रँग डाले हैं, तो कहीं कर्कशता की छुरी से चित्रों की नाक ही काट ली है, किसी-किसी महालेखक की भाषा तो ऐसी स्थूलांगी है, कि जगह से हिलना भी नहीं चाहती—"चलना हराम इसे उठना कसम है" और वहीं से, दूसरों को रिझाने के लिए अपने उपले-से मुँह की मक्खियों-सी आँखों से इशारे करती है। तारीफ यह कि उस पर मर-मिटनेवालों की भी हिन्दी में कमी नहीं। इस रुचि से हिन्दी के अधिकांश मनुष्यों की रुचि भी मालूम पड़ जाती है।

सफल उपन्यासकार यदि कोई निकाला जाय, तो प्रेमचन्दजी ही देख पड़ते हैं, बहुत अंशों में कहा जाय या कुछ अंशों में, समाज की पूर्वोक्त रुचि के भीतर पलने के कारण प्रेमचन्दजी को एक ही जगह सफलता मिली है—ग्राम्य चित्रों के खींचने में, ग्रामीणों के साधारण चित्रों को असाधारण स्वाभाविकता के साथ खोलने में और मनुष्य-मन की छानबीन में भी। समाज की अनुकूल धारा में रहकर जो कुछ रत्न उन्होंने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य को दिये, वे यही हैं। इनमें उनकी लेखनी से, हिन्दी-संसार की स्थिति और भारतीय मनों के विभिन्न परिचय साहित्य के पृष्ठों में सफलता के साथ अंकित हुए हैं।

पर यह समाज के ऊँचे अंग का चित्रण नहीं। जब तक चित्रकार स्वयं उसकी उच्चता के शिखर पर पहुँचकर उसकी श्री तथा शोभा में स्वयं आत्म-विस्मृत नहीं हो जाता, अपने वायुमण्डल को तदनुकूल ही नहीं बना लेता, उसकी आत्मा में अपने को नहीं डुबा देता, केवल दर्शक की तरह दूर रहकर एक दूसरे वायुमण्डल में साँस लेकर, तटस्थ रहकर उसके चित्रों को सफलता से खींचना चाहता है, तब तक प्रायः वह असफल ही होता है। भीतर एक दूसरी ही सभ्यता रहेगी, तो साहित्य में एक दूसरी सभ्यता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर, प्राणों तक पहुँचकर उत्कर्ष प्राप्त करना आकाश पर दीवार उठाना है। इसीलिए, हिन्दी के उपन्यासों में और प्रायः सब जगह, नवीन सभ्यता और नवीन प्रकाश के प्रदर्शन में अधिकांश चित्र "**प्रांशुलभ्ये-फले मोहादुदबाहुरिव वामनः** रह गये हैं। अँगरेजी के अनेक भारतीय लेखक, जिन्हें विलायत में ही शिक्षा मिली है, अँगरेजी में कविता तथा उपन्यासों के लिखने के प्रयत्न में प्रायः असफल ही रहे। इसका कारण यही है, उनके हृदय के स्वर में अँगरेजी सभ्यता का स्वर नहीं मिला। कृत्रिमता जाति के प्राणों को नहीं हिला सकी।

जिस बृहत्तर भारत की आवाज उठायी जा रही है, खासकर बंगाल के ब्राह्म-समाज में, उसका नक्शा वहाँ के लोगों के दिलों में इसी आधार पर खिंचा हुआ है। जो लोग कुछ तह तक पहुँचकर चरित्रों को तौल सकते हैं, वे जानते हैं, कि इस आवाज के अनुकूल चलना अभी भारत के अधिकांश जनों के लिए असम्भव है; पर है यह एक बड़ी बात, जिसमें भारत के उठने की ओर ही इशारा किया गया है और सत्य के आश्रय पर प्रतिष्ठित है। अवश्य भारत के लिए यह नयी बात नहीं। कारण यहाँ समाज के बृहत्तम चित्र मिलते हैं, साथ ही भाषा की शक्ति ललित मधुरता। शकुन्तला जंगल में रहती है पर कालिदास की लेखनी से उससे जिस स्वरूप की छटा निकलती है, वह सभ्य-से-सभ्य मनुष्य के हृदय को अधिकृत कर लेती है। कारण यह कि कालिदास भारत के स्वतन्त्रकाल के कवि थे और भारतीय आदर्श के अनुकूल ही उनकी भाषा मँजी हुई थी और बृहत् चित्र के ध्यान में वे अपने को मिला सकते थे, आज हिन्दुस्तान के वे गौरव के दिन नहीं रहे, इसलिए सिर उठाते वक्त लेखकों को सदियों की दासता का भार दबा लेता है और ये शक्ति के अभाव के कारण शक्तिवालों से मुकाबला नहीं कर सकते—शक्ति संयुक्त भाषा नहीं लिख सकते—पुष्ट चित्र नहीं खोल सकते। उनकी रचना उन्हीं की तरह सिर के दुर्व्यवहार की सूचना देती है। हमारे उपन्यास-साहित्य का यही हाल है। समाज

की तरह रचनाओं की निगाह भी अधोमुख हो रही है। आँख उठाकर देखने के असामर्थ्य के कारण उनके चित्र भी नेत्रहीन हो रहे हैं, लक्ष्यभ्रष्ट और पतित। राजनीतिक मैदान में जिस तरह बड़ी-बड़ी लड़ाइयों के लिए सिर उठाना आवश्यक है, उसी तरह साहित्य के मैदान में भी है, और चूँकि अभी इस लड़ाई के, हमारे साहित्य में, कहीं भी, दृश्य नहीं देख पड़ते, इसलिए साहित्य के मुख्य चित्रण-अंग उपन्यासों की यह दुर्दशा है। नयी सृष्टि कोई मामूली बात नहीं। राजनीति के महात्याग से वह कम महत्त्व नहीं रखती। कारण, इस सृष्टि में भी बाहर की तमाम गन्दगी से संग्राम कर हृदय से एक प्रस्फुट चित्र निकालने में वैसी ही अड़चनें आती हैं और सफलता से वैसा ही सुख भी प्राप्त होता है जैसा कि बाह्य स्वतन्त्रता द्वारा। "वह रोटी पकाती थी, इधर उसका बच्चा रोने लगा" यह सब समाज के ऊँचे अंग के चित्रण नहीं, चित्रों तथा मनोभावों को तमाम अंगों से लाकर एक मनोहर समाप्ति में विराम देना ऊँचे अंग की सृष्टि है, देवियों के वर्तमान चित्रण में अपार भारतीयता का प्रदर्शन कर, आदर्श की पराकाष्ठा पर काष्ठ की तरह बैठे हुए हिन्दू-समाज को हिला देना मेरा उद्देश नहीं; कारण, मैं किसी का घोंसला नहीं छीनता, इतना ही कहूँगा, घोंसलेवाले घोंसलेवाले ही हैं और उनके चित्र, चित्रण, चरित्र वर्तमान उन्नत समाजों के मुकाबले में वैसे ही अधम।

[पिछली टिप्पणी का किंचित् संशोधित रूप। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

भाव और भाषा

हिन्दी के भाग्य से साहित्य के क्षेत्र पर पहली ही वृष्टि ने अनेक पौदे उगा दिये। पर उनके अधिकांश बाँस वंशलोचन पैदा करने की जगह फाँस ही बनकर रह गये। जिस शून्य दृष्टि को प्रकृति अपने चमत्कार भरने का कोष समझती है, वह अपनी चमक को छोड़ अहंकार ही भरकर तेज-दृप्त कहलाने पर तुल गयी। दूसरों को साधनाजन्य भाव तथा रूप देकर प्रसन्न करने की जगह कठोर चितवन से स्तम्भित करने का इरादा आ गया। इस तरह साहित्यिक को अनधिकारी जान रचनात्मिका प्रकृति ने संग छोड़ दिया। उबलकर कुछ दिनों तक तो गर्म पानी की तरह फूटते रहे, पर आँच जब धीरे-धीरे घट गयी, तब प्राकृतिक नियम को सत्य कर आप ही ठण्डे पड़ गये, साहित्यिक जीवन समाप्त हो गया।

साहित्य के सितार को हर वक्त चढ़ा रखने से जगह-जगह की जो टक्करें तारों में लगती हैं, उनसे तार ढीले पड़ जाते या हमेशा के लिए टूट जाते हैं। फिर वे इच्छानुसार नहीं बजते। उनका स्वर भी मन्द पड़ जाता है। इसलिए बाह्य संसार से आलाप-परिचय के समय साहित्य के सितार को उतारकर ही मिलाना चाहिए।

अधिकांश नवयुवक साहित्यिक दूसरों से वार्तालाप के समय खासतौर से तार कस लेते हैं, और अपनी झंकार से दूसरे को मात करने पर अड़ जाते हैं। दूसरे को उनके अपार साहित्यिक ज्ञान से कहाँ तक मतलब है, सहयोग है, कुछ है या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं करते। इतनी बड़ी अशिष्टता का प्रकृति जब ब्याज-समेत ऋण वसूल करती है, तब उनका एक ही किश्त में दिवाला निकल जाता है।

बहुत-से लोग काव्य की साधना करते-करते कुछ ही दिनों में तारीफ की साधना करने लगते हैं। उनका लक्ष्य काव्य-रचना की ओर जितना नहीं, प्रशंसा पाने की ओर उससे दस गुना ज्यादा रहता है। हिन्दी में जितने शेली, कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, टैगोर और खय्याम हैं, शायद खय्याम ही की तरह कुछ रुबाइयाँ लिखकर खत्म हो गये। तारीफ ने ऐसी मार दी कि तरह बदल गयी। काव्य सोचते हैं, तो चित्रों की जगह तारीफ करनेवालों के मुँह मुलकते हैं। जोश ठण्डा पड़ जाता है। पंक्तियाँ शिथिल, अपनी ही ग्राँखों की मरीज मालूम पड़ती हैं। भाव गया, शब्दों के कसीदे काढ़ने लगे। यह दशा बहुत ही चिन्तनीय है।

भाव और चित्र कोई भी कवि दूसरी भाषा से प्राप्त कर सकता और उनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन कर अपनी चीज कर सकता है। पर यह काव्य की कोई बहुत बड़ी उपज नहीं। और, इस तरह किसी भाषा को कभी कोई बहुत बड़ी चीज नहीं मिल सकती। चित्रों को कुछ देर तक अपने ही भीतर रखकर कवि को देखना पड़ता है, उनके सौन्दर्य की जाँच करनी पड़ती है, उनकी कैसी छवि हो, तो वे और चमकें, इसके निर्णय की योग्यता बढ़ाने के लिए अपने को काफी मार्जित कर लेना पड़ता है, तभी उनको बाहर चमत्कृत रूप से रखने में उसे सफलता मिलती है। इन विचारों के साथ एकदेशीय तथा व्यापक विचार भी वैसे ही सम्बद्ध हैं, जैसे एक देश के साथ तमाम पृथ्वी, अतएव उनका ज्ञान भी कम आवश्यक नहीं। बड़े-बड़े कवियों की खूबियाँ, उनकी विशेषताएँ भी मालूम रहनी चाहिए। उनके साथ सबसे अधिक आवश्यक है, भाव-प्रवणता, जो साफल्य की एकमात्र कुंजी है। दिग्दन्ती की तरह काव्य की पृथ्वी को अपने कलम के दाँत पर हिलाते रहने से काव्य के भूकम्प की जितनी सम्भावना है, और इससे नाश की, उतनी सृष्टि-सौन्दर्य की आशा नहीं, न किसी दूसरे के अनिन्द्य अंकित वारांगना का ध्यान काव्य में अप्सरा-लोक रच सकता है। सम्भव है, उस वारांगना की रूप-चिन्ता से चित्र भीतर ही रह जाय, और बाहर काव्य में जहर का ही स्रोत फूट पड़े, साहित्यिक वैतरणी पार करने की चिन्ता में पड़ जायँ। इसीलिए भाव सभी साहित्यों की तरह काव्य-साहित्य का भी सम्राट् है। शब्दों के सैन्य का यह सेनापति है। उनकी जाँच इसी के हाथ रहती है। फिर कोई शब्द एक-एक जरूरत पर भर्ती किये गये रंगरूट की तरह काव्य में नहीं आ सकता, वहाँ उसके शिक्षित सिपाही लड़ते हुए मिलेंगे। जरूरत पड़ने पर नये रंगरूट को भी वह शिक्षित कर मैदान में रक्खेगा। भाव जिस जमीन पर रहता है, प्रशंसा उसी को ढहाती है। एक बार जमीन ढही कि भाव की जगह प्रशंसात्मक अभिमान ने ली। फिर इसके रोचक जाल के भीतर भाव को कवि जितना भी बुलाये, वह स्वतन्त्र वीर आ नहीं सकता। फिर कवि के हाथ सिर्फ शब्दों का खेल, कुछ सीखी हुई कारीगरी रह जाती है, जिसे दूसरे पाठक के

हृदय का भाव किसी तरह भी ग्रहण नहीं करता। भाव पर भाव का ही प्रभाव पड़ता है, और किसी का नहीं।

भाव के बाद काव्य के अन्यान्य अंग हैं। स्वाभाविक भावुक कवि प्रशंसा कभी पसन्द नहीं कर सकता। सन्तों के साहित्य का इसीलिए इतना महत्त्व है, और उनके शब्द प्राणों के इतने नजदीक पहुँचे हुए, जैसे वे आत्मा से बातें कर रहे हों। कोई फाँस नहीं, कोई कर्कशता नहीं। प्रशंसा के परमाणु किस तरह भाव के वाष्प को उड़ाकर अपनी चाटुकारिता से आत्मा को प्रसन्न कर बहिर्मुख कर देते हैं, इसकी हर मौके पर आजमाइश की जा सकती है, कोई कर सकता है, और इस प्रशंसा से प्रसन्न न होना, रुष्ट भी नहीं, इसे दबा लेना कितना कष्ट-साध्य है, इसकी भी परीक्षा हमारे मित्र कर सकते हैं। कुछ अच्छा लिखने लगे, लोगों ने प्रशंसा से गुद-गुदाया, अच्छा लगा, "फिर अच्छा लगे" की आशा हुई कि दो ही चार महीने में ठण्डे। निस्तैल दीपक फिर नहीं जल सकता।

अनेक अध्ययन तथा विचार के पश्चात् अभिव्यक्ति के लिए निश्चित की हुई रीतियाँ कला-प्रख्यात हैं। भाव-शून्य कला वैसी ही है, जैसे बल-शून्य दाँव। इससे प्रतिपक्षी गिर नहीं सकता। कला अपने आसन पर साम्राज्ञी के अतुल वैभव तथा ऐश्वर्यमयी कान्ति से तभी बैठ सकती है, जब वह पार्वती की तरह भाव के शिव की अर्धांगिनी बन रही हो। उसका रूप तभी मनोहर है, उसमें तभी चमत्कार है, जब याद किये हुए दाँव-पेंचों की तरह अपने वक्त पर भाव के आवेश में आप निकल गयी हो। गवैए कितने ही कलाविद् हों, हर गाने की जान से परिचित हों, वक्त की चीजें गाते हों, पर यदि भाव का माधुर्य गले में नहीं, तो सारी कला चक्की की पिसाई और संगीत सिंह-नाद है।

भाव के साथ कला और कला के साथ भाषा सम्बद्ध है, जैसे क्रम-विकास के सूक्ष्म-स्थूल तीन रूप, एक ही वाक्य में, अपना विवेचन करा रहे हों। भावात्मक चित्र या अभिव्यक्ति के लक्ष्य पर चलती हुई भाषा कभी शिथिल नहीं हो सकती। वह निराभरण, निरलंकार भले ही हो, उसमें दैन्य के लक्षण नहीं मिल सकते। उसकी गति सधवा-साध्वी की गति है। सालंकार होने पर भी यदि गणिका की गति में कला-जन्य भंगिमाओं के अतिरिक्त दूसरा विशद उद्देश नहीं, तो वे अलंकार और वह कला पाठकों के मानसिक सूर्य के प्रकाश में प्रदीप की तरह निष्प्रभ, साहित्य की भूमि पर गौरी के गले की मन्दार-माला से टूटकर मदारों के विष-गन्ध फूल हैं।

जब हिन्दी कैसी हो, उर्दू कैसी हो तो हिन्दीवाले अपनायें, हिन्दी के मुहावरों के प्रयोग पद्य में कैसे हों, इस प्रकार की विचारात्मक बातें प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में समर्थित होती रहती हैं, उस समय लेखकों और सम्पादकों के काव्य-ज्ञान का रहा-सहा भ्रम बिलकुल दूर हो जाता है। पद्य साहित्य की रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी पड़ती है। तअज्जुब क्या यदि कुछ दिनों में इन्हीं का सिखलाया हुआ सत्याग्रह इन्हीं की इस प्रगति को रोकने के लिए कवियों को करना पड़े?

ग़ालिब और रवीन्द्रनाथ ऐसे कवि हैं, जिनके काव्य में भाव की ही प्रधानता है। बायरन में ओज, कीट्स में माधुर्य, वर्ड्स्वर्थ में प्रकृति-चित्र, शेली में कल्पना,

काव्य-लालित्य और सुकुमारता (delicacy), टेनीसन में सादगी-सफाई; ये इन कवियों के प्रधान गुण हैं। संस्कृत-साहित्य में कालिदास श्रीहर्ष की पंक्ति में नहीं बैठ सकते, यदि काव्य के केवल बाह्य लक्षण, कला और भाषा पर विचार किया जाय। पर जहाँ अलंकृत न होने पर भी अपनी सरल, भावमयी दृष्टि से कविता-कुमारी अपने ऊँचे सौन्दर्य का परिचय दे सकती है, लोगों को अपने तुले हुए अच-पल पदक्षेपों से अपार शोभा दे सकती है, वहाँ कालिदास अनतिक्रम्य महाकवि हैं। यदि कुछ देर के लिए दर्शनशास्त्र को भी काव्य मान लें, और तुलना करें, तो शंकर के सामने कोई भी भाष्यकार नहीं टिकते। शंकर भाव में जितने ऊँचे हैं, भाषा में उतने ही सरल। दूसरे भाष्यकारों ने वहीं, उसी सूत्र में, अपनी शब्दों की गुरियाँ इतनी ठोस पिरो दी हैं कि मन्त्र को जपकर सिद्ध करने के लिए वे उँगलियों में अलग-अलग आतीं ही नहीं। लोग समझ जाते हैं, यह दुर्बल के समर्थन का प्रबल उपाय है।

'विशाल-भारत' ने जिस तरह पद्यकारों की सफरमैना की पलटन निकाली है, अगर कुछ दिन भी साहित्य में यह साहसिकता जारी रही, तो भाषा की सफाई तो होगी ही, भाव भी साफ हो जायेंगे। फिर साहित्यिकों का साहित्य से भी कोई मतलब रहेगा या नहीं, हम नहीं कह सकते, सेवा अवश्य रह जायगी।

हिन्दी के लिए ऊँचे स्वर से चीत्कार करनेवाले बहुत हैं, पर शान्तिपूर्वक काम करनेवाले दो ही एक। चित्त के आकाश में असंख्य भाव हैं, पर उन्हें शुद्ध होकर ग्रहण करनेवाला कोई नहीं। सहस्त्रों शृंखलाओं से जकड़े हुए, अट्ठारह साल में तीन बच्चे के बाप, नौकरी के लिए सिर लटकाये हुए दर-दर की खाक छाननेवाले हिन्दी के कवि और महाकवियों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कोई बहुत बड़ा साहित्यिक कार्य कर डालेंगे, शुद्ध-शान्त होकर हज़रत मूसा की तरह भाव का स्वर्गीय प्रकाश देखेंगे, भाव के बृहत्तम आधार हो सकेंगे, साहित्य की श्री-वृद्धि कर सकेंगे। जिन्हें अपनी ही चिन्ता से फ़ुरसत नहीं, जो अपनी ही बला नहीं टाल सका, वह दूसरे को कौन-सा पारिजात लाकर दे देगा?—दूसरे की बेड़ियाँ क्या खोलेगा? मुक्त, निश्चिन्त जीवन ही भावों को पकड़ सकता है, सौन्दर्य की परियों की छवि स्वर्ग से उतारकर काव्य को अर्पित कर सकता है।

हमारे देश में जीवन की जटिलताओं से दूर, सुख के मृदुल अंक में पले हुए अनेक महाराज, राजाधिराज और तअल्लुकदार हैं, जिनके हृदय में तृष्णा की जगह साहित्य की प्यास हो, तो साहित्य अनेक अंशों में उपकृत हो जाय, पर वे साधारणजनों से भी तुच्छ हो रहे हैं। बृहत् जब छोटे दायरे में आता है, तब शक्ति स्वयं उससे बृहत् की सृष्टि करा लेती है। इसी तरह छोटा भी बृहत् के वृत्त में पहुँचकर बृहत्तम सृजन-संस्कार पैदा कर लेता है। पर हिन्दी के लिए तो वह स्वर्ग अभी अप्राप्य-सा दीख पड़ता है। कब वह तूफान इस साहित्य में उठेगा, ईश्वर जाने।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

महात्माजी का कहना है कि तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की तरह के कवि सदियों बाद कभी किसी साहित्य में आते हैं। हिन्दी-साहित्य के गोस्वामी तुलसीदास और बंग-साहित्य के श्री रवीन्द्रनाथ महाकवि हैं। आज विज्ञान-पुलकित पाश्चात्य संसार रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा से स्तम्भित है। गोस्वामी तुलसीदासजी को तीन सौ शताब्दियाँ पूरी हो गयीं। दोनों भिन्न-भिन्न समय के महाकवि हैं। दोनों के जीवन की प्रगतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। काव्य की प्रतियोगिता में कौन बड़ा है, यह बतलाना एक के प्रति पक्षपात करना है। हम दोनों को पूर्ण महाकवि मानते हैं। दोनों की यह पूर्णता दो विभिन्न भुजों से हुई है। गोस्वामीजी का काव्य-चमत्कार भक्ति के भीतर से है, वह भक्त कवि हैं। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ मानवीय स्फूर्ति के भीतर से गुजरे हैं, वह केवल कवि हैं। भक्ति के भीतर से गोस्वामी तुलसीदासजी का जो लक्ष्य रहा, मानवीय स्फूर्ति, सौन्दर्य और भावनाओं के भीतर से वही रवीन्द्रनाथ का। भक्तिरस से परिप्लावित लोकोत्तरानन्ददायक चित्रों के खींचने में तुलसीदास अद्वितीय हैं, अपार सौन्दर्य और विराट् चित्रण के भीतर से काव्य और दर्शन का रंग चढ़ाकर चित्रांकण करते हुए सत्य के द्वार तक ले जाने में रवीन्द्र-नाथ अद्वितीय। अतिमानवीय शक्ति पर तुलसीदास तो विश्वास करते ही हैं, रवीन्द्रनाथ भी विश्वास करते हैं।

इस अतिमानवीय शक्ति पर ही तुलसीदासजी ने लिखा है—

"सो महेस मो पर अनुकूला;
करौं कथा मुद-मंगल-मूला।
सुमिरि सिवा-सिव पाय पसाऊ;
बरनहुँ राम-चरित चित-चाऊ।
भनित मोरि सिव कृपा बिभाती;
ससि-समाज मिलि मनहुँ सुराती।"

जिस तरह गोस्वामीजी मंगलमय शिव की विभूति प्राप्त करने का हाल लिखते हैं, उसी तरह रवीन्द्रनाथ भी उस अलक्ष्य शक्ति का—

"ए कि कौतुक नित्य - नूतन
ओगो कौतुकमयी,
अमियाहा किछु चाहि बलिवारे
बलिते दितेछ कइ ?
अन्तर माझे बसि अहरह
मुख होते तुमि भाषा केड़े लह,
मोर कथा लए तुमि कथा कह
मिशाए आपन सुरे।
कि बलिते चाइ सब भुले जाइ,
तुमि जा बलाव आमि बलि ताइ,

संगीत स्रोते कूल नाहीं पाइ,
कोथा भेसे जाइ दूरे ।
बलिते छिलाम बसि एक धारे
आपनार कथा आपन जनारे,
सुनाते छिलाम घरेर दुआरे
घरेर काहिनी जतो;
तुमि से भाषारे दहिया अनले,
डुबाए भासाए नयनेर जले,
नवीन प्रतिमा नव कौशले
गड़िले मनेर मतो ।
से माया-मूरति कि कहिछे वाणी,
कोथा करि भाव कोथा निले टानी,
आमि चेए आछि विस्मय मानी
रहस्ये निमगन ।
ए जे संगीत कोथा होते उठे,
ए जे लावण्य कोथा होते फुटे,
ए जे क्रन्दन कोथा होते टुटे,
अन्तर - विदारण ।
नूतन छन्द, अनधेर प्राय,
भरा आनन्द छुटे चले जाय,
नूतन वेदना वेजे उठे ताय
नूतन रागिणी भरे ।
जे कथा भाविनी बोलि सेइ कथा,
जे व्यथा बुझिना जागे सेइ व्यथा,
जानि ना एसेछि काहार वारता,
कारे सुनाबार तरे ।
के केमन बुझे अर्थ ताहार,
केह एक बोले केह बोले आर,
आमारे सुधाय वृथा बार - बार,
देखे तुमि हास बुझि ?
केगो तुमि, कोथा रमेछ गोपने,
आमि मरितेछि खुँजि ।"

"अयि कौतुकमयि, नित्य नया यह कौन-सा कौतुक है ? मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, तुम मुझे कहाँ कहने देती हो ?

प्रतिक्षण तुम अन्तर में बैठी हुई मुख से भाषा छीन लेती हो, मेरे शब्द लेकर अपने स्वर में मिला तुम बातें करती हो ।

क्या कहना चाहता हूँ, सब भूल जाता हूँ; तुम जैसा बोलवाती हो, वैसा बोलता हूँ, संगीत के स्रोत में किनारा नहीं सूझता; न-जाने कहाँ, दूर बह जाता हूँ।

एक तरफ बैठा हुआ अपने आदमियों से अपनी बातें कर रहा था, घर के द्वार पर, घर की जितनी कहानी थी, सुना रहा था।

तुमने उस भाषा को आग में जला, डुबा, आँसुओं में बहा, नये कौशल से नयी प्रतिमा इच्छानुसार तैयार की।

वह माया-मूर्ति कैसा बतला रही है। कहाँ के भावों को कहाँ खींच लिया ! मैं विस्मय मानकर रहस्य में डूबा हुआ एकटक देख रहा हूँ।

यह संगीत कहाँ से उठ रहा है ! यह लावण्य कहाँ से फूट रहा है। यह अन्तर को विदीर्ण करनेवाला क्रन्दन कहाँ से टूट रहा है।

नया छन्द, अन्धे की तरह, भरे आनन्द से बढ़ता चला जाता है, नयी रागिनी भरकर उसमें नयी वेदना बजती रहती है।

जिस बात पर कभी विचार नहीं किया, वही बात कह रहा हूँ; जिस व्यथा को कभी नहीं समझा, वही व्यथा जग रही है। नहीं जानता, किसकी बातें मैं किसे सुनाने के लिए आया हूँ ?

न-जाने कौन कैसे उसके अर्थ लगाते हैं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। मुझसे व्यर्थ बार-बार पूछते हैं। देखकर तुम हँसती हो शायद ? तुम कौन हो—अयि, कहाँ गुप्त हो—मैं तुम्हें खोज जो रहा हूँ ?"

रवीन्द्रनाथ का भाषा-प्रवाह प्रति मुहूर्त अलक्ष्य की तरह हो रहा है। वह अपनी गति से, भावों से, व्यंजना से उसी शक्ति का समर्थन कर रही है, जिसके लिए वह अवतरित हुई है। रवीन्द्रनाथ के चित्र अत्यन्त सुन्दर रूप दिखलाकर जब अलक्ष्य में विलीन हो जाते हैं, तब उस महान् शक्ति का एक स्पर्श-मात्र रह जाता है, जिसकी किसी भी प्रकार तुलना नहीं की जा सकती—अनन्त की कौन-सी उपमा ?

तुलसीदास यह भाव अनुभूत सत्य की तरह जाहिर करते हैं, कहीं-कहीं भगवान् रामचन्द्र के विशेषणों में भी उन्होंने उनकी अनादि सत्ता का बोध कराया है। जैसे—

"राम अनन्त, अनन्त गुण, अमित कथा-बिस्तार।"

"राम काम-सत-कोटि सुभग तन;
दुर्गा-कोटि अमित-अरि-मर्दन।
सक्र-कोटि-सत-सरिस बिलासा;
नभ-सत-कोटि-अमित अवकासा।"

"मरुत-कोटि-सत-बिपुल-बल, रवि-सत-कोटि-प्रकास,
ससि - सत - कोटि-सुसीतल, समन सकल-भव-त्रास।
काल-कोटि-सत-सरिस-अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त;
धूम्र-केतु-सत-कोटि-सम दुराधर्ष भगवन्त।" आदि।

"तुम पूछ्यो कि रहौं कहाँ, मैं पूछत सकुचाउँ;
जहँ न होउ तहँ देहु कहि, तुमहिं दिखावहुँ ठाउँ।"

"अव्यक्त मूलमनादि तरु,
त्वच चारि निगमागम भने;

षट कन्ध, शाखा पंचविस,
अनेक पर्ण सुमन घने।
फल जुगल बिधि, कटु-मधुर,
बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे;
पल्लवित फूलित नवल नित,
संसार-बिटप, नमामि हे।"

इस प्रकार की उक्तियों से रामायण लबालब भरी हुई है। राम के परिचय, कथा-प्रसंग, जन्म, लीला और अवसान में गोस्वामी तुलसीदासजी का अनादि रहस्य सहस्रों उपमाओं से उमड़ रहा है। केवल हिन्दी-साहित्य में नहीं, संसार के साहित्य में उनकी रामायण काव्य की स्पर्द्धा में अद्वितीय होगी।

रवीन्द्रनाथ की-जैसी बारीकी तुलसीदास में भी है। तुलसीदास की-जैसी महत्ता रवीन्द्रनाथ में नहीं मिलती, कवीन्द्र अपनी प्रतिभा द्वारा वर्णन को महान् करते हैं। भक्तराज गोस्वामीजी के एक छोटे-से चित्र की सहानुभूति और करुणा के प्रवाह में बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड बह जाते हैं—"राधे-दृग-सलिल-प्रवाह में सुनौ हो ऊधौ, रावरे-समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैंगी," हमें सत्य प्रतीत होता है।

"पद - पद्म धोइ, चढ़ाई नाव,
न नाथ, उतराई चहौं;
मोहिं राम राउरि आन दशरथ-
सपय सब साँची कहौं।
बरु तीर मारहिं लषन पै
जब लगि न पाँव पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ,
कृपालु पार उतारिहौं।
सुनि केवट के बैन, प्रेम-लपेटे अटपटे,
बिहँसे करुणा-ऐन, चितै जानकी लषन तन।"

"होहु सजग रोकहु सब घाटा;
ठाटहु सकल मरण के ठाटा।
सम्मुख लोह भरत सन लेहू;
जियत न सुरसरि उतरन देहू।
समर-मरण पुनि सुरसरि-तीरा;
राम-काज, क्षण-भंग सरीरा।
भरत भाइ नृप, मैं जन नीचू;
बड़े भाग अस पाइय मीचू।" आदि।

"गीध कौं गोद मे लाय कृपानिधि
नैन - सरोजन मैं भरि बारी;
बारहि बार सुधारत पंख,
जटायु की धूरि जटान सों झारी।"

रवीन्द्रनाथ ने भी करुणाश्रित चित्र खींचे हैं, और कला-कौशल से सारी कथा

सुनाकर पाठकों के हृदय में पूर्ण रूप से सहानुभूति का उद्रेक कर दिया है। दुर्गा-पूजा के समय एक मातृ-हीन गरीब बालिका किसी धनी के द्वार पर पूजा देखने गयी है। वहाँ धनिकों की सन्तानों को अच्छी तरह पहने-ओढ़े हुए देखकर उसे अपनी मलिन सज्जा पर दुःख होता है। उसने सुना है, यहाँ यह (मूर्ति) माता आयी हुई हैं। अब कवीन्द्र का चित्रण देखिए—

"सुनेछे से, माँ एसेछे घरे,
ताइ विश्व आनन्दे भेसेछे,
मार माया, पायनि कखनो
माँ केमन देखित एसेछे।
ताइ बुझि आँखी छल - छल
वाष्पे ढाका नयेनर तारा।
चेये जेनो मार मुख पाने
बालिका कातरे अभिमाने
बले 'मागो ये केमन धारा?
एतो बाँशी, एतो हासी - राशि,
एतो तोर रतन भूषण,
तुइ यदि आमार जननी,
मोर केनो मलिन वसन।' "

(उसने सुना है, घर मा आयी हुई है, इसलिए संसार आनन्द में बह रहा है, उसे कभी माता का स्नेह नहीं मिला, इसलिए मा कैसी है, देखने आयी हुई है। शायद इसीलिए उसकी आँखें छलछलायी हुई हैं, वाष्प से पुतलियाँ ढकी हुई, जैसे वह माता के मुख की तरफ देखकर अभिमान से कातर हो कह रही हो—मा, यह कैसा? तेरे पास तो इतना सुख, इतना ऐश्वर्य, इतना हास्य-स्नेह, इतने रत्ना-भूषण हैं, तू मेरी मा है, तो मेरे कपड़े क्यों मैले हैं?)

एक काव्य-शिल्पी की तरह रवीन्द्रनाथ चरित्र को धीरे-धीरे पूर्ण करते हैं। करुणा के अनेक चित्र उन्होंने कला के भीतर से पूर्ण विकसित कर दिये हैं। उनको पढ़ने पर जान पड़ता है, इससे सुन्दर चित्रण और हो नहीं सकता। जैसी भाषा, वैसा ही छन्द, वैसी की व्यंजना, वैसे भी भाव! बौद्ध भिक्षु के चित्रण में एक भिखारिणी का नग्न होकर जंगल की ओट से अपना एकमात्र वस्त्र, भगवान् बुद्ध तक भिक्षा पहुँचाने के लिए, फेंक देना, कथा का करुणाश्रित सत्य तो है ही, उसमें रवीन्द्रनाथ के चित्रण ने कमाल कर दिया है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

काव्य प्राणों की सृष्टि है। सीधे प्राणों पर उसका असर पड़ता है। एक पौधे ही की तरह कवि के मन के आकाश में वह विकास प्राप्त करता हुआ फूलता-फलता है, जिसके फलों का स्वाद पा साहित्य के जन कृतार्थ होते हैं।

खड़ी बोली का काव्य अब, प्राणों से सीमाबन्धनों को छोड़कर, बीज के अंकुर से फूटकर बाहर के विस्तार को अपनी छाया द्वारा समाच्छन्न कर रहा है। उसके भविष्य की सुखद शीतलता, वर्तमान के प्रसार को देखकर, समझ में आ जाती है। जो लोग अपने बड़प्पन की बाँहें फैला उस पौधे को छाँह में सुखा डालना चाहते थे, उन लोगों ने अपने हाथ समेट लिये हैं। अब उसकी वृद्धि में कोई संशय नहीं रहा।

पर खड़ी बोली की कविता में, कहीं-कहीं छोड़कर, कल्पना और भावों की परिपक्वता नहीं आयी। इसका कारण बहुत-कुछ अपने साहित्य का वायुमण्डल है। साहित्यिक विचार ज्यों-ज्यों पुष्ट होते जाते हैं, भविष्य के साहित्यिकों को अधिक मार्जित साहित्य की सृष्टि के लिए सुविधा मिलती जाती है। यही कारण है कि खड़ी बोली के काव्य को बाहरी सुविधाएँ न मिलने के कारण भीतरी बड़ी-बड़ी अन्तःप्रेरणाएँ नहीं मिलीं। यदि किसी तरह कोई प्राप्त भी करता है, तो दूसरों के अज्ञान के प्रतिघातों से वह निस्तेज हो जाता है। फिर ऊँची सृष्टि का हौसला जाता रहता है। पत्रकार लोग भी जब वैसी भावनाएँ नहीं समझ पाते, तब पाठकों का कहना ही क्या ? चारो तरफ से पाठकों की शिकायतें आती हैं, सम्पादक मजबूर होकर वैसी रचनाएँ निकालना बन्द कर देते हैं। हमें इसका बहुत गहरा अनुभव आज दस वर्ष से अधिक काल तक 'गंगा-पुस्तकमाला', 'माधुरी' तथा 'सुधा' का सम्पादन करते हुए प्राप्त हुआ।

हिन्दी की यह अभी प्राथमिक दशा है। लेखकों और कवियों का भी ज्ञान परिपक्व नहीं। पत्रों में साधारण विचार ही निकलते हैं। अपने विषय के थोड़े ही ऐसे ज्ञाता हैं, जो दूसरी भाषाओं में मान्य हैं। आपस ही में सब लोग चढ़ा-बढ़ी करते हैं। फल यह होता है कि इस अज्ञान के कर्मकाण्ड में काव्य का ज्ञानकाण्ड पीछे पड़ जाता है। विजय दलबन्दी की होती है। दल बाँधकर रहना जानवरों का स्वभाव है। मनुष्यों में भी विकासवाद के अनुसार जानवरों के स्वभाव मौजूद रहते हैं, जो समय पाकर तत्काल विकसित हो मनुष्य को पशु बना डालते हैं। सच्चा साहित्य इससे बहुत दूर, काव्य और भी दूर है। काव्य की बारीकियाँ समझने के लिए आलोचक को कवि से अधिक समर्थ होना चाहिए। ऐसा हमारे साहित्य में नहीं। पुरानी लीकें पीटना भी पशु-स्वभाव में दाखिल है। मनुष्य वह है, जो बृहत्तर विषय को देखकर अपना स्वभाव बदल दे। पशु का स्वभाव नहीं बदलता।

जनता को तैयार करने का सबसे अधिक श्रेय सम्पादकों को है। पत्र ही ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा बड़ी-बड़ी मौलिकता का प्रचार किया जा सकता है। हमने

साहित्य और समाज के प्रबोध के लिए शुरू से ही ऐसे प्रयत्न किये हैं। जवाब में चिरकाल हमें लांछन उठाना पड़ा। पर हमने किसी आक्षेप का कभी प्रतिवाद नहीं किया। अपने लिए हमें उतनी चिन्ता नहीं, जितनी साहित्यिकों के मस्तिष्क की दुर्दशा के लिए है। 'निराला'जी की 'अधिवास' कविता 'सरस्वती' से वापस आयी, हमने ('माधुरी' के पहले साल की बात है) उसे मुख-पृष्ठ पर निकाला। और भी उनकी अनेक रचनाएँ उसी वर्ष हमने निकालीं, जिनमें 'तुम और मैं' हमें बहुत ही पसन्द आयी थी। आज 'निराला'जी को न समझकर भी लोग समझते हैं, तब किसी तरह भी नहीं समझते थे—तब 'मतवाला' भी नहीं निकला था। ऐसे ही और भी अनेक कवि हैं।

दूसरे देशों में भी यह दशा रही है। पर उन देशों के कवियों को अच्छे-अच्छे आलोचक भी प्राप्त हो गये थे, जिससे उनका मानसिक परिवर्तन नहीं हो पाया। आज वर्ड्सवर्थ की सब कवियों से अधिक कविताएं संग्रहों में देखने को मिलती हैं। पर एक समय था, जब पूरी ताकत से इनके बहिष्कार की प्रक्रिया जारी थी। कीट्स की दशा साहित्यिकों को मालूम है। शेली का घर ही से बहिष्कार होता है। समालोचकों के ताप की तो नाप ही नहीं। मुमकिन है, अपने समय में ही यदि कीट्स और शेली को साहित्यिक लोग हाथों-हाथ लेते, तो आज इनका इससे दसगुना अधिक साहित्य तैयार मिलता। इनकी मृत्यु के बाद देखिए, इनकी सृष्टि से सहस्रों-गुना अधिक आलोचनाएँ और वे भी अनुकूल लिख डाली गयीं। रवीन्द्रनाथ की दुर्दशा उनकी पंक्तियों में ही मिलती है। पर एक पुष्ट संस्था का बल उन्हें पहले ही मिला। 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू'-जैसी पत्रिकाएँ और रामानन्द बाबू-जैसे समर्थक उन्हें मिले। बंकिमचन्द्र चटर्जी-जैसे धुरन्धर साहित्यिकों ने उनकी संवर्धना की। इस तरह बड़ों की आवाजों के मुकाबले छोटों की किसी ने न सुनी, और सबसे पहली बात यह कि रवि बाबू प्रतिभाशाली तो थे ही।

सत्समालोचकों के अभाव के कारण हमारे यहाँ प्रतिभा का स्फुरण नहीं हो पाता। जनता तक कवियों के भावों का विस्तार नहीं होता। साहित्य अपने उसी पुराने ढर्रे पर चलता जाता है। यह तो सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र और समाज की दशा परिवर्तित हो गयी है, इसलिए यह मान लेने में आपत्ति नहीं हो सकती कि अब साहित्य के प्रथम राग काव्य का भी वह स्वर बदल गया है। इस स्वर को पदों में बाँधकर जनता तक प्रचार करने का सत्समालोचकों को ही अधिकार है। पर ऐसे समालोचक हमारे साहित्य में नहीं के बराबर हैं।

संसार की ज्ञान-धारा के साथ प्रत्येक साहित्य और साहित्यिकों का सम्बन्ध है। हम अनुवादक होकर दूसरों के ज्ञान का सहारा भले लेते रहें, पर जब तक हम अपने साहित्य के भीतर से संसार की भावनाओं के मुकाबले अपने साहित्यिक विचार नहीं रक्खेंगे, हमारे साहित्य की कद्र न होगी। इसी भावना और विचारों की किरण हमारे काव्य के आकाश में निकली है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

साहित्य में चरित्र

आजकल चरित्र की बड़ी चर्चा है। पर चरित्र को किसी ने ठीक तौर पर समझा, यह समझ में नहीं आया। चरित्र की महत्ता पर जब पूरी आवाज से लोग जोर देते हैं, तब समझना चाहिए कि इस तरह जोर देनेवाले अपने ही छिद्रों को भरने की कोशिश कर रहे और लोगों को धोखा दे रहे हैं। जन-चरित्र को अजन्मा चरित्र बनाकर चरित्र-लेखक यह नहीं समझते कि वे चरित्र के सम्बन्ध में स्वप्न देख रहे हैं। जिसे अयोनि कहा है, बिलकुल अक्लेद वही हो सकता है; जो किसी योनि में है, वह कितनी ही विशद और पवित्र योनि में क्यों न हो, वह अजन्मा की तरह निर्मल नहीं हो सकता। ईश्वर ने पेट में डालने और निकालने की राहें तैयार कर चरित्र के सम्बन्ध में ऊँची आवाज निकालनेवाली जबान ही रोक दी है पर धोखा सब विषयों में चलता है, चरित्र पर भी चल रहा है।

व्यास से बड़ा कवि शायद ही संसार में दूसरा हुआ हो। वह अपने व्यास-अर्थ की ही तरह महान् हैं। उन्हें हम लोग अवतार मानते हैं। पर वह हैं योजन-गन्धा के लड़के, जो एक मल्लाह के यहाँ पाली गयी, जिसके पिता हैं पराशर मुनि और पीछे वही उससे भोग करनेवाले। अर्थात् पिता-पुत्री के सहयोग से व्यासजी उत्पन्न हुए। हिन्दी में कविता तैयार हुई—"लाज की बात मैं कासे कहौं सखि, कन्त के कन्त, पिता के पिता।" एक चरित्र यह है। इसमें ऋषि-चरित्र है, साधारण मनुष्य-चरित्र नहीं।

सीताजी के सामने भारतीय सभी पतिव्रता-चरित्र म्लान हैं। रामचन्द्रजी जब लक्ष्मण को सीताजी की रक्षा के लिए छोड़कर स्वर्ण-मृग को पकड़ने या मारने के लिए चले गये, और सीताजी पति की खोज के लिए लक्ष्मणजी को भेजने लगीं, वह नहीं गये, तब उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि तू मुझे रखना चाहता है, इसीलिए नहीं जा रहा, तू चाहता है कि भाई का वध हो जाय। चित्रकार ने इतने बड़े नारी-चरित्र पर इतना ही मानसिक पतन दिखाया। पर दिखाना है, नहीं तो चरित्र पूरा न होता।

उद्धरण कहाँ तक दें, भारतीय साहित्य ऐसे विपरीत भावों से भरे हैं। यहाँ लेखकों ने जनता को धोखा नहीं दिया। जीवन के उत्थान और पतन का सच्चा रहस्य समझा दिया है। केवल उत्थान नहीं हो सकता, उसके साथ पतन लगा हुआ है। जो उत्थान और पतन से रहित है, वह पूर्ण है। वह जीव-कोटि में नहीं आ सकता। उत्थान और पतन के भीतर से वही आदर्श है। जब मनुष्य मनुष्य को आदर्श समझकर पकड़ता है, तब भूलता है। आदर्श अजन्मा है। सब तरह की शुद्धि उसी से निकलती है, और पतन मनुष्य का सांसारिक भोग-रूप है। मनुष्य के घेरे में रहकर किसी ने पतन किया ही नहीं, यह शास्त्रों से विरोध पैदा करनेवाली बात है।

मनुष्य का लक्ष्य पतन कभी नहीं रहा। लिखा है, मन की स्वाभाविक ऊर्ध्व गति है। उसकी निम्न गति किसी दबाव या आकर्षण में पड़कर, अज्ञान के कारण,

होती है। जब दुर्भिक्ष होता है, तब चोरियाँ बढ़ जाती हैं। जिन लोगों ने कभी चोरी नहीं की, भूख की ताड़ना से वे भी शास्त्रानुशासन भूल जाते हैं। जो लोग चोरी करने के आदी हैं, उन्हें धन का लालच और पैसे का अभाव सताता है। इसी तरह जो लोग साहित्य में असच्चरित्र-चित्रण करते हैं, वे पैसे के लिए करते हैं। प्रकाशक पैसे के लिए छापते हैं। पाठक मजा पाते हैं, खरीदते हैं।

यदि और सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि संसार देखना ही चरित्र-हीनता है, या बिना चरित्र-हीनता के मनुष्य को संसार का बोध नहीं होता। "जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई" आदर्श है। इस मुक्ति से च्युत होना ही संसार देखना, अनेक रस-रूपों का भोग करना, पाँच ज्ञानेन्द्रियों की भूमि में उतरकर पंचकर्मेन्द्रियों का सहारा लेना, अर्थात् चरित्रहीन होना है। ये सब सिद्ध बातें हैं। इनमें मीन-मेष नहीं कर सकते। फिर इस संसार को देखनेवाले लोग—रूप, रस आदि का भोग करनेवाले महाशय यदि चरित्र का ढोल पीटते फिरें, तो क्या यह समझनेवाले नहीं कि उन्हीं के गले में कितनी पोल है ?

हमारा मतलब चरित्र का तात्त्विक चित्रण करना है, असच्चरित्रता का प्रचार नहीं, और यह सभी समझदार पाठक समझ सकते हैं कि असच्चरित्रता का प्रचार कोई नहीं करता, बदमाश भी आदमियों के बीच अच्छी-अच्छी बातें कहता है, फिर हमारे पास तो कुछ जन-समूह की रुचि का एक उत्तरदायित्व है। हम "बगुले भक्तों" की ही तरफ इंगित कर रहे हैं कि देखिए, आपके शास्त्र भी कुछ कहते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

भाषा

हमारे साहित्य में धीरे-धीरे अब यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि हमें बहुत ही सीधी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, यद्यपि अभी मुश्किल और ठीक-ठीक मुश्किल लिखने की दो-एक को छोड़कर किसी भी साहित्यिक को तमीज नही। सच तो यह है कि अभी हिन्दी की प्रारम्भिक दशा ही चल रही है, अधिकांश अच्छे पढ़े-लिखे पदवीधरों को भी शुद्ध हिन्दी लिखना नहीं आया। इसमें प्रमाणों की किसी भी पत्र के दफ्तर में कमी न होगी। ऐसी दशा में सीधी हिन्दी लिखने के लिए पूरी ताकत से तिर्यक् तूर्य-ध्वनि उठाने का क्या कारण, सिवा इसके कि सुबह को साहित्यिक अजाँ देनेवाले अपनी आवाज से अपनी ही सबसे पहले जगने की खबर बेखबरों को भेज रहे हैं ? मुमकिन है, एक दिन लोग यह भी कहने लगें कि भाव सीधे होने चाहिए !

जिस तरह मनुष्यों में अनेक रंग, अनेक जातियाँ और अपने ही साहित्य के भीतर अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं, उसी तरह भाषा का सारल्य और क्लिष्टता का भी विचार है। किसी एक हद के अन्दर भाषा की प्रकृति कभी बँध नहीं सकी। किसी भी भाषा के भीतर उसका मुक्त रूप दृष्टिगोचर होगा। व्रज-भाषा और खड़ीबोली की तरह कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि भाषा ने अपना पहला प्रवाह-पथ ही छोड़ दिया है। एक ही काल में बहती हुई भी भिन्न-भिन्न भूमियों के कारण गंगा और यमुना के जलों की तरह भाषा के कृति-फल जुदा रंग और जुदा स्वाद लेकर आये। संस्कृत में माघ और मेघदूत एक ही तरह के नहीं। मिल्टन और टेनिसन भाषा में बड़ा फर्क रखते हैं। एक ही समय के बायरन और शेली भाषा और भावों में भिन्न हैं। सनेहीजी और मैथिलीशरणजी यथेष्ट अन्तर रखते हैं। 'हरिऔध'जी और 'शंकर'जी के सुभाषित-रत्न एक ही-सी हिन्दी में नहीं चमकते।

सीधी भाषा लिखने की आवाज उठाकर लोग अधिकांशतः अर्धशिक्षित और अल्पशिक्षितों की सहानुभूति प्राप्त कर प्रसिद्ध हो सकते हैं। परन्तु कुछ भी स्थैर्य रखकर विचार करनेवाले समझ सकेंगे कि वे साहित्य के हित के मूल में कितना कठोर कुठाराघात करते हैं। किसी भाषा-मर्मज्ञ को सीधी भाषा लिखने के लिए मजबूर करना उनका अपमान करना है। तुलसी, सूर, कबीर लोक-नायक महा-कवि थे। पर उनकी भाषा और भाव ऐसे नहीं कि साधारण लोग आसानी से समझ सकें। यदि फ़ी सैकड़ा 25-30 पद्य सर्वसाधारण की समझ में आ भी जायँ, तो भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे लोग बहुत सीधी भाषा लिखते थे। उनके ग्रन्थों के प्रचार के मूल में धर्म है, साहित्य नहीं। देश की अधिक संख्या धर्म से प्रभावित है, इसलिए इनके ग्रन्थों—खासकर रामायण—की इतनी बिक्री है। पहले बुद्ध के समय यह भाषा-विचार हुआ था। उन्होंने संस्कृत छोड़कर उस समय की प्रचलित भाषा को अपने धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया था। यह धार्मिक प्रोपागेण्डा ही है। तुलसीदासजी ने भी "भाषा-भणित मोरि मति थोरी, हँसिबे योग्य, हँसे नहिं खोरी।" लिखकर समय की प्रचलित भाषा का पक्ष-समर्थन किया है, धर्म के प्रचार का विचार रक्खा है; भाषा की सरलता और क्लिष्टता का विवेचन नहीं किया। साहित्य इस विचार से परे है। साहित्यिक भाषा में भी आदर्श की सृष्टि करता है, जो केवल उच्च साहित्यिकों के काम की होती है। बड़े आदमियों के घर के साज-सज्जावाले सामान आज तक भी गरीबों के दैन्य के कारण नहीं फूट सके, और इतिहास, पुरातत्त्व की एक साहित्य-शक्ति ने समय के वर्षा-शीत और धूप-छाँह से इन्हें बचाने के लिए अपनी एक बाँह भी इधर फैला दी है, अर्थात् सभ्यता के प्रमाण के लिए ये विलासोपकरण—घर-द्वार-मूर्ति-कृति-साजोसामान आदि—देश को उन्नत साबित करने के लिए सबसे जरूरी हो रहे हैं। इतिहास में सम्राट् और राजे-महाराजे ही रहते हैं, सर्वसाधारण नहीं। फिर भाषा-साहित्य के लिए सर्व-साधारणवाला कारण कहाँ तक सर्वमान्य कहा जा सकता है? हमारी हिन्दी की इस दीनता की जड़ में भाषा की ही प्रथा की कमी है।

यदि अधिकांश दरिद्रों के पास धन नहीं, तो धनिकों से जिस तरह यह कहना होता है कि तमाम दरिद्रों के बराबर धन रक्खो, बाकी उन्हीं में बाँट दो, उसी

तरह वैषम्य की दुनिया में बराबर समझ रखने—समान भाषा का प्रयोग करने के लिए कहना है। इसे शक्ति का अपमान कहते हैं। ऐसी भाषा कोई भी साहित्यिक नहीं लिख सकता, जिसके शब्द कोष में न हों, जिसका शब्द-बन्ध व्याकरण-सम्मत न हो। ऐसी दशा में जनता को भाषा की भूमि में अग्रसर होने के लिए न कहकर साहित्यिक को सीधा लिखने के लिए मजबूर करना उसे साहित्यिक से मजदूर बनाना है। ऐसी राय देनेवाले वे ही साहित्यिक हैं, जो साहित्य के किसी गृह के स्वामी नहीं, किसी स्वामी द्वारा बुलाये हुए द्वारपाल हैं। इस तरह के लोग अपनी अद्भुत उद्भावना के कारण कुछ दिनों के लिए लोकमत-संग्रह तो कर सकते हैं, पर इससे साहित्य सफल-काम कदापि न होगा। साहित्य को लच्छेदार भाषा लिखने-वालों की जरूरत है। कुछ दिन हुए, हमारे एक मित्र हिन्दी में रस्किन और कार्लाइल की भाषा खोज रहे थे। वह प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं। सीधी भारती में वह क्यों भारत नहीं देख सके, इसका उत्तर हमारी पूर्व-पंक्तियों का ध्वनि-तत्त्व है।

हम अपने पत्र में सब तरह की क्लिष्ट और सरल भाषाओं को जगह देते हैं। दूसरे पत्रकारों की तरह, बल्कि उनसे कुछ अधिक हमें यह अनुभव हो चुका है कि देश में, खासतौर से हिन्दी-भाषी प्रान्तों में, शिक्षा का बहुत थोड़ा प्रसार हो पाया है। अँगरेजी और उर्दू के मुकाबले हिन्दी का और भी कम। इसलिए हमारी पत्रिका तथा पुस्तकों की भाषा कुछ क्लिष्ट होने पर उनकी खपत कम होती है, हमें घाटा उठाना पड़ता है। यह घाटा हिन्दी के किसी भी दूसरे पत्रकार से हमें अधिक हो सकता है, जब हम हिन्दी को पुष्पित करने के उद्देश से उच्च भावों और क्लिष्ट भाषा को प्रश्रय देने के पक्ष में होंगे। पर हिन्दी के विशेष लाभ के विचार से हमने अपने घाटे की तरफ उतना ध्यान नहीं दिया। हम अपने ही मुँह अपनी तारीफ नहीं करना चाहते, उपयोगिता एक दिन स्वयं अपना स्थान प्राप्त कर लेगी। यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि गंगा-पुस्तकमाला तथा 'सुधा' में उच्च कोटि के क्लिष्ट लेखक भी ससम्मान स्थान पाते हैं, और हम भाषा-विस्तार को छोड़कर केवल अर्थ का ही ध्यान नहीं करते। देखने पर मालूम होता है, हिन्दी-भाषी आगरा, अवध, बिहार, मध्य-प्रदेश, राजपूताना, पंजाब और देशी रियासतों में हजारों की संख्या में उच्चशिक्षित वकील-बैरिस्टर, डॉक्टर और प्रोफेसर आदि हैं। पर उनमें कितने ऐसे हैं, जो मातृभाषा की सेवा कर रहे हैं ? ऐसा न करने का कारण केवल यही है कि उन्हें हिन्दी लिखना नहीं आता। वे हिन्दी की उच्च शिक्षा पुस्तकों के भीतर से नहीं प्राप्त कर पाते। प्रतिष्ठित होने के कारण मामूली टूटी-फूटी भाषा में प्रबन्ध या पुस्तक लिखकर उसे हिन्दी के अर्ध-शिक्षित सम्पादकों द्वारा रेखांकित और शुद्ध कराने में अपना अपमान समझते हैं। इधर प्रचारकों की कृपा से उच्च शिक्षा, गम्भीर भावना और पुष्ट भाषा की बराबर गर्दन नप रही है। फल यह होता है कि शिक्षितों के अरमान उनकी शिक्षा के भीतर ही मर जाते हैं, और हिन्दी की प्रगति वर्ष-प्रतिवर्ष अनावृष्टि की कृषि की हालत प्राप्त करती रहती है।

यदि दस प्रतिशत के हिसाब से भी पत्र-पत्रिकाओं में ऊँचे अंग के भावों और

भाषा को प्रश्रय दिया जाय, तो पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार में भी बाधा न पड़े, और साहित्य का विस्तार भी होता रहे। हिन्दी में ऐसे साहित्यिकों का एकान्तभाव नहीं, जो प्रेरणा करने पर उच्च साहित्य के निर्माण में कुछ या बहुत अंशों में सफल न हों। इससे बड़ी साहित्यिक हीनता और पराधीनता क्या होगी कि अनुवाद के बल हिन्दी का अस्तित्व है। अनुवादित कहानियों और प्रबन्धों के पत्र तथा पुस्तकों को सर्वश्रेष्ठ कहकर विज्ञापन दिया जाता है, जिसके सम्पादन का यह हाल कि एक बार 'संपादक' लिखा और दूसरे बार 'सम्पादक'। भाव, भाषा, अक्षर, सभी तरफ से सर्वश्रेष्ठ ! रूस के पुश्किन के मनोभाव हिन्दी के मौलिक उत्कर्ष के प्रमाण नहीं हो सकते। मतलब यह कि अपनी ही भाषा के भीतर से श्रेष्ठत्व साबित करने की प्रचेष्टाएँ होनी चाहिए, जिससे स्वतन्त्रता के अंकुर उठें।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

साहित्य का आदर्श

हिन्दी में ऊँचे विचारों के सच्चे साहित्यिकों की कमी है, अतः साहित्य भी प्रायः ऊँचे विचारों से रहित। मनुष्य जब अपने देश या साहित्य के आकाश में इतना ऊँचा होगा कि उसे उसकी पृथ्वी के अतिरिक्त दूसरे देशों और साहित्यों की पृथ्वी भी उसी की दृष्टि से देख पड़े, तब वह मानवीय सीमा में पहुँचा हुआ साहित्यिक होगा। तब का आदर्श ही यथार्थ आदर्श है, क्योंकि वह मनुष्य-मात्र का आदर्श है। ऐसा आदर्श प्राप्त होने पर देश और काल का भाव नहीं रहता। हमारे यहाँ ऐसी बात नहीं। देश और काल का ही हमारे साहित्य में प्रधान शासन है, और देश और काल ही हमारे साहित्य के आदर्श रूप।

देश और काल दोनों में सीमा है, अतः बन्धन। दोनों व्यक्ति और समय का निर्देश करते हैं, इसलिए सीमित हैं। दूसरी पराधीनता की तरह यह भी एक तरह की पराधीनता है। धर्म और समाज का शासन इसी पराधीनता की पुष्टि करता है। धार्मिक अनुशासनों में जैसे भी मनोहर मनुष्यों के मनोविकास के कारण हों, मुक्ति का आदर्श धार्मिक बन्धनों से परे है। समाज धर्म का कितना भी अनुसरण करे, परिवर्तन उसके लिए अनिवार्य है, नहीं तो अनुसरण करने की शक्ति नहीं पैदा होती, अनुसरण करने की जरूरत नहीं रह जाती। इस प्रकार उठते-गिरते हुए धार्मिक कानूनों की दोहाई देकर आत्मा को उन्हीं से घेर रखना मुक्ति नहीं। इस तरह, दूसरे मनुष्यों से, जो एक दूसरा धर्म मानते हैं, दूसरे कानूनों के कायल हैं, पूर्ण रूप से सख्य की स्थापना नहीं हो सकती। धर्म के नियम जितने भी अच्छे हों, सोने की जंजीरों की तरह, बाँध रखने के लिए लोहे की जंजीरों से कम मजबूत

नहीं। इसलिए वे परिवर्तनशील हैं। हुए भी हैं, जब मनुष्यों ने और भी बृहत् सत्य के लिए प्रयत्न किये। मुख को पाप की सियाही जिस तरह रँग देती है, मनुष्य का यथार्थ रंग नहीं देख पड़ता, उसी तरह धर्म की सफेदी भी रँग देती है। दृष्टि भी जो साफ आईने की तरह है, किसी रंग से नहीं रँगी हुई, इसीलिए सब रंगों को उनके असली रूपों में देखती है। वह दृष्टि उसी की है, जिसका वह मुख है। इस दृष्टि से युक्त प्रत्येक मुख के सामने आदर्श रूप वही प्रकृति है, जो विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, और वही प्रकृति उस मुख और दृष्टि में भी है। अतः यह सत्य है कि प्रकृति ही प्रकृति का आदर्श है।

इस तरह आदर्श के नाम से भटकने या भटकानेवाली कोई बात नहीं रह जाती। आदर्श या लक्ष्य वही होता है, जो देख पड़ता है। इसलिए वह कोई अत्यद्-भुत चमत्कारपूर्ण कुछ नहीं। फिर भी विश्व के चमत्कारों को देखते हुए है। पर वह देख पड़ता है। समझ में आता है। क्योंकि वह आदर्श है। यह आदर्श ही दर्शन बन गया है, काव्य बन गया है, और मनुष्यों का जीवन होकर जीवन का ध्येय। जिस तरह मिट्टी मिट्टी से, जल जल से, आग आग से और हवा हवा से मिलती है, बिलकुल एक हो जाती है, उसी तरह जीवन भी जीवन से मिलता है। किसी एक का जीवन ही विश्व में परिव्याप्त है, वही एक मनुष्य में है। उसी से मेल करना प्राणों का आदर्श है। बिना सिखलाये भी मनुष्य तथा अपर जीव-जड़ ऐसा ही करते हैं।

साहित्यिक को इतना ही समझकर साहित्य की सृष्टि करनी पड़ती है। केवल सत्साहित्य का समर्थन हो नहीं सकता। केवल सत्-सत् लिखने से सृष्टि अधूरी रह जायगी, दूसरों को वह कभी जँच नहीं सकती, उसमें कला का अभाव रहेगा। इसीलिए सृष्टि की तरह, भले और बुरे के मिश्रण से ही साहित्य की उत्पत्ति होती है। साहित्यिक जन कोष से बुरे शब्द निकाल नहीं सकते। पर सत्साहित्य के नाम-मात्र से जनता को प्रभावित करने के लिए ऊँची-से-ऊँची आवाज उठाते रहते हैं। दिल्ली में होनेवाले युक्तप्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री प्रेमचन्दजी ने अपने भाषण में सदाचार पर जो कुछ कहा है, उसका अंश 'विशाल-भारत' में आत्मपक्ष की पुष्टि के कारण उद्धृत हुआ है। ऐसा आदर्शवाद किसी भी सुबोध विचारक को मान्य न होगा। क्योंकि वह इस तरह का है—केवल खाओ, प्रकोष्ठ साफ न करो। तभी तुम ठीक-ठीक खा सकोगे, तभी लोग तुम्हारे पास भोजन की कला सीखने आवेंगे।

हम ऐसे आदर्शवादियों से कहते हैं, आप लोग क्यों व्यर्थ मेरु-मूल का अधो-भाग ढोते फिरते हैं? यह आपके शरीर के साथ-साथ कौन आदर्शवाद जान रहने तक आपके आगे-पीछे लगा हुआ है? इस हिस्से को काटकर निकाल दीजिए, और तब इस तरह के भाषण और उद्धरण दिया कीजिए। आप ही लोगों के शब्दों में कहते हैं, तभी जनता पर आपके आदर्शवाद का अधिक प्रभाव पड़ेगा। आप वैसा ही आदर्शवाद अपने-अपने शरीर में धारण कीजिए कि पेट से नीचे और पैरों से ऊपर का हिस्सा ही न रहे, और आप लोग इसी तरह आदर्शवाद के प्रत्यक्ष रूप बने हुए उसकी शिक्षा लोगों को देते फिरें।

बारात के वर या सुन्दर के विघोषक विकट वाद्य यन्त्रों की तरह ऐसे साहित्यिकों के मुख आदर्शवाद पर प्रतिक्षण मुखर हो रहे हैं, पर यन्त्रों की ही तरह उन्हें वर या सुन्दर की सविशेष पहचान है। गाये हुए राग के रेकार्ड-जैसे, समाज के दिये हुए दम पर, यथा-संस्कार पुनः-पुनः एक ही स्वर छेड़ते जा रहे हैं। जिसे ब्रह्माण्डमय कहा है, वह न भला है, न बुरा। उसे ही पाप और पुण्य से परे कह सकते हैं। वह यदि केवल पुण्य के द्वारा प्राप्त होता, तो असुरों की विरोधी साधना से वह उन्हें कदापि न मिलता। यहाँ शास्त्रकारों, पुराण-रचयिताओं ने भले और बुरे को विवेचन में बराबर जगह देकर आदर्शवादियों को बहुत बड़ा उपदेश दिया है। हमारा मतलब असुरों या आसुरी भावना की पुष्टि नहीं, केवल यथासिद्धान्त उनका उल्लेख करना है। यदि वे असुर होकर असुन्दर हैं, तो स्वभावतः मनुष्यों का मन उनके पास न जायगा। क्योंकि मन सब समय सुन्दर ही चाहता है—भोग में भी और योग में भी। सुन्दर के भोग से, यौवन के बाद के वार्धक्य की तरह, मनुष्य असुन्दर भले ही हो जाय, पर उसका ध्यान बराबर सुन्दर ही पर रहा है। अतः हृदय से, अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों से कोई भी असुन्दर को नहीं चाहता। जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, वह न सुन्दर, न असुन्दर।

किसी के परिणाम पर ध्यान रखना भी आदर्शवाद हो सकता है, यथार्थ साहित्य नहीं। यथार्थ साहित्य वही है, जो यथा-अर्थ है। "भोग न करो, रोग होगा।" यह उक्ति प्रभावित कर सकती है, पर यथार्थ नहीं। जिस समय यह उक्ति कही गयी थी, उस समय कहनेवाले ने साँस जरूर ली थी, अतः हवा का भोग करके ही उसने यह महामन्त्र निकाला था। मुमकिन है, उस हवा में जहरीले बीज रहे हों, उनसे कहनेवाले को रोग हो गया, वह कुछ दिनों में मर गया। जनता ने यह न सोचा कि उपदेशक महाशय कुछ भोग भी करते थे, तब बोलते थे, वह उन्हीं की तरह महामन्त्र का प्रचार करने लगी। यह आदर्शवाद इसी तरह 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को सार्थक करता हुआ युगों से चला आ रहा है।

भारत के साहित्यिक ऐसे आदर्शवादी नहीं थे। सीता, सती, राम, शिव आदि उच्च-से-उच्च चरित्रों में इसीलिए उन्होंने दाग दिखलाये हैं। जिनके आधार पर, वेदों का आदर्शवाद लेकर चलनेवाले आर्यसमाजी दोषों का प्रदर्शन करते हैं। पर सनातनी और आर्यसमाजी दोनों पुराणों और वेदों के यथार्थ साहित्य से दूर हैं। क्योंकि दोनों के शब्द अपने-अपने साहित्य के विज्ञापन के शब्द हैं, जिनमें प्रतिकूल कुछ भी नहीं रहता, केवल अनुकूल, केवल फायदे की बातें। फायदा चाहनेवाले मनुष्य स्वभावतः मुग्ध हो जाते हैं। पर फायदे के साथ ही नुकसान लगा हुआ है, यह खबर जिनको है, वे अपने यथार्थ साहित्य में हैं, और उसी की, वैसी ही सृष्टि करते हैं।

सुप्रसिद्ध साहित्यिक प्रेमचन्दजी की सदाचार या आदर्शवाद पर एक उक्ति देखिए—"जिसका पाचन दुर्बल है, वह मलाई का स्वाद क्या जाने!" कैसी अदभुत उक्ति हुई। पाचन दुर्बल होने पर स्वाद की सम्मोहन-शक्ति भी दुर्बल हो जाती है, यह हमें नहीं मालूम था। फिर आपने लिखा है, "उसे तो मलाई खाने से उदर-विकार का ही अनुभव होगा"—कैसा दर्शाया गया! उदर-विकार का अनुभव जीभ में हो रहा है!

हम अधिक उद्धरण नहीं देना चाहते। इतना ही कहेंगे, आप कलाविदों की कमजोरियों को उनका असंयम बतलाते हैं, हम आपसे पूछते हैं, संसार के सबसे बड़े पुरुष महात्मा गांधी ने अभी महीने-भर पहले ऐसा क्यों कहा कि मुझमें दोष हैं। आप उन्हें भी असंयमी मनुष्य समझते हों, तो संसार में दृष्टान्त-रूप एक संयमी का उदाहरण दीजिए, जिसमें असंयम न हो, न हुआ हो, न होने की सम्भावना हो।

एक जगह आप लिखते हैं—"हो सकता है कि कोई कलाकार नास्तिक होकर भी भक्तिपूर्ण चित्रों की या भक्ति-रस की कविता की रचना करे, पर इस रचना में कदापि वह चीज और प्रभाव नहीं हो सकता, जो एक आस्तिक की रचना में हो सकता है।" इसी तरह के शब्द यथा-संस्कार निकलते हैं, और यथा-संस्कार जनता इन भावों का साथ देती है। कलाकार के लिए नास्तिक और आस्तिकवाला सवाल नहीं। प्रेमचन्दजी का यह कहना उसी तरह हुआ, जैसे एक ईसाई कहे, बिना ईसा मसीह के मुक्ति नहीं हो सकती; मुसलमान कहे, बिना मुहम्मद को माने नहीं हो सकती, हिन्दू कहे, बिना राम को भजे हो ही नहीं सकती। अब कहिए, कलाकार अगर मुसलमान-चित्रों को खींचना चाहे, तो उसके लिए आवश्यक है, वह पहले मुसलमान बने। हम पूछते हैं, प्रेमचन्दजी ने बिना इस्लाम की दीक्षा लिये फारसी-अक्षरों में उपन्यास क्यों लिखे? रवीन्द्रनाथ को अँगरेजी में गीतांजलि का अनुवाद करना ही नहीं था। प्रेमचन्दजी या 'विशाल-भारत' के सम्पादक इतना ही समझा दें—जब वह कलाकार है, तब वह नास्तिक कैसे हुआ? नास्तिक कलाकार के क्या अर्थ हैं? फिर यदि आप ही का सिद्धान्त ठीक है, तो पेड़ का चित्र खींचने से पहले कलाकार को पेड़ बनने की आवश्यकता होगी—बैल की तस्वीर खींचने से पहले बैल बनने की। यदि नहीं, तो कलाकार को आस्तिक बनने की क्या जरूरत? जो कलाकार है, वह आस्तिकता और भक्ति की कलाएं जानता है। वह नास्तिकता की भी कलाएँ खींचता है। वह बुद्ध की भी तस्वीर बनाता है, और ईसा और महात्मा गांधी की भी खींचता है।

साधना, संयम, तप आदि नपे-तुले शब्द रख देने से साधारण जनता की आँखों में क्षणिक एक अच्छा अंजन अवश्य लग जाता है, पर हम जनता को निरंजन होकर विवेचन करने के लिए कहते हैं। तभी ठीक-ठीक विवेचन हो सकता है। मनुष्य का आदर्श वही है, जो निरंजन है। साहित्य सत् और असत् के भीतर से सदाचार और दुराचार के फन्दे से छूटकर उसी लक्ष्य पर पहुँचता है। हमारे यहाँ सदाचार के साथ असदाचार को जगह नहीं मिली, इसलिए लोग जबान पर सदाचार रखकर पेट में असदाचार ही भर रखते हैं। उन्हें बाहर करने की हिम्मत नहीं होती। वे लोगों से डरते हैं। परिणाम यह हो रहा है कि पर्दे में पाप बढ़ता ही जा रहा है। जब यह पर्दा उठेगा, तब पाप भी इतना न रहेगा। सत्साहित्य की सृष्टि के लिए जीवन की सभी दिशाएँ आवश्यक हैं, क्योंकि कोई गिर जाता है, तो उसके गिरने के कारण हैं, वे साहित्य के लिए उतने ही जरूरी हैं, जितने उठनेवाले कारण।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

हमारे साहित्य में साहित्यिक बहुत हो रहे हैं, पर साहित्य के असली मतलब से बहुत कम लोग परिचित हैं। इसलिए साहित्य के नाम से जो कुछ निकलता है, वह इतनी निम्न कोटि का होता है कि उसे दूसरे प्रान्त या दूसरे देश के साहित्यिकों के सामने, अपने उत्कर्ष के नमूने के तौर पर, हम नहीं रख सकते। जिस साहित्य के साहित्यिकों के ज्ञान का यह हाल है, उसके पढ़नेवाले साधारण लोगों का क्या हाल होगा, यह सहज ही विचार में आ जाता है। दुःख यह है कि हम अपनी साहित्यिक दशा के सुधार के लिए भी प्रयत्न नहीं करते। जिन रूढ़ियों के भीतर से हम अब तक चले आये, हम समझते हैं, उन्हीं के भीतर रहकर हम अपनी साहित्यिक मुक्ति कर लेंगे, पर यह बिल्कुल असम्भव है। पहले की रूढ़ियों के पीछे एक ज्ञान भी है। पर उस ज्ञान से अब हमारा बिल्कुल सहयोग नहीं रहा। हम एक प्रकार से भूल ही गये हैं। केवल जिन-जिन रूपकों से वह ज्ञान हमें समझाया गया था, वे रूपक ही हमारे सामने सत्य के तौर पर रह गये हैं। उन रूपकों में संस्कारवश हम इतने जकड़ गये हैं कि उनका दूसरा विशद अर्थ सुनकर हम चौंक पड़ते हैं। हमारी धार्मिक धारणा इससे क्षुण्ण हो जाती है। उदाहरण के लिए हम राम को पेश करते हैं। महात्मा गाँधी-जैसे महामनुष्य भी यह मानने में सन्देह करते हैं कि राम कोई ऐतिहासिक पुरुष थे। पर तत्त्व की दृष्टि से वह राम को मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने राम को पूर्ण ब्रह्म लिखा है। दशरथ के पुत्र राम को जो वह पूर्ण ब्रह्म मानते हैं, इसकी विशिष्टाद्वैतवाद के भीतर से बड़ी सुन्दर व्याख्या होती है; तब जीव का चिन्मय स्वरूप प्रकट होता है, उसके जड़-रूप का लोप हो जाता है। फिर वह चिन्मय स्वरूप भी जब बर्फ़ की तरह गलकर जल हो जाता है, तब एकमात्र सत्य में लय प्राप्त करता है। इस तरह जड़-रूप चिन्मय-स्वरूप में बदलता है, फिर चिन्मय स्वरूप ब्रह्म में लीन होता है। रामायण में ही वह लिखते हैं—

"रघुपति-महिमा अगुन, अबाधा,
बरनब सोई बर बारि अगाधा।"

यह राम का ब्रह्म-स्वरूप है। फिर कहते हैं—

"राम-सीय-जस सलिल-सुधा-सम;
उपमा बीचि-बिलास मनोरम।"

यह सगुण रूप है कि सीता और राम उसी एक अगाध ब्रह्म-जल की तरंगें हैं।

हम लोग इन तत्त्वों को व्यर्थ की बकवास समझ लेते और इनमें नहीं पड़ना चाहते, जिसका फल यह हुआ कि हमारे मस्तिष्क में नाम-मात्र को ऊँचे विचार नहीं रह गये, हम इतने जड़ स्वभाववाले हो गये हैं। यह हमारे पतन और साहित्यिक उत्कर्ष न होने का मुख्य कारण है।

कबीर एक ऐसे ऊँचे विचारवाले साहित्यिक हमारी हिन्दी में हैं, जिनका जोड़ संसार में दुर्लभ है। क्या कहीं एक अपढ़ मनुष्य इतना बढ़ा ज्ञानी कवि हुआ है? हिन्दी साहित्य का ज्ञान-काण्ड यदि कबीर के साहित्य को कहें, तो अत्युक्ति

न होगी। पर हिन्दी में ही कबीर का जैसा आदर होना चाहिए, नहीं हुआ। बंगाल में कबीर से बढ़कर हिन्दी का दूसरा कवि नहीं समझा जाता। अनेक प्रकार से एक सत्य का ही कबीर ने प्रचार किया है। ऐसी अच्छी-अच्छी उक्तियाँ वेदों को छोड़-कर अन्यत्र नहीं मिलतीं। रवीन्द्रनाथ-जैसे महाकवि कबीर की प्रतिभा पर मुग्ध हैं—

'हद छोड़ी, बेहद गया, किया सुन्नि-असनान;
मुनि-जन महल न पावई, तहाँ किया बिसराम।' ——कबीर

कबीर की उल्टबाँसियों में विरोध के भीतर से सत्य है। अज्ञान के कारण हिन्दी-भाषी उन्हें नहीं समझते। कोई-कोई कहते हैं ये कबीर की बनायी हुई नहीं। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे नहीं जानते कि इस तरह की उक्तियों से सत्य का प्रचार सम्भव है। यदि मिट्टी को कोई आकाश लिखे, तो वह भी सत्य होता है, क्योंकि आकाश के ही परिणाम वायु, अग्नि, जल और मृत्तिका हैं।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा है। राष्ट्र का विराट् रूप उसकी आधुनिक भावनाओं और क्रिया-कलाप से प्रकट होना चाहिए। पर ऐसा हो नहीं रहा है। लोग अधिक-से-अधिक संख्या में वही पुरानी लकीर पीटते जा रहे हैं, जिसके मूल का ज्ञान आज उनमें नहीं रहा। ज्ञान पानी की तरह है। पानी को जिस बर्तन में रखो, वह उसके आकार का बन जाता है। पर हमारे साहित्यिकों का ज्ञान किसी धातु के बने बर्तन की तरह जड़ है, जो अपना गढ़ा हुआ स्वरूप बदल नहीं सकता।

जब हम बंगला-साहित्य के उत्कर्ष पर सोचते हैं, तब मुख्य बात हमारे सामने यही आती है कि बंगालियों ने ज्ञान को ही अपने साहित्यिक उत्थान का मूल माना। रवीन्द्रनाथ के पहले जो अच्छे-अच्छे कवि हुए, उन्होंने सत्य को ही साहित्य के मूल-सूत्र की तरह पकड़ा। माईकेल मधुसूदन दत्त पश्चिमी कई भाषाओं के जानकार थे। 'मेघनाद-वध' में उन्होंने पश्चिमी कला का अमित्र छन्द में प्रदर्शन किया। नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र ने ऊँचे-ऊँचे वेदान्ततत्त्वों को अपने स्वच्छन्द छन्दवाले नाटकों में जगह दी। द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के मुसलमान पात्रों को द्वेषपूर्ण विजातीय दृष्टि से नहीं देखा। उन्हें जो जैसा समझ पड़ा, सत्य को दृढ़ पकड़े हुए उसका वैसा ही चित्रण किया। महाकवि रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने प्रसार की कामना से ही राजा राममोहन राय के उपस्थापित ब्राह्म धर्म का प्रवर्तन किया, जिससे हिन्दू-समाज से निकाले गये, विदेशों की यात्रा करने-वाले विद्वान् युवकों तथा अँगरेज़ी के प्रभाव से प्रभावित हो क्रिस्तान होनेवाले लोगों को देश ही के धर्म की एक इमारत के भीतर रहने को जगह मिली। इस प्रवर्तन से बंगाल के साहित्य की सहस्त्रों गुणा शक्ति बढ़ गयी। जहाँ स्त्रियों का घर के भीतर ही स्थान था, वहाँ वे बाहर भी पुरुषों के साथ बराबर अधिकार प्राप्त करने लगीं, लिख-पढ़कर उनकी हर काम में सहायता करने लगीं। ब्राह्मसमाज को स्त्रियों की स्वतन्त्रता का सबसे अधिक श्रेय है। इसका फल साहित्य में भी पड़ा। उपन्यासों और सामाजिक नाटकों की पात्रियों की भूमि विस्तृत हो गयी। वे प्रायः सभी कर्मों में, जीवन के सभी भागों में आ गयीं। बंकिमचन्द्र के बाद शरच्चन्द्र का यहीं महत्त्व बढ़ा। रवीन्द्रनाथ का तो कहना ही नहीं। ब्रह्म शब्द की

विस्तृति की तरह उनका काव्य और उनकी कला देश और काल की परिधि को ही पार कर गयी। भावना के भीतर से वह अनेकानेक चित्रणों को विराट् सत्य में पर्यवसित करने लगे। हिन्दू, मुसलमान, ईसाईवाला सवाल ही न रहा। आज देश के सुधारक अन्यान्य प्रान्तों में जो कार्य कर रहे हैं, फिर भी जो कार्य देश की मुक्ति के लिए पड़े हुए हैं, रवीन्द्रनाथ उनका उल्लेख तथा उनका विकास चालीस वर्ष पहले कर चुके हैं। यह सब क्या इसीलिए नहीं कि बंगाल के मनीषी साहित्यिकों, समाज-सुधारकों ने बहुत पहले ही सत्य का मर्म समझा था। हमारी हिन्दी में अभी छन्दों के ह्रस्व-दीर्घ की मात्राएं गिनी जा रही हैं। भारतीयता, शालीनता और 'पन' के विचार से साहित्यिकों को फुरसत नहीं मिल रही। साहित्य के प्रचार का मुख्य कारण प्राण, सहानुभूति, आत्मा नहीं, प्रोपागेण्डा हो रहा है। देश ही में एक तरफ़ तमाम विश्व की भिन्न जातीय संस्कृति (Culture) अपने साहित्य में मिलाने की कोशिश हुई और हो रही है और हमारे यहाँ अभी साहित्यिक "भाषा कैसी होनी चाहिए" प्रश्न नहीं हल कर सके। भावों की बात तो बहुत दूर है। बिना 'गम्भीर' हुए विचार नहीं कर सकते, पर गम्भीर विचारों को देखिए, तो हैरान हो जाना पड़ता है।

अँगरेज़ी साहित्य में सौ वर्ष से साहित्यिकों का संसार के प्रति प्रेम फैला हुआ है, और भी पहले अंकुरित हो चुका था। अँगरेज़ी के बड़े-बड़े कवि वर्ड्सवर्थ, शेली, टेनिसन आदि विदेशी सभ्यता के जानकार हैं। शेली तो भारत को बहुत ही प्यार करता था। अँगरेज़ी राजधर्म के खिलाफ़ उसने कितनी ही पंक्तियाँ लिखी हैं। अपने विचारों के कारण घर और बाहर सर्वत्र लांछित रहा। पर आज वह संसार का बेजोड़ कवि है। समालोचक उसकी प्रशंसा करते हुए नहीं थकते। अपने विचारों की तरह काव्य की भाषा तथा प्रवाह में उसने किसी का अनुकरण नहीं किया। आज बड़े-से-बड़े कवि उसका अनुकरण कर सफलता प्राप्त करना सीखते हैं। "Hell is a city much like London." इस तरह की पंक्तियों से उसने जो विचार-स्वातन्त्र्य दिखलाया, आज वैसी विशेषता और स्वतन्त्रता का सभ्य योरप पक्षपाती है। शेक्सपियर को आड़े हाथ लेनेवाले बर्नाड शा शेली के हृदय से प्रशंसक हैं। बात यह कि साहित्यिक विशालता, उदारता, स्वातन्त्र्य जाति के भीतर पैठकर लोगों को तेजस्वी करते हैं। रूस की स्वतन्त्रता से पहले उसका साहित्य है। उन महावीर साहित्यिकों के एक-एक रक्त-कण से सहस्र-सहस्र वीर साहित्यिक समझदार पैदा हुए।

हमारी हिन्दी को ऐसी ही भावना से युक्त साहित्यिकों की आवश्यकता है। सत्य की रक्षा के लिए साहित्यिक अपने प्राणों का बलिदान कर दें। सत्य वही है, जो मनुष्य-मात्र में है। ज्ञान में हिन्दू, मुसलमान नहीं। विस्तार ही जीवन है। फैलकर अपनी प्रतिभा, कर्म, अध्ययन, उदारता से समस्त ब्रह्माण्ड को अपनाना चाहिए। साहित्यिक उत्कर्ष और मुक्ति का यही मार्ग है। हिन्दी में बहुत करना है, बहुत पड़ा है, बहुत पीछे हैं हम।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

पराधीन साहित्य की चिर-तिमिरवाली शिशिर-रात्रि को पार कर प्रभा-पुंज मिहिर हिन्दी के काव्याकाश में दृष्टिगोचर होने लगा है। इस सूर्य से सभी कुशल काव्य निर्माता, सिद्ध-हस्त कवियों की प्रतिभा की किरणें सम्मिलित हैं। यद्यपि अभी रात के रोने की ओस के आँसू पत्रों के नेत्रों को वैसे ही सिक्त किये हुए हैं, फिर भी जिस शक्ति ने उन्हें लोक-लोचनों के समक्ष किया, उसे देखते हुए यह आशा होती है कि शीघ्र ही आँसुओं को सुखाकर पादपों के प्राणों में वह नया प्रकाश भर देगी, जिससे साहित्य तथा राष्ट्र एक नयी स्फूर्ति से युक्त, दूर-दूर तक की शोभा देखने और अपना यथोचित प्रसार करने में समर्थ होगा।

साहित्य की आत्मा काव्य है, और काव्य की आत्मा पूर्णता। स्वयं अपूर्ण रहने के कारण हिन्दी के अधिकांश साहित्यिक इस पूर्णता की व्याख्या से घबराते हैं, जैसे उनके पास जो कुछ थोडा-सा है, वह इससे छिन रहा हो। पर वे यह भूल जाते हैं कि वे अपने थोड़े-से संस्कार देकर पूर्णता के अधिकारी होते हैं। यदि साहित्य या हमारा वर्तमान काव्य हिन्दू-संस्कारों में ही बँधा रहा – उन संस्कारों में, जो आज तक हमें बाँधकर संकीर्ण दायरे में एक प्रकार हमारी रक्षा मुसलमान-संस्कृति के प्रचार से करते रहे—तो हमारी भावना की सीमा बढ़ नहीं सकती। पर आज हमारे सामने एक दूसरा ही प्रश्न साहित्य के भीतर से हल होने के लिए आया है। वह है प्रसार, इतना कि समस्त विश्व के मनुष्य हमारी मनुष्यता के दायरे में आ जायँ, हर तरह, कर्म, वाणी और मन से भी। यही क्रिया हमें संसार के मनुष्यों की आँखों में उठा सकती है। यही क्रिया हमारे काव्य में हो चली है।

वैदिक काल में ऐसा ही था। ज्ञान-काण्ड इसीलिए देश, काल और पात्र के भेद से रहित है। यही कारण है कि वह आज भी उसी तरह चमकता हुआ सत्य है। उस अनादि सत्य को ग्रहण करने पर जो क्रियाएँ समाज को सीमित कर रखती हैं, विवेचन द्वारा वे छूट जाती हैं, अथवा सामयिक दूसरी क्रियाओं को भी दिन-चर्या के आधार के रूप हम ग्रहण कर सकते हैं, उसी अनादि सत्य को लक्ष्य के तौर पर रखकर।

मतलब यह कि हमें योरप से भी कुछ सीखना है, और उसे सिखाना भी है। मनुष्य-मात्र में ऐसा आदान-प्रदानवाला भाव रहता है। इस संयोग के लिए हमारी तैयारी उसी ज्ञान-काण्ड के आधार से हो सकेगी। पहले भी धर्म-प्रचार के लिए जब देश-देशान्तरों में लोग जाते थे, तब काफ़ी उदार होकर जाते थे, इसीलिए वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर पाते थे।

आज भारत अनेक वर्णों तथा समस्त पृथ्वी की जातियों का सम्मेलन-स्थल हो रहा है। ऐसी दशा में हमारा फ़र्ज है कि हम अधिक-से-अधिक उदार हों, और क्रियाओं में विस्तार करें। हमारे अन्दर प्रायः इस तरह की संकीर्णताएँ घर किये हुए हैं कि हम अपने आचरणों से दूसरे को किंचिन्मात्र भी पृथक् देखकर चौंक उठते हैं, उसकी ओर से हमें घृणा हो जाती है। यह हमारी ही कमज़ोरी है। हमारे

साहित्य तथा काव्य में भी ऐसी कमज़ोरियों की कमी नहीं।

गुणों के प्रति बारीक विचार करने पर मालूम होता है कि बहुत-से गुण ऐसे हैं, जिन्हें संसार-भर के मनुष्य मानते हैं। इसी तरह बहुत-से दुर्गुण भी हैं। हमें गुणों और दुर्गुणों की व्याख्या में इतना ही विचार रखना चाहिए। फिर सत्य के प्रति श्रद्धा रहने पर वह आप अपनी तरफ खींचकर अपना विस्तृत स्वरूप दिखा देगा। यहाँ तो यहाँ तक विचार हो चुका है कि अमृत तो ब्रह्म है ही, ज़हर भी ब्रह्म है, जीवन भी ब्रह्म है, और काल, मृत्यु भी वही हैं। शब्दों का दर्शन जाननेवाले भारतीय जानते होंगे कि प्रत्येक शब्द की परिणति अनादि सत्य में होती है। फिर किसी शब्द के प्रति घृणा क्यों? यह साम्यावस्था ही मनुष्य को घृणा से बचा सकती है, वरना वह घृणा से निस्तार नहीं पाता। किसी के प्रति घृणा का प्रवाह बहाने पर उस मनुष्य के प्रति भी किसी दूसरे की की हुई घृणा का प्रवाह बहेगा। बुद्ध की तथा यहाँ के दर्शनों की भी यही शिक्षा है। यह ठीक है कि जीवन में सीमित रहने के कारण स्वभावतः मनुष्य सत्य के प्रति प्यार और असत्य के प्रति तिरस्कारवाला भाव रक्खेगा। पर सिद्धान्त रूप से भी बृहत् सत्य को जान लेने पर बहुत कुछ रक्षा होती है। हमारे काव्य में इसी सत्य का प्रतिपादन हो चला है। जब तक असीम सत्य से साक्षात्कार नहीं होता, तब तक योग-दर्शन के अनुसार 'प्रमाण' भी भ्रम है, इसका ज्ञान नहीं होता। हमारे काव्य में इस अब तक के प्रमाण का भी उल्लंघन होने लगा है। इसीलिए काव्य लोगों को कभी-कभी इतना दुरूह मालूम होता है कि वे उसकी छाया भी नहीं स्पर्श कर सकते। यही काव्य की यथार्थ आत्मा है। इसी के बाद नयी ज्योति से स्नान कर काव्य की अम्लान रूपसियाँ साहित्य की पवित्र भूमि पर पदार्पण करती हैं। यही भले और बुरे बाह्य संस्कारों से रहित कोष दर्शन के ज्ञानमय कोष की तरह काव्य का अमरकोष या आत्मा है। यहीं हमारे कुछ कवियों की भावनाएँ पहुँचती हैं।

पहले रस-सिद्धि के लिए जो कुछ कहा गया है, वह भी रस को ब्रह्म मान कर, इसी आधार पर। पर रस-परिपाक के लिए जो करण-कारण आये, अब वे पूर्वोक्त 'प्रमाण' के असत्य होने की तरह अनावश्यक प्रतीत हो रहे हैं। जो भेद पहले किये गये, अब के कवि देखते हैं उनके अनेक भेद हो सकते हैं, यदि भेद किये जायँ। इसलिए वर्तमान काव्य-साहित्य पहले के दायरे से ही बाहर हो गया है। केवल काव्य की आत्मा साहित्य में देख पड़ती है। आगे चलकर शृंखला तैयार करनेवाले, मुमकिन है, अनेक प्रकार के विभाग इस नये काव्य से करें। पर काव्य की आत्मा आत्मा की ही तरह स्वभाव में स्वतन्त्र है। उक्तियों की नवीनता इसी स्वातन्त्र्य का परिचय देती है। और, वह जितनी अधिक स्वतन्त्र होगी, उतना ही ज्यादा चमकेगी। अवश्य सत्कवि कभी काव्य की सफल उड़ान में पतित नहीं होता कि स्वतन्त्रता द्वारा काव्य के बिगड़ने की शंका की जाय।

अपर देशों में जिस किसी महाकवि ने काव्य की आत्मा तक पहुँचकर अपनी स्वतन्त्रता का काव्य में परिचय दिया है—जैसे उमर ख़ैयाम, वर्डस्वर्थ, शेली, माइकेल मधुसूदन या रवीन्द्रनाथ—उसे ही प्राचीन रूढ़ियों के अनुकूल काव्य न करने के कारण जनता द्वारा विष-बुझे आक्षेप-वाणों का प्रहार मिला है। पर कीट्स

की तरह, स्वतन्त्र कवि को, आक्षेपों से मृत्यु तक स्वीकृत होती है, काव्य का कदर्थ स्वतन्त्रतापहरण उसे असह्य है। उसके पीछे, बहुत दिनों बाद, उसके पास पहुँचनेवाले नये साहित्यिक फिर उसी के प्रदर्शित पथ को काव्य का शब्द-पथ स्वीकार करते हैं। हमारे साहित्य में भी काव्य के स्वतन्त्र राजपथों का निर्माण होने लगा है, पर जनता अपने प्राचीन परिच्छेद के कारण उस पथ पर चलते हुए संकुचित होती है, अज्ञान के कारण आक्षेप करती है। हाँ, यह ठीक है कि इसमें जनता का उतना दोष नहीं दिखलायी पड़ता, जितना सत्समालोचकों और सहृदय टीकाकारों का अभाव दृष्टिगोचर होता है। जो कवि नकल करते हैं, वे अक्षम होने के कारण अपना नया पथ प्रवर्तित नहीं कर सकते।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

साहित्य और जनता

प्रत्येक साहित्य में ऐसे मनुष्य हुआ करते हैं, जो स्थूल उपयोगितावाद से साहित्य के उत्कर्ष का अन्दाज़ा लगाते हैं। वे कहते हैं, जिस साहित्य में जनता के हित की जितनी शक्ति है, कसौटी में वह उतना ही खरा, उतना ही उपयोगी और उतना ही मूल्यवान् है।

प्रचलित प्रथा की तरह वे लोग केवल प्रचलन को ही देखते हैं, प्रचलन के मूल कारण को नहीं। वहाँ तक उनकी पहुँच होती भी नहीं। यदि हो, तो किसी भी सत्य के प्रचलन के वे पक्षपाती हो जायँ, केवल रूढ़ि के ही न रहें।

एक दिन लिखा गया था कि चावल से माँड़ में ज्यादा ताक़त होती है, इसलिए माँड़ फेंकना न चाहिए। पर जो लोग चावलों के पकने की सफ़ाई और सौन्दर्य को देखने के आदी थे, उन्होंने स्वास्थ्य के इस उपयोगितावाद को ग्रहण नहीं किया कि माँड़-समेत चावल खाना या माँड़ न फेंकना अधिक लाभप्रद है। युक्तप्रान्त में, जहाँ के रहनेवाले पहले ही से माँड़ फेंकने के आदी नहीं, विवाह के समय इस उपयोगितावाद को सौन्दर्यवाद के सामने रद्द कर देते हैं, अर्थात् रुपये सेर वाले बासमती चावलों को वर यात्रियों की वर रुचि के ही अनुकूल, अधिक-से-अधिक जल में पकाकर अलग-ही-अलग, फूलों की तरह, चुन लेते हैं। यहाँ हमें मालूम होता है, समाज में सौन्दर्यवाद का कम महत्त्व नहीं।

कभी-कभी उपयोगितावाद और सौन्दर्यवाद एक-दूसरे से मिले रहते हैं, जैसे मनुष्य का जीवन अधिक स्वच्छ, सुन्दर, सुखमय होकर अधिक स्वस्थ भी हो। इसी तरह किसी वाद-विशेष को साहित्य में अलग महत्त्व न देकर साहित्य के ही एक द्रुम से भिन्न-भिन्न शाखा की तरह सन्निविष्ट समझें, तो विचार में मिट्टी,

जल, आग, हवा और आसमान की तरह जुड़ी हुई सारी सृष्टियों को भिन्नता के भीतर से एक ही सूत्र में गुँथी हुई देख सकते हैं। यही उद्यम साहित्य का सर्वोत्तम विकास रहा है।

हमें अच्छी तरह मालूम है, हमारे निन्नानबे फ़ीसदी साहित्यिकों को और सौ फ़ीसदी जनता को भगवान् श्रीरामचन्द्र पर, उनके जन्म-कर्मादि पर पूरा-पूरा विश्वास है। अत: आज यदि राम के विरोध में कोई प्रासंगिक बात भी कही जाय, तो जनता उसे सुनने को तैयार नहीं; साहित्यिकों में केवल सुनने का धैर्य है, मत बदलने की शक्ति नहीं। यह अवश्य ही युगों की संचित साहित्यशक्ति का ही दौर्बल्य है। इससे जनता को कुछ हासिल हुआ, तत्त्व के भीतर से यह साबित नहीं होता। किसी महान् भक्त से ही पूछिए, अग्नि से यज्ञ-हवि कैसे पैदा होती है, जानकीजी ऋषियों के खून से भरे घड़े से, ज़मीन से, कैसे निकलती हैं, महावीरजी लंका से एक ही रात में उत्तराखण्ड जाकर, सजीवन-मूरिवाला पहाड़ लेकर, रात ही-भर में लंका कैसे लौट आते हैं, तो आपको युक्तिपूर्ण, सन्तोषप्रद उत्तर कदापि प्राप्त न होगा। भारत में प्रचलित, भारतीय नाम से प्रसिद्ध आर्य-सभ्यता की उज्ज्वल श्री से मण्डित जोकुछ प्राप्त होगा, उसका अधिकांश इसी प्रकार शिरश्चरणहीन, अदृष्ट, काल्पनिक जन्तु-विशेष ज्ञात होगा, जहाँ मानवीय दृष्टि की गति नहीं। पर पता नहीं, प्राचीन कितनी सदियों से इस जातीय उपयोगितावाद का आर्यों में महत्त्व है! इससे जाति की जितनी भी भलाई हुई हो, आज हमें कहने में कुछ भी संकोच नहीं कि उतनी ही बुराइयाँ हुई हैं। आज उन्हीं बुराइयों का दूरीकरण देश का, साहित्य का सच्चा उद्धार है। अत: हम देखते हैं, उपयोगितावाद में भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सम्भव हैं। पहले सत्य को जिस रहस्यमय ढंग से व्यक्त करने की प्रथा थी, आज उसी रहस्य को सत्य शब्दों के भीतर से खोलने की रीति प्रचलित हो रही है।

पर यह आधुनिक साहित्यिक प्रगति कभी जनता के हृदय से सहयोग नहीं प्राप्त कर सकती। कोई भी बड़ा नया प्रचलन अपने प्रथम चरण-क्षेप से ही जनता के हृदय से सहानुभूति प्राप्त कर सका हो, ऐसा देखने में नहीं आया। यहाँ तक कि जो पौराणिक कथाएँ जनता के प्राणों में प्रवेश कर गयी हैं, उनके लिए वह एक रोज़ बिल्कुल तैयार न थी। हज़ारों प्रचारक साधू जनता को सुना-सुनाकर अन्ध-विश्वास पर प्रतिष्ठित कर रहे थे। अन्ध-विश्वास भी क़ीमती है, जहाँ संसार में किसी भी रूप का विश्वास ऊँचे विचार से सत्य नहीं।

अस्तु, हम देखते हैं हर साहित्य का पहले सूत्र-रूप में आगम होता है, प्रचार तत्पश्चात्। जो साहित्यिक जनता से तरक़्क़ी में सदियों का फ़ासला रखते हैं वे कभी जनता के साथ नहीं बैठते, जनता स्वयं मन्द-मन्द चलती हुई वर्षों बाद उनके साथ होती है। साहित्य की प्रगति के ऐसे ही प्रमाण इतिहास देते हैं। जिस शूद्रक को एक दिन सामाजिक नियमों के लंघन के कारण अवतार-श्रेष्ठ भगवान् श्रीराम के हाथों प्राण देने पड़े थे, जिस एकलव्य को गुरु की मिथ्या तृप्ति के लिए अँगूठा काट देना पड़ा था, क्या आर्य-सभ्यता का पक्षपाती कोई भी मनुष्य कह सकता है, कि भारत में आज वैसा ही वर्ण-धर्म प्रचलित है, अथवा उसी के प्रचलन की जरूरत है? वही शूद्रक शक्ति आज सहस्र-सहस्र रामचन्द्रों को पराजित कर देने में

समर्थ है---अछूत ही आज भारत के प्रथम गण्य मनुष्य, चिन्त्य समस्या हैं। आप देखें, वही एक उपयोगितावाद आज कैसा विपरीत रूप धारण किये हुए है। जनता आज भी इस उपयोगितावाद का साथ नहीं दे रही, उसी प्राचीन के साथ है। इसीलिए कहा कि जनता साहित्य के साथ नहीं रहती, साहित्य के साथ लायी जाती है, और जिसे साहित्यिक उपयोगितावाद का आज एक रूप प्राप्त है, कल दूसरा प्राप्त होगा।

अँगरेज़ी-साहित्य में क्राइस्ट-विचारवाली जो ख़ास धारा प्रचलित थी, युग-प्रवर्तन को उसके समय सबसे बड़ा धक्का लगा, इसलिए उस काल के वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि कविगण अपने समय में ही जनता द्वारा समादृत नहीं हुए। अँगरेज़, मुसलमान, पारसी और जैन, हिन्दू तथा अन्यान्य जनों को अपने-अपने समूह में रहकर दूसरे के प्रति द्वेष पैदा करते हुए देखकर प्राचीन काल से बहती आती हुई विश्व-धारा में जिन रवीन्द्रनाथ ने आत्म-मज्जन किया, उनका भी समादर उनकी भाषावाली जनता ने पहले नहीं किया, और उनके विश्वजनीन भावों का समर्थन पूर्णतः आज भी नहीं कर रही है। जिस उमर ख़ैयाम से प्रसिद्ध कवि संसार में आज दूसरा नहीं, वह अपनी उच्छृंखल वृत्तियों के कारण अपने ही भाइयों की स्मृति में लगातार, सदियों तक, स्वप्नवत्, विलीन था। इस तरह, हम देखते हैं, जनता बहुत बाद को नेता साहित्यिक से सहयोग करती है। हिन्दी में ऐसे साहित्यिक और साहित्य का एकान्त अभाव नहीं, जो कुछ हद तक जनता को जड़ता से मुक्त कर सामने लाने की कोशिश कर रहे हैं, पर विचारों की कमजोरी और स्वाभाविक पतन के कारण प्रचारकगण अपने साथ बरग़लाकर रखना चाहते हैं, जिससे सत्य का प्रकाश उन तक नहीं पहुँच पाता, प्रचार-प्राप्त नहीं हो पाता। आज हमारे साहित्य के सिर कौन-सा उत्तरदायित्व सबसे गुरु है, लोग नहीं सुन पाते। निम्न श्रेणी के प्रचारक साहित्यिक जनता की ही प्रिय बातें उन्हें सुनाते रहते हैं। इस प्रकार सत्य के बदले वे अपना ही प्रचार करते हैं।

हमारे साहित्य की हीनता का मुख्य कारण यही है कि हम अपनी हीनता को प्रश्रय देकर उत्कर्ष समझ बैठे हैं, अपने अज्ञान को ज्ञानाडम्बर कर रक्खा है। आज जिस युग-साहित्य की दृष्टि में मनुष्य-मात्र के समान अधिकार हैं, वह पुरुष हो या स्त्री, उसका जनता में प्रचार रोकना, उसकी सूक्ष्मतम व्याख्या न समझकर उसके अस्तित्व को ही न स्वीकार करना हिन्दी की इस हीन दशा का एक अत्यन्त पुष्ट स्थूल प्रमाण है। पर, हमें विश्वास है, साहित्य की महाप्राणता, जो जनता को ज्ञान के भीतर से बहा ले गयी है, एक दिन अपनी शक्ति का परिचय देगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

आलोचना साहित्य का मस्तिष्क है। अतः साहित्य के विकास का श्रेय अनेक अंशों में इसे ही प्राप्त है। हृदय का महत्त्व लेकर निकलनेवाली कविता भी यदि विचार और श्रृंखला से सम्बद्ध नहीं, तो शैशव-संलाप की तरह भावोच्छ्वास-मात्र है, उससे साहित्य को कोई बड़ी प्राप्ति नहीं हो सकती। काव्य-साहित्य के बड़े-बड़े आलोचक ऐसा ही कहते हैं, और पहले भी कह चुके हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं,
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्री:;
चूडापाशे नवकुरवकं चारुकर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।"

(मेघदूते कालिदासस्य)

अर्थात् वहाँ, अलका में, वधुओं के हाथ में क्रीड़ा-कमल रहता है, केशों में कुन्द की नयी कलियाँ। लोध्र-पुष्पों के पराग से उनके मुखों की श्री पाण्डुता लिये हुए है। उनके चूड़ा-पाश में नया कुरवक खोंसा हुआ है, सुन्दर कानों में शिरीष और माँग में (हे मेघ!) तुम्हारे आगम से पैदा हुआ कदम्ब-पुष्प!

इस वर्णन से, एकाएक, हाथ में लीला-कमल लिये, केशों में कुन्द की कलियाँ चुने, लोध्र-रज मुखों में लगाये, चूड़ा-पाश में नया कुरवक और कानों में शिरीष खोंसे और माँग पर कदम्ब लगाये हुए अलकापुरी की सुन्दरी वधुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जो आलोचक नहीं, वह इस पद्य का अन्तर्महत्त्व न समझेगा, फूलों से उज्ज्वल, नारियों का विकच सौन्दर्य देखकर कालिदास को "धन्य कवि, धन्य कवि" कहकर केवल धन्यवाद देगा। उसे फूल ही-से महाकवि कालिदास के हृदय के सिवा, संयुक्त, कण्टकाधार मस्तिष्क—जिस पर यह कोमल कला टिकी हुई है— कदापि अनुभूत न होगा। वह चौंकेगा, जब आलोचक एकाएक पूछेगा, क्यों भाई, कुन्द तो हेमन्त-ऋतु का फूल है, वर्षा में वह खिलता ही नहीं, फिर महाकवि कालिदास ने मेघ से, जो आषाढ़ के पहले दिन रवाना होता है, कैसे कह दिया कि अलका की बहुएँ केशों के कुन्द की कलियाँ चुन रखती हैं? केवल हृदय को काव्य में महत्त्व देनेवाला वह मनुष्य तब कालिदास पर निश्चय ही दोषारोप करेगा। दोष एक ही, नहीं, लोध्र जाड़े में, कुरवक बसन्त में और शिरीष ग्रीष्म में खिलते हैं। फिर एक ही समय, एक साथ, इतने फूल अलका की सुन्दरियों को कैसे प्राप्त हो जाते हैं? केवल कमल और कदम्ब वर्षा में मिलते हैं।

जब तत्त्व, किसी आलोचक का सुझाया हुआ, उसकी समझ में आयेगा, तब वह देखेगा, कालिदास ने यहाँ मस्तिष्क से काम लिया है। कमल का यद्यपि वसन्तान्त से खिलना जारी हो जाता है, तथापि जलपूर्ण शरद्-ऋतु में उसका पूरा विकास होता है, हेमन्त के हिम से मुरझाने से पहले। इसलिए महाकवि कालिदास वर्षा के बादवाली शरद्-ऋतु से श्रीगणेश कर छहों ऋतुओं के पुष्प-विशेषों से अलका की रूपवती बहुओं को भूषित करते हैं। शरद् में हाथ में कमल देकर, हेमन्त

में कुन्द की कलियाँ गूँथकर, शिशिर में लोध्र-पुष्प की रज द्वारा, वसन्त में कुरवक खोंसकर, ग्रीष्म में शिरीष और वर्षा में कदम्ब लगाकर। पुष्पों का क्रम देखिए, कितना अच्छा है। इस प्रकार महाकवि के हृदय के साथ मस्तिष्क का परिचय मिलने पर कविता कितनी खिल जाती है! कालिदास सुकुमारी वधुओं पर एक साथ इतने फूलों का भार नहीं रखते. सौन्दर्य-ज्ञान के इतने कोमल कवि हैं एक ही पुष्प प्रति ऋतु में अलका की सौन्दर्य से हलकी परियों-सी बहुओं को देते हैं। "त्वदुपगमजम्" से स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि ने ऋतुओं के नामों को एक ही शब्द-बन्ध मे, संक्षेप में इंगित कर, ज़ाहिर किया है।

यदि यह आलोचना न की गयी होती, आलोचकों ने यह सौन्दर्य न खोला होता, तो आज बड़े-बड़े पण्डित एक ही साथ इतने फूलों की शोभा के भार से अलका की बहुओं को पीड़ित करते रहते। इस प्रकार आलोचना काव्य के भी विकास का कारण है। यहाँ कालिदास की आलोचना, मस्तिष्क-शक्ति अधिक परिस्फुट है, जिससे काव्य-सौन्दर्य और बढ़ गया है।

हमारी हिन्दी में सबसे बड़ा अभाव यही है कि उत्तम कोटि के आलोचक कम हैं, जो काव्य तथा साहित्य के ऊपर विषयों की विशद व्याख्याएँ कर-कर नवीन साहित्यिकों का उत्कर्ष-पथ मार्जित तथा सुगम कर दें। खड़ी बोली के विकास-युग से आज तक प्राचीन कई आलोचकों ने इस क्षेत्र पर प्रयत्न किया है, पर उनमें दो-एक ही ऐसे हैं, जिन्हें आलोचक का ऊँचा दर्जा दिया जा सकता है। इधर नये स्कूल से कुछ अच्छे आलोचक निकले हैं, पर वे प्राचीन साहित्यिकों के ब्रह्म-परिवार में अभी अन्त्यज ही हैं। उदाहरण में हम कबीर, सूर और तुलसी का साहित्य लेते हैं। प्राचीन जितने भी आलोचक हैं, एक-एक करके सबको देखते जाइए, किसी ने भी उक्त कवियों की अच्छी आलोचना नहीं की। आलोचना अच्छी वह है, जो कृति से पीछे न रहे, चाहिए कि बढ़ जाय। बढ़ने और बराबर रहने की तो बात ही जाने दीजिए, किसी ने इन कवियों को अच्छी तरह समझा भी हो, इसमें भी सन्देह है। यही कारण है कि वर्तमान साहित्य की प्रगति इतनी मन्द है। वर्तमान साहित्यिकों को उनके पूर्वाचार्य बहुत बड़े-बड़े विचार नहीं दे सके, वे उनके मस्तिष्क का सुधार नहीं कर सके। केवल रस, अलंकार और नायिकाभेद की सीढ़ियों से चढ़ना-उतरना काव्य-ज्ञान का प्रकृष्ट परिचय नहीं। हमारे अब तक के हिन्दी के आचार्य इससे अधिक कुछ नहीं कर सके। कालेजों में हिन्दी लेकर एम. ए. पास करनेवाले विद्यार्थियों के कर्ण-कुहर अध्यापक महोदयों के अद्भुत समालोचन-स्वर से, मोरी के मुख की तरह, साहित्य और काव्य-विज्ञान से भरते रहते हैं। वह मैल कानों से चलकर हृदय पर जमता है, और उनके जीवन तक नहीं छूटता। सत्साहित्य और परिपक्व विचारों की वहीं समाप्ति हो जाती है। ऐसी भारतीयता-शक्ति के सिंह-वाहन बनकर वे बाहर निकलते हैं।

आलोचना का सार्वभौम विकास आज हमारे साहित्य के लिए जरूरी हो रहा है, जिससे दूसरे देशों की साहित्य-महत्ता से मिलकर हमारा साहित्य अग्रसर हो, साहित्य का विश्व-बन्धुत्व जन-समाजों में स्थापित हो, हम दूसरे देशों के साहित्य से, व्यावसायिक आदान-प्रदान की तरह, अपने भावों का भी परिवर्तन कर सकें।

जिस भारतीयता के गर्व से दूसरे तुच्छ जान पड़ते हैं, वह अपनी ऐसी भारतीयता में कुछ रूढ़ियों से चलती हुई अभारतीयता है। हमारे साहित्य में ऐसे विचार रखनेवाले बहुत थोड़े, नहीं के बराबर हैं। इसीलिए आलोचक, प्रायः देश, काल और रीति आदि के बन्धनों में, तीन सौ वर्ष के पुराने विचारों से रँगे हुए, आज के साहित्य पर गहन उद्गार करते हुए वज्रपात करते रहते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो अँगरेज हैं, कुछ ऐसे, जो पूरे भारतीय। उन्हें मालूम होना चाहिए कि आलोचना में भारतीय-अभारतीय कोई रंग नहीं, वह केवल आलोचना है, जिसके साथ मनुष्य-मात्र के मन का सम्बन्ध है, और यह ज्ञान खोकर ही हम अब तक नहीं उठ सके।

संस्कृत में आलोचना का बड़ा विस्तृत महत्त्व है। जितने वाद-विवाद हुए हैं, वे धार्मिक होने पर भी आलोचनात्मक ही हैं, यों हर शाखा में मतभिन्नता प्रत्यक्ष होती है। एक मन्त्र के जो अनेक अर्थ हुए, वे किस प्रकार व्याकरण-सम्मत, विचारानुकूल और मनुष्य-मात्र के मन से सहयोग करनेवाले हैं, देखकर यहाँवालों की बुद्धि के विकास तथा आलोचना-प्रणाली पर दंग रह जाना पड़ता है। दर्शन का यह महत्त्व यहाँ काव्य में भी प्रविष्ट हुआ। यह उच्चता स्वाधीन भारत की कितनी बड़ी उच्चता है, पाठक संस्कृत-साहित्य के अध्ययन से अवगत होते हैं।

उधर योरप की समृद्ध भाषाओं का भी यही हाल है। प्लेटो की उदारता विश्व-विश्रुत है। सुक़रात, अरस्तू संसार के मनुष्य हैं। ढाई हज़ार वर्ष पहले जो कुछ विश्व-मानवता के सम्बन्ध में प्लेटो ने कहा है, आज रवीन्द्रनाथ उससे अधिक कुछ नहीं कह पाये, बल्कि यहाँ का वेदान्त और वहाँ की विश्व-नागरिकता, ये ही रवीन्द्रनाथ के मानव-धर्म-प्रचार के मुख्य अस्त्र हैं। योरप के अनेकानेक विवर्तनों को यदि आलोचनात्मक विवर्तन कहें, तो ठीक ही होता है। मनुष्य-मन ही साहित्य है, और आलोचना ही मानसिक परिवर्तन का मूल। तब से अब तक के परिवर्तन-जन्य जीवन या मृत्यु के आलोचनात्मक साहित्य को देखते जाइए, आप समझेंगे, आप भी उस समय वैसा ही करते। वह सब साहित्य मनुष्य के मन के इतने नज़दीक है। यही दृश्य अँगरेजी-साहित्य की वर्तमान धारा के मूल में देख पड़ेगा। पर हिन्दी का आलोचनात्मक वर्तमान साहित्य देखकर किताब फाड़कर फेंक देने की तबियत होती है, वह मानवीय मन से इतनी दूर है, इतना स्थूल, इतना जड़ है। अभी उसमें बड़ी उन्नति की आवश्यकता है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

नाटक

साहित्य के मुख्य अंगों में नाटक की गणना है। समाज को अनेकानेक आवश्यक विवर्तनों से ले चलकर सभ्यता के शिखर पर पहुँचाने का श्रेय नाटक-साहित्य को

अपर अंगों से अधिक प्राप्य हुआ है। कारण, लोक-रुचि के प्रवर्तन का इससे बढ़कर दूसरा साधन नहीं।

संस्कृत में भास और कालिदास आदि महाकवियों के नाटकों में साहित्य के साथ-साथ जो दूसरी मुख्य धारा प्रवाहित हो रही है, वह है आर्य-संस्कृति और आर्य-भावनाओं की जनता में प्रतिष्ठा। मनोभावों पर विजय उन्हीं मनोभावों की होती है, जो अधिक ऊँचे, सूक्ष्म, मनोहर, प्राण-स्पर्शी और जीवनप्रद हैं। वेद-साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली पौराणिक संस्कृति को प्रतिष्ठित करने के लिए उस समय के कवियों ने बड़ा उद्यम किया है—अधिकांश काव्य और नाटकों में यही भावना सन्निहित है। वह समय बौद्ध-संस्कृति और आर्य-संस्कृति का संघर्ष-काल है। बौद्धों की सहृदयता को छापकर हृदय के उभय कूलों को प्लावित कर जाने के लिए संस्कृत के महाकविगण इस समय कितने प्रयत्न पर हैं! कितनी सहृदयता इनके लेखनी-मुख से प्रवाहित है! कैसे-कैसे निर्मल स्त्री-पुरुष-चरित्र अंकित हैं! मस्तिष्क की क्रिया भी कितनी प्रखर! महाज्ञान शंकर का ज्योतिर्मय काल! भगवान् रामानुज का विशिष्टा-द्वैतवाद-दर्शन पश्चात् दार्शनिक मधु-वर्षण कर भगवद्-भावना से हृदय को सिक्त करता है! बौद्ध-भावनाओं का मूलोच्छेद तक कर देने में यही संस्कृत-नाटकों का सफल काल है।

भावनाओं के ऐसे प्रचार-कार्य के लिए नाटक सबसे अधिक सक्षम होते हैं। साहित्य को सदैव यह आवश्यकता रही है। आज अँगरेजी-साहित्य के स्वनाम-धन्य नाटककार बर्नार्ड शॉ महोदय को बुरी क्रैस्त-भावनाओं का उच्छेद ही जाति के लिए कल्याणकर मालूम दे रहा है। अपने नाटकों में उन्होंने नवयुग की विचार-धारा अनेक तरंग-भंगों से प्रवाहित की है। जनता उनका आदर कर रही है। भारत के प्रान्तीय साहित्य में बंगला का स्थान सर्वोच्च है। वहाँ के नाटकों में, हम देखते हैं, नाट्य-सम्राट् महाकवि आचार्य गिरीशचन्द्र घोष अपने पौराणिक सामाजिक तथा महापुरुष-चरित्रवाले नाटकों में, अपने स्वच्छन्द छन्द (अमित्र गैरिश छन्द) और बोलचाल की स्वाभाविक भाषा द्वारा जाति तथा साहित्य के जीवन में एक नयी ज्योति, नयी शक्ति, नयी स्फूर्ति भर देते हैं। रंगमंच पर जातीय विशालता का ज्ञान प्राप्त कर-कर सहस्रों युवक जीवन के महान् आदर्श की पूर्ति के लिए उस पवित्र धारा में बह जाते हैं।--उनके नाटकों का उद्देश सफल होता है। पश्चात् कविवर द्विजेन्द्रलाल अपने नाटकों में पश्चिमी कला, ऐतिहासिक चरित्रों में तेजःपुंज आदर्श भरकर, नवीन संगीत-स्वर का सृजन कर साहित्य और जाति को एक अपूर्व ओज से चमत्कृत कर देते हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ अपने नाटकों को मनुष्य-मात्र की भावना-वस्तु प्रस्तुत कर उन्हें विश्व-रंगमंच पर विश्व-मानव के योग्य बना देते हैं। साहित्य अपने जातीय महत्त्व के भीतर से, भीतर और बाहर, सार्वभौम महत्त्व प्राप्त करता है। जनता जो यहाँ तक पहुँच सकती है, ऐसी ही बन जाती है; जो केवल जातीय स्तर में रहती है, वह उसी हद में रहती है, और चित्रण की विशेषता से वहीं विशाल सर्वव्यापी जीवन प्राप्त करती है। नाटकों को साहित्य तथा जनता में इतना ऊँचा स्थान प्राप्त है; वे इतने बड़े उत्तर-दायित्व के आधारस्तम्भ हैं।

हिन्दी में ऐसे उत्तरदायित्व की पूर्ति तो क्या, इसे समझकर भी लिखा गया एक भी नाटक नहीं। यह बड़े अनुताप का विषय है। कुछ अच्छे नाटक अवश्य हैं, पर वे इतने उन्नत नहीं, जिससे नाटक-साहित्य में युग-प्रवर्तन का कार्य कर सके। अधिकांश अच्छे नाटकों की तो सबसे बड़ी यही कमजोरी बतलायी गयी है कि वे खेले नहीं जा सकते। जो नाटक रंगस्थल के काम के नहीं, उनका अधिकांश श्रेय यहीं चला जाता है। नयी भावनाओं के प्रचार के लिए वे असमर्थ हैं।

हिन्दी में खेले जानेवाले नाटक कलकत्ते की पारसी कम्पनियों के हैं। इस समय नाटकीय सफलता यहीं देखने को मिलती है। यहीं के नाटकों को हम लोकप्रिय कहेंगे। क्योंकि भारत के हिन्दीभाषी प्रान्तों में इन्हीं रंगमंचों की स्वर-धारा तथा पार्ट अदा करने का ढंग अख्तियार किया जाता है। जनता नाटक-विषय में इन्हीं रंगमंचों को आदर्श मानती है। और-तो-और, कलकत्ते की 'परिषद्' और 'समिति' आदि नाटक-संस्थाएँ भी इन्हीं के आदर्श पर चलती हैं।

पर साहित्य की दृष्टि से इन कम्पनियों के नाटक कितने गिरे हुए होते हैं, यह ज्ञान हिन्दी के हर साहित्यिक को है। इन रंगमंचों का उद्देश साहित्य अथवा जनता की रुचि का नहीं, अपने धन का सुधार है। इन कम्पनियों की मानसिक वृत्ति जैसी है, इनसे साहित्यिक सुधार, भारत के गौरवमय ऐतिहासिक नाटकों की आशा स्वप्न-तुल्य है। जातीयता को इनके रंगमंचों पर उचित महत्त्व कभी नहीं प्राप्त हो सकता। जगह-जगह, ज़मीन फोड़कर या आकाश से उतरते हुए विष्णुजी, कृष्णजी, रामजी या शिवजी को अवतरित कर देना ही इनका ध्येय है। हिन्दीभाषी जनता उचित नाटको के प्रदर्शन से भावना की भूमि में अग्रसर नहीं हुई — उसकी पुरानी धारणाएँ ज्यों-की-त्यों बँधी हुई हैं; उसके विचार में यह अतिरंजना ही नाट्य-कला की हद है। जनता प्रसन्न होकर पैसे देती है, कम्पनियाँ साहित्य-सुधारक कम्पनियाँ नहीं। फलतः नाटक-साहित्य बहुत ही कमज़ोर रह गया। यहाँ के नाटक-लेखक पाँच सौ से हज़ार रुपये तक तनख्वाह पाते हैं। हिन्दी में अपने-अपने विषय के आचार्य भी, जिन्होंने वास्तव में परिश्रम किया है और साहित्य को बेश-क़ीमत रचनाएँ दी हैं, मासिक सौ रुपये मुश्किल से कमा पाते हैं। कम्पनियों की दी इतनी लम्बी तनख्वाहों के साथ-साथ यदि देश तथा साहित्य की भावना भी इतनी ही लम्बी होती, तो आज हिन्दी-साहित्य के अपर अंगों से नाटक ही ज़्यादा पुष्ट नजर आते।

हिन्दी को नये युग के अनुकूल नाटकों की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी के साहित्यिक नवीन भावनाओं का महत्त्व अभी तक अच्छी तरह नहीं समझ सके थे। वे व्रज-भाषा के प्रभाव के कारण प्राचीन वातावरण में ही विचरण कर रहे थे। इसलिए मौलिक बुद्धि का विकास उनमें नहीं हुआ। आज हिन्दी को जिन भावनाओं की ज़रूरत है, वे अपनी सर्वोच्च स्थिति में व्रज-भाषा-साहित्य से बढ़कर अवश्य नहीं, पर उनके विकास की प्रथाएँ निस्सन्देह भिन्न हैं। इन्हीं प्रथाओं से साहित्य की नाड़ियों में नया खून बहता है। ऐसे ही दृश्य हमें दूसरे साहित्यों के आरम्भ-काल में देखने को मिलते हैं। धर्म, समाज और जातीयता की जो भावनाएँ व्रज-भाषा-साहित्य में हैं, आज वे बिलकुल बदल गयी हैं। वह समय धर्म-संकोचवाला था,

यह प्रसारवाला है; वह पौराणिक था, यह वैदान्तिक है; वह एक ही देश में बँधा था, यह सब देशों का समन्वय लिए हुए है। जब नाटकों में उस समय के चरित्र आधुनिक दृष्टि से अंकित किये जायँगे, तब एक नया ही जीवन आ जायगा। पौराणिक आख्यायिकाएँ जब अपने सत्य-परिचय के साथ रंगमंच पर आयँगी, तब साहित्य का एक दूसरा ही रहस्य-द्वार खुलेगा। ऐतिहासिक घटनाएँ आज की तूलिका से खिचकर आज के आदर्श बनेंगे। हिन्दू-मुसलमानों के उस संघर्ष-काल में बहुत कुछ मसाला आज की जातीयता की इमारत में लगने लायक़ है, यदि कुशल हाथों को प्राप्त हो। उन दिनों के धार्मिक पथों में से किसी एक में रहनेवाला साहित्यिक यह उत्तरदायित्व नहीं ले सकता, क्योंकि वह पक्षपात-दोष से बच न सकेगा। जनता को धार्मिक पक्षपात से मुक्त कर सत्य के सीधे मार्ग पर ले आना साधारण शक्ति का काम नहीं। जनता सदा अनुगामिनी रही है। जब धर्म-शिक्षितों की रुचि नवीन नाटकों की तरफ़ झुकेगी, उनके ख़यालात बदलेंगे, तब उनसे सुनकर, समझकर, उनके पड़ोसी और इस तरह आम जनता भी विचारों में बदलती हुई राजनीतिक प्रचार-फल की तरह आज के लायक़ बन जायगी। यही सत्य है।

अच्छे-अच्छे नाटकों के न निकलने का एक कारण यह भी है कि खड़ी बोली मातृभाषा के रूप से साहित्यिकों के कण्ठ में अब तक नहीं बैठी। इसलिए उसकी अस्वाभाविकता, उच्चारण-क्लिष्टता, प्रवाह-शैथिल्य आदि नाटक लिखने के बाधक होते हैं।

हिन्दी में जो लेखक भाषा-साहित्य के आदर्श माने जाते हैं, उनकी भी भाषा ऐसी नहीं, जो स्टेज पर बोली जा सके—प्रकृति के इतना प्रतिकूल है। जीवन के सम्पूर्ण स्नेह के साथ निकलनेवाली भाषा ही भाषा है; हिन्दी अभी केवल कृत्रिम व्यवहार की भाषा है—जीवनप्रद होने लगी है।

इन अनेक कारणों से हमारे नाटक बहुत पीछे हैं। जाति को रोचक तथा आकर्षक रूप से बड़ी-बड़ी बातें, बड़े-बड़े चरित्र, अपने सुधार के लिए, अनुकरण करने को नहीं मिलते, इसलिए वह जीवन-साहित्य में बढ़ नहीं पाती। हमारा विचार है, यदि कलकत्ते में इस नयी धारा को समझनेवाला कोई धनी साहित्यिक हिन्दी के लिए एक रंगमंच बनवाता, तो उसे आमदनी भी काफ़ी होती, और यह साहित्य भी अब तक कुछ आगे बढ़ गया होता। कम-से-कम कुछ जान तो रहती ही। पारसी कम्पनियों को तो किसी तरह भी जानदार कहते हुए संकोच होता है।

पारसी कम्पनियों में जो ऐक्टिंग प्रचलित है, उसका उच्चारण हिन्दी-हृदय, हिन्दी-जातीयता के बिलकुल प्रतिकूल है। 'पृथ्वीराज' नाटक में महम्मद ग़ोरी का ठीक उच्चारण रक्खा जा सकता है, पर पृथ्वीराज या संग्रामसिंह का कदापि नहीं। स्त्री-चरित्र तो वक्तृत्व-कला में इतने गिरे होते हैं कि अभिनेत्री सीता का पार्ट कर रही है, यह नही सोचती; वह स्वयं क्या है, यह दिखाती है। गाने प्रायः सभी, स्वरों से, मन मे हल्कापन पैदा करते हैं। स्वर के भीतर से उँचे उठने का वहाँ रास्ता ही बन्द है।

ईश्वर से प्रार्थना है, हिन्दी का यह दैन्य वह शीघ्र दूर करें। राष्ट्र-भाषा में

एक भी नाटक यथार्थ राष्ट्रीय महत्त्व रखनेवाला नहीं, सार्वभौम महत्त्व तो बड़ी दूर की बात है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 सितम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

रचना-रूप

आज संसार अपनी रचनात्मिका शक्ति से बहुत आगे है। हम बहुत पीछे हैं। साहित्य का जीवन उसकी रचनात्मिका शक्ति है। नवीन रक्त-संचार की तरह नये-नये विचारों का निर्गमागम जब साहित्य तथा समाज में होता है, तभी समाज गतिशील और साहित्य जीवित रह सकता है। जब प्राचीन पथ का अनुसरण-मात्र हमारा ध्येय रह जाता है, तब केवल साहित्यिक पराधीनता हमारी मनोवृत्तियों की परिचायिका होती है।

सृष्टि का अर्थ नवीनता है। जहाँ यह पिष्टपेषण में बदला कि सारी मौलिकता का नाश समझिए। मौलिकता के नाश का अर्थ है मस्तिष्क का नाश, और मस्तिष्क का नाश पराधीनता—मस्तिष्क का दूसरों के वश में होना।

हमारे साहित्य की यही शोचनीय दशा है। जिधर भी देखिए, रचनाओं में प्राचीन रूढ़िवाद, अन्धपरम्परा ही देख पड़ेगी। काव्य-साहित्य में राम और कृष्ण पर आज भी काफी लिखा गया, और लिखा जा रहा है। लिखने की बात नहीं, बात रचना की है। जो नयी रचनाएँ हुई हैं, उनमें राम और कृष्ण के सम्बन्ध में नवीन दृष्टि नही पड़ी; बल्कि कवियों की अदूरदर्शिता ने भक्ति आदि की भावना से, उन्हें प्रकृत मनुष्यों के रूप में ग्रहण कर, जनता को और गिरा दिया है। पहले के काव्यों में राम और कृष्ण के ज्ञानमय जो दिव्य रूप हैं, उन्हें समझकर समाज कुछ अग्रसर हो सकता है। आज के साहित्य को पढ़कर कल्पना-प्रसूत व्यक्ति-विशेष राम या कृष्ण की अनुगामिनी होकर दास्यभाव ग्रहण करती है। इसी प्रकार की देश तथा विश्व-सम्बन्धनी रचनाएँ हैं। कहीं भी रचना को कला के भीतर से उत्कृष्ट महत्त्व नहीं दिया जा सकता। कुछ रचनाएँ हैं, पर वे नहीं के ही बराबर हैं।

उपन्यास-साहित्य भी इसी प्रकार सूना है। देहाती कुछ चित्रण हैं, पर इनसे साहित्य की विभूति नही बढ़ती। हिन्दी के लिए इससे बढ़कर लज्जा की बात और क्या होगी कि उर्दू के लेखक, उर्दू के जानकार, जिन्हें हिन्दी के सन्धि-समास का भी ज्ञान नहीं, अच्छे उपन्यास-लेखक हैं। यह उर्दू के प्रति हिन्दी की वही पराधीनता है, जिसका सूत्र-रूप में पीछे उल्लेख किया जा चुका है। अस्तु, इन उपन्यासों से समाज को नयी स्फूर्ति, नया बल नहीं मिला। कुछ है सुधार-रूप से, पर वह इतना निष्प्राण और जड़ है कि वह कंकाल की ही तरह है, जिसे देखकर लोग और डर

जाते हैं, सजीव देह की तरह सौहार्द्र से छलकता हुआ नहीं, जिसकी ओर मन आप खिच जाय। इन उपन्यासकारों ने समाज की पुरानी लकीर पीटी है। उसी जगह खड़े हुए बढ़ने का ज़रा इशारा-भर किया है, ख़ुद नहीं बढ़े। इसलिए उनकी कृति समाज को बढ़ा नहीं सकी। नाटककार तो और पतित रहे, जो समाज के समक्ष रंगमंच पर अपनी कृति के चित्र दिखाते रहे। लेखक, प्रचारक सब इसी ढर्रे के, एक एक से बढ़कर भारतीय, सच्चरित्र, संस्कृति के अवतार, सीता, सावित्री और दमयन्ती के पति। फलतः, साहित्य की गति यहीं रुक गयी। उनके ऐसे मस्तिष्क पर विश्व-संस्कृति हल्की होने के कारण स्वभावतः सवार रही, और वे समझकर भी न समझ सके।

रचना-शक्ति का विकास जब होता है, तब सभी चरित्र-चित्रण में बराबर महत्त्व रखते हैं, प्रेम, ओज, शौर्य, दृश्य, स्थूल, सूक्ष्म, जड़, चेतन, जो कुछ भी लेखनी के सामने वर्णित होने के लिए आता है, सम्पूर्णता प्राप्त करता है। लेखक जब भाव-विशेष का पक्ष ग्रहण करता है, तब रचना दुर्बल हो जाती है। लेखक वह विचारक है, जिसकी दृष्टि में पाप और पुण्य का बराबर महत्त्व है। आवश्यक होने पर, पुण्यात्मा के मस्तक पर भी लेखक वज्रपात करा सकता है। यह कोई नियम नहीं कि धर्मात्मा बच ही जायगा। प्रकृति इतिहास द्वारा इन कर्मों का साक्ष्य देती है। जब रचना भाव की तह तक पहुँचती है, तभी उसका रूप स्पष्ट होता है, तभी वह आत्मा, प्राण तथा अवयवों से सजीव होकर साहित्य में जीवन-संचार करती है। हमारे साहित्य की सभी दिशाएँ पतित भूमि की तरह अनुर्वर हैं। न प्राचीन समाज की यथार्थ महत्ता के चित्र हमारे साहित्य में हैं, जो अपने भीतर से हमें शक्ति दे सकें, न नवीन समाज की सार्थक कल्पना प्रत्यक्ष होती है, जिससे साहित्य की श्री-वृद्धि की आशा की जाय।

पर उपाय यही है। ऐसा ही अन्यत्र हुआ है। तभी साहित्य को भरे-पूरे रूप प्राप्त हुए हैं, और समाज अपनी प्रगति का निश्चय कर सका है। चित्र-हीन, निष्प्राण पुकार से सुधार नहीं होता। संसार के वर्तमान सामाजिक रूप देखिए, उन्हें रचनाओं ने ही गतिशीलता दी होगी--दे रही होंगी। सहस्रों जो प्रवर्तन हुए, होते हैं उनकी संचालिका शक्तिमयी रचनाएँ ही होंगी।

[‘सुधा’, अर्धमासिक, लखनऊ, 16 सितम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

रचना-सौष्ठव

पहले यह समझ लेना चाहिए कि संसार में जितने विषय, जितनी वस्तुएँ, मन और बुद्धि द्वारा ग्राह्य जो कुछ भी है—वह भला हो, या बुरा—रचयिता की दृष्टि में

बराबर महत्त्व रखता है। इसलिए किसी बुरे दृश्य की वर्णना उतनी ही महत्त्वपूर्ण होगी, जितनी अच्छे दृश्य की। रचयिता को दोनों की रचना में एक ही-सी शक्ति लगानी पड़ती है।

वर्णना के मुख्य दो रूप हैं, बाहरी और भीतरी। आज तक संसार के साहित्यिक भीतरी रूप को ही विशद, सुन्दर और कल्याणकारी मानते आये हैं। क्योंकि वह आत्मा के और निकट है। भीतरी बुरे रूप की जब शक्तिपूर्ण वर्णना होती है, तब बुराइयों के भीतर वह साहित्यिक दृष्टि से सत्य, शिव और सुन्दर है। आत्मा से जब कि भले और बुरे का निराकरण नहीं हो सकता, एक ही आत्म-समुद्र में दोनों अमृत और विष की तरह मिले हुए हैं—तब उस विष की परिव्यक्त सघन नीलिमा भी नभ की ही श्याम शोभा बनती है। भले चित्र के भीतरी वर्णन का निकटतर सम्बन्ध आत्मा से ही होगा, यह लिखना द्विरुक्ति है। साथ-साथ हम यहाँ यह भी लिखेंगे कि वर्णन में कुशलता प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक अध्ययन और चिन्तन आवश्यक हैं। अध्ययन द्वारा विषय-प्रवेश होता है, और चिन्तन द्वारा मौलिक उत्पत्ति और रचना-शक्ति का विकास।

जहाँ कई पात्रों के चरित्र एक साथ रहते हैं, वहाँ लेखक को बड़ी सावधानी से निर्वाह करना पड़ता है। यही कला के मिश्रण का स्थल है। यह मिश्रण प्रति चरित्र में भी रहता है। जिन महाराणा प्रतापसिंह में प्रतिज्ञा की अटलता देख पड़ी है, वही प्रकृति के विरोध-सघर्ष से पराजित होकर, बाहर से, पश्चात् मन से भी हारकर, अकबर को पत्र लिखते हैं। यह प्राकृतिक संघर्ष हर चित्रण में जीवन और मृत्यु की तरह रहता है। इसका परिपाक कला का उत्कर्ष-साधन है। यहीं बड़े-बड़े लेखक नाकामयाब होते हैं। सच्चा कलाविद् ही इस मौके की पहचान रखता है कि यह प्रवाह इतनी देर तक इस तरह, इस तरफ गया, अब इस कारण से इसे रुख बदलना चाहिए। कारण पैदा करनेवाला कलाकार ही है, वह एक प्रवाह की गति फेरने के लिए कारण पैदा करता है, और गति-विपर्यय ही बढ़ने का कारण है। हर चरित्र इस प्रकार बढ़ता हुआ पूर्णता प्राप्त करता है, अपने गम्य स्थान को जाता है। एक बीज जैसे पेड़ होता है; एक तना—यही प्रधान पात्र है, या मुख्य विषय; दो-तीन शाखाएँ पात्र या विषय को अवलम्ब देती हैं। अनेक प्रशाखाएँ, उपालम्ब-स्वरूप; उनका टेढ़ापन कलापूर्ण प्रगति; पत्र आदि वर्णनाच्छद; पुष्प-सौन्दर्य, विकास; सुगन्ध परिसमाप्ति; अथवा फलप्राप्ति। एक परिपूर्ण रचना के लिए भी बिलकुल ऐसा ही है; गंगा-जैसी बड़ी नदी को भी हम उदाहरण के लिए ले सकते हैं। गृह-गृह का जल नालों में, नालों का उपनदियों में, उपनदियों का नद-नदियों में और नद-नदियों का, सर्वत्र वक्र गति से बढ़ता हुआ, गंगा से मिलकर समुद्र में समाप्त होता है।

इस दृश्य के अनुरूप रचना कल्याणकारिणी होनी चाहिए। फूलों की अनेक सुगन्धों की तरह कल्याण के भी रूप हैं। साहित्यिक को यहाँ देश और काल का उत्तम निरूपण कर लेना चाहिए। समष्टि की एक माँग होती है। वह एक समूह की माँग से बड़ी है। साहित्यिक यदि किसी समूह के अनुसार चलता है, तो वह वह उच्चता नहीं प्राप्त कर सकता, जो समष्टि को लेकर चलता है। पिता के श्राद्ध में

ब्राह्मण भोजन तब ठीक था, जब ब्राह्मण शिक्षा-गुरु और भिक्षान्नजीवी थे। अब यह पुण्य-कार्य व्यापक विचार से नहीं रहा। जिनका पेट भरा हो, उन्हें उत्तम पदार्थ खिलाने से क्या पुण्य? साहित्यिक ऐसे स्थल पर यदि ग़रीबों को वर्ण-विचार छोड़कर खिलाता है, तो एक नयी सूझ होती है, साहित्य को नयी शक्ति मिलती है, समाज में एक नवीनता आती है। कोई ऐसा भी कर सकता है कि पिता का श्राद्ध ही न किया। कारण बतलाये, देश बहुत ग़रीब हो गया है, ऐसे सुकृत्यों की अब आवश्यकता नहीं रही। यह भी एक नयी बात होगी। ऐसे ही सामाजिक, धार्मिक तथा अपर-अपर अंगों के लिए।

अभी हमारा समाज इतना पीछे है कि उसी में रहकर, उसी के अनुकूल चित्र खींचते रहने से हम आगे नहीं बढ़ सकते। कुछ-कुछ समाज के ही अनुरूप चित्र खींचने के पक्ष मे हैं। पर यह उनकी अदूरदर्शिता है। हम पक्ष में भी हैं और वैपक्ष्य में भी। जहाँ तक हमें औचित्य देख पड़ेगा, हम पक्ष मे हैं, जहाँ तक हमें उस औचित्य को ले जाना होगा, वहाँ यदि विपक्षता है, तो हम वैपक्ष्य में हैं। अनेकानेक भावों से यही साहित्य की नवीन प्रगति है, और इसी की वृद्धि साहित्य की पुष्टि।

हमारे समाज से भिन्न, किन्तु मिला हुआ एक और समाज है। वह केवल देश में नहीं बँधा, तमाम पृथ्वी के मनुष्य उसके अन्तर्गत हैं। वहाँ मानवीय उन्हीं भावों के लिए गुंजाइश है, जो मनुष्य-मात्र के कहे जा सकते हैं, जिन्हें पढ़कर एक ही-सा अनुभव समस्त संसार के मनुष्य करेंगे। ऐसे सर्व-साधारण भावों पर लिखनेवाले साहित्यिक को बाहरी छोटे-छोटे साम्प्रदायिक अथवा जातीय उपकरण छोड़ देने पड़ते हैं। मनस्तत्त्व में ही उसे विशेष रूप से रहना पड़ता है। एक प्रकार निरव-लम्ब हो जाने के कारण साधारण लेखक यहाँ कामयाब नहीं होते, पर इस तरह की कृतियाँ साहित्य में सर्वोच्च व्याख्या प्राप्त करती हैं।

पात्र के मनोभावों का वर्णन, उसके समर्थ बाहरी प्रकृति का सत्य संयोग, तदनुकूल भाषा, आदि-आदि मुख्य साधनों की शिक्षा पहले प्राप्त कर लेनी चाहिए। सुबह को अगर वियोग की कथा कहनी हो, तो ऋतु-विपर्यय दिखलाये; यदि इसके लिए जगह न हो, तो प्रदीप के नीचे के अँधेरे की तरह सुख-प्रकृति में दुःख की वर्णना करे। कलाविद् ऐसे स्थलों में, हरे पत्तों पर पीले फूल की तरह, खूबसूरती से विषय को और खिला देता है।

हमारे साहित्य में जो रचनाएँ प्रायः देखने को मिलती हैं, उनमें बच्चों के हृदय का उच्छ्वास अथवा वृद्धों का मस्तिष्क-विकार ही अधिकांश में प्राप्त होता है। किसी स्थितप्रज्ञ की रचना मुश्किल से कहीं देखने को मिलती है। हमारे विचार में इसका मुख्य कारण लेखकों का धर्म, सम्प्रदाय, जाति और रूढ़ियों के बन्धनों में बँधा रह जाना है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 अक्तूबर, 1933 (सम्पादकीय)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

भाषा-विज्ञान

रचना-सौष्ठव पर लिखने के बाद ज़रूरी है कि भाषा-विज्ञान पर भी कुछ लिखें। भाषा बहुभावात्मिका रचना की इच्छा-मात्र से बदलनेवाली देह है। इसीलिए रचना और भाषा के अगणित स्वरूप भिन्न-भिन्न साहित्यिकों की विशेषताएँ ज़ाहिर करते हुए देख पड़ते हैं। रचना युद्ध-कौशल है और भाषा तदनुरूप अस्त्र। इस शास्त्र का पारंगत वीर साहित्यिक ही यथासमय समुचित प्रयोग कर सकता है। इस प्रयोग का सिद्ध साहित्यिक ही ऐसे स्थल पर कला का प्रदर्शन करेगा। मालूम होगा, यह कला स्वयं विकसित हुई है। वह सजीव होगी। असिद्ध साहित्यिक वहाँ प्रयास करता हुआ प्राप्त होगा। अनेक ख्यातनामा लेखक इसके उदाहरण हैं।

भाषा-विज्ञान की मुख्य एक धारा गद्य और पद्य में कुछ-कुछ विशेषताएँ लेकर पृथक हो गयी है। इस भेद-भाव को छोड़कर हम साधारण-साधारण विचार पाठकों के सामने रक्खेंगे। पहले हमारे यहाँ व्रज-भाषा में पद्य-साहित्य ही था, गद्य का प्रचार अब हुआ है। भाषा-विज्ञान की तमाम बातें यद्यपि पद्य-साहित्य में भी प्राप्त होती हैं, फिर भी उस समय के कवियों या साहित्यिकों को हम इधर प्रयत्न करते हुए नहीं पाते। वे रस, अलंकार और नायिका-भेद के ही उदाहरण तैयार करते हुए मिलते हैं। अब, जब गद्य का प्रचार हुआ, और भले-बुरे कुछ व्याकरण भी तयार किये गये, हम देखते हैं, फ़ारसी और उर्दू का हमारी बाहरी प्रकृति पर जैसा अधिकार था, अन्तःप्रकृति पर भी बहुत कुछ वैसा ही पड़ा है—हमारा वाक्-स्फुरण, प्रकाशन बहुत कुछ वैसा ही बन गया है। उर्दू आज भी युक्तप्रान्त में अदालत की भाषा है। उर्दू के मुहावरे हिन्दी के मुहावरे हैं। इस प्रकार हिन्दी-उर्दू का मिश्रण रहने पर भी हिन्दी ही उर्दू से प्रभावित है। यही कारण है कि उर्दू का लेखक बहुत जल्द हिन्दी का प्रतिष्ठित लेखक बन जाता है, चाहे उसे हिन्दी के अक्षर-मात्र का ज्ञान हो। उसकी रचना सीधी और भाषा बामुहावरा समझी जाती है। गीतों में जो स्थान ग़ज़लों का है, वह पदों का नहीं रह गया। हिन्दी-पत्रों में उर्दू के अशआर पढ़ने क शौकीन पाठक ज्यादा मिलेंगे। ध्रुवपद, धम्मार, रूपक और झप, सोलह मात्राओं की कव्वालियों के आगे झेंप गये हैं। ये सब हमारी भाषा की पराधीनता के सूचक हैं, शब्द-विज्ञान में यही ज्ञान स्पष्ट देख पड़ता है।

पर जिन प्रान्तों पर उर्दू या फ़ारसी की अपेक्षा संस्कृत का प्रभाव अधिक था, अँगरेज़ी के विस्तार से उनकी भाषा मार्जित तथा जातीय विशेषत्व की ज्ञापिका हो गयी है। हमारी हिन्दी अभी ऐसी नहीं हुई। उसके खार अभी निकाले नहीं गये। उसमें भाषाविज्ञान के बड़े-बड़े पण्डितों ने सुधार के लिए परिश्रम नहीं किया। उसका व्याकरण बहुत ही अधूरा है। जो लोग संस्कृत और अँगरेजी दोनों व्याकरण से परिचित हैं, वे समझ सकते हैं, दोनों के व्याकरण में कितना साम्य है। लिपी की तरह उर्दू का व्याकरण भी भिन्न रूप है। अवश्य कुछ साम्य मिलता है। हम इस नोट में उद्धरण नहीं दे सकते, स्थानाभाव के कारण। हम यह जानते हैं

कि बिना उद्धरणों के साधारण जन अच्छी तरह समझ नहीं सकेंगे। पर अभी हम सूक्ष्म रूप से ही कहेंगे। किसी बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्री, मद्रासी या उड़िया विद्वान् से हिन्दी के सम्बन्ध में पूछिए; वह व्याकरण-दोषवाली बात पहले कहेगा। एक बार महात्माजी ने स्वयं ऐसा भाव प्रकट किया था—युक्तप्रान्त की हिन्दी ठीक नहीं, अगर वहाँ कोई हिन्दी के अच्छे लेखक हैं, तो उनके साथ मेरा परिचय नहीं। महात्माजी की इस उक्ति का मूल कारण क्या हो सकता है, आप ऊपर लिखे हुए कथन पर ध्यान दें।

जाति को भाषा के भीतर से भी देख सकते हैं। बाहरी दृष्टि से देखने के मुकाबले इसके साहित्य को भीतर से देखने का महत्त्व अधिक होगा। भाषा-साहित्य के भीतर हमारी जाति टूटी हुई, विकलांग हो रही है। बाहर से ज्यादा मजबूत यहीं—भीतर उसके पराजय के प्रमाण मिलेंगे। जब भाषा का शरीर दुरुस्त, उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाडियाँ तैयार हो जाती हैं, नसों में रक्त का प्रवाह और हृदय में जीवन-स्पन्द पैदा हो जाता है, तब वह यौवन के पुष्प-पत्र-संकुल वसन्त में नवीन कल्पनाएँ करता हुआ नयी-नयी सृष्टि करता है। पतझड के बाद का ऐसा भाषा के भीतर से हमारा जातीय जीवन है! पर, जिस तरह इस ऋतु-परिवर्तन में मृत्यु का भय नहीं रहता, धीरे-धीरे एक नवीन जीवन प्राप्त होता रहता है, हमारे भाषा-विज्ञान के भीतर से हमें उसी तरह नवीन विकास प्राप्त होने को है।

अँगरेजी-साहित्य से हमें बहुत कुछ मिला है। केवल हम अच्छी तरह वह सब ले नहीं सके। कारण, अँगरेज़ी-साहित्य को हमने उसी की हद में छोड़ दिया है। अपने साहित्य के साथ उसे मिलाने की कोशिश नहीं की। हिन्दी में और तो जाने दीजिए, कुछ ही ऐसे साहित्यिक होंगे, जो 'Direct' और 'Indirect' वाक्यों का ठीक-ठीक प्रयोग करते हों। सीधे वाक्य को 'तो', 'ही' और 'भी' के अनावश्यक बोझ से गधा बना देते हैं। क्या मजाल, किसी विद्वान् का लिखा एक वाक्य सीधे ज़बान से निकल जाय। कहीं पूर्ण विराम पर विराम लेने की प्रथा होगी, हिन्दी में हर विभक्ति के बाद आराम करके आगे बढ़िए। भाषा में इतना प्रखर प्रवाह! फलत: जाति भी वैसी ही अंटाचित्त है।

हमें समय मिला, तो हम आगे इस अंश पर विचार करेंगे। अभी यह कहना चाहते हैं, इस तरह शक्ति रुक जाती है। भाषा-साहित्य की बड़ी बात यह है कि जल्द-से-जल्द अधिक-से-अधिक भाव लिखे और बोले जा सकें। जब इस प्रकार भाषा बहती हुई और प्रकाशनशील होती है, तभी उत्तमोत्तम काव्य, नाटक, उपन्यास आदि उसमें तैयार होते हैं। दूसरे, गद्य जीवन-संग्राम की भी भाषा है। इसमें कार्य बहुत करना है, समय बहुत थोड़ा है।

['सुधा', अर्धमासिक, 1 अक्तूबर, 1933 (सम्पादकीय)। **प्रबन्ध प्रतिमा में** संकलित]

हमारा कथानक-साहित्य

आजकल संसार का ही रुख़ कथानक-साहित्य की ओर अधिक है। कहीं-कहीं दिलचस्पी पहले से घटने लगी है, काव्य की तरफ झुकाव बढ़ा है, फिर भी पाठक-संख्या के विचार से कथानक-साहित्य का ही अध्ययन ज्यादा होता है। संसार के कर्मों से थके हुए मनुष्य प्राय: कहानी-उपन्यास ही मनोरंजन के लिए पसन्द करते हैं। योरप में इसकी कला मननशील लेखकों के अविरत परिश्रम से उच्चतम सीमा को पार कर गयी है। और, चूँकि जीवन की यथार्थ छाप इस साहित्य में अनेकानेक चरित्रों के भीतर से अनेकानेक रूपों में रहती है, इसलिए अपर साहित्यों की अपेक्षा इसके प्रति आकर्षण ख़ासतौर से होता है।

परन्तु जीवन की प्रगति का निश्चय न रहने पर भी वह एक कुछ नहीं की तरह नहीं बहता। उसमें कुछ निश्चय और लक्ष्य भी होता है। यही लक्ष्य जीवन का उद्देश है। किसी जीवन का लक्ष्य बुरा नहीं होता। यहीं कला के उद्देश की साधना है। यहाँ अनेकानेक चरित्रों की पूर्तियाँ समाज के विभिन्न अंगों को एक-एक पुष्ट रूप देती हैं। समाज के सामने आदर्श की स्थापना होती है। व्यक्ति और समाज को उपन्यास के भीतर से कुछ मिलता है, जिससे वह पहले की अपेक्षा और सुन्दर स्वरूप, विचार और संस्कृति प्राप्त करता है। अवश्य लक्ष्य-भ्रष्ट मन्द जीवन भी कथानक-साहित्य के अंग हैं. पर उनका निरुद्देश बहना ही उनके शक्ति-साहित्य का परिचय होकर समाज को उधर जाने से रोकता है।

बहुत-से चरित्रों के चित्रण संघर्ष से किसी जटिल प्रश्न का समाधान भी उपन्यास-साहित्य का एक प्रधान विषय है। जो बात किसी लक्ष्य पर पहुँचने के लिए है, वही एक उलझी हुई समस्या के समाधान के लिए भी। यह समस्या सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, हर तरह की हो सकती है। हर ज़ाति के सामने प्रति, मुहूर्त, नये पथ पर, नये विचारों से चलने का प्रश्न रहता है। यदि ऐसा न हो, तो मनुष्य-जाति स्वभाव को न बदल सकनेवाले पशुओं में परिणत हो जाय। यहाँ भी, ऐसे प्रश्नों के विवेचन के समय, चित्रण करते हुए, उपन्यासकार को मनोहर कला के भीतर लोक-मनोरंजन का अद्भुत कौशल प्रदर्शन करना पड़ता है; बल्कि आदर्शवादवाली कला से यहाँ शक्ति को और भी पुष्ट रूप देना पड़ता है; क्योंकि यह समाज के स्वीकृत विषय का मार्जित तथा उच्चतर स्वरूप नहीं, उसके मनोभाव के बदलने का विवेचन है, जहाँ प्राय: लोगों को नाकामयाबी हासिल होती है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानी-लेखक इस भूमि में नहीं आये। अब विवेचन शुरू हुआ है, और यही किसी-किसी उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक की विशेषता है। हमारे अब तक के पुराने उपन्यास-लेखकों ने समाज से जैसे डरकर नवीन सामाजिकता से अपने उपन्यासों को अलंकृत नहीं किया, उनमें चित्रण की उतनी प्रबल शक्ति, मौलिक विवेचन की अबाध धारा नहीं। वे प्राचीन संस्कारों के भीतर ही जो कुछ कर सके, करते रहे, करते जा रहे हैं। आदर्शवादी होने पर

भी युवती विधवा के प्रेमी को मार देना कोई आदर्शवाद न हुआ, क्योंकि सभी जगह विधवाओं के प्रेमी पंचत्व को प्राप्त होंगे, ऐसा कोई प्राकृतिक नियम नहीं; अवश्य उनके पात्रों में जहाँ कहीं विजाति-प्रेम पैदा हुआ, वहाँ एक के सिर बराबर काल नाचता रहा। केवल प्रेम दिखाकर, अन्त में एक लम्बी निराशा की साँस छोड़वाकर छोड़ देना न तो कोई आदर्शवाद है, न किसी समस्या का ही विवेचन-पूर्ण समाधान। कुछ लेखकों ने सामाजिक दुश्चित्रों का ज्यों-का-त्यों चित्रण किया है, पर वहाँ स्थूल घटनाएँ-ही-घटनाएँ हैं, मनस्तत्व कहीं कुछ भी नहीं। ऐसा समाज में होने पर भी कि मिश्रजी ने तीन शादियाँ दहेज के लिए कर लीं, फिर बड़ी पत्नी उन्नीस साल की उम्र में सौतों के पुरश्चरण के कारण या किसी दूसरी वजह से घर से निकलकर चौराहे के एक्के पर बैठ गयी, और एक्केवाले के पूछने पर कि कहाँ ले चलूँ, कह दिया—'जहाँ तुम्हारी तबियत हो'; यह उपन्यास-साहित्य में साहित्यिकता के भीतर से किसी समस्या का समाधान न हुआ; पुनः इस तरह के चित्रण होने पर जो फल होता है, न होने पर कदाचित् उससे अच्छा हो सकता है।

उपन्यास-साहित्य में जितने चरित्र आते हैं, कला-कौशल से उन सभी को, वे प्रधान हों, अप्रधान, बगीचे के भिन्न-भिन्न फूलों की तरह पूरा-पूरा विकास प्राप्त होना चाहिए। पुनः पहाड़ों की मनोहर शृंखला की तरह, अपनी-अपनी विशेषताओं से उठे हुए भी, तरंगों की तरह, उन्हें, एक-दूसरे के उठान का सहायक रहना चाहिए। तभी बहुत-से विकासों के भीतर से, छोटी-बड़ी, अलग-अलग ज़मीन से रँगी, उप-नदियों की धाराएँ एक ही विशाल विषय-नद के द्वारा लक्ष्य के समुद्र से मिल सकेंगी। आज तक हमारे सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक जहाज़ के मस्तूल पर बैठे हुए औपन्यासिक पक्षी, देश के सागर में निर्लक्ष्य तटादर्श-रहित उसी की गति से गतिशील थे; स्वयं किनारे की तरफ उड़कर नाविकों को आदर्श तट का ज्ञान नहीं दे सके। इसका कारण उनका स्वयं समस्याओं में पड़ा रहना है, समस्याओं की ही शक्ति से संचलित होना है, समस्याओं का संचालन करना नहीं। जब तक लेखक लक्ष्य को स्वयं पहुँचा हुआ नहीं होता, वह लक्ष्य का निर्णय नहीं कर सकता। इस कारण हमारा कथानक-साहित्य अब तक बहुत कुछ बालकों की बेमतलब की बातचीत है।

एक औपन्यासिक या कथानक-लेखक को जिस तत्त्व के आधार पर उपन्यास या कथानक की रचना करनी पड़ती है, वह प्रधानतः है मनस्तत्त्व। बाहरी प्रकृति का चित्रण स्थूल आधार-मात्र है। इसीलिए जहाँ-जहाँ, जिन-जिन लेखकों ने समुद्र, रास्ता, बगीचा या कमरे के वर्णन में सफ़े-के-सफ़े रँग डाले हैं, और मनस्तत्व या प्राण-स्पर्शी वार्तालाप अथवा घटना को उसी हिसाब से छोटा और अधूरा कर दिया है, वे सफल नहीं हो सके। पर जहाँ बाहरी वर्णन थोड़ा रहने पर भी मनस्तत्त्व का अच्छा विवेचन घटना-विपर्यय के साथ मिलता है, वहाँ उपन्यास अथवा कथानक पूर्ण सफल हैं। इस प्रकार भीतरी चित्रण का ही प्राधान्य प्राप्त होता है।

किसी भी व्यक्ति अथवा विषय के लिए सहानुभूति का उद्रेक भीतर से ही होता है। अगर समाज को कुछ सुझाना-समझाना पड़ता है, तो यह भी भीतर की

ही बात है। सुधार भी पहले भीतर से होता है, और संसार, की मनुष्य-प्रकृति में यदि मेल कहीं हो सकता है, है, तो वह भी भीतर ही है। इसलिए चित्रण में रसोद्रेक के साथ-साथ लेखक को भीतरी प्रकृति पर ही लक्ष्य करना पड़ता है। हमारा कथा-साहित्य यहाँ बहुत ही गरीब है, बड़ा ही अनुदार, इसलिए अत्यन्त रुक्ष। हमारे उपन्यासों में, कहानियों में, लकड़ी बहुत है, कारीगरी बहुत थोड़ी। उपकरणों की हद नहीं, पेरी ईख के छिलकों का ढेर लगा हुआ है, पर रस का कहीं पता नहीं -- उपन्यासकारों के मस्तिष्क-कटाह में ही जलकर भस्म हो चुका।

जब उपन्यास विश्व-साहित्य की व्याख्या प्राप्त करता है, तब उसका उपकरण-भाग जो देशीय आचारों से सम्बन्ध रखता है, अधिकांश में नष्ट हो जाता है। केवल मानसिक उत्थान-पतन को ही जगह मिलती है। यहाँ उठते-उठाते लेखक जब उपन्यास को मनस्तत्त्व की सर्वोच्च सीमा तक पहुँचा देता है, तब उसे अपनी ही वस्तु, अपने ही मन से मिलती-जुलती, सहानुभूति भरती, प्राप्त करती हुई, अपने ही जीवन की कथा संसार के शिक्षित जन मान लेते हैं। यही उपन्यास-साहित्य की विश्व-व्याप्ति है। हमारे लब्ध-कीर्ति औपन्यासिकों ने ऐसे कथानक या उपन्यास लिखे हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते, पर इतना अवश्य है कि प्राचीन विचारों की अनुकूलता के अनुसार सत्य के प्रचार के तौर पर उनकी रचनाएँ हैं।

हिन्दी में एक जो सबसे बड़ी कमी है, वह है कथा-साहित्य में ऐश्वर्य-प्रदर्शन का अभाव। जिस तरह भाषा वैभव-विहीन है, उसी तरह भाव, प्रकाशन और चरित्र भी हैं। वे शक्ति के सौन्दर्य से किरणों के निर्भर की तरह नहीं चमकते। दूसरों की दृष्टि को आकर्षित नहीं कर सकते। इसीलिए दूसरों में हमारे अस्तित्व पर सम्भ्रम नहीं पैदा हुआ। जो कुछ है, यह कुछ नहीं है। यही विचार हमें कुछ कर सकता है।

हमारे औपन्यासिक सामाजिक जीवन के टूटे पिण्ड को अनेकानेक सुष्ठु रूप भाषा और भावों के भीतर से देते हुए यदि कला-कौशल के पुनर्जीवन से चमका सकें, तो समाज शीघ्र दूसरे शुद्ध साहित्यिक रूप में बदल सकता है। राष्ट्र के निर्माण से कम उत्तरदायित्व समाज के निर्माण में नहीं, जिसकी डोर बहुत कुछ औपन्यासिकों के ही हाथ में है। फिर ऐश्वर्य, कथोपकथन, चाल-चलन, उच्चता, सभी विषयों में हमारी गतिविधि बदल जायगी। हम राष्ट्र के साथ-साथ विश्व के भी विशद चरित्रों से मिल-जुल सकेंगे। आज जिस रूढ़ि को महान् मानकर हम जड़वत् पकड़े हुए हैं, तब इसे छोड़कर भी इसकी यथार्थ उच्चता की व्याख्या कर सकेंगे। आज जिस तरह अँगरेजी में अँगरेजों द्वारा लिखे हुए वेदों के मन्त्रार्थ पढ़कर हम हिन्दी में वेदों का इतिहास लिखते हैं—विश्व-साहित्य की अनूदित कहानियाँ, उपन्यास अँगरेजी में पढ़कर, उन्हीं रूपों से रखकर हिन्दी की प्रतिभा को जाग्रत् करना चाहते हैं, तब ऐसा न होगा—तब हमें अपनी शक्ति का भी परिचय प्राप्त होगा—तब हम भी अपनी विशिष्ट मौलिकता के साथ विश्व की आँखों में मित्र के रूप से परिचित होंगे।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 नवम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

समस्या-मूलक साहित्य

संसार का आधुनिक साहित्य अधिकांश में समस्या-मूलक साहित्य है। वर्तमान समय में मनुष्य ने अपने लिए अनेक प्रकार की जटिल समस्याएँ उत्पन्न कर ली हैं। इससे आधुनिक लेखक को एक यह सुविधा हुई है कि रस-सृष्टि के लिए उसे कुछ नवीन सामग्री प्राप्त हो गयी है। यहाँ रस से काव्य शास्त्र के नौ रसों से ही हमारा तात्पर्य नहीं है, रस से हमारा तात्पर्य है विचित्र जीवन का विचित्र रस। जीवन की समस्याओं में जिनको रस मिलता है, वे समस्या-रस की ही उपन्यास, नाटक अथवा कहानियों द्वारा सृष्टि करते हैं, उनका वही रस है। उसके भीतर हास्य, करुण, रौद्र आदि रसों का समावेश हो सकता है। अथवा विवेचना के भीतर ही जिनको रस मिलता है, उनकी रस सृष्टि में यह विवेचनारूपी रस ही विचित्र कला के रूप में प्रस्फुटित हो उठता है परन्तु इस प्रकार कला की सृष्टि करना बहुत सहज नहीं। साहित्य में विषय के प्रयोजन को जहाँ अधिक महत्त्व मिलता है, वहीं वह अपने आदर्श से च्युत होता है। क्योंकि समस्या की विवेचना करना साहित्य का कार्य नहीं, उसका कार्य तो रस की सृष्टि करना है। परन्तु साहित्यिक रचना का विचार करते समय हम इस तथ्य को भूल जाते हैं। साधारण पाठकों की तरह हम रचना के रस-रूप की ओर दृष्टिपात न करके रचना के उपादान अथवा विषयवस्तु की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। परन्तु कला की दृष्टि से उपादान का कुछ भी महत्त्व नहीं, रस-रूप ही सबकुछ है —अर्थात् विषय-वस्तु अतिशय तुच्छ चीज है, काव्य का रस-रूप ही उसका सर्वस्व है। काव्य में विचार और चिन्ता, तत्त्व और तथ्य का कोई मूल्य नहीं, तात्त्विक मीमांसा के लिए कोई काव्य नहीं पढ़ता, और विवेचना के ऊपर कवित्व निर्भर नहीं। कवि की प्रतिभा तो रस-सृष्टि मे ही देखी जाती है। जो वस्तु पूर्व से ही मौजूद है, जिसे सब कोई जानता है, अथवा जिस विषय की वारम्वार आलोचना हो चुकी है, वह सब कवि की प्रतिभा द्वारा जो नया रूप धारण करता है, वही काव्य है। जो बात सोची तो वारम्वार गयी है, परन्तु सुन्दर ढंग से प्रकट कभी नहीं की गयी, उसे प्रकट करना ही कवि का गुण है। यह व्यंजना अथवा expression ही काव्य का प्राण है। विचार कवि के चाहे निज के हों, अथवा दूसरों के निकट उधार लिये हों, कला की दृष्टि से तो वह अवान्तर वस्तु है। कारण, कहा क्या गया है, यह उस जगह बहुत महत्त्व-पूर्ण नहीं है, किस प्रकार कहा गया है, यही वास्तव में विचार करने की चीज है। बात कोई भी हो, कहने का ढंग अनूठा चाहिए। विवाह, परिवार, सम्पत्ति, धर्म, राजनीति आदि सम्बन्धी नवीन विचारों से आजकल प्रायः सभी परिचित हैं। योरप के विचारशील लेखकों ने इन विषयों पर बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने आधुनिक जीवन की अनेक समस्याओं पर अनेक प्रकार से विचार किया है। उन्होंने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, काव्य की दृष्टि से उनमें कोई नवीनता नहीं। बर्ट्रेण्ड रसेल पढ़कर एक साधारण विद्यार्थी भी यह कह सकता है कि विवाह-प्रथा एक प्रकार की वेश्या-वृत्ति है, और पतिव्रत-धर्म एक पुराना धर्म है, जिसका

अर्थ है पति की गुलामी करना। परन्तु रसेल ने, एक सच्चे वैज्ञानिक की हैसियत से, जिस विषय की विवेचना की है, काव्य के द्वारा उसका प्रचार करना खतरे से खाली नहीं। लेखक के अपने कुछ सिद्धान्त हो सकते हैं। इसमें तो कुछ हर्ज नहीं। मनुष्य-मात्र के अपने सिद्धान्त होते हैं। परन्तु उसके लिए निबन्ध, आलोचना आदि लिखना अधिक उपयोगी है। काव्य के द्वारा तो पाठक के मन पर उस सिद्धान्त की छाप डाली जाती है, उसका प्रचार नहीं किया जा सकता। वह छाप किस प्रकार डाली गयी है, उपन्यास-लेखक अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ है, और पाठक को रस-सृष्टि द्वारा उसने कितना प्रभावित किया है, यही देखने की वस्तु है। साहित्य में यदि कोई सिद्धान्तों की नवीनता का दावा करे, तो यह ग़लत है। साहित्यिक की रचना का विचार तो कला की दृष्टि से ही किया जायेगा, फिर चाहे उपन्यास उसने वेश्या-वृत्ति पर लिखा हो, चाहे साम्यवाद पर और चाहे बोलशेविज़्म पर। उपन्यास के भीतर जब कोई यह कहता है कि रिश्ते कायम करना तो अपने हाथ की बात है, हम नये-नये रिश्ते क़ायम कर सकते और पुरानों को बदल सकते हैं, कोई भाई अपनी बहन को ही स्त्री बनाना चाहे, तो वह भाई-बहन का रिश्ता टूट जायगा, और दोनों में पति-पत्नी का रिश्ता कायम हो जायेगा, तो लेखक को यह समझ लेना चाहिए कि इस भयानक सिद्धान्त में कोई भी नवीनता नहीं है, और उसकी भयानकता भी परिस्थितियों के ऊपर अवलम्बित है—अर्थात् पात्रों का ऐसा संघटन एवं चित्रण करने पर कि पुस्तक के पन्नों पर वह अंगारे की तरह जल उठे। इस प्रकार की अनेक भयंकर बातें मुँह से कही जा सकती हैं। परन्तु उपन्यास के भीतर वे जिस पात्र के मुँह से कहलवायी जाती हैं, उसका चरित्र, उसकी शिक्षा, उसका संस्कार, उसका बाल्य-जीवन, उसकी पारिपार्श्विक परिस्थितियाँ और घटनाओं का back ground ये सब मिलकर उस सिद्धान्त को यदि मूर्ति-दान नहीं करतीं, तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं, बल्कि कभी-कभी तो उपन्यास के भीतर इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार अनर्गल प्रलाप का रूप धारण कर लेता है।

एक ऐसे पात्र की कल्पना, जो वेश्या-वृत्ति का समर्थन करता अथवा भाई और बहन के दाम्पत्य प्रेम को उचित मानता है, बहुत सहज नहीं। ऐसा पात्र अवश्य बड़ा अनहोना होगा। साधारण मनुष्य ऐसी भयानक बात अपने मुँह पर भी नहीं ला सकता। सभ्य मनुष्य विवाहिता माता के गर्भ से नहीं जनमे हैं, अथवा अपने पिता का नाम नहीं जानते हैं—इसे वह कभी गौरव की वस्तु अनुभव नहीं करेंगे। जिसे जो अच्छा लगे, उसी के साथ अपना प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर ले, और जितने दिन इच्छा हो, उसके साथ रहे, और फिर छोड़कर चला जाय, इस प्रकार की Theory जिसके दिमाग में घुस गयी है, ऐसे प्रेम-रोग-ग्रस्त व्यक्ति के लिए आगरा अथवा बरेली का पागलखाना ही उचित स्थान है। साहित्य-क्षेत्र में उसका काम नहीं।

हमारे कहने का आशय यह कि समस्या-मूलक उपन्यास अथवा नाटक के भीतर प्राचीन धर्म अथवा संस्कार के विरुद्ध थोड़े-से विद्रोहपूर्ण वाक्य लिख देने से ही काम नहीं चल जाता। योरप के जिन सब प्रसिद्ध लेखकों ने काव्य के द्वारा

समाज और संस्कार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की है, उन्होंने अपने चरित्रों को इस प्रकार की मानसिक एवं पारिपार्श्विक अवस्था में गढ़ा है कि काव्य को ही वहाँ अधिक महत्त्व मिला है। काव्य की शक्ति के द्वारा ही विद्रोह प्राण-स्पर्शी हुआ है, बर्नार्ड शा की पात्री मिसेज बैरेन वेश्या-वृत्ति का समर्थन करती है। इब्सन के एक नाटक में उसकी प्रसिद्ध पात्री नोरा अपने पति का परित्याग करके घर से बाहर निकल जाती है। इन रचनाओं को पढ़कर पाठक पात्रों की चिन्ता और उनके कार्य-कलाप से सहानुभूति प्रकट करते हैं। पुरुष यदि स्त्री को प्रेम नहीं करता, तो स्त्री उसे छोड़कर चली जाने के लिए स्वतन्त्र है, यह है इब्सन के नाटक की मूल-कथा। परन्तु यह पाठक के मन पर आघात नहीं करती। इब्सन के मूल-सिद्धान्त के साथ चाहे कोई सहमत न हो सके, फिर भी Doll's House में अपना घर छोड़कर चले जाने के लिए नोरा को कोई धिक्कार नहीं सकता, और न इस प्रकार की चरित्र-सृष्टि करने के लिए कोई लेखक को ही दोष दे सकता है। परन्तु जिस नाटक के भीतर प्रधान पात्रों का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक बात पाठक की बुद्धि का अपमान करती है, समझना चाहिए कि वह बिलकुल ही अस्वाभाविक है।

अतएव हिन्दी के जो लेखक समस्या-मूलक साहित्य की सृष्टि में प्रवृत्त हैं, उनसे हम यह कहना चाहते हैं कि जो केवल दूसरों के विचारों का संग्रह करते हैं, वे लेखक नहीं। वे तो साहित्यिक मजदूर हैं। उनके परिश्रम का मूल्य अवश्य है, परन्तु शाश्वत साहित्य के मन्दिर में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। जो साहित्य को कुछ नयी भेंट दे सकते हैं, जो वारम्वार कही गयी बात को भी नवीन प्रकार से सजाकर रख सकते हैं; और जो स्वयं कुछ नयी बात, नयी चिन्ता और नया भाव सृजन कर सकते हैं, वे ही लेखक हैं। और, समस्या-मूलक काव्य, नाटक अथवा उपन्यास लिखने के वे ही अधिकारी हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, 1 अगस्त, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

साहित्य में समालोचना

आये-दिन की हिन्दी-पत्रिकाओं में जिस प्रकार के समालोचनात्मक लेख निकलते हैं, उनसे सभी परिचित हैं। किसी कवि या लेखक की उच्च स्वर में प्रशंसा या उसी प्रकार निन्दा, बहुधा यही देखने में आता है। किसी पार्टी के किसी लेखक को ऊपर चढ़ाना या नीचे गिराना, आलोचकों के लिए इस लक्ष्य का दृष्टि में रखना असाधारण नहीं। आलोच्य विषय के साथ कवि या लेखक का व्यक्तित्व भी अवश्य ही घसीटा जाता है। यदि आलोचक को अमुक लेख या कवि पसन्द नहीं, तो उसकी कृति उसे कैसे पसन्द हो? लेखक की कृति का आनन्द उसके व्यक्तिगत

दोषों को भूलकर हम ले सकते हैं, इस पर पाश्चात्य लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। फिर भी निर्विवाद एक परिणाम पर वे पहुँच गये हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बायरन और आस्कर वाइल्ड के ऊपर कल तक की समालोचनाओं में आलोचकों के ऊपर उनके व्यक्तिगत चरित्र का प्रभाव स्पष्ट है, चाहे वह अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल।

व्यक्तिगत प्रोपागेण्डा का दोष हिन्दी-पत्रिकाओं में ही सीमित हो, ऐसा नहीं है। पाश्चात्य पत्रिकाओं को यह रोग और भी ज़ोरों से है। वहाँ प्रतिमास, प्रतिदिन इतनी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं कि जब तक कोई पत्रिका या पत्र किसी विशेष लेखक की कृति के प्रचार का बीड़ा न उठावे, उसके प्रकाश में आने की रुपये में पाई-भर भी आशा कठिनता से रहती है। किसी नये लेखक के लिए दो-चार पत्रिकाओं में प्रोपागेण्डा करने को ही बम्पिग कहते हैं। पाठकों के लिए स्वयं पुस्तकों का चुनाव करना अत्यन्त कठिन होता है; अतः लाचार हो उन्हें इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं की शरण लेनी पड़ती है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जहाँ लेखक पत्रों के कृपापात्र न हो सकने के कारण अपने जीवन में उचित ख्याति न पा सके, जबकि उनसे हीन प्रतिभावालों की इन्हीं पत्रों के बल पर तूती बोलती थी।

यह सब देखकर पत्र-सम्पादकों और आलोचना लिखनेवालों का उत्तरदायित्व भली-भाँति समझ में आ जाता है। प्रतिदिन लेखक जिस नव-साहित्य की सृष्टि करता है, उसे छानकर उसके तत्त्व को पाठकों के सम्मुख रखना आलोचक का काम है। ऐसी दशा में आलोचना को यदि पार्टी प्रोपागेण्डा का एक उपाय-मात्र बना लिया जाय, तो, कहना न होगा, साहित्य की उन्नति में भयंकर बाधा पहुँचेगी। साहित्य और समाज के प्रति अपने महान् उत्तरदायित्व को समझ आलोचक को दलबन्दी या वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष किंवा उसके प्रतिकूल भावों को पहले हृदय से निकाल देना होगा। अतिशयोक्तिपूर्ण निन्दा व प्रशंसा साहित्य के लिए दोनों ही घातक हैं।

हिन्दी की किन्हीं पत्रिकाओं के आलोचना-स्तम्भों पर हाथ में तराज़ू लिये एक पुरुष का चित्र देखा जा सकता है। ऐसे चित्रों से समालोचना के प्रति जो वृत्ति स्पष्ट होती है, उसी के अनुसार आलोचक भी काम करता है। हाथ में काँटा ले एक पलड़े में उसने आलोच्य वस्तु रक्खी, दूसरे में अपने सिद्धान्त। तौल में जैसी वह वस्तु उतरी, वैसी ही कीमत लगा दी। ऐसी दशा में आलोचक पहले से ही लेखक से अपने को बड़ा मान लेता है। वह चाहता है, जैसे उसके विचार हैं, उन्हीं के अनुकूल लेखक लिखे। जैसा आनन्द वह चाहता है, लेखक वैसा ही आनन्द उसे दे। उससे भिन्न आनन्द की कल्पना करना उसके लिए कठिन होता है। परन्तु प्रत्येक लेखक, जो अपनी सच्ची मौलिकता से किसी कृति को जन्म देता है, अपना एक निराला वायुमण्डल अपने साथ रखता है। सम्भव है, उसकी कृति के भीतर पैठने के लिए आलोचक को अपने सभी पूर्व विचारों को बदलना पड़े। सहृदयतापूर्वक आलोचक जब तक ऐसा करने को प्रस्तुत नहीं रहता, वह लेखक की सच्ची आत्मा तक, जो उसकी कृति के भीतर बोल रही है, पहुँचने की आशा नहीं कर सकता।

समालोचना लिखे हुए साहित्य की ही छान-बीन नहीं करती, भावी साहित्य-

निर्माण के लिए वह क्षेत्र भी तैयार करती है। मैथ्यू आर्नाल्ड के अनुसार समालोचना सभ्यता (Culture) के विकास का एक मुख्य यन्त्र है। वह कहता है, संसार में जो सबसे अच्छा जाना या सोचा गया है, समालोचना को उसका प्रचार करना चाहिए। किसी भी साहित्य को अपनी ही संकुचित सीमाओं के भीतर न पड़ा रहना चाहिए। बाहर के विचारों की उसे सदैव जानकारी रखनी चाहिए। अपने ही ढाई चावलों की खिचड़ी पकाने से साहित्य में अनुदारता तथा संकीर्णता अवश्य आ जायगी। आर्नाल्ड ने अँगरेज लेखकों को सलाह दी थी, वे ग्रीक, जर्मन तथा फ्रेंच-साहित्य से परिचय प्राप्त कर अपने यहाँ नये विचारों को लावें। हिन्दी-आलोचकों को भी उसी प्रकार देश व विदेश के अच्छे-अच्छे साहित्यों से परिचय प्राप्त कर अपने यहाँ नये विचारों को लाना चाहिए। इससे वे स्वयं कितने आगे, कितने पीछे हैं, यह भी भली-भाँति जान सकेंगे। अपने साहित्य का पूर्ण अध्ययन कर, अपनी संस्कृति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर जब हम दूसरों की संस्कृति व साहित्य को पहचानेंगे, उस संघर्ष से सभ्यता का जो नया वायुमण्डल उत्पन्न होगा, भावी हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के बीज उसी में छिपे होंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

प्रतिभा

आजकल के समालोचना-साहित्य में प्रतिभा का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। प्रतिभा कविता की जनयित्री है, और बिना माता के परिचय के पुत्री का पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त हो सकता। कोई तो यह कहते हैं कि प्रतिभा पाण्डित्य से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। बहुज्ञता और अविरल परिश्रम के संयोग से प्रतिभा की उत्पत्ति होती है। कुछ लोगों का मत है कि प्रतिभा पाण्डित्य से भिन्न है, क्योंकि सब पण्डित प्रतिभावान् नहीं होते। लोग केशव के पाण्डित्य की प्रशंसा करते हैं, किन्तु उनकी प्रतिभा को बहुत ऊँचा नहीं बतलाते। मिल्टन शेक्सपियर से कहीं अधिक विद्वान् था, किन्तु उसमें शेक्सपियर की-सी प्रतिभा न थी। भारतेन्दु बाबू के समय में पण्डितों की कमी न थी, किन्तु उनकी-सी प्रतिभा बिरले ही पुरुषों में पायी जाती है। पण्डित और प्रतिभावान् में उतना ही अन्तर है, जितना एक कंजूस और उत्साहपूर्ण व्यवसायी में। कंजूस अपने पूर्वजों की सम्पत्ति अपने घर लाकर इकट्ठा कर लेता है, और उसकी रक्षा के अर्थ उसका आवश्यकता से अधिक व्यय नहीं करता, व्यवसायी अपनी सम्पत्ति व्यापार में लगाकर उसका दुगना-चौगुना कर लेता है। जो लोग नवीनता को नहीं मानते, उनके मत से संसार में उन्नति के लिए स्थान नहीं है। यदि प्रतिभावान् लोग अपनी-अपनी रचनाओं में नवीनता न लाये होते, तो

वेद भगवान् और वाल्मीकीय रामायण के पश्चात् किसी रचना का आदर ही न होता। साहित्य-गगन में चाहे सूर्य और चन्द्रमा का बाहुल्य न हो, किन्तु उड्गन बहुत-से हो सकते हैं। प्रत्येक तारे की अपनी अलग दीप्ति और छटा है। यह बात निश्चय है कि संसार में प्रतिभा है। उसके कार्य में नवीनता आवश्यक है। पीटी हुई लकीर पर गाड़ी, कायर और कपूत ही चलते हैं। सायर (कवि), सिंह और सपूत लीक छोड़कर चलते हैं। शास्त्रकारों ने भी प्रतिभा की परिभाषा में नवीनता को प्रधानता दी है। प्रतिभा की इस प्रकार परिभाषा दी गयी है—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।" अर्थात् जिस प्रज्ञा द्वारा नयी-नयी कल्पना होती है, उसे प्रतिभा कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस नवीनता की क्या सीमा है? एक मत से तो कोई भाव या विचार नया नहीं है—और कुछ नहीं, तो भाषा तो पुरानी ही है। जितने नवीन भवन रचे जाते हैं, वे सब पुरानी ही आधार-शिलाओं पर खड़े किये जाते हैं। मनुष्य पुराने ही सूतों से नया ताना-बाना जोड़ते हैं। इस संसार में नयी सामग्री नहीं बनती है। दूसरे मत से, सभी चीजें नवीन हैं। कोई दो मनुष्य एक-सा विचार नहीं करते। यदि मैं किसी के विचारों को दुहराऊँ भी, तो दुहराने में भी अन्तर आ जाता है। उसमें दुहरानेवाले के व्यक्तित्व की कुछ-न-कुछ छाप लग जाती है। जल चाहे एक ही हो, किन्तु भिन्न-भिन्न पात्रों में रखने से ही उसका मूल्य घट-बढ़ जाता है। जब मशीन की बनी हुई आलपीनों में भी सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखने पर अन्तर मालूम होता है, तब दो सजीव पुरुषों के विचार एक-से कैसे हो सकते हैं? ये दोनों ही मत एक-एक छोर के हैं। इनमें पूर्णता नहीं है। दोनों छोरों को व्याप्त करनेवाला मत यह है कि न कोई रचना एकदम नयी होती है, और न कोई आद्योपान्त पुरानी हो सकती है। यदि ऐसा है, तो वह 'रचना' नहीं है। रचना शब्द में ही बनाना अर्थात् नवीनता लगी हुई है। जिस रचना में प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता अधिक होती है, उसे नवीन या मौलिक कहते हैं, और जिसमें प्राचीनता की मात्रा अधिक होती है, उसे प्राचीन अथवा चुरायी हुई कहते हैं।

अब दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—एक यह कि पाण्डित्य और प्रतिभा में क्या सम्बन्ध है? और दूसरा यह कि किस रचना को हम प्रतिभा का फल कहेंगे, अर्थात् मौलिक बतलावेंगे; और किसको अनुकरण या अपहरण, अर्थात् चोरी कहेंगे।

प्रतिभा और पाण्डित्य के अन्तर का दिग्दर्शन करा दिया गया, किन्तु ये दोनों चीज़ें नितान्त सम्बन्ध-रहित नहीं हैं। यद्यपि पाण्डित्य और प्रतिभा एक नहीं है, तथापि पाण्डित्य से प्रतिभा को मदद मिलती है। इसी पाण्डित्य और प्रतिभा के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए प्रतिभा के तीन भेद किये गये हैं—'सहजा', 'आहार्या' और 'औपदेशिकी'। सहजा उसे कहते हैं, जो पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त हो। उसमें थोड़े ही पाण्डित्य की आवश्यकता पड़ती है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की प्रतिभा एक प्रकार से सहजा थी, उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में निम्नलिखित दोहा बनाकर सुनाया था—

"लै ब्योड़ा ठाढ़े भये श्रीअनिरुद्ध सुजान,
बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान।"

वास्तव में "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की लोकोक्ति भारतेन्दु बाबू के सम्बन्ध में अक्षरशः चरितार्थ होती है। उन्होंने जितना कार्य 36 वर्ष की अवस्था में कर लिया, उतना और वैसा कार्य लोग 76 वर्ष की अवस्था में भी नहीं कर सके। आहार्या प्रतिभा वह है, जो शास्त्रादि के परिश्रम करने से जाग्रत् हो। अँगरेज़ी में कहावत है, "Poets are born and not made." अर्थात् कवि पैदा होते हैं, बनते नहीं। पैदा होनेवालों की प्रतिभा सहजा और बने हुए कवियों की प्रतिभा आहार्या कहलाती है। तीसरी प्रकार की प्रतिभा के आजकल कम उदाहरण मिलते हैं। औपदेशिकी प्रतिभा उसे कहते हैं, जो मन्त्रादि सिद्ध करने अथवा वरदान से जाग्रत् हो, जैसी कालिदास की कही जाती है। सहजा और औपदेशिकी में पाण्डित्य का कम काम पड़ता है, किन्तु आहार्या पाण्डित्य के आधार पर चलती है। सहजा प्रतिभा में यदि पाण्डित्य मिल जाय, तो सोने में सुगन्ध का काम देती है। उसकी कृतियाँ बहुत ठोस होने लगती हैं। जिस प्रकार कवि बाह्य सामग्री को काम में लाता है, उसी प्रकार वह ग्रन्थस्थ सामग्री को भी काम में ला सकता है। अनुभव द्वारा कवि का दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है, किन्तु बिना गाँठ की अक़्ल के सब पाण्डित्य वृथा जाता है। पाण्डित्य से दृष्टिकोण विस्तृत हो सकता है, किन्तु प्रतिभा बनती नहीं है। प्रतिभा से पाण्डित्य का सदुपयोग अवश्य हो जाता है। जितनी पाण्डित्य के लिए प्रतिभा की आवश्यकता है, उतनी प्रतिभा के लिए पाण्डित्य की नहीं; तथापि पाण्डित्य निष्फल नहीं होता। प्रतिभा से पाण्डित्य प्राप्त करना भी सुलभ हो जाता है। यदि पाण्डित्य और प्रतिभा का संयोग हो जाय, जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी में हो गया था, तो भाषा और साहित्य के लिए परम सौभाग्य की बात है।

दूसरा प्रश्न इससे कुछ महत्त्व का है। मौलिकता क्या है? यदि देखा जाय, तो एक प्रकार से सूर और तुलसी भी मौलिक नहीं हैं, किन्तु हम उनको साहित्य-मण्डल के सूर्य और शशि मानते हैं। यह किसलिए? इसीलिए कि उन्होंने अपनी सामग्री का बहुत सुन्दर रूप में सदुपयोग किया। यह सदुपयोग किस प्रकार से होता है? इसके कई प्रकार हैं—

1. भाव को सांगोपांग बनाकर अर्थात् मूल भाव में जिस बात की कमी हो, उसको पूरा करके।

2. भाव के अनुकूल भाषा रखकर और उसमें अधिक व्यंजकता लाने से।

3. भाव या विचार के भिन्न-भिन्न अंगों में अधिक परस्परानुकूलता उत्पन्न करने से।

4. मूल भाव को उपमान या दृष्टान्त बनाकर, एक नया भाव रचकर।

5. मूल भाव से केवल उत्तेजना-मात्र पाकर एक नया भाव रचकर।

इस प्रकार जो कविगण प्रचीन सामग्री का सदुपयोग कर नयी रचना उपस्थित करते हैं, उनकी रचना मौलिक ही कही जायगी।

स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने अपनी लिखी हुई बिहारी-सतसई की समालोचना

में इस प्रकार की मौलिकता के बहुत-से उदाहरण दिये हैं। यहाँ पर एक और उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया जा सकता है। लक्ष्मणजी जब सीताजी को वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में पहुँचाकर लौट रहे थे तब सीताजी ने श्रीरामचन्द्रजी को एक उपालम्भमय सन्देश भेजा था, उसका वर्णन कवि-कुल-गुरु कालिदास ने भी किया है, और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी। किन्तु जो मार्मिक करुणा गोस्वामीजी के वर्णन में है, वह कालिदास के कथन में नहीं है। देखिए, कालिदास का श्लोक इस प्रकार है —

"नृपस्य वर्णाश्रमपालनं
यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः,
निर्वासिताप्येवमतस्त्वहं च
तपस्विसामान्यमिवेक्षणीया।"

अर्थात् सब वर्णों और आश्रमों का पालन करना मनु का बनाया हुआ राजा का धर्म है। निर्वासित होकर भी मैं सामान्य तपस्विनी की भाँति देखी जाने योग्य अर्थात् रक्षा किये जाने योग्य हूँ।

गोस्वामीजी का पद इस प्रकार है—

"तौ लौं बलि आपु ही कीबी
बिनय समुझि सुधारि;
जौ लौं हौं सिखि लेऊँ बन
ऋषि-रीति बसि दिन चारि।
तापसी कहि कहा पठवति
नृपनि को मनुहारि;
बहुर तिहि बिधि आइ कहिहै
साधु कोउ हितकारि।
लषनलाल कृपाल! निपटहि
डारिबी न बिसारि;
पालिबी सब तापसिन ज्यों
राजधरम बिचारि।
सुनत सीता-बचन मोचत
सकल लोचन बारि;
बालमीकि न सके तुलसी
सो सनेह सँभारि।"

इसके द्वारा सीताजी अपनी परिस्थिति में इतना अन्तर बतलाती हैं कि वह यह भी नहीं जानतीं कि क्या विनय के शब्द कहलाकर भेजें। इसीलिए वह लक्ष्मण जी से ही कहती हैं कि आप ही जो उचित समझें, वह ठीक-ठीक बनाकर कह दीजिए। समुझि और सुधार में जैसा राजा के प्रति आदर होना चाहिए, वैसा ही आदर बतलाया गया है। किसी प्रकार की उपेक्षा नहीं दिखलायी गयी है। कालिदास के श्लोक में तो केवल इतना ही है कि निर्वासित होकर भी सम्बन्ध नहीं छूटा है। पहले भर्ता-भार्या का सम्बन्ध था, अब राजा-प्रजा का सम्बन्ध है,

किन्तु तुलसीदासजी केवल रक्षा की याचना में ही उस भाव की इतिकर्तव्यता नहीं समझते, वरन् उन्होंने इस बात पर अधिक ज़ोर दिया है कि सीताजी का क्या कर्तव्य है। इसमे सीताजी की बदली हुई परिस्थिति का बड़ा ज़ोरदार उल्लेख हो जाता है। अपने अधिकार से कर्तव्य का ध्यान रखना अधिक महत्त्व रखता है। इसके अतिरिक्त डारिबी, पालिबी, कीबी आदि कितने मधुर शब्द हैं। लषनलाल, कृपाल में कितना सुन्दर अनुप्रास है।

दूसरों के अनुकरण के सम्बन्ध में कवियों के चार विभाग किये गये हैं --

"कविरनुहरतिच्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चौरः;
सर्वप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै।"

अर्थात, जो दूसरों की छाया लेकर कविता करता है, वह कवि है (सुकवि नहीं, सुकवि वही है, जो अपनी प्रतिभा से काम ले)। जो अर्थ को चुरावे, वह कुकवि है (छाया लेने का अभिप्राय यह है कि एक भाव के सदृश दूसरा भाव खड़ा कर दे, अर्थ का चुराना वहाँ होता है, जहाँ भाव वही रहे, भाषा बदल जाय)। जो एक-आध पद भी ले लेता हैं, वह चोर है, और जो दूसरे का पूरा प्रबन्ध-का-प्रबन्ध लेकर अपना कह देते हैं, उनको तो नमस्कार ही है। उनके लिए कोई शब्द ही नहीं है। बस, भाव की छाया तक ग्रहण कर लेना क्षम्य माना गया है, और यदि नये भाव में कुछ उत्तमता पैदा कर दी जाय, तो वह प्रतिभा का ही कार्य माना जायगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

साहित्य का चरित्र

साहित्य का चरित्र वह बुनियाद है, जहाँ से अनेक प्रकार के भाव उत्तमोत्तम भाषा से सजकर निकलते हैं। ज़मीन का अच्छा होना, खूब जोता जाना, खाद पड़ना जिस तरह अच्छी खेती होने का कारण है, उसी तरह साहित्य के लिए भी कहा जायगा। साहित्य के चरित्र का पहला भाग हैं शिक्षा और अध्ययन। इसी उपाय से मन विषय-विशेष में प्रवेश करके अपने कोमलत्व से उसे ग्रहण करता है, अपने में खाद को मिट्टी की तरह मिलाता है। समस्त अध्ययन जब जीवनी-शक्ति में बदल जाता है—केवल रटी बात नहीं रहती, तब उसे उस विषय की शिक्षा का प्राण-स्पन्द हुआ कहते हैं। आत्मा यह भी नहीं, आत्मा अपनी मुक्ति का रूप उसी विषय की मौलिकता पैदा करके प्रदर्शित करती है। यह मौलिकता या आत्मा वह बीज है, जिसकी उत्पत्ति का कारण नहीं, या स्वयं जो अपनी उत्पत्ति का कारण है।

यह आत्मावाली मौलिकता हमारे साहित्य में चारित्रिक उत्कर्ष से ही विस्तार प्राप्त करेगी। अभी जो दो ही चार अच्छे सहितियकों में यह बात पायी जाती है, तब अधिकांश में, भिन्न-भिन्न विषयों के भिन्न-भिन्न रूपों में, प्रत्यक्ष होगी। पर यह निश्चित है कि पहले उस विषय का साहियित्क चरित्र सुदृढ़ हो। बड़े दु:ख से कहना पड़ता है कि हिन्दी में अच्छे-अच्छे विद्वान् और धनाढ्य व्यक्ति हैं, पर हिन्दी से उन्हें प्रेम नहीं। विद्वान् अँगरेजी-साहित्य के मायाजाल में फँसे हुए हैं, धनी जड़ अर्थ-साहित्य के। जो केवल धनी और साधारण कोटि के शिक्षित हैं, वे अवकाश का कुछ भी समय हिन्दी की शिक्षा के लिए नहीं देना चाहते। देश, जाति, शिक्षा, समाज, उन्नति के विधान आदि पर उनका एक प्रकार प्रवेश है ही नहीं; वे अपने ग़रीब पड़ोसी की सेवा करना जानते ही नहीं—जिस तरह अर्थ द्वारा ज्ञान देकर दारिद्र्य दूर किया जाता है, बल्कि भला-बुरा जो भी उपाय सामने आया, अपने लाभ के विचार से उसे ही अख़्तियार करने पर तुल जाते हैं। यह धनिकों की कितनी गिरी वृत्ति है, इसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। विनिमय ही संसार के चलते रहने का कारण है। यह सम्बन्ध सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइनस्टीन के साबित करने से पहले भी था, और सदा रहेगा। पहले भी सोने-चाँदी के द्वारा मिट्टी या जमीन ख़रीदी जाती थी, देश जीते जाते थे, और मिट्टी के दाम में सोने-चाँदी तथा अन्न और रसद द्वारा विजय प्राप्त होती थी, यह पारस्परिक सम्बन्ध अब भी है। इस प्रकार अर्थ के द्वारा ज्ञान का विनिमय होता है। धनिकों की यही महत्ता है कि वे एक उत्तरदायित्व अपने पास रखते हैं। यदि इसकी ओर उनका ध्यान न जाय, अपना फ़र्ज़ वे अदा न करें, तो संसार के सम्बन्धवाद को धक्का पहुँचने के कारण साहित्य को भी हानि पहुँचेगी। हमारे साहित्यिक चरित्र के उत्कर्ष के लिए यह पहली रुकावट है, विद्वानों द्वारा दूसरी। हमारे यहाँ ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जो सरकारी नौकरी, वकालत, डाक्टरी आदि से अपने जीवन-निर्वाह के लिए काफ़ी उपार्जन कर लेते हैं। वे चाहें, तो सीखकर, अपने प्रिय विषय की अच्छी-अच्छी चीजें हिन्दी को दे सकते हैं। उनके सामने इतने बड़े-बड़े उदाहरण आ चुके हैं कि इस देश में आकर, इस देश की भाषा सीखकर पश्चिमीय विद्वानों ने यहाँ के साहित्य का उद्धार किया। इतना ही नहीं, संसार के साहित्य के फूलों को चुनकर उन लोगों ने अपनी भाषा को सैकड़ों मालाएँ पहनायीं। उनके पद-चिन्हों पर चलते हुए बंगाली, मराठी, गुजराती विद्वानों ने अपनी भाषा को समुन्नत और लोकप्रिय बना दिया। हमारे यहाँ के उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्वान हिन्दी को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। पिता-पुत्र में पत्र-लेखन का अँगरेज़ी माध्यम है। यह साहित्यिक चरित्र के पतन की हद है। यहाँ विद्या नहीं, अविद्या का साम्राज्य है।

साधारण पढ़े-लिखे साहित्यिक ही ज़्यादातर हिन्दी में हैं, जिन्हें साहित्य के उत्कर्ष-साधन की अपेक्षा अपने नाम के माहात्म्य की ओर अधिक ध्यान है। एक विद्वान ने एक बार कहा था, हिन्दी में पाठकों की उतनी संख्या नहीं, जितनी लेखकों की है। यह सर्वांशत: सत्य है। कुछ विद्वान तथा अपने विषय के मर्मज्ञ लेखक और कवि हैं अवश्य, पर इनसे विशाल साहित्य की भूमि भरती नहीं। कुछ हैं, तो एक अँगरेज़ी का पैराग्राफ उद्धृत करके, उस तरह का विचार—वैसी विचारणा

हिन्दी में नहीं कहकर साहित्य तथा लेखकों को अभिशाप देते रहते हैं। हमारे साहित्य के ये तीसरे और चौथे प्रकार के चरित्रोद्गत साहित्यिक हैं। फलतः ये चरित्र स्पष्ट हैं।

सच्चे साहित्यिक कला में मूल तक पहुँचते हैं, केवल फूलों में नहीं भूलते। तभी मूल से फूल और फल तक, साहित्यिक चरित्र की साधना के कारण, कला की कल्पना पूरी-पूरी उतार देते हैं। केवल फूल को देखनेवाले फूल इसीलिए नहीं खिला सकते कि वे फूल को अच्छा और पत्ते को खराब मानते हैं। माली या कृषक ऐसा नहीं समझता। उसकी दृष्टि में मिट्टी, खाद, बीज, पौधा, पत्ता, सभी का बराबर महत्त्व है। इन्हीं के उत्कर्ष का परिणाम फूल और फल है, वह जानता है। ऐसा ही एक सच्चरित्र साहित्यिक की दृष्टि में है। सभी के चित्रण में बराबर कौशल प्राप्त करना पड़ता है, इसलिए सभी उसके पास क़ीमती हैं। अच्छी तरह देखिए, तो पत्ता फूल से कम खूबसूरत नहीं, न डाल, न तना, न जड़, यह उसे मालूम है। यही दृष्टि पठित साहित्यिक को, बाद को, प्राप्त होती है, वह साहित्योपवन का मौलिक माली होता है।

रघुवंश में महाकवि कालिदास का एक पद्य है—

"कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा-
स्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्;
इति यथाक्रममाविरभून्मधु-
र्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्।"

"कलियाँ आयीं, तदनन्तर नये पल्लव, तत्पश्चात् भौंरे गूँजने लगे, और कोयल कूकने लगी। इस तरह, यथाक्रम, द्रुमोंवाली वनस्थली पर उतरकर, वसन्त आविर्भूत हुआ।"

पद्य के शब्द-शब्द में कला है। सम्पूर्ण पद्य में कला का जो विकास है, वह उच्च कोटि का कवि ही समझ सकता है। महाकवि ने कहीं भी व्याख्या नहीं की। पर इतने अच्छे ढंग से कहा है कि कला में उनकी सहृदयता के साथ बुद्धिवाद का परिपूर्ण विकास लक्षित होता है। साधारण विद्वान् यहाँ तक नहीं आ सकते। यह शृंगार का सजीव चित्र है। मधु यहाँ पुरुष है, और जिस पर वह उतरता है, वह वनस्थली स्त्री। दोनों एक साथ लिपटकर एक हैं। ऊपर कलियाँ हैं, पर यह नहीं कहा कि ये उरोज हैं; फिर नये पल्लव हैं, इनके लिए भी नहीं कहा कि वनस्थली का अरुण हृदय है; भौंरे और कोयल गूँजते-कूकते हैं, इनका अर्थ भी स्पष्ट नहीं हुआ कि यह नायिका का प्रेमालाप है; फिर वनस्थली द्रुमवती है, इसके लिए भी स्पष्टीकरण नहीं कि उठी बाँहों में प्रिय को भरे हुए है। ऐसी वनस्थली पर मधु अवतरित है। पूरा दृश्य है—नायिका वनस्थली शयित है; नव-कुसुम कुच हैं, नवीन पल्लव उसका अरुण हृदय; द्रुम की बाँहों में प्रिय वसन्त को भरे हुए, भौंरों और कोयलों की मंजु गूँज और कूक से प्रणय-संलाप कर रही है। पुनश्च एक ही वनस्थली की यौवनोद्भावना में अदृश्य प्रिय वसन्त दृश्य हो रहा है, महाकवि जयदेव का जैसे—

"विहरति हरिरिह सरसवसन्ते;
नृत्यति युवतिजनेन समं
सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।"

यह साहित्य के पुष्ट चरित्र-भूमि पर खिली पूर्ण कला है। हिन्दी में इसी की मननशीलता आवश्यक है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

हिन्दी में तर्कवाद

आज तर्कवाद का प्राबल्य है। सभ्य जातियों में उसका प्रचार बहुत ही बढ़ा हुआ है। जो वस्तु या स्थिति सामने हो, उसे उसी रूप मे ग्रहण न करके उसके कारण की तलाश करें, यह तर्क है। इसका प्रचार अनुकरण या अनुसरण के विरोध में हुआ है। आज के बड़े-बड़े साहित्य इसी तर्क-सिद्धान्त पर निर्मित हैं। रूढ़ियों के खिलाफ़ लिखनेवाले, संसार के सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शॉ ने तर्क द्वारा ही अपनी कला का विकास किया है। सहृदयता की मात्रा रहने पर भी तर्क-बुद्धि ही उनकी श्रेष्ठ साहित्यिक छटा है। कथोपकथन में इसी का विकास पहले प्रत्यक्ष होता है। विज्ञान और उपयोगितावाद में तो तर्क द्वारा ही दूसरे स्वरूप का निर्माण और उसका प्रयोग सोचा गया है। बीसवीं सदी की अपनी वस्तु यदि कुछ है, तो वह यह कि मनुष्य को मनुष्य-रूप में ही रखकर प्रकृति के चमत्कार देखने या दिखाने की शिक्षा दी गयी है। इसी प्रकार प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का कार्य जारी रहा है। यह रूप देखने में छोटा है, पर इसके कार्य महान् हैं। यह किसी से प्रभावित होकर कुछ नहीं करता, किन्तु प्रभाव को हटाकर मस्तिष्क को परिष्कृत कर देता है, जितने वाद संसार में प्रचलित हैं, उन्हें ठीक-ठीक ऐसा ही मस्तिष्क समझ सकता है। जो ऐसा नहीं, वह किसी वाद से प्रभावित होगा। उसी दृष्टि से दूसरे सत्य की जाँच करेगा। तब सत्य अपने निर्मल रूप में उसके सामने न आयेगा। एक रंग पूर्व-संस्कारों का चढ़ा था, इसलिए उस सत्य पर उसी की छाँह पड़ेगी, इस तरह वह विकृत हो जायगा। इसी विचार से दूसरे देशों के साहित्यिक किसी वाद का प्रचार नहीं करते। यहाँ तक कि पवित्रतावाद को भी मनुष्य-जीवन के उत्थान-पतन को देखते हुए वे नहीं मानते। उनका कहना है कि कलुष के न रहने पर पवित्रता का कोई अस्तित्व नहीं रहता। पवित्रता के बाद कलुष और कलुष के बाद पवित्रता का होना उसी तरह सत्य है, जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का होना। दिन और रात से परे जो कुछ है, या होगा, उसका कोई प्रमाण नहीं हो सकता। कारण, प्रमाण भी दिन और रात के भीतर के होंगे।

इसी तरह विश्व-शान्ति के प्रचारक भी किसी अपर या श्रेष्ठ सत्य का प्रचार नहीं कर रहे, विश्व की अशान्ति ही शान्तिकांक्षिणी है। तर्कवाद का प्रसार यहाँ तक हुआ कि अब चित्रण में ज्यों-का-त्यों प्रदर्शन करना ही उच्च कला मानी जाने लगी। लेखक या कलाकार तटस्थ रहने लगा, क्योंकि वह प्रचारक नहीं।

हमारा साहित्य इस सिद्धान्त से बहुत पीछे है। इसीलिए हमारे यहाँ तरह-तरह की बुराइयाँ हैं, तरह-तरह की रूढ़ियाँ स्थान पाये हुए हैं। तरह-तरह के प्रचार, जो यथार्थ मनुष्यता के विरोधी हैं, चलते जा रहे हैं। साहित्य में हम खड़ी बोली के रूप में भी बहुत कुछ वैसे ही हैं, जैसे पहले थे। हमारे अधिकांश जन तीर-धनुष लेकर राक्षसों का नाश करते हैं, तपःपुंज आँखों की ज्वाला से शत्रु को भस्म कर देना मानते हैं, झाड़-फूँक से रोग रूप प्रेत-व्याधि को उड़ा देते हैं, जड़ी-बूटी से सन्तान पैदा करते और मारण-मोहन-वशीकरण में सिद्ध होते हैं। धर्म, शिखा-सूत्र आदि की सैकड़ों रूढ़ियाँ हैं, जिनसे वास्तव में देश, साहित्य तथा भावना को क्षति पहुँचती है। शिक्षित-से-शिक्षित ब्राह्मण और कायस्थ दूध और पानी की तरह नहीं मिल सकते। ब्राह्मण बनने का जादू सब पर चला हुआ है, यद्यपि पराधीन देश में तत्त्वतः एक भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नहीं—सब शूद्रों में ही इतर-विशेष हैं, यद्यपि आज के विचार से हर मनुष्य में इन चारों भावों का यथासमय समावेश होता है। उपन्यास में कहीं किसी के चरित्र-चित्रण में सर्वजनप्रियता और समता होगी।

यह सब इसलिए है कि प्राचीन रूढ़ियों से हम प्रभावित हुए, हमने उनके कारण की तलाश नहीं की। उदाहरण के लिए बालिका-विवाह लीजिए। यह बुरा है। विवाह-वय-सम्बन्धी बिल पास हो चुकने पर भी नहीं चला। बाल-विवाह एक परम धर्म बन गया है। पर पठित-मात्र जानते हैं कि मुसलमानों के हाथ से बचाने के लिए बालिका-विवाह प्रचलित हुआ था। अब इसका बदल जाना ही देश के लिए कल्याणप्रद है। इसी प्रकार हमारे यहाँ जितनी रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, उनके मूल में कोई सत्य अवश्य है, पर अब उस सत्य का उद्‌घाटन कर रूढ़ि को प्रचलित रखने के स्थान पर उसका त्याग ही अच्छा है, यदि किसी बृहत् सत्य की पुष्टि होती हो। तर्कवाद की इसीलिए आवश्यकता है, और इसीलिए यह मनुष्य का श्रेष्ठ विकास माना जाता है।

साहित्य को प्रतिक्षण नवीनता की आवश्यकता है। पर नवीनता उस मस्तिष्क से नहीं निकल सकती, जो रूढ़ि-ग्रस्त होगा। नवीनता बुद्धि का धर्म है, बुद्धिवाद को ही तर्कवाद कहेंगे। हमारे यहाँ सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा बुद्धि के ही देवता हैं। इस रूपक से बुद्धि की श्रेष्ठता समझ में आ जाती है।

खड़ी बोली की रचनाओं में बुद्धि का कहाँ तक उत्कर्ष हुआ है, उनमें मनुष्य-चरित्र, मानसिक उच्चता कैसी-कैसी कलाओं के भीतर से विकसित हुई है, यह अभी अच्छी तरह निर्णीत नहीं हुआ। कारण, हमारे पाठकों तथा साहित्यिकों की कला-सम्बन्धी दृष्टि उतनी ऊँची नहीं हुई। साहित्य को क्या चाहिए, उसमें क्या है, क्या होना चाहिए, इसका निर्णय क्षुर-धार बुद्धि का विकास और प्रगाढ़ अध्ययन ही करने में समर्थ है। हमारे पाठक जब तक ऊँची चीज़ों का समादर करना

नहीं जानेंगे, जब तक ऊँचा हिन्दी-प्रेम उनमें न पैदा होगा, तब तक युगानुकूल उज्ज्वल साहित्य का विकास असम्भव है, संसार की साहित्यिक दौड़ से स्पर्धा करनेवाले साहित्यिक अचल हैं।

तर्कवाद के मानी ये नहीं कि किसी विशेष साहित्य की पुष्टि उससे होती है; नहीं, अपने अन्तर्गत जितना साहित्य था, और बाहर जो है, उसका सुचारु अवतरण तर्कवाद की सिद्धि है। कारण, तर्कवाद किसी एक का अनुगामी नहीं। वह पुराण-साहित्य से भी सत्य की खोज करता है, पौराणिक चित्रण भी देता है, और ऐतिहासिक तथा आधुनिक भी।

यह तर्कवाद जहाँ विचारों की सूक्ष्मता तक पहुँचकर उनके उद्देश को समझता है, वहाँ वह बहुत ही गहन है; यह बाद की साहित्यिक अवस्था है, बड़े-बड़े मनों की। साधारण साहित्यिक के लिए ज़रूरी है कि साहित्य का साधारण अच्छा ज्ञान हो, जिससे शब्दों के अर्थ, धातु-प्रत्यय, उनके बन्ध और बाक्य तथा परिच्छेद का क्रम-सम्बन्ध मालूम रहे। कहाँ गिरा, कहाँ चढ़ा, समझ में आ जाय। यह नहीं कि प्रत्यक्ष (Direct) और परोक्ष (Indirect) एक की बात दूसरे से कहने का ज्ञान नहीं, ओर साहित्य की आलोचना कर रहे हैं—एक शब्द का सच्चा अर्थ नहीं बता सकते, पर सुप्रसिद्ध कवि हैं! ईश्वर यह पाप दूर करे!

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

उपन्यास-साहित्य और समाज

क्रान्ति साहित्य की जननी है। नवीनता तभी पैदा होती है, और साहित्य का रथ कुछ कदम आगे बढ़ता है। इसे ही जीवन भी कहते हैं। ऋतु के बदलने पर जिस तरह पृथ्वी एक नये रूप से सजती है, उसी तरह क्रान्तिजन्य नवीनता से साहित्य।

उपन्यास वास्तविक जीवन के चित्र रखता है। साथ-साथ जहाँ जीवन दाग़ी होकर संजीवनी शक्ति से रहित हो जाता है, वहाँ उसे नयी प्रथा से सँवारकर या प्रहार द्वारा नष्ट करके औपन्यासिक नवीन चित्रण का समावेश करता है। यह काम बराबर साहित्य में जारी रहता है। कारण, जीवन का भी बराबर कलुषित होते रहना धर्म है। जब किसी वाद की पराकाष्ठा दिखाना, किसी उद्देश-विशेष की पूर्ति ही औपन्यासिक का लक्ष्य होता, तब उसकी तैयार की हुई कृति नवीनता से रहित, इसलिए अनुपयोगिनी सिद्ध होती है।

हमारे यहाँ आदर्शवाद की जो प्रथा पहले प्रचलित थी, वही बाद को भी रक्खी गयी। उसमें अनेक विकार थे, पर वे बुरे नहीं लगे। कारण, मनुष्यों का मन उन्हें अच्छा समझता-समझता अच्छा समझने का आदी हो गया। इस प्रकार

नवीनता का समावेश रुका रहा। जो नयी सृष्टियाँ हुईं; वे भी उसी पुराने ढंग की। इस संस्कार का हाल हम राम और कृष्ण के साहित्य में प्रत्यक्ष करते हैं। कितना लकीर पीटी गयी। कृष्ण का गोपी-प्रेम, जैसा लिखा जाता है, वैसा ही रहकर पूर्ण आदर्शवाद की सिद्धि कहलाया, पर किसी स्त्री का दूसरे के प्रति प्रेम बराबर निन्द्य माना गया। यह संस्कार है! हिन्दी के बड़े-बड़े पढ़े लेखक कृष्ण को बुरा न कहेंगे कि गोपियों से जुदा होकर फिर उनकी खबर न ली, पर बायरन अगर एक के बाद दूसरी प्रेमिका को पकड़ता और पहली को ठुकराता गया, तो यह उसके चरित्र की बड़ी कमज़ोरी, कृष्ण की तरह का त्याग नहीं, सिद्ध कर दी गयी। कृष्ण ने जो द्वारका में राजसिंहासन ग्रहण किया, और एक नहीं, दो-दो ब्याहीं, ये सब अवतारवाद के महान् कर्म और त्याग कहलाये! इसे ही संस्कार कहते हैं, जिससे बुद्धि का नाश होता और नवीन साहित्य की प्रगति रुकती है। उपन्यास में हमारे यहाँ इन्हीं संस्कारों का प्राबल्य है, जिनसे नवीनता का स्रोत नहीं बह रहा और समाज पिछड़ा हुआ है। कुछ सृष्टियाँ इधर हुई हैं, जो समयानुकूल हैं, पर इतने से साहित्य का विशाल उदर नहीं भरता।

दूसरे उपन्यास-साहित्यों की वृद्धि की ओर दृष्टिपात करने पर यह विषय और स्पष्ट हो जाता है। महाकवि ह्यूगो का संसार-प्रसिद्ध उपन्यास 'ले मिजरेब्ल्स' जिस शक्ति का प्रवाह बहाता है, वह तत्कालीन समाज की दशा से फूटकर निकलता था। हार्डी ग्रामीण युवती पर होनेवाले अत्याचार के जो दृश्य खींचता है वे समाज के अंगों के नवीन प्रदर्शन हैं। इनके अलावा समाज को नये पथ पर ले चलने की सृष्टि भी वहाँ के उपन्यासों में है। फिर भी इस तरह किसी वाद के प्रच्छन्न होने का भय नहीं रहता। केवल नवीन पथ प्रशस्त होता जाता है। बंकिमचन्द्र आदर्शवादी थे। बंगला-साहित्य में आज भी आदर्शवादी रचनाएँ काफ़ी होती हैं। शरच्चन्द्र बहुत कुछ सुधारवादी हैं। इनके उपन्यासों से समाज ने नया जीवन पाया, उठने की नयी शक्ति। रवीन्द्रनाथ सुधारवादी भी हैं, और केवल चित्रणकलावादी। इन्होंने जैसा देखा, वैसा चित्रण भी, अपूर्व मनस्तत्व की समीक्षा करते हुए, किया, और समस्या-विशेष पर भी उपन्यास और कथाओं के ठाट तैयार किये। इसी तरह साहित्य को प्रगति मिलती है, समाज आगे बढ़ता है।

इसमें इसी जगह एक बहुत बड़ी कमी है। हमारे समाज में एक आर्य-समाज के आन्दोलन के सिवा व्यापक रूप से कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। इससे उपन्यास के स्त्री-चरित्र उन्नत दशा को नहीं पहुँचते। कोई समस्या भी इतनी गिरी दशा से हल नहीं की जा सकती। जो दशा हमारे सामाजिक जीवन की है, उसमें दृश्यमान ऐसी कोई भी बात नहीं, जो सभ्य-समाज के मुक़ाबले के चरित्र उपन्यास-लेखकों को दे सके। उपन्यास जीवन की सूक्ष्म विचारधारा का आधार लेता है। पर हमारे यहाँ विचारों का स्थूलतम रूप ही है, या रूढ़ियों की पूरी पाबन्दी। इस तरह साहित्य तथा जाति को महत्त्व प्राप्त नहीं होता। दैनिक जीवन के ऊँचे व्यवहार, ऊँचे कार्य, वार्तालाप और नवीन ऊँचे आदर्श पर चलने की इच्छा यही उपन्यास के जीवन की नींव है; हमारे यहाँ यह भी नहीं पड़ी है। इसलिए औपन्यासिकों

का कर्त्तव्य होता है, या तो आदर्शवाद की सुन्दर साहित्यिक रचना करें, या क्रान्ति की लहर उठायें, और खूबी से उसे बहाते चलें, जब तक समाज का नवीन रूप उसके अनुकूल न हो जाय। वर्तमान पीड़नों का जो मसाला समाज में है, वह भी उसे उठाने के लिए काफी है। ऐसी ही सक्षम रचनाएँ इस साहित्य को नया जीवन दे सकेंगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

परिशिष्ट

1. 'प्रबन्ध-पद्म' का समर्पण

समर्पित

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पद को प्राप्त मेरे मनोराज्य के सत्य, शिव और सुन्दर आचार्य श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज की स्नेह-दृष्टि को सभक्ति 'प्रबन्ध-पद्म

कृपाकांक्ष—
सूर्यकान्त

2. 'प्रबन्ध-पद्म' की भूमिका

निवेदन

मैंने अमित्र पद्यों के साथ प्रबन्ध लिखने का श्रीगणेश किया था। मेरे अधिकांश शुभेच्छ मित्रों को निबन्ध पसन्द आये थे। उन्होंने साहित्य एवं दर्शन पर लेख-आलोचनाएँ आदि लिखते रहने के लिए मुझे प्रोत्साहन दिया था। 'समन्वय' के सम्पादक पूज्य-चरण स्वामी माधवानन्दजी सरस्वती, आचार्यप्रवर पूज्यपाद पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदीजी, महापण्डित (स्वर्गीय) स्वामी प्रज्ञानन्दजी सरस्वती, विद्वद्वर आचार्य पण्डित सकलनारायणजी शर्मा आदि श्रद्धेयों द्वारा मुझे अनेकोपाय प्रोत्साहन मिलते रहे हैं। 'समन्वय' में 'एक दार्शनिक' के नाम के निबन्धों को देखकर स्वामी माधवानन्दजी महाराज ने मुझे प्रसिद्ध नाम से प्रकाश में आने की आज्ञा दी थी। मेरे सामयिक सहृदय अनेक मित्रों ने भी मुझे आँखों पर रक्खा, बढ़ावा दिया। मैं अन्तःकरण से उनका कृतज्ञ हूँ। इस आकार में मेरे प्रबन्धों की पृष्ठसंख्या हजार से ऊपर होगी, पर ज्योतिश्चल सालाप छाया-चित्र नाटकों की तरह बाज़ार की चीज़ न होने के कारण वे मासिक और साप्ताहिक

साहित्य के पृष्ठों में मुँह छिपाकर, अभ्यास-चक्रधर जनविष्णुओं के रक्षण से बाहर, दैत्यों की संज्ञा में पड़े रहे। आज इसीलिए इतने संकुचित हैं।

इन प्रबन्धों में दो-चार जगह जो भ्रम हो गये हैं, उन्हें पाठक क्षमा करें।···
···वें पृष्ठ पर 'कन्या' शब्द मेरे ज्ञात भाव से पुंलिग में आया है। संस्कृत में यह स्त्रीलिंग है। पर हिन्दी में बहुत-से आकारान्त शब्द पुंलिग में ही प्रचलित हैं—बच्चे पाठशाले पढ़ने जाते हैं, लोग धर्मशाले में ठहरते हैं, उन्हें मोहन-माला अच्छा लगता है। आज हिन्दी में लोग शाला-माला का स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं। मैं उनका विरोध नहीं करता, केवल यह निवेदन करता हूँ कि हिन्दी की पूर्व विशेषता के कारण मैंने 'कन्था' को पुंलिग में लिखा।···वें पृष्ठ पर विद्यापति का एक पद मैंने बंगला के अनुसार रक्खा है, क्योंकि उन्हें बंगला में ही पढ़ा था।

क्षमार्थी—
'निराला'

3. 'प्रबन्ध-प्रतिमा' का समर्पण

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण
आदरणीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन को
सविनय समर्पित

4. 'प्रबन्ध-प्रतिमा' की भूमिका

भूमिका

'प्रबन्ध-प्रतिमा' मेरे लेखों का दूसरा संग्रह है। इसमें कई प्रकार के लेख हैं, अधिकांश विचार-प्रधान। विचार साहित्य का ज्ञानकाण्ड है। उपयोगी साहित्य या कर्मकाण्ड की बातें उसमें कम होती हैं। आज राजनीति के प्राबल्य से उपयोगी साहित्य की बातें ही प्रबल हैं। मैं इस उपयोगी साहित्य को यद्यपि कम महत्त्व नहीं देता, फिर भी, जैसी पहले की धारणा है कि कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड की पुष्टि के लिए

है अत: महत्त्व और सम्मान में वह ज्ञानकाण्ड से नीचे है—ज्ञान उसकी परिणति है, मैं छोड़ नहीं सकता, क्योंकि यह सत्य है, और, खण्ड-सत्य नहीं, अखण्ड सत्य है। विचार-प्रधान लेखों में सामयिक अनेक विषय आये हैं, जिनका संघटन एक प्रकार अस्थायी महत्त्व ही रखता है; परन्तु, सामयिक कर्मकाण्ड के अस्थायी भाव का ज्ञान-काण्ड में परिणाम जैसे स्थायी कहलाता है, उस तरह चिरन्तन स्थितिशीलता भी प्रतिपादित है। आज के प्रचलित या उधार लिये कुछ वादों के धक्के भारत के कर्मसमन्वित ज्ञान को अपने अज्ञान के कारण लग रहे हैं, उनके विशेषज्ञों से मुझे यही कहना है कि वे वैज्ञानिकता में आगे हैं, यह वे प्रमाणित कर सकते हों तो करें; मैं जानता हूँ, वे नहीं कर सकेंगे; रोटी न मिलने का कारण अज्ञान है, ज्ञान नहीं; अकर्मण्यता भी अज्ञान के कारण बढ़ती है। जो अधिक-से-अधिक बढ़े हुए उदार हैं, वे एक आदमी के नाते भारतीय विचार-शुद्धि से और कितना आगे बढ़ सकते हैं, देखेंगे। भारत में विचार-शुद्धि के लिए धन ही नहीं, समाज, शरीर और मन भी देना पड़ता है, तब विश्वमानवता की पहचान होती है। हमारे पीड़ित, अशिक्षित, पतित, निराश्रय, निरन्न मानवों का तभी उद्धार होगा, तभी भारत की भारती जाग्रत कही जायगी, तभी उसकी अपनी विशेषता सिर उठायेगी।

भिन्न तरह के भी लेख हैं, जो साधारण महत्त्व ही रखते हैं।

लेखों में, अज्ञान, हेकड़ी, असाहित्यिकता के भी निदर्शन हैं। मैं चाहता तो छपते समय कुछ अंशों में उनकी नोकें मार देता, पर, मनुष्य ज्ञान नहीं, इसलिए दुर्बलता की पहचान मैंने रहने दी। इसका दर्शन दुर्बलता न होकर सबलता भी हो सकता है, कारण उस भाषा—उस प्रकाशन का एक कारण भी तब निकलेगा।

कई साहित्यिक और राजनीतिक आये हैं, जिन्हें मैं पूर्ण रूप से मर्यादित नहीं रख सका। इसके साथ जो कारण हैं, मैं उसे ही पकड़ने के लिए पाठकों से निवेदन करता हूँ; तब उसका अन्त हिन्दी के मौलिक साहित्य में होगा, जो अनायास लज्जा की परिधि को पार कर सकेगा। डॉ. हेमचन्द्र जोशी और पं. इलाचन्द्र जोशी मुझसे वहुत विषयों में योग्य हैं। उनका जहाँ सिर झुकता दिखे, वहाँ पाठक केवल मेरे विषय पर ही ध्यान रक्खें; यों मैं शुद्ध हृदय से कहता हूँ, उनकी योग्यता और उनके अपने पक्ष-समर्थन में कोई कमज़ोरी नहीं। कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी कला के प्रतिपादन में आलोचित हैं। पन्तजी कवि की हैसियत से इस युग के कवियों में, लोकमत द्वारा, सबसे अधिक सफल कवि हैं। उन्हीं का सबसे अधिक प्रभाव लोगों पर पड़ा है। आलोचना में उनकी आलोचना करना मेरा उद्देश नहीं था, कला का विवेचन ही लक्ष्य था; इसीलिए कबीर-तुलसी जैसे हिन्दी के योग्य-तम रत्नों को बिगड़े काव्य के उदाहरण में मैंने पहले रक्खा है। जो लोग कबीर-तुलसी में बुरा देखने की कल्पना भी नहीं कर सकते, वे वहीं से मुझे भला-बुरा कहने लगेंगे। जो बात सुनना चाहते हैं, वे उनका समर्थन करने से पहले देखेंगे और समझेंगे, आलोचक का वहाँ कहना क्या है। पन्तजी ने इस आलोचना का अपने समर्थन में जवाब भी लिखा था, दो दफे, और बड़ी खूबी से अपना समर्थन किया था, इसी तरह जोशीबन्धु भी समर्थित हैं; मेरा केवल यही कहना है कि मैं क्या कह रहा हूँ वहाँ, पाठक समझ लें।

वैष्णव कवियों को मैंने बंगला में पढ़ा था। उनके उद्धरण कहीं मैंने अपने अनुसार सुधारे हैं, कहीं वे बंगला के अनुसार हैं; विद्यापति और गोविन्ददास के पदों का संस्कार श्रुतिमधुरता के लिए बिहारी विद्वान अपनी तरफ़ से कर लें। गोविन्ददास एक और हैं, वे बंगाली हैं।

लखनऊ
25-6-40

—निराला

5. 'चाबुक' का समर्पण

स्वर्गीय श्री नवजादिकलाल श्रीवास्तव
की
पुण्य-स्मृति में

6. 'चाबुक' की भूमिका

निवेदन

'चाबुक' मेरे लेखों का तीसरा संग्रह है। अधिकांश लेख सन् 23, 24 के लिखे हुए हैं। 'चाबुक' शीर्षक से मैं एक दूसरे नाम से 'मतवाला' में व्याकरण पर आलोचनाएँ लिखा करता था। आलोचना **यथार्थता लिये हुए जितनी भी हों, कटुता लिये हुए अवश्य थीं।** आज जिन लेखकों और सम्पादकों पर मेरी श्रद्धा है, उन्हें, उस समय, मैंने अपनी श्रद्धा नहीं दी। मैं करबद्ध होकर कटुता से समालोचित पूज्य साहित्यिकों से क्षमा चाहता हूँ। उस कटुता को ज्यों-का-त्यों इसलिए जाने दे रहा हूँ कि देखूं, अगर कुछ सत्य भी है तो वह कितनी कटुता हज़्म कर सकता है। मुझे विश्वास है, पढ़ने पर पाठकों का श्रम जिस तरह सूक्ष्मता-दर्शन से सार्थक होगा उसी तरह मेरे तत्कालीन मनोभाव और अज्ञता के परिचय से प्रफुल्ल।

मैं उमाशंकर सिंह जी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इनका संग्रह किया है।

—निराला

7. 'चयन' की भूमिका

यह पुस्तक—
डॉक्टर शिवगोपालजी के तीक्ष्ण बुद्धित्व और अनुसन्धानशील मन का प्रमाण है, कि उन्होंने पानी में गये इतने लेखों को पुराने पत्रों की फाइलों से खोज निकाला और जनता के सामने जानकारी के लिए रखा। इस सफल प्रयत्न को मैं हृदय से साधुवाद देता हूँ। डॉक्टर शिवगोपाल के अन्यान्य गुणों के साथ इस एक की गणना भी हृदय में स्थायी अंक छोड़ गयी। इति !

दारागंज, प्रयाग
ता. 19. 9. 57 ई.

—निराला

०००
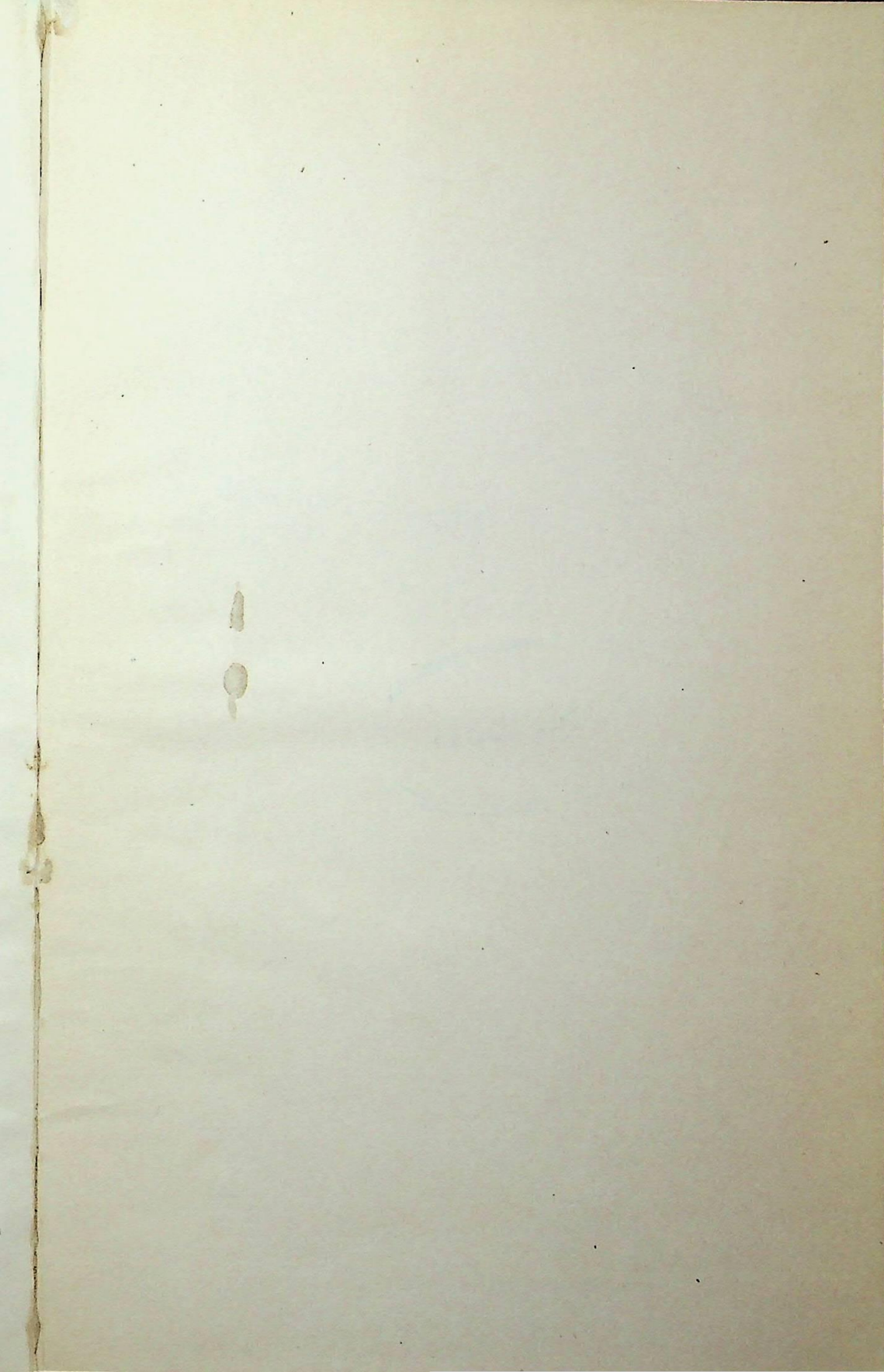
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म : 21 फरवरी, 1899 (स्थान: बंगाल के मेदिनीपुर जिले का महिषादल नामक देशी राज्य। मूल निवास: उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले का गढ़ाकोला नामक गाँव) **मृत्यु** : 15 अक्टूबर, 1961 (दारागंज, इलाहाबाद) **शिक्षा** : हाई स्कूल तक। हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्राप्त किया। **वृत्ति** : प्रायः 1918 ई० से लेकर 1922 ई० के मध्य तक महिषादल राज्य की सेवा में। उसके बाद से सम्पादन, स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। 1922-23 ई० में 'समन्वय' (मासिक, कलकत्ता) का सम्पादन। 1923 ई० के अगस्त से 'मतवाला'-मण्डल में। 'मतवाला' से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में 1929 ई० के मध्य तक बना रहा। इस बीच स्वतन्त्र लेखन और बाजार का काम' भी करते रहे। कलकत्ता छोड़ा तो लखनऊ आये, जहाँ गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय और वहाँ से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 ई० के मध्य तक सम्बद्ध रहे। प्रायः 1940 ई० तक लखनऊ में। तत्पश्चात् कभी इलाहाबाद और कभी उन्नाव में। 1942-43 ई० से स्थायी रूप में इलाहाबाद में रहकर स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। **साहित्य** : पहली प्रकाशित कविता : 'जन्मभूमि' ('प्रभा', मासिक, कानपुर, जून, 1920)। पहला प्रकाशित निबन्ध : 'बंगभाषा का उच्चारण' ('सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1920)। पहली प्रकाशित पुस्तक : **अनामिका** (1923 ई०)। प्रमुख कृतियाँ : **परिमल, गीतिका, द्वितीय अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत गुंज, सान्ध्य काकली** (कविता), **अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा** (उपन्यास), **लिली, चतुरी चमार** (कहानी), **रवीन्द्र-कविता-कानन, प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध-प्रतिमा, चाबुक, चयन, संग्रह** (निबन्ध) और **महाभारत** (पुराकथा)।

यह कवि अपराजेय निराला,
जिसको मिला गरल का प्याला;
ढहा और तन टूट चुका है,
पर जिसका माथा न झुका है;
शिथिल त्वचा, ढलढल है छाती,
लेकिन अभी सँभाले थाती,
और उठाये विजय पताका—
यह कवि है अपनी जनता का।

राम विलास शर्मा

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली - पटना